अथर्ववेद संहिता

भाषा-भाष्य

भाग १

ओ३म्

अथर्ववेदसंहिता

भाषा-भाष्य

(तृतीय खण्ड)

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ.

संशोधन कर्त्ता

श्री प्रो० विश्वनाथजी वेदालंकार

भूतपूर्व प्रोफेसर गुरुकुल कांगड़ी

प्रकाशक

आर्य्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

मुद्रक—

दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

चतुर्थावृत्ति १५०० | सं० २०१४ वि० | मूल्य ७) रुपये

मुद्रक—
शिरीशचन्द्र शिवहरे, एम० ए०
दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

ओ३म्

तृतीयखण्ड की भूमिका

(चतुर्थसंस्करण)

द्वितीय खण्ड की भूमिका में कृत्या, अभिचार, मणि, पशुबलि, पशु-होम, अज पञ्चोदन, विष्टारी ओदन तथा टोटके आदि कुछ एक विषयों पर प्रकाश डाला था । इस खण्ड में बहुत से अन्य विवादास्पद विषयों के साथ २ कृत्या, अभिचार के कुछ प्रकरण, खदिर फालमणि, वरणमणि, ब्रह्मगवी, स्कम्भ, शतौदना, शितिपदी, वशा, ब्रह्मौदन, उच्छिष्ट, मन्यु, क्रव्याद् अग्नि और व्रात्य आदि बड़े ही गम्भीर विवेचना के विषय हैं। इनके अतिरिक्त पृथिवी सूक्त, विवाह सूक्त, ब्रह्मचारी सूक्त, रोहित सूक्त, व्रात्य सूक्त आदि गम्भीर प्रकरण हैं जिनका स्पष्टीकरण भूमिका में कर देना हम आवश्यक समझते हैं । इन सब प्रकरणों से स्पष्ट हो जाने पर फिर प्रस्तुत भाष्य की संगति का समझ लेना अति सरल हो जायगा। हम यथाक्रम इन प्रकरणों का दिग्दर्शन कराते हैं—

(१) कृत्या

कृत्या के विषय में द्वितीयखण्ड की भूमिका में हम पर्याप्तरूप से लिख आये हैं। जिसको पुनः दोहराना यहां पिष्टपेषण होगा। परन्तु १० वें काण्ड का प्रथम सूक्त ही कृत्या प्रतिहरण का है इसलिये इसको पुनः यहां स्पष्ट करते हैं। गुप्त और व्यापक घातक क्रियाएं 'कृत्या' कहाती हैं यह अभिप्राय हम प्रथम स्पष्ट कर आये हैं। १० वें काण्ड के प्रथम सूक्त से

हमें बहुत सी उन कृत्याओं का प्रयोग ज्ञात होता है जिनका प्रयोग अति भयानक और प्राणसंहारी होता होगा। जैसे (१० । १ । १)

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः ।

(१) विद्वान् लोग हस्तकृता विश्वरूपा 'कृत्या' का निर्माण करते हैं। जिसको वे वधू अर्थात् नव विवाहिता स्वयंवरा कन्या के समान सजा देते हैं, यह क्या पदार्थ है नहीं कहा जा सकता। स्वयं वेद बतलाता है कि वह—

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ॥ १० । १ । २ ॥

कृत्या सिर, नाक, कान वाली, हिंसाकारी, घातक साधनों से सजी और नाना प्रकार की होती है। यहां कृत्या का अर्थ सेना प्रतीत होता है।

आगे लिखा है—

शूद्रकृता, राजकृता, स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता ।
जाया पत्या नुत्तेव कर्त्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ १० । १ । ३ ॥

शूद्र, राजा, स्त्री और ब्राह्मण (विद्वान्) लोग भी कृत्या का प्रयोग करें तो जिस प्रकार पति से लताड़ी स्त्री कर्त्ता (पिता) के पास ही लौट जाती है उसी प्रकार वह बांधी जाकर पुनः उसी शत्रु पर प्रयोग की जा सकती है। यह किस प्रकार ? यह नहीं कहा जा सकता। हमें इसके दो उपाय सूझते हैं एक तो यह कि यदि घातक प्रयोग करता हुआ पकड़ा जाय तो उस पर ही पुनः उसी प्रयोग को दण्ड रूप में दिया जाय। दूसरा आते हुए हिंसाकारी प्रयोग को बीच में ही किसी विधि से पलट दिया जाय।

(२) यजुर्वेद (अ० ५ । मं० २३) में 'वलग' और कृत्याओं को भूमि में से खोदकर निकाल लेने का वर्णन आया है।

रक्षोहणं वलग-हनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि। यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं

वलगमुत्किरामि । यं मे सबन्धुः यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि । यजु० अ० ५ । २३ ॥

रक्षोहण और वलगनाशक विद्या का उपदेश करता हूँ कि मेरा पुत्र या मित्र, बराबर वाला या यम, बन्धु या अबन्धु, सहोदर या अन्य पुरुष भी 'वलग' भूमि में गाड़ दे तो मैं उसको भूमि से खोदकर निकाल बाहर करूं।

इस यजुः की व्याख्या करते हुए शतपथ ने लिखा है कि—

देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततो असुराः एषु लोकेषु कृत्यां वलगान् निचख्नुः, उत एवं चिद् देवान् अभिभवेमेति । तद्वै देवा अस्पृण्वत । ते एतैः कृत्यां बलगान् उद् अखनन् । यदा वै कृत्यामुत्खनन्त्यथ साऽलसा मोघा-भवति । तथो एवैष एतद् यत यस्मा अत्र कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्यः कृत्यां वलगान् निखनति तान् एव एतदुत्किरति । तस्माद् उपरवान् खनति ।

अर्थ—देव और असुर दोनों ही प्रजापति के सन्तान थे। वे पर-स्पर लड़ते थे। तब असुरों ने इस लोगों में 'कृत्या' और 'वलग' इनको गाड़ दिया कि इनसे देवों को परास्त करेंगे। देवों को यह पता चल गया। देवों ने इन २ उपायों से कृत्या और वलग दोनों को उखाड़ डाला। जब 'कृत्या' को लोग उखाड़ देते हैं तो वह 'अलसा' अर्थात् मन्द पड़ जाती है और 'मोघा' व्यर्थ हो जाती है। उसी प्रकार यह भी होता है कि कोई शत्रु द्वेष करके जिस किसी के लिये कृत्या और वलगों को गाड़ देता है वह उनको खोद डालता है, इसीसे उपरवों को खोदता है।

शतपथ के उद्धरण ने स्पष्ट कर दिया है कि ये 'वलग' गुप्त बारूद या विस्फोटक पदार्थों के गोले हैं जो बड़े वेग से फूटकर प्राणों का नाश करते हैं और उनको खोद देने पर फिर उनका कुछ बल नहीं रह जाता है। वे 'उपरव' कहाते हैं क्योंकि जब वे फूटते हैं आवाज़ करके फूटते हैं। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में 'बृहद्रवा' शब्द का भी प्रयोग किया है।

बृहद् असि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद । यजु० । ५ । २२ ॥

वेद ने 'बृहद्रवा' शब्द का प्रयोग किया है, ब्राह्मणकार ने 'उपरव' शब्द का परिचय दिया है। कदाचित् तोप 'बृहद्रवा' कही जाती है और गोले "उपरव'।

(३) कुछ कृत्याएं ऐसी होती हैं जिनका प्रतीकार ओषधि द्वारा किया जाता है। जैसे विषैली गैसों का प्रयोग और विष से लिये पदार्थों का प्रयोग। खेतों में, गौओं में और पुरुषों में भी हत्याकारी प्रयोग करके अन्न, दूध और पुरुषों के व्यवहार और सम्पर्क से नाना पीड़ाएं उत्पन्न की जा सकती हैं। उनका प्रतीकार भी ओषधियें ही हैं।

अनयाहमोषध्या सर्वा कृत्या अदूदुषम्।

यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पूरुषेषु ॥ अथर्व० १० । १ । ४ ॥

हे राजन्! तेरे खेत में, गौओं में और पुरुषों में जिस २ घातक क्रिया का प्रयोग किया है उन सब कृत्याओं को मैं इस विशेष २ ओषधि से निर्बल करूं और दूर करूं।

(४) कृत्या विशेष यन्त्रकला के रूप में भी तैयार की जाती है जिसके सब कलपुर्जे विशेष शिल्प द्वारा तैयार किये जाते हैं।

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येव ऋभुर्धिया। अथर्व० १० । १ । ८ ॥

जिसने तेरे पोरुओं को ऐसे जोड़ा है जैसे शिल्पी अपनी अकल से रथ के कलपुर्जे जोड़ता है। यहां पुर्जों के लिये 'परूंषि' शब्द आया है। उसकी रचना को 'ऋभु' अर्थात् शिल्पी लोग बड़ी बुद्धिमत्ता से बनाते हैं।

वह कृत्या छूटते समय या प्रतिप्रयोग करते समय भी घोर शब्द करती है।

अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभी इव ॥ १० । १ । १४ ॥

विशेष रूप से बंधी हुई गधी के समान घोर नाद करती हुई तू दूर चली जा।

(५) वह कृत्या तोप के समान पहियों पर चलती और चलते

समय बड़े बड़े पदार्थों को तोड़ती फोड़ती, नाना रूप वाली और कठोर शब्द करती है।

तेनाभि याहि भञ्जती अनस्वती वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १० । १ । १५ ॥

इसी से यह भी ज्ञात होता है कि सेना या 'वाहिनी' भी कृत्या कहाती है। उस सेना को नाश करने का उत्तम उपाय तलवारों अर्थात् हाथोंहाथ लड़ाई को बतलाया गया है।

स्वायसाः असयः सन्तु नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहि इतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ १० । १ । २० ॥

कृत्या के प्रयोग से निरपराध जीवों का भी बहुत नाश होता है।

अनागो हत्या वै भीमा कृत्ये० । १० । १ । २९ ॥

इस कारण वह जहां भी हो वहां से उसको दूर करना चाहिये। राजा को चाहिये कि अपने पालक बल से सदा इस हिंसा प्रयोग को न्यून मात्रा में ही रहने दे, बढ़ने न दे।

यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वा उत्थापयामसि ॥
पर्णात् लघीयसी भव ॥ १० । १ । २९ ॥

तू जहां २ गाड़ी गई वहां २ से तुझे उठा दें। तू पत्ते या तीर से भी हलकी, निर्बल हो।

(६) इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के शत्रुनाशन, या भ्रातृव्य क्षयण सूक्तों के पाठ से विदित होता है कि वेद में शत्रु को नाश करने और नर-संहारक अस्त्रों से बचने के ऐसे साधनों का भी ऋषियों के साक्षात् किया था जिनको अभी तक योरोपियन वैज्ञानिक भी वर्त्तमान महायुद्ध के भीतर प्रस्तुत नहीं कर सके जैसे अर्बुदि और त्रिसंधा अस्त्रों का प्रयोग, उनसे उदारों का प्रदर्शन, अनेकानेक भयंकर रूपों का प्रदर्शन, अग्निजिह्वा और धूम-शिखाओं का ऐसा प्रयोग जिससे हजारों का एक वार ही नाश हो जाय। इत्यादि (का० ११ । सू० ९ । मं० १०)।

(७) वेद में ऐसे प्रयोग भी लिखे हैं जिनके प्रयोग से शत्रुओं की भुजाएं कटफट जांय। वे शस्त्र संचालन के लिये निकम्मे हो जांय (का० ११ । सू० ११ । मं० १६) और देखो (का० ६ । सू० ६६)।

(८) ऐसे सर्व संहारक अस्त्रों का प्रयोग जिससे शत्रु की सेनाओं के दस्ते के दस्ते बेहोश हो जावें, उनमें अन्धकार छा जाय अर्थात् उनकी आंखें देखने की शक्ति से हीन हो जांय, उनको अन्धेरा ही अन्धेरा दीखे (का० ११ । सू० १० । मं० २०)।

(९) वेद ने ऐसे उपायों का भी वर्णन किया है कि जिससे शत्रु के फेंके संहारक प्रयोग कुछ कष्ट न दें, वे वैसे के वैसे ही बिजली के बल से वापस चले जांय और शत्रु को दुगुने तिगुने वेग से नाश करें। (अथर्व० का० १० । सू० १ । मन्त्र १७)।

(१०) अब भी आकाश से फेंके गये नाना प्रकार के बाम्बस् को फूटने के पहले ठंडा करके काबू करने के उपाय किये जाते हैं। वेद ने भी इसका निर्देश किया है (मन्त्र २१) कि, कृत्या की गर्दन (ग्रीवा) और पैर काट देने से वह भीतर का मसाला बिना फूटे बह निकलता है।

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव ॥

(११) शत्रु पर 'देव-हेति विद्युत्' के प्रयोग का उपदेश किया है। (मन्त्र २३)।

(१२) वेदोक्त 'आग्नेय अस्त्रों' का प्रयोग बहुत चमत्कारी है। बढ़ती शत्रु सेना को रोक थाम के लिये और युद्धोपयोगी सामग्री संचय का नाश करने के लिये 'अग्निमन्यु' प्रयोग का उपदेश किया है। (का० ७ सू० ७०)।

(१३) 'अग्निमान्' चरु या गोला का प्रयोग (८ । ४ । २) ऐसा घोर अन्धकार में शत्रु पर आक्रमण, जिसमें कोई काम न हो सके अर्थात् शत्रु घोर अन्धकार में छिपा हो। आजकल नगरोंमें ब्लैक आउट (अन्धकार) करने की रीति चली है, इस दशा में भी शत्रु पर अस्त्र डालकर मारने का वेद ने निर्देश किया है। (का० ८ । ४ । २)।

(१४) शत्रुसेना की युद्ध सामग्री को नाश करने के लिये वेग से उड़कर जाने वाले दो प्रकार के श्येन-यन्त्रों का उपदेश किया है। (का० ७ । सू० ७० । मं० ३)।

(१५) इसी प्रकार शिशान अग्नि, अयोदंष्ट्र अग्नि, अग्नि जिह्वाओं का वर्णन, पास और दूर की मार, पर्वभेदक अग्नि, आकाश में घूमने वाली अग्नि आदि का वर्णन किया है (कां० ८ । सू० ३ । मं ५) ।

(१६) अति तीव्र प्रकाश के प्रयोग से शत्रु की आंखों का नाश करना (मं० ९), अग्नि की 'हरस्' शक्ति से शत्रु का शिर छेदन (मन्त्र १५), अर्चि, ज्वालों से वेधन (मं० १९), तथा पैरों वा अंगों में पीड़ा उत्पन्न करना (मं० २०), विष प्रयोग से हनन (मं० २३) तिग्मशोचि यन्त्रों से तपन आदि (मं० २३) का भी उपदेश है। इसी प्रकार अग्नि यन्त्रों द्वारा मोहन (बेहोश करना), जातवेदा द्वारा शत्रु को अचेत करना, अग्नि की ध्राजि (वेग से निकलती लपट) से चारों ओर मार करना, पूरी की पूरी सेना को बेहोश करना, नाना वायुओं द्वारा मारना, अग्नि द्वारा आंखों का नाश करना, घरों भवनों को अग्निसात् करना आदि का प्रयोग वेद में उपदिष्ट है। (कां० ३ । सू० २७ । मं० १-६)।

(१७) 'दत्वती रज्जु' कांटेदार तार, दैवी यन्त्र दूरबीन या सहस्राक्ष यन्त्रों से शत्रु के गुप्त रूपों को देखना, 'कश्यप चक्षु' और 'शुनी चक्षु' का वर्णन (कां० ४ । सू० २०)। इसी प्रकार इन्द्र का 'महावधास्त्र' और अग्नि का 'वेधनास्त्र' (कां० ५ । सू० ३१ । १२)। ऐसे यन्त्र जिनसे समस्त भुवन दीखें, (कां० ६ । सू० ३४), ऐसे वैद्युतिक अस्त्र जिससे दौड़तों के हाथ कटफट जांय, 'नैर्बाध्यं हवि' जिसके प्रयोग से शत्रु अपने घर सदा के लिये भाग जावें, (कां० ६ । सू० ९५) ऐसे बादलों से वर्षा कराना जिनसे शत्रु के विषैले प्रयोग निर्विष हो जांय, (कां० ६ । सू० ०१०), 'तिग्म-पवि-ताड़क' अग्नियन्त्र जिससे पर्वतों तक में छिपे शत्रु की

खबर लें, (कां० ७ । सू० ३४) ऐसे आग्नेय प्रयोग जिनसे शत्रु नपुं-सक हो जाय, (कां० ७ । सू० ९०), ऐसी विषाक्त विषातकी का प्रयोगकि शत्रु सेना को खूब प्यास लगे (कां० ७ । सू० ११३) इत्यादि अनेक चमत्कारी बातों का अथर्ववेद में उपदेश है जिनका सफलता पूर्वक निर्माण अथर्ववेद के धनुर्वेद और आसुर-वेद आदि में विस्तृत वर्णन अवश्य होगा। परन्तु उनके वर्त्तमान में उपलब्ध न होने से केवल वर्त्तमान वैज्ञानिक प्रयोगों से उन सबका साधारणतः अनुमान हो सकता है।

(२) अभिचार कर्म

अभिचार कर्म के विषय में हमने अपना पूर्ण मन्तव्य द्वितीय खण्ड की भूमिका में पर्याप्त रूप से खोलकर दर्शा दिया है। इस प्रसङ्ग में हम इस खण्ड में आये उन सूक्तों की भी विवेचना करेंगे जिन्हें विनयोगकारों ने अभिचार करने के लिये लिखा है। काण्ड १० के सू० ५ 'इन्द्रस्यौज स्थः०' इत्यादि को कर्मकाण्डियों ने अभिचार कर्म के लिये विनियुक्त किया है। पर कर्मकाण्ड की विधियों का गूढ़ अभिप्राय निम्नलिखित है। यथाः—

पण्डित शङ्कर पाण्डुरंग ने साम्प्रदायिकों के भी उदवज्र विधान का उल्लेख किया है वह इस प्रकार है—

'इन्द्रस्योजः०' इस सूक्त के १-६ मन्त्रों को पूर्व अर्ध ऋचाओं से कांसी के कलश को धोता है। 'जिष्णवे०' इत्यादि उत्तरार्ध भागों से उस कांसी के कलश को जल के समीप रखता है। 'इदम् अहं यो मा प्राच्या-दिशः०' इत्यादि कल्पोक्त मन्त्रों से जल के बीच कलश को रखता है। फिर 'इदम् अहम्०' इत्यादि कल्पोक्त सूक्त से कलश के मुख को जल में डुबाता है। पुनः 'इदमहम्०' इस कल्पोक्त सूक्त से जल भरे कलश को मण्डप में स्थापित करता है। यह अभिचार में 'जलाहरण' विधि कहाती है। इसके बाद वज्रप्रहरण विधि है। 'अग्नेर्भागः०' इन (७-१४) आठ मन्त्रों से जल के दो भाग करता है। आधा जल कलसे में रहने देता है

और आधा दूसरे पात्र में कर देता है। उस पात्र को आग में तपाता है, कलश को दूसरे पुरुष के हाथ में देता है। इसके बाद दक्षिणाभिमुख बैठ कर पात्र को आगे रख कर 'वातस्य रंहितस्य' इत्यादि कल्प में कहे मन्त्र से जल लेकर 'शम् अग्नये' इस कल्पोक्त सूक्त से सब प्राणियों को अभय देता है। फिर 'यो वः आपं अपाम्-' इस (१५) ऋचा से वज्र फेंकता है। इसी प्रकार फिर 'वातस्य रंहितस्य०' से जल लेकर 'यो वः आपो अपामूर्मिः०' इस (१६) मन्त्र से वज्र फेंकता है। इस प्रकार (१७ से २१ तक) ५ मन्त्रों से भी वज्र फेंकता है। 'एतान् अधराचः पराचः०' इस कल्पोक्त मन्त्र से पात्र का जल भूमि में डालता है। इसी प्रकार 'वयं' इस (४२) और 'अपामस्मै०' इस (५०) मन्त्र से वज्र फेंकता है। (२५ से ३६ तक) इन १२ मन्त्रों से शत्रु की तरफ क्रमण करता है। 'यदर्वाचीनम्०' (२२) इस मन्त्र से वह आचमन करता है जो असत्य भाषण के पाप से छूटना चाहता है। 'समुद्रं वः प्रहिणोमि०' इस (२३) मन्त्र से जल पात्र पत्नी को दे देता है। 'सूर्यस्यावृतम्०' इत्यादि (३७-४१) पांच मन्त्रों से प्रदक्षिणा करता है। यह 'उदवज्र विधान' कहाता है अर्थात् इसमें जल को वज्र बनाकर शत्रु परे फेंकने का विधान है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड जिस प्रकार विशेष विज्ञान की प्रतिनिधि-वाद से व्याख्या करते हैं और उनकी सूत्रकार या कल्पकार केवल क्रिया-विधि दर्शाते हैं उसी प्रकार कौशिक ने ब्राह्मणप्रोक्त व्याख्या रूप कर्मकाण्ड की सूत्रों में प्रक्रिया मात्र दर्शाई है। जिसका हम निम्नलिखित तात्पर्य समझते हैं इन सूक्तों में कलश राष्ट्र का प्रतिनिधि है। जल प्रजाओं का प्रतिनिधि है। कांस्य कलश में जल लेने का तात्पर्य उनको राज्य की रक्षा में लेना है। उनके दो भाग करने का तात्पर्य शत्रु पर आक्रमण करने के लिये उत्तम प्रजा के पुरुषों का चुनना है। शेष नीचे के जल सहित कलशों का दूसरे पुरुष को सौंपने का तात्पर्य उनको युद्धोपयोगी न समझ

कर छोड़ देना है। पात्र के जल को तपाना उनमें तप, विद्या, वीर्य, तेज का प्रदान कर उनको उग्र बनाना है। प्राणियों को अभय देने का तात्पर्य समस्त प्रजाओं का अपने तीव्र सेनाबल से निःशंक और भय रहित करना है। चारों दिशाओं में वज्र फेंकने का तात्पर्य दिग्विजय या शत्रु का सब दिशाओं में विजय है। शत्रु की तरफ जाना उसका अभियान या प्रयाण है। इसी से राजा के अधीन सेनापुरुषों और अधिकारीपुरुषों का नीति आदि के वश होकर किये असत्यभाषण का प्रायश्चित है और शेष जलपात्र का पत्नी को देने का तात्पर्य शेष सेना को राष्ट्रपालक शक्ति के हाथ में देना है। सूर्यावृत प्रदक्षिणा का तात्पर्य सूर्य के समान राजा का प्रजापालनव्रत दर्शाना है।

विनियोग द्वारा दर्शाये मन्त्रों में उनके कर्त्तव्यों का वर्णन है। जिनका स्पष्टार्थ भाष्य में कर दिया गया है। जिस प्रकार बड़ा भारी, विजय कामना से युक्त बलवान् पुरुष चतुर्दिगन्तों को अपने सेना बल से विजय करके सम्राट् पद को प्राप्त करता है, स्वयं 'इन्द्र' कहाता है उसी प्रकार योगी भी अपनी अध्यात्म साधनाओं और आत्मा की प्राणादि शक्तियों से व्युत्थानों पर वश करके आत्मा का साक्षात् करता और परम पद को प्राप्त करता है, वही उसका 'स्वराज्य साम्राज्य' प्राप्ति कहाता है। इन मन्त्रों की अध्यात्म योजना पर विचार करने से ब्रह्मपदप्राप्ति की साधना के रहस्य भी इस सूक्त से विदित होते हैं। उस पक्ष में 'आपः' प्राण हैं। 'कलश' देह है। उनके आधे नाभि से ऊपर के प्राणों की तपस्या से साधना करते हैं, पुनः चित्त वृत्ति के जितने भी द्वार हैं सभी में स्थित कामादि व्युत्थान वृत्तियों का शत्रु सेना के समान विजय किया जाता है। और फिर सूर्य के समान तेजस्वी होकर पूर्ण विजय लाभ किया जाता है।

(३) वरण मणि और खदिरफालमणि

द्वितीय खण्ड की भूमिका (पृ० १—९) में अथर्ववेद के कल्पोक्त

मणि और मन्त्रोक्त मणि शब्द की विवेचना हमने पर्याप्त रूप से की है। पाठक हमारे अभिप्राय को वहां ही अगवत करें।

दशम काण्ड के 'अरातीयो भ्रातृव्यस्य०' इत्यादि सू० ६ को सर्व-कामना सिद्धि के लिये 'खदिरफालमणि' बांधने में लगाया है। इस सूक्त के 'एतमिध्मं०' (३५) मन्त्र से खदिर वृक्ष का काष्ठ लेकर 'तमिमं०' इस (२९) मन्त्र से घृत में डुबोकर 'ब्रह्मणा०' इस (३०) मन्त्र से बांधने को लिखा है। इसी को 'फालमणि' भी कहा है।

परन्तु मन्त्रों में फालमणि के जिन गुणों का वर्णन किया गया है उनसे वह काष्ठखण्डमात्र प्रतीत नहीं होता। जैसे—

१. अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपिवृश्चाम्योजसा ॥ ३ ॥

द्वेषकारी अप्रिय शत्रु का शिर मैं पराक्रम से काट दूं।

२. श्रद्धां यज्ञं महो दधत् गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥

वह मणि श्रद्धा, यज्ञ और तेज को धारण करे। वह घर में अतिथि होकर रहे।

३. सः नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयः चिकित्सतु ॥ ५ ॥

पिता के समान पुत्रों का कल्याण ही कल्याण करे।

ये गुण काष्ठमणि में असम्भव हैं। इन कार्यों के लिये उत्तम शिरो-मणि पुरुषों को राष्ट्र में वेतन और मान से बांध लेना ही वेद मन्त्र का सुसंगत अर्थ है।

उसको फालमणि क्यों कहा इसका उत्तर वेद स्वयं देता है—

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन विरोहति।

एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं विरोहतु ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार हल की फाली से खेत जोत लेने पर उसमें पड़ा बीज खूब फलता है, उसी प्रकार इस शिरोमणि द्वारा राष्ट्र के उत्तम रीति से तैयार हो जाने पर राष्ट्र में मुझ राजा की प्रजा, पशु और सब प्रकार के अन्न खूब बढ़ें।

(४) वरणमणि

उक्त फालमणि के समान ही वरणमणि के बांधने में "अयं मे वरणोमणिः" इत्यादि (कां० १० । सू० ३) विनियोग लिखा गया है। इस सम्बन्ध में भी हमें कुछ विशेष कहना उचित नहीं जान पड़ता, इतने से ही पाठक जान लें कि इस सूक्त में वरणमणि के दिये विशेषण वरणा वृक्ष के काष्ठखण्ड में न घट कर स्वयंवृत वीर नेता पुरुष में ही घटते हैं।

१. अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥

वरणमणि शत्रुओं का नाशक, बलवान् पुरुष अर्थात् 'वृषा' है । उसके बल पर हे राजन् ! तू शत्रुओं का नाश कर, दुष्टों को कुचल डाल ।

समस्त राष्ट्र के कष्टों का वारण करने वाला ही 'वरण' मणि कहाता है और वह राष्ट्र के भिन्न २ प्रकार के कष्टों को भिन्न २ प्रकार से वारण करता है । वेद ने तो लक्षणमात्र दिखा दिया है। राजा भिन्न २ कार्यों के लिये ऐसे २ अधिकारी व संस्थायें भी नियुक्त कर सकता है। 'वरण' का शब्दार्थ स्वयं वेद खोलता है ।

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ॥ ५ ॥

अर्थात् वारण करने वाला होने से 'वरण' वह है। वरण शब्द के समान ही 'वरुण' शब्द को भी समझना चाहिये । धात्वर्थ दोनों में समान है।

अयं ते कृत्यां विवतां पौरुषेयादयं भयात् ।
अयं त्वां सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ४ ॥
स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् ।
परिक्षवात् शकुनेः पापवादादयं मणि र्वरणो वारयिष्यते ॥
यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
ततो नो वारयिष्यते अयं देवो वनस्पतिः ॥

कृत्या या घातक प्रयोगों को, पुरुषों द्वारा किये जाने वाले भयजनक वध से, सब प्रकार के अत्याचार से 'वरण' वारण करता है। सोते पर विपत्ति आवे, यदि जंगली पशु आ पड़े, शक्तिशाली पुरुष डाकू आदि आक्रमण करे निन्दा फैलावे, मां, बाप, भाई, बन्धु अत्याचार करे तो सब विपत्तियों को दूर करना 'वरण' का काम है। इसको हम 'मैजिस्ट्रेट' या कमिश्नर' के पद से तुलना कर सकते हैं जिसके अधीन राष्ट्र के बहुत से विभाग हों। ऐसी दशा में एक ही व्यक्ति बहुत से कर्तव्यों का उत्तर-दाता हो जाता है।

(५) पुरुषमेध

केन पार्ष्णी आभृते इत्यादि (का० १० । सूक्त २) को पं० शङ्कर पाण्डु रंग के लेखानुसार यज्ञलम्पट साम्प्रदायिकों ने पुरुषमेध में विनियुक्त किया है। जैसे—पुरुषमेध में पुरुष को निहला धुलाकर बलि दिये जाने योग्य पुरुषरूप पशु को 'केन पार्ष्णी०' इस सूक्त से अनुमन्त्रण किया जाता है। वैतान सूक्त में इस सूक्त के साथ २ पुरुषसूक्त (अथर्व० १९ । ६) का भी वांचना लिखा है। शान्तिकल्प में शनैश्चर ग्रह के निमित्त होम के लिये उक्त दोनों सूक्तों का विनियोग किया है। परन्तु इन सबके विपरीत स्वयं पाण्डुरंग महाशय इस सूक्त में पुरुष अर्थात् मनुष्य (शरीर) का माहात्म्य बतलाते हैं।

पं० शंकर पाण्डुरंग के मत से ही पूर्वोक्त पुरुषमेधवादी और शनैश्चर ग्रह होमवादी पाखण्डों पक्षों का खण्डन हो जाता है। वास्तव में इस सूक्त को अथर्ववेदान्तर्गत 'केन' उपनिषत् कहें तो बड़ा ही सुसंगत है।

इस सूक्त में प्रथम २० मन्त्रों में पुरुष (आत्मा) के शरीरों की अद्भुत रचना देखकर उसके कर्त्ता के विषय में अद्भुत २ प्रश्न किये हैं। इसका रचयिता केवल 'ब्रह्म' को बतलाया है। संसार की विशाल शक्तियों के कर्त्ता के विषय में भी प्रश्न किये हैं। (२४, २५) में उनका कर्त्ता भी ब्रह्म को ही बतलाया है। फिर मनुष्य के शिर की अद्भुत रचना पर

(२६) में प्रश्न किया है। (२७) में सिर को समस्त दिव्य शक्तियों का खजाना बतलाकर उसी में प्राण, मन और अन्न का स्थान बतलाया है।

आत्मारूप पुरुष की नाना सृष्टियां दर्शाकर 'पुरुष' की व्युत्पत्ति बतलाई है। शिर को ही 'ब्रह्मपुरी' कहा है (२९)। उसी को 'अष्ट-चक्रा नवद्वारा अयोध्यापुरी' कहा गया है (३१)। उसमें तीन अरों वाले ज्योतिर्मय हिरण्यमय कोष और उसमें आत्मा की स्थिति का वर्णन है (३२)। उसी को हरिणी, यशस्विनी, हिरण्ययी, अपराजितापुरी कहा गया है (३३)।

ऐसी ब्रह्मविद्या के दिखलाने वाले सूक्त को पुरुषबलि पर लगाना बड़ी मूढ़ता है। इस सूक्त में पुरुषहिंसा का कहीं भी गन्ध नहीं। अब हम वशाशमन प्रकरण पर विचार करते हैं।

(६) शतौदना और वशा

वशाशमन के विषय में कुछ संक्षेप से हमने द्वितीय खण्ड की भूमिका (पृ० २३, २४) में लिखा है । इस खण्ड में काण्ड १० का सू० ९ वां, १० वां एवं का० १२। सू० ४। ये तीन सूक्त शतौदना और वशा के विषय के हैं। इनका आलोचन करना उचित है।

'अघायतामपिनह्या मुखानि०' इत्यादि (अथर्व० का० १०। सू० ९) की उत्थानिका में श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने लिखा है कि—

"अघायतामिति सूक्तं आहुत्यर्थं गोवधे विनियुज्यते। सा च वन्ध्या गौः शतौदना इत्युच्यते। तस्याः वधेन तस्याः मांसाहुत्या च यद् यजनं। तद् अग्नि-ष्टोमादपि अतिरात्रादपि च श्रेष्ठम्। इत्यादिरूपा प्रशंसा। यैव हन्यते तां प्रति हन्तृभ्यो मा भैषीस्त्वं देवी भविष्यसि त्वां स्वर्गे देवा गोपस्यन्तीत्यादि प्रोत्साहनम्। यश्चाहन्ति यो वा पचति यो वा जुहोति स उत्तमं स्वर्गं गच्छति इत्यादिका गोभि-र्वचनेन प्रशंसा च क्रियते गोमेधस्य" ॥

अर्थ—अघायताम्० इत्यादि सूक्त का आहुति के लिये किये गोवध में विनियोग किया जाता है। वह बांझ गौ 'शतोदना' कहाती है। उसके

वध करने से और उसके मांस की आहुति देकर जो यज्ञ किया जाता है वह अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञों से भी श्रेष्ठ है। इत्यादि प्रशंसा इस सूक्त में की गई है। इसी प्रकार जो बांझ गाय मारी जाती है उसको मारने वालों को यह प्रोत्साहन दिया गया है कि—'हे गाय! तू मरने से मत डर, तेरी स्वर्ग में देवगण रखवाली करते हैं। जो तुझे मारता है, जो पकाता या जो होमता है वह उत्तम स्वर्ग को जाता है।' इत्यादि। गौ के वर्णन से ही गोमेध की प्रशंसा है।

यहां मन्त्रों के अनुसार कुछ आलोचना हम करते हैं। यथा:—मंत्र कहता है कि—

अघायताम् अपिनह्या मुखानि ॥

अर्थात् पापाचारियों के मुखों को बांध। परन्तु वहां गाय पशु का मुख बांध लिया जाता है। मन्त्र कहता है—

सपत्नेषु वज्रमर्पय एत ॥

शत्रुओं पर वज्र प्रहार कर। पर यहां निरपराध गाय पर वज्र चलाया जाता है। मन्त्र कहता है कि—

इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥ अ० १०।९।१॥

इन्द्र ने यजमान को सर्वश्रेष्ठ शत्रु के नाश करने वाली 'शतौदना' दी। परन्तु यहां गौ पर ही सब आपत्ति आ टूटती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्र के अभिप्राय को शतांश भी न समझ कर यह विनियोग मांसलोलुप, पापी पुरुषों ने स्वार्थसिद्धि के लिये बनाया है।

गोवध-मीमांसा

गोवध का निर्णय हमें वेद के मूल मन्त्र और उसके प्रकरणोचित अर्थों पर ही करना होगा। मन्त्रों के विनियोग की आलोचना हम कर चुके हैं। रहा 'शतौदना' शब्द। बन्ध्या गौ ही शतौदना क्यों कहाती है? इसमें वेदमन्त्रोक्त प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। इस समस्त सूक्त में 'गौ' का नाम ही नहीं है। इसी प्रकार एक भी मन्त्र में शतौदना के मारने

का विधान नहीं है। 'शमितारः', 'पक्तारः' ये दो प्रयोग ७वें मन्त्र में हैं। ५ वें मन्त्र में दान देने की प्रशंसा की है। १३ से २५ मन्त्रों तक शतौदना के भिन्न २ अंगों की सम्पदा का वर्णन किया है कि वे दाता को आमिक्षा, क्षीर, सर्पि और मधु प्रदान करें।

शतौदना का रहस्य

यह सब रहस्यमय सूक्त है। इसका रहस्य ओदन शब्द में छिपा है। 'शतौदना'—का अर्थ है शतवीर्या, या शत-प्रजापति-युक्त पृथिवी। क्योंकि—'प्रजापतिर्वा ओदनः'। श० १३। ३। ६। ७॥ जिस पृथिवी में सैंकड़ों प्रजापालक राजा हैं वह भूमि ही 'शतौदना' है। पृथिवी पर शान्ति का विस्तार करने वाले और उस पर श्रम करके फल प्राप्त करने वाले विद्वान् शक्तिशाली पुरुष उसके 'शमिता' और 'पक्ता' हैं। वे ही उस शतौदना की रक्षा करते हैं। जैसा वेद स्वयं कहता है—

> ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः।
> ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने॥ ७॥

हे देवि शतौदने! तेरे जो पक्ता और शमिता लोग हैं वे सब तेरी रक्षा करेंगे। इसके अनुसार पं० शंकर पाण्डुरंग का यह कथन कि गौ के मारे जाने पर देवलोग स्वर्ग में रक्षा करेंगे, निराधार कथन है।

पुरोडाश का अर्थ

मन्त्र २५ में द्यौ और पृथिवी दोनों 'पुरोडाश' कहे हैं। द्यौ और पृथिवी दोनों मिलकर जो महान् कूर्म बनता है वही 'पुरोडाश' है। उसके द्यौ और पृथिवी दोनों क्रोड़ अर्थात् बगलें ही दो पक्ष हैं। वे दोनों उस महती पृथिवी के परिपाक करने वाले और श्रम से फल प्राप्त करने वालों को वह द्यौलोक या सुखप्रद लोक या विजय को प्राप्त कराते हैं। राष्ट्र पक्ष में—विड् उत्तरः पुरोडाशः। श० ४। २। ५। २२। क्षत्रिय और वैश्य ये दोनों 'पुरुडाश' हैं। ये दोनों ही पृथिवी के क्रोड़ हैं। जो राजा

पृथिवी का परिपाक करता है, उसे अपने तेज से पकाता है, उसको वह राष्ट्रभूमि विजय और सुख प्रदान करती है।

शतौदना के अङ्गों से आमिक्षा, क्षीर, सर्पि और मधु के प्राप्त होने की प्रार्थना की गई है जिनकी आशा मृत गौ से नहीं की जा सकती। उसके परम गूढ़ आशय समझने के लिये हम पाठकों से (अथर्व० १०। ११।) अगले सूक्त के स्वाध्याय करने का आग्रह करेंगे और साथ ही आठवें काण्ड के सू० ९ और १० में कही विराड् गौ के वर्णन को फिर सूक्ष्म विचार पूर्वक पढ़ने का आग्रह करेंगे।

वहां का ही निम्नलिखित मन्त्र इस आशय को स्पष्ट कर देता है—

केवली इन्द्राय दुदुहे गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ ३ असुरान् उत ऋषीन् ॥८।९।२४॥

देव मनुष्य, असुर और ऋषि इन चारों को ४ रसों से तृप्त करने वाली 'गृष्टि' सर्व श्रेष्ठ रस पीयूष का प्रदान वह केवल 'इन्द्र' राजा या योगी आत्मा को प्रदान करती है।

इस (काण्ड १०। सू० १०) के १म मन्त्र में लिखा है।

इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना। इन्द्र ने प्रथम शतौदना दी। इसी की व्याख्या है—

इयमेव सा प्रथमा व्यौच्छत आस्वितरासु चरति प्रविष्टा महान्तो अस्यां महिमानः।

यह वही प्रथम प्रकट हुई जो इन और अन्यों में भी प्रविष्ट (चेतन रूप से) है। इसके महान् सामर्थ्य हैं।

हमने जो तीन स्वरूप शतौदना के देखे हैं वह भी स्पष्ट हैं।

प्रजामेका जिन्वन्ति ऊर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्। अथर्व० ८।९।१३॥

एक प्रजा को तृप्त करती है, दूसरी अन्न को, तीसरी राष्ट्र को।

गोमेध का स्वरूप

गोमेध यज्ञ को 'गोसव' भी कहा है। ताण्ड्य महा ब्राह्मण ने स्पष्ट ही कह दिया है—

अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः । ता० १९ । १३ ॥ 'गोसव' तो स्वाराज्य यज्ञ है । स्वाराज्य साधना ही 'गोसव' या 'गोमेध' है । यहां यह कहना भी असंगत न होगा कि ब्रह्मवेदियों के लिये आत्मसाधना और परमपद-लाभ को ही 'स्वाराज्य' शब्द से कहा गया है । इसीलिये अध्यात्म में आत्मशक्ति और परम ब्रह्मशक्ति को ही 'शतौदना' कहना उचित है ।

(७) वशाशमन

अथर्ववेद के कुछ सूक्त 'वशा' विषयक हैं । जिनका साम्प्रदायिक एवं पं० शंकर पाण्डुरंग और अन्य योरोपियन विद्वान् भी वशा नाम वन्ध्या गौ के बलि करने में प्रयुक्त मानते हैं ।

'वशा' शब्द पर विचार

वेद कहता है (अथर्व० का० १० । सू० १०) कि :—

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः ।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणा अच्छा वदामसि ॥ ४ ॥

जिससे आकाश, पृथिवी और समस्त जल, समुद्र मेघ आदि सुरक्षित हैं, वह सहस्रधारा (सहस्रों को धारण पोषण करने में समर्थ) शक्ति है, इसका हम (ब्रह्मणा) वेद द्वारा साक्षात् वर्णन करते हैं ।

पं० शंकर पाण्डुरंग, दारिल और सायण तो वशा से बन्ध्या गौ लेते हैं । परन्तु वेद में आकाश और पृथिवी की वशकारिणी परमेश्वरी शक्ति 'वशा' कही है । इसके अतिरिक्त वन्ध्या गौ के दूध नहीं होता फिर दोहना उसका असम्भव है । परन्तु यहां वेद कहता है ।

शतं कंसा शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः ।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

उसके दोहने के लिये सैंकड़ों कांसे के पात्र चाहियें । सैंकड़ों उसकी पीठ पर उसके रक्षक विराजमान हैं । जो देव उसके आश्रय पर जी रहे हैं वे उसको एक ही प्रकार का जानते हैं ।

अब उसका स्वरूप भी देखिये। वेद कहता है—

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका ।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

यज्ञ उसके चरण हैं, इरा = अन्न उसका दूध है, स्वधा, जल उसके प्राण हैं। उस पर बड़े २ लोक हैं। वह 'वशा' पर्जन्य की पत्नी है। यह ब्रह्म = अन्न के रूप से देवों को प्राप्त होती है।

उसके तीन रूप हैं—

अप: त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे ।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥

तू जल दोहती है, उर्वरा भूमि होकर राष्ट्र को दोहती है, अन्न को दोहती है और गौ के रूप में दूध दोहती है।

वन्ध्या वशा के पुत्रों को भी देखिये।

वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव ।
वशाया जज्ञ आयुधं ततश्चित्त यजायत ॥ १८ ॥

वशा राजा की माता है। हे अन्न ! वशा तेरी माता है।

अधिक मन्त्रों का उल्लेख न करके हमने पाठकों के लिये यह समझ लेना अत्यन्त सुगम कर दिया है कि वह 'वशा' पृथिवी है जहां अन्न उत्पन्न होता है, जो राजा की माता है। वह राजा को उत्पन्न करती है और अन्न को भी पैदा करती है। पृथ्वी सभी स्थानों से हिरण्य, मणिमुक्ता, वायु, जल तथा अन्यान्य कोटि कोटि जीवों को पालने के लिये सब कुछ पैदा कर रही है। परन्तु उजड़ी पृथ्वी किसी को कुछ नहीं देती। विद्वान् लोग उसपर अपने ज्ञान से और श्रम से सब कुछ उत्पन्न करते हैं। इसी से वन्ध्या होकर भी बहुत पैदा करती है। वन्ध्या गौ भी 'वशा' कहाती है यह ढकोंसला भी कदाचित् मन्त्र २३ में आये 'स्वः' पद से निकाला गया है। परन्तु उसी मन्त्र में 'वशा' ससूव यह देख लेते तो उनको वन्ध्या होने का भ्रम न होता।

इस 'वशा' का दूसरा रूप परमेश्वर की महती शक्ति है। वही परमेश्वर का ज्ञान उत्पन्न कराती है। इस प्रकार हम पाठकों को केवल वशा की समस्या सरल करने की दिशा मात्र दर्शाते हैं। शेष इन सूक्तों के मन्त्रों में जितने भी विवादास्पद विषय हैं वे हमने अपने भाष्य में प्रमाण सहित स्पष्ट कर दिये हैं।

पांचवें काण्ड के १२ वें सूक्त में विद्वानों द्वारा आत्मा और ईश्वर के गुणों का वर्णन है। सूक्त २७ में ब्रह्मोपासना का उपदेश और परमेश्वरी शक्ति का वर्णन है। का० १०। सू० ९ में शतौदना नाम प्रजापति की शक्ति का वर्णन है। का० १०। सू० १० में 'वशा' नाम ब्रह्माण्ड को वश करने वाली भुवनेश्वरी परमेश्वरी शक्ति का वर्णन है और उसी शक्ति का वर्णन और दान, ज्ञान कराने की आज्ञा और उसके सदुपयोग और दुरुपयोग के लाभ, हानियों का वर्णन का० १२। ४ सुक्त में किया गया है। विस्तार से पाठकगण प्रस्तुत भाष्य में देखें।

गोयज्ञ और शूलगव पर विचार

जिन भ्रान्तिमान् विद्वानों का यह विश्वास है कि प्राचीनकाल में गोमेध यज्ञ होता ही था और उसमें गौ आदि का मारा जाना अवश्य होता था, उनको अपनी भ्रान्ति का निवारण गोभिल गृहसूत्र में लिखे गोयज्ञ से अवश्य कर लेना चाहिये। उस में सिवाय 'गोपालन' के दूसरा कोई भ्रष्ट विधान नहीं है।

(८) स्कम्भ

जो योरोपीयन विद्वान् वेदों को असभ्य, अशिक्षित, लोगों के गीत समझते हैं उनको अपने बड़े २ दिमाग स्कम्भ सूक्त पर लगाने चाहियें। उनको स्वयं अनुभव होगा कि वे भूल में थे। उच्चतम दर्शन यदि कहीं विद्यमान है तो वह वेद में है जिसमें से व्यास का वेदान्तदर्शन और समस्त उपनिषद्, ब्राह्मणों की यज्ञ, उपासना निकली हैं।

यह कहना कि वेद में नाना देवताओं की कल्पना है वे एक परम

सर्वव्यापक महान् शक्ति से अनभिज्ञ हैं, उनको अपना शंका समाधान स्कम्भ सूक्त से करना चाहिये। का० १०। सूक्त ७ वां और ८ वां ये दोनों सूक्त 'स्कम्भ-सूक्त' कहाते हैं। वेद ने स्पष्ट शब्दों में स्कम्भ का स्वरूप बतलाया है कि:—

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवा:०। अथर्व० १०। ७। ३८॥

संसार के बीच में सबसे बड़ा पूजनीय, तप और तेज में, अन्तरिक्ष के भी ऊपर शासक है। उसमें समस्त 'देव' अर्थात् जो कोई भी दिव्य शक्तियां हैं सब आश्रय ले रही हैं।

० वृक्षस्य स्कन्ध: परित इव शाखा: (अथर्व० १०। ७। ३८)।

अर्थात् जैसे वृक्ष के तने से शाखाएं उत्पन्न होती हैं ऐसे ही समस्त संसार की शक्तियें उसी देव से उत्पन्न होती हैं।

स्कम्भ और वैश्वानर

छान्दोग्य में केकय देश के राजा अश्वपति ने वैश्वानर के विराट् रूप का उपदेश किया है।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप: प्राण: पृथग् वर्त्माऽऽत्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयि: पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय: ॥

इस स्वरूप का मूल स्कम्भ के वर्णन में वेद ने किया है—

यस्य भूमि: प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम: ॥ ३२ ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव:।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम: ॥ ३३ ॥
यस्य वात: प्राणपानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम: ॥ ३४ ॥

(अथर्व० १०। ७। ३२–३४)।

७—एक तिरछे मुंह का लोटा है; उसके ऊपर पैंदा है। उसमें विश्व रखा है। उसके किनारे २ सात ऋषि हैं, वे उसके रखवारे हैं? (५।९)

८—एक ऋचा है, वह आगे पीछे और सब ओर से जुड़ती है। वह यज्ञ को प्रारम्भ करती है। कौनसी है? (८।१०)

९—एक देव है, वही बाप और वही बेटा? वही सबसे बड़ा, वही सबसे छोटा है, बताओ कौन? (८।२८)

१०-एक (अवि) भेड़ ह, जिसके कारण सब हरे हरे हैं। कौन? (८।२८)

११-एक सूत जिसमें सब जीव पिरोये हुए हैं। कौन? (८।३८)

१२-नौ द्वार वाले और तीन सूतों से लिपटे कमल में जानदार मूर्ति है। कौन? (८।४३) इत्यादि।

अनेक इसी प्रकार की नाना पहेलियां है जिनको रूढ़ि शब्दों से कूट रूप में रखा गया है। विचार से ही विद्वान् इन सबको प्राप्त करता है। उपनिषद् में इनमें से बहुतसी समस्याओं को सरल करने का यत्न किया है जिनका स्पष्टीकरण प्रस्तुत भाष्य में स्पष्ट रूप से पाइयेगा।

(९) ब्रह्मौदन

अथर्ववेद के ११ काण्ड के १-९ सूक्तों में ब्रह्मोदन का प्रकरण है।

साम्प्रदायिकों ने (११।३) सूक्त को 'ब्रह्मोदन सव' में न लगाकर 'बृहस्पति सव' में प्रयुक्त किया है। परन्तु वेद 'तस्यौदनस्य०' इस सूक्त द्वारा पूर्वोक्त 'ओदन' का ही वर्णन करता है। (११।४), (११।५) इनका सम्बन्ध भी ओदन से ही है। ६, ७ और ८ ये सूक्त प्राण, ब्रह्मचारी और अंहोमोचन विषयक होकर ९ वां 'ओदन-शेष' का उच्छिष्ट सूक्त है। इस परम्परा से विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्राण सूक्त भी ओदन का स्वरूप बतलाता है। ब्रह्मचारी सूक्त उस ब्रह्मरूप ओदन के भोक्ता का स्वरूप बतलाता है। अंहोमोचन सुक्त ब्रह्मभोग का फल बतलाता है और उच्छिष्ट पुनः उसी ब्रह्मोदन के माहात्म्य को दर्शाता है।

ब्रह्मौदन क्या पदार्थ है और उसका भोक्ता कौन है ? कैसे उसका भोग किया जाय ? अवशेष 'उच्छिष्ट' का क्या स्वरूप है ? उस ओदन को किस प्रकार परिपाक किया जाय इत्यादि सभी रहस्य की बातें हैं। गृहस्थ ब्रह्मोदन का पाक किस प्रकार करे ? राष्ट्र में ब्रह्मोदन किस प्रकार पकाया जावे ? महान् ब्रह्माण्ड में 'ओदन' अर्थात् प्रजापति के परम उत्कृष्ट तेज का परिपाक किस प्रकार होता है ? इन सब पक्षों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत भाष्य में किया गया है। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'ब्रह्मौदन' प्रजापति का स्वरूप है। राष्ट्र में पृथिवी, गृह में गृहिणी और ब्रह्माण्ड में अखण्ड परमेश्वरी शक्ति, शरीर में चिति इन सबका एक नाम वेद में 'अदिति' है। गृहस्थ में पति, देह में आत्मा, राष्ट्र में राजा, ब्रह्माण्ड में परमेश्वर 'अग्नि' है। २ से ६ तक के मन्त्र प्रत्यक्ष रूप से राजा का वर्णन कर रहे हैं। यही वस्तुतः ब्रह्मभोग्य 'ओदन' का वर्णन है।

अगले मन्त्रों में भी ग्रावा, चर्म, नारी वेदि आदि शब्द श्लेषमूलक उपमा को दर्शाते हैं। जिनको हम पुनः २ यहां लिखकर लेख नहीं बढ़ाना चाहते। पाठकों से आग्रह करेंगे कि ब्रह्मौदन प्रजापति का स्वरूप प्रस्तुत भाष्य में ही साक्षात् करेंगे।

इस महान् ओदन के परिपाक का आलंकारिक वर्णन तो स्वयं वेद ने तृतीय सूक्त में कर दिया है।

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ३। ११ ॥

इस महान् ब्रह्मोदन के रांधने की हांडी यह पृथिवी है और द्यौ हंडिया पर ढकने का बर्तन है।

उस ओदन का विशाल रूप देखिये—

यस्मिन् समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः।
यस्य देवा अकल्पन्त उच्छिष्टे षडशीतयः।
तं त्वा ओदनं पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ ३। २०—२२ ॥

"मैं तो उस ओदन (भात) को पूछता हूँ जिसकी महिमा बड़ी है

जिसमें समुद्र, द्यौ और भूमि तो उरे-परे स्थित हैं, जिसके उच्छिष्ट रूप में ४८० दिव्य शक्तियां विद्यमान हैं ।"

११ । ३ (३) में उसी महान् ओदन से समस्त संसार की उत्पत्ति का वर्णन किया है । ११ । ४ सू० में समस्त वैकारिक सर्ग और जीवसर्ग के परमाश्रय, परमचैतन्य, समष्टि प्राण रूप परमेश्वरी शक्ति का वर्णन बड़ा ही विस्मयजनक है ।

इस शरीर में ब्रह्मोदन का पाक करके भोग करने वाला वीर्य पालक अखण्ड ब्रह्मचारी ही है । इसका विराट् वर्णन, ब्रह्मचारी के रूप में ११।५ (७) सूक्त में दर्शाया है । इसमें परमेश्वर को भी ब्रह्मचारी दर्शाया है । इस प्रकार परब्रह्म का विशाल रूप जान कर उसके बनाये पवित्र जगत् में मलिन चित्त वालों को अपने पाप का मैल कैसे धो डालना चाहिये इसका वर्णन (११ । ६) में किया है ।

(१०) मन्यु

अद्भुत सृष्टि की रचना के मूल कारण की खोज में वैज्ञानिक कोई मूल कारण नहीं बतला सके कि क्यों नाना जीव सृष्टि हुई । जीव के शरीर में नाना प्रकार की धातुएं, मानस विकार, तथा नाना तृष्णाएं कहां से पैदा हुई ? ये सभी अध्यात्म, आधिदैविक, समस्याओं के उत्तर वेद ने 'मन्यु सूक्त' में सरलता से दिये हैं ।

डार्विन ने विकासवाद को मुख्य रखने की चेष्टा की है परन्तु जब पूछा जाता है कि विकास क्यों हुआ ? तो उत्तर कुछ नहीं, दबी जबान से जब दृष्टान्त होते हैं तो प्राणियों की नाना इच्छाओं को ही विकास के कारण रूप से कह देते हैं । वेद इस इच्छा को 'संकल्प के गृह से प्राप्त जाया' के नाम से कहता है जो 'मन्यु' मननशील आत्मा से संगत होकर नाना वैचित्र्य उत्पन्न करती है । उस मन्यु और संकल्प की पुत्री 'जाया' के संगति के कारण तप और कर्म थे । ब्रह्माण्ड की विशाल विचित्र रचनाओं का प्रधान कारण महान् 'मन्यु' था, जिसको 'ब्रह्म' कहते हैं ।

फिर इसी संकल्प से भूमि के पृष्ठ पर उत्पन्न स्थावर जंगम और मैथुनी सृष्टि का रहस्य खोला गया है। (१०-३४) पाठक प्रस्तुत भाष्य में विस्तार से देखें।

राष्ट्र प्रजापति के प्रजा के पालन में महान् मन्यु रूप राजा के विकट रूप का वर्णन अर्थात् युद्ध आदि का वर्णन शेष ९, १० दो सूक्तों में किया है।

(११) पृथिवी सूक्त

मातृभूमि के प्रति प्रेम की आदर्श शिक्षा वेद ने काण्ड १२। सू० १ में पृथिवी सूक्त द्वारा प्रदान की है। पहले ही मन्त्र में राजाओं का गर्व तोड़ दिया है कि पृथ्वी के पालक वे नहीं हैं परन्तु सत्य, ऋत, उग्र तप, दीक्षा, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथ्वी को धारण करते हैं। यदि ये न हों तो पृथ्वी नष्ट हो जाय (मं० १)।

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥ १ ॥

इस मन्त्र में बृहद् ऋत ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है। वेद सिखाता है कि पृथिवी माता है और हम उसके पुत्र हैं। उसका अन्न आदि पुष्टिप्रद पदार्थ हमारे लिये दूध है (मं० १०)।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।
इन्द्रो यां चक्रे आत्मने अनमित्रां शचीपतिः ॥ १० ॥

समस्त पृथिवी के सार्वभौमशासन को राजा पृथिवी का पुत्र होकर करे न कि पशु होकर। इसके लिये वेद कहता है—

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥ १२ ॥

ऐसी माता पृथिवी पर हम पुत्र किस पिता के आधार पर जीएं वेद कहता है—पर्जन्य = मेघ हमारा पिता है।

पर्जन्यः पिताः स नः पिपर्त्तु ॥ १२ ॥

एक भूमि माता के पुत्र सब मिलकर प्रेम से वार्त्तालाप करें।

ता नः प्रजा संदुह्रतां समग्राः । वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

पृथ्वी पर आने जाने और गाड़ियों के जाने के मार्ग बना कर, मार्गों पर हम अपना वश रखें और उन्हें चोर डाकुओंसे रहित कर दें (मं० ४७)

ये ते पन्थानो बहवो जनायनाः रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यै संचरन्त्युभये भद्र पापास्तं पन्थानं जयेमानमित्र मतस्करम् ॥ ४७ ॥

(१२) क्रव्यात् अग्नि

'नडमारोह०' इत्यादि (का० १२ । सू० २) सूक्त क्रव्यात् अग्नि सम्बन्धी है । इस सूक्त में २५ मन्त्र हैं इस सूक्त के सम्बन्ध में हमारा सभी अनुवाद-कर्त्ताओं से प्रायः अर्थ भेद है । इस पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं है । इसके मन्त्र भी बहुत से बड़े ही अस्पष्ट हैं, उदाहरण के रूप में प्रथम मन्त्र ही लेना पर्याप्त है ।

नडम् आरोह न ते अत्र लोकः इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥

अर्थ—हे क्रव्यात् ! तू 'नड़' पर चढ़, तेरा यहां लोक नहीं । यह 'सीस' तेरा भाग है, तू आ । जो 'यक्ष्म' गौओं और जो यक्ष्म पुरुषों में है उसके साथ तू दूर चला जा ।

सूक्त का विनियोग

यहां क्रव्यात् क्या पदार्थ है यही विवादास्पद है । श्री पं० शङ्कर पाण्डुरंग ने इस सूक्त की उत्थानिका में लिखा है कि—

यह सूक्त 'क्रव्यात्' नामक अग्नि के विषय का है । तीन अग्नि होते हैं आमात्, क्रव्यात् और हव्यात् । जो 'आम' अर्थात् अपक्व को खाता है वह लौकिक अग्नि 'आमात्' है जिससे मनुष्य भोजन पकाकर खाते हैं । (शतपथ १।२।१४)। क्रव्य अर्थात् शवदाह के अवसर पर जो मांस को खाता है वह 'क्रव्यात्' घोर स्वरूप चिता की अग्नि है । वह 'पित्र्य' है । शतपथ में ही लिखा है कि—'येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यात् ।' जिससे पुरुष को जलाते हैं वह 'क्रव्यात्' है । 'हव्य' अर्थात् पक्व देवयज्ञ में

आहुति किये अन्न को जो खाता है अथवा जो इस अन्न को देवों को पहुँचाता है वह प्रज्वलित अग्नि 'हव्यात्' है जो यज्ञ के योग्य है। 'आमात्' और 'क्रव्यात्' दोनों यज्ञ के योग्य नहीं होते हैं। यहां घोर स्वरूप अग्नि को लक्ष्य करके सूक्त प्रारम्भ होता है। केवल 'क्रव्यात्' शवदाह में मांस ही नहीं खाता, बल्कि घोर होने से यक्ष्मा आदि बहुत से रोगों को और नाना प्रकार की मृत्यु को भी ले जाता है। उसी प्रकार वह बहुत सी आपत्तियों को भी पैदा करता है। उन २ आपत्तियों, उन २ रोगों और उस २ मृत्यु को सूत्रकार प्रार्थना से ही दूर करता है और 'क्रव्यात्' का जो घोर रूप है उससे वह 'क्रव्यात्' शत्रु को मारे, ऐसी प्रार्थना करता है। सब पापों को 'क्रव्यात्' दूर करे वह इच्छा करता है। क्रव्याद् को शान्त करने की इच्छा करता हुआ कौशिक सूत्र में कहे विधान से कर्म करता है, तो वे सब नाश को प्राप्त हों ऐसा कहता है।

'क्रव्यात्' की विवेचना

फलतः यह समस्त सूक्त साम्प्रदायिकों के अनुसार शव को जलाने वाले अग्नि पर ही लगा दिया है। अनुवादकों ने भी इस विनियोग को लक्ष्य में रखकर अर्थ करने का यत्न किया है। अब प्रथम मन्त्र पर विचार कीजिये कि उनका ऐसा करना कहां तक सुसंगत है।

मन्त्र को अग्नि पर काष्ठ रखने या पानी से अग्नि को बुझाने पर लगाया है परन्तु उसको 'नड़' पर चढ़ाना, 'सीसा' को उसका भाग कहना, गौ और आदमियों में से यक्ष्मा को दूर करना, आदि का क्रव्यात् से क्या सम्बन्ध है कुछ ज्ञात नहीं होता। हमारी मति में कच्चा मांस खाने वाले अग्नि के अतिरिक्त व्याघ्र आदि हिंसक और दुष्ट जङ्गली पशु भी क्रव्याद् हैं। उनको नड़ (= शर पर) चढ़ाना, सूली देना या बाण से मारना, सीसे या गोली का शिकार करना, पुरुषों और पशुओं पर रोग के समान आक्रमण करने वालों के साथ उनको मार भगाना, कैसा सुसंगत अर्थ वेद मन्त्र का प्रकट होता है। वेद ने इस सूक्त में जीवों के कच्चे

मांस का आहार करने वाले सभी को 'क्रव्यात्' शब्द से कहा है।

यदि अग्निः क्रव्यात् यदि वा व्याघ्रः इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्रहिणोमि दूरं० ॥

इस मन्त्र से उड़द की पीठी के गुलगुले शवाग्नि को दिये जाते हैं। वेद मन्त्र तो 'माषाज्य' करके क्रव्यात् अग्नि और व्याघ्र तक को दूर भगा देने की आज्ञा देता है। तो क्या व्याघ्र भी उड़द के पकौड़े खायगा? स्पष्टार्थ यह है कि व्याघ्र को 'माषाज्य' करने का तात्पर्य है उसके लिये मारने योग्य शस्त्र का प्रयोग करके उसे दूर भगा देना।

आज्यम्—आज्येन वै देवाः सर्वान् कामान् अजयन्। कौ०। १४।१॥ वज्रो वा आज्यम् ॥ श० १। ३। २। ३.७ ॥ मष हिंसार्थः। भ्वादिः। माषः हिंसा।

इस स्थल पर 'अग्नि' का अर्थ भी अग्नि के समान तापकारी दुःख-दायी पुरुष वा पशु ही लिया जाना उचित है। वह यदि 'अन्योकाः' दूसरी जगह से कहीं अपनी बस्ती में आ घुसे तो उसे मारकर निकाल दे। यही वेद का सरल अर्थ है, इत्यादि।

(१३) स्वर्गौदन

साम्प्रदायिक लोग 'स्वर्गौदन' को भी पूर्वोक्त ब्रह्मौदन के समान ही देवता प्रीत्यर्थ 'भात' ही जानते हैं। मन्त्र को तो आहुति आदि के निमित्त मात्र जानते हैं। का० १२। सू० ३ को स्वर्गौदन विषयक बत-लाते हैं। पर विस्मय यह है कि समस्त सूक्त में 'स्वर्गौदन' शब्द कहीं एकत्र नहीं आया। 'ओदन' और स्वर्ग दोनों शब्द पृथक् २ अवश्य आये हैं, परन्तु स्वर्गौदन शब्द अवश्य साम्प्रदायिक कल्पकारों का घड़ा हुआ है। भले ही श्रद्धालु यजमान विशेष रीति से बनाये भात की आहुति देकर एक कल्पित लोक को स्वर्ग जानकर कर्मकाण्ड में लिप्त रहें, परन्तु वेद के मन्त्रों में स्वर्ग और ओदन दोनों ही पृथक् २ हैं और उनका अद्भुत स्वरूप बतलाया गया है जिसका हम इस प्रसङ्ग में विवेचन करना आवश्यक समझते हैं।

ओदन शब्द पर विचार

वेद 'ओदन' के विषय में कहता है—

यं वा पिता पचति यं च माता । रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः ।
स ओदनः शतधारः स्वर्गः० ॥ ५ ॥

यह ओदन है कि जिसको पिता पकाता है और माता भी पकाती है। क्योंकि जिससे वे दोनों पाप और परस्पर में की गयी प्रतिज्ञा के अङ्गदोष से बचे रहें। वह 'शतधार ओदन' है। वही सुखप्रद है। माता और पिता जब कुमार कुमारी होते हैं तब ब्रह्मचर्य पूर्वक वीर्य को परिपक्व करते हैं। जब वे दोनों परिपक्व वीर्य हो जाते हैं तब पति-पत्नी होकर एक दूसरे के साथ वाग्-बद्ध हो जाते हैं। तब भी गृहस्थ में रहकर पुरुष परस्त्री से और स्त्री परपुरुष से व्यभिचार न करके दोनों अपने वीर्य रक्षा के व्रत का पालन करते हैं। मैथुन करके भी परस्पर के उत्पन्न पुत्र को अपना वीर्य जानकर ही उसका पालन करते हैं। वे पतिव्रत और पत्नीव्रत दोनों को वाणी के 'शमल' से बचने के लिये सचाई से निभाते हैं। सद् गृहस्थ का पालन एवं उसमें वीर्य की रक्षा ही 'शतधार ओदन' है। उसके आधार पर सैंकड़ों जीवों की पालना होती है, गृहस्थ के पालक पति पत्नी का भी १०० वर्ष तक जीवन रहता है। वही गृहस्थ 'स्वर्ग' है।

स्वर्ग का स्वरूप और साधन

इसी स्वर्ग के विषय में वेद पुनः कहता है—

ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः । तेषाम् ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे ।
तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सश्रयेथाम् ।

हे स्त्री पुरुषो ! यज्ञशील पुरुष जिन सुखमय लोकों का विजय करते हैं, उनमें से सबसे अधिक उज्ज्वल और आनन्दमय जो स्वर्ग है उसमें रहकर ही तुम पुत्रों सहित अपने बुढ़ापे में भी आनन्द से विश्राम पाओ, अर्थात् पूर्णायु होकर देह त्यागो।

इस प्रकार वीर्य रक्षापूर्वक गृहस्थ को स्वर्ग या सुखधाम बतला कर वेद ने इस सूक्त में स्त्री पुरुषों के परस्पर गृहस्थ का सुखमय साक्षात् स्वर्ग बनाने के साधनों का उपदेश किया है।

(१४) रोहित

समस्त त्रयोदश काण्ड 'रोहित' विषयक है। इसमें मुख्य रूप से परमेश्वर का वर्णन है। गौण रूप से राजा का और अध्यात्म में योगी विभूतिमान् आत्मा का भी वर्णन है। कुछ स्थलों पर राजा और परमेश्वर दोनों का पृथक् २ भी वर्णन है। अध्यात्म में वहां परमेश्वर और जीव दोनों का ग्रहण है। सूक्त का प्रतिपाद्य विषय स्वयं प्रस्तुत भाष्य में उचित रूप से वर्णन कर दिया गया है।

(१५) व्रात्य

१५ वां काण्ड व्रात्य विषयक है। पं० शंकर पाण्डुरंग के कथनानुसार

"व्रात्यो नाम उपनयनादिसंस्कारहीनः पुरुषः। सोऽर्थात् यज्ञादिर्वेदविहिताः क्रियाः कर्तुं नाधिकारी। न स व्यवहारयोग्यश्चेत्यादि जनमतं मनसिकृत्य व्रात्योऽधिकारी व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो देवप्रियो व्रात्यो ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वर्चसो मूलं किं बहुना व्रात्यो देवाधिदेव एवेति प्रतिपाद्यते। यत्र व्रात्यो गच्छति विश्वंजगत् विश्वे च देवास्तत्र तमुपगच्छन्ति तस्मिन्स्थिते तिष्ठन्ति तस्मिंश्चलति चलन्ति यदा स गच्छति राजवत् स गच्छति इत्यादि। न पुनरेतत् सर्वव्रात्यपरं प्रतिपादनम्। अपि तु कश्चिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसामान्यं कर्मपरैः ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनम् इति मन्तव्यम्।"

अर्थ—उपनयन आदि संस्कारहीन पुरुष 'व्रात्य' नामक होता है। अर्थात् वह वेदविहित यज्ञ आदि क्रिया करने का अधिकारी नहीं होता और वह व्यवहारयोग्य भी नहीं होता, इत्यादि जनों के मत को चित्त में रख कर व्रात्य अधिकारी है, व्रात्य महानुभाव है, व्रात्य देवताओं का प्यारा है, व्रात्य ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के तेज का मूल है। क्या

बहुत कहें व्रात्य देवों का भी देव है ऐसा प्रतिपादन किया जाता है। जहां व्रात्य जाता है समस्त जगत् और समस्त देव वहां उसके समीप आते हैं। उसके खड़े रहने पर खड़े होते हैं, उसके चलने पर चलते हैं। जब वह जाता है तो राजा के समान जाता है इत्यादि। यह सब व्रात्यों के विषय में नहीं लिखा गया है। परन्तु किसी बहुत अधिक विद्वान्, बड़े भारी अधिकारी, पुण्यशील, सबके लिये सम्मान योग्य, ऐसे व्रात्य को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है, जिसके प्रति कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने द्वेष ठान रखा हो।

पं० शंकर पाण्डुरंग का इस प्रकार लिखना हमें बड़ा भ्रमजनक प्रतीत होता है। उपनयन आदि संस्कारों से हीन, यज्ञादिहीन, अनधिकारी पतित पुरुष को वेद प्रशंसाओं से बढ़ावे, यह कब सम्भव है? फिर उक्त पण्डित का यह कथन है किसी बहुत बड़े विद्वान्, महाधिकारी, पुण्यशील जिसके प्रति कर्मकाण्डियों को द्वेष रहा हो, ऐसे व्रात्य को लक्ष्य में रखकर यह वेद का १५ वां काण्ड कहा गया है, इसमें सब व्रात्यों का वर्णन नहीं, यह और भी असंगत है। क्योंकि जब वह पुण्यशील है तो हीन, पतित व्रात्य वह कहां रहा? फलतः उक्त पण्डित का ऐसा कथन वैदिक व्रात्य शब्द के न समझने के कारण ही हुआ है। कदाचित् उक्त पण्डित के चित्त में वह व्रात्य कोई जन्म से व्रात्य होकर बड़ा विद्वान् बन गया होगा और वेद ने उसी को स्तुति कर दी होगी। ऐसी कपोलकल्पना कभी मानी नहीं जा सकती।

इसी व्रात्य के विषय में योरोपीयन विद्वानों ने भी अपने विचार दौड़ाएं हैं। उनके विचारों की आलोचना करना भी विषय की स्पष्टता के लिये बड़ा चित्तरंजक है।

पण्डित ग्रीफ़िथ अपने अथर्ववेद के अंग्रेज़ी अनुवाद (१५ का०) के प्रारम्भ में ही चरणटिप्पणी में लिखते हैं कि—

"इस अपूर्व रहस्यमय काण्ड का प्रयोजन व्रात्य को आदर्श बनाना और बहुत बढ़ी-चढ़ी प्रशंसा करना मात्र है।"

उपाध्याय ओफ्राष्ट का यह मत है कि, "जो व्रात्य विशेष प्रायश्चित्त करने के बाद उपनीत हो जाता था और ब्राह्मण आर्यों में प्रवेश पा जाता था उसके विषय में यह प्रशंसा लिखी गयी है।"

पं० ग्रीफ़िथ 'व्रात्य' शब्द पर टिप्पणी लिखते हैं कि, " 'व्रात्य' शब्द 'व्रात' से बना है। 'व्रात्य' का अर्थ है आर्यों से बहिष्कृत जत्थे का सर्दार। वह बिलकुल ब्राह्मणों के शासन से मुक्त और ब्राह्मणों के मार्ग पर न चलने वाला है" इत्यादि। ऐसा ही मन्तव्य पं० वेबर का भी है।

वैदिक व्रात्य के विषय में ऐसी असंगत वेद विरुद्ध मति उठने का एक मात्र कारण हमें मनुस्मृति (अ० १० । २०) का निम्न श्लोक प्रतीत होता है—

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्।
तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

अर्थ—द्विजाति लोग अपने ही वर्ण की स्त्रियों में जिन पुत्रों को उत्पन्न करें, यदि उनके उपनयनादि व्रत न हों तो उन गुरुमन्त्र से भ्रष्ट पुरुषों को 'व्रात्य' नाम से पुकारे।

इसी प्रकार ताण्ड्य महाब्राह्मण में 'व्रात्यस्तोम' का वर्णन है जिसके पाठ से व्रात्य भी शुद्ध, संस्कृत करके पुनः यज्ञादि के अधिकारी होते थे। यहां व्रात्यों के विषय में लिखा है—

हीना वा एते। हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति। नहि ब्रह्मचर्यं चरन्ति, न कृषिं, न वाणिज्यां। षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति।

जो लोग 'व्रात्या' को लेकर प्रवास करते हैं वे न ब्रह्मचर्य का पालन करते, न खेती बाड़ी और न व्यापार करते हैं। षोडश स्तोम उनको पवित्र कर सकता है।

इस ब्राह्मण भाग पर सायणाचार्य का भाष्य है।

व्रात्यां व्रात्यतां आचारहीनतां प्राप्य प्रवसन्तः प्रवासं कुर्वन्तः ।

व्रात्या को लेकर प्रवास करने का तात्पर्य सायण के मत से, व्रात्यता अर्थात् आचारहीनता को लेकर प्रवास करना है। अन्यत्र भी—

व्रात्या विहिताकरणप्रतिषिद्धनिषेवणरूपाम् प्राप्य प्रवसन्ति ।

व्रात्यता अर्थात् विहित कर्म का न करना और निषिद्ध कर्म का आचरण करने रूप गिरावट को पाकर प्रवास करते हैं।

हमें इन ही सब लेखों के आधारों पर श्री पं० शङ्कर पाण्डुरंग तथा ग्रीफ़िथ आदि का लेख प्रतीत होता है। परन्तु हमें यह कहते जरा भी संकोच नहीं कि वैदिक 'व्रात्य' का यह अभिप्राय नहीं है।

जिस प्रकार 'देवानां-प्रियः', 'प्रियदर्शी' आदि शब्द बौद्ध काल में बड़े आदर के थे, परन्तु पौराणिक काल में इन शब्दों को द्वेष से प्रेरित होकर 'मूर्ख' वाचक बना दिया गया है; 'बुद्ध' शब्द पहले ज्ञानवान् पुरुष के लिये प्रयोग होता था, परन्तु उसी का अपभ्रंश 'बुत्' अब केवल 'पत्थर की मूर्त्ति' का वाचक हो गया है; इसी प्रकार हम अन्य बहुत से प्राचीन शब्दों को अर्वाचीन काल में विपरीत अर्थों में प्रयुक्त होता पाते हैं। ठीक इसी प्रकार वेद के बहुत से पवित्र शब्दों को अगले ब्राह्मणकाल और पौराणिक स्मृतिकाल में विकृतार्थ हुआ पाते हैं।

अथर्ववेदीय चूलिकोपनिषद् में व्रात्यसूक्त को औपनिषदिक ब्रह्मविद्या के निरूपण का सूक्त माना गया है।

ब्रह्मचारी च व्रात्यश्च स्कम्भोऽथ पलितस्तथा ।
अनड्वान् रोहितोच्छिष्टः पठ्यते भृगुविस्तरे ॥
शिवो भवश्च रुद्रश्च ईश्वरः पुरुषस्तथा ।
कालः प्राणश्च भगवान् आत्मा पुरुष एव च ॥
प्रजापतिर्विराट् चैव पार्ष्णिः सलिलमेव च ।
स्तूयते मन्त्रसंयुक्तैरथर्वविहितैर्विभुः ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी सूक्त (का० ११ । ५), व्रात्य सूक्त (का० १५),

स्कम्भ सूक्त (का० १० । ७ । ८), पलित सूक्त (का० ९ । ९ । १०), अनड्वान् सूक्त (का० ४ । ११), ऋषभ सूक्त (का० ९ । २, ५), रोहितसूक्त (का० १३), उच्छिष्ट सूक्त (का० ११।७), शिव, भव, रुद्र सूक्त (११ । २), ईश्वर, पुरुष (का० ११ । ६) काल (का० १९ । ५३, ५४), प्राण (१० । ८), आत्मा (११ । ४) भगवान् (३ । १६), प्रजापति, विराट् (८ । ९, १०), पार्ष्णि सूक्त (१० । २), सलिल सूक्त (८ । ९) अथर्ववेद के ये समस्त सूक्त परमेश्वर का ही वर्णन करते हैं ।

इसी प्रकार यजुर्वेदीय मन्त्रिकोपनिषद् जो चूलिकोपनिषद् का प्रतिरूप है उक्त श्लोकों को ही पाठभेद से स्मरण करता है ।

फलतः व्रात्य सूक्त वेदान्तविषयक ब्रह्म प्रजापति का ही वर्णन करता है । इसी को लक्ष्य में रखकर योरोपीयन पण्डित ब्लूमफील्ड ने ठीक लिखा है कि—There can be no doubt that the theme is in reality Brahm. अर्थात् वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्रात्य सूक्तों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है । इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने अतिथि की शुश्रूषा करने के लिये व्रात्यसूक्त का ही उल्लेख किया है । पूज्य गुरु, आचार्य, स्नातक, तपस्वी राजा आदि सभी को सामान्य 'व्रात्य' शब्द से ही संबोधन करने का आदेश है । यदि व्रात्य शब्द पूर्व काल में ही 'पतित' का पर्याय होता तो आपस्तम्ब धर्मसूत्रों में ऐसा विधान सर्वथा न आता ।

इस सूक्त में नीललोहित, महादेव, ईशान आदि शब्द देखकर पं० ब्लूमफील्ड ने अनुमान किया कि इस सूक्त पर शैव सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव है । परन्तु हमें खेद है कि प्रजापति, ब्रह्म, तप, सत्य आदि विशेषण देखकर किसी अन्य सम्प्रदाय की छाप क्यों न अनुभव की ?

व्रात्य का स्वरूप

व्रात्य सूक्त में प्रथम उपास्यदेव व्रात्य के पवित्र नाम कीर्तन किये

गये हैं (१५ । १ (१)), (१ (२)) में व्रात्य का अलंकार से विराट्, ज्ञानमय, देवमय, कालमय, दिङ्मय, रूप प्रकट किया है, जिसका अनुकरण प्रायः शैव सम्प्रदाय ने सेनानायक का सा रूप कल्पित करके जगन्नाथ के रथ की कल्पना की और त्रिपुर-विजय का वर्णन किया है।

१५ । १ (३) में व्रात्य के वेदमय सिंहासन का वर्णन है। १५ । १ । (४) में व्रात्य के सर्वदिशाव्यापी संवत्सरमय राज्य का वर्णन है और १५ । १ (५) में भी उपदिशाओं में आधिदैविक शासन का वर्णन किया है। (६) में दिग्विजय का स्वरूप दिखाया गया है। (७) में महती विभूति दर्शाई है। (८) में राजन्यरूप और (९) में उसका सभापति, सेनापति और गृहपति का स्वरूप दर्शाया है। (१०) में उसके ब्राह्मबल और क्षात्रधर्म का विस्तार दर्शाया है। (११–१३) में उसका आतिथ्य और (१४) में उसका अन्नाद से विशाल भोक्तृ रूप दर्शाया है। (१५, १६, १७) में उसके प्राण, अपान और व्यान का विराट् वर्णन है। (१८) में व्रात्य के आंख, नाक, कान, शिर का वर्णन है। यह व्रात्य का कल्पित स्वरूप प्रजापति के सभी अन्य विराट् रूपों के समान ही है।

(१६) विवाह सूक्त

चौदहवां समस्त काण्ड विवाहपरक है। श्री पं० शंकर पाण्डुरंग के कथनानुसार—

'सूक्तारम्भे सूर्या नाम या सूर्यरूपा सवितृपुत्री देवी तस्या विवाहस्य कथा वर्णिता।'

सूक्त के प्रारम्भ में सूर्या नाम की कोई, सूर्य के रूप वाली, सविता की कन्या है। वेद में उसकी कथा कही गई है। अर्थात् उक्त पण्डित के कथनानुसार यह एक कहानी ही रही। सविता कोई देव है, उसकी कोई कन्या है। उसके बाद उक्त पंडित ने विवाह के कृत्यों में मन्त्रों का विनियोग दर्शाया है।

वैदिक विवाह की कुछ विशेषताएं

१—गृहस्थ प्रकरण को प्रारम्भ करके वेद साक्षात् प्रजापति का रहस्य खोलते हैं। 'सत्येन उत्तभिता भूमिः।' सत्य ने भूमि को उठा रखा है, अथवा सत्यवान्, वीर्यवान्, तेजस्वी पुरुष ही भूमि स्वरूप स्त्री का भार उठाता है, नपुंसक नहीं, परस्पर का सत्य व्यवहार ही गृहस्थ रूप भार को उठाता है। (सू० १ । मं० १)।

शरीर में वीर्य की सत्ता को कितने अच्छे दृष्टान्त से दर्शाया है—

यत् त्वा सोम प्र पिबन्ति तत् आप्यायसे पुनः (१ । ४)।

हे वीर्य ! जब तेरा भोग कर लेते हैं तो तू फिर बढ़ जाता है। अर्थात् गृहस्थ कार्यों में वीर्य के व्यय हो जाने पर शरीर में अन्नादि ओषधियों के सेवन से पुरुष फिर वीर्यवान् हो जाता है और वह फिर ऐसे पूर्ण हो जाता है जैसे चन्द्र एक बार घट कर भी फिर पूर्ण हो जाता है।

२—मन्त्र (१ । ६) में स्वयंवरा कन्या का स्वरूप दिखाया है।

चित्तिरा उपबर्हणम् चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीत् यद् अयात् सूर्या पतिम्॥

अर्थ—"जब 'सूर्या' पति को प्राप्त होती है तब चित्त का संकल्प सिरहाना होता है; चक्षुः अर्थात् उसमें उत्पन्न प्रेमराग ही गात्रलेप है; जमीन और आसमान दो खजाने हैं।

उस कन्या के लिये 'रैभी आसीद् अनुदेयी।' रैभी नाम ऋचा या उपदेशमयी वैदिकवाणी उसका विदाई के समय का दहेज हो। 'नाराशंसी न्योचनी' उत्तम पुरुषों की चरित्रकथा उसकी ओढ़नी हो। 'सूर्याया भद्रम् इद् वासः' कल्याण-चरित्र ही उसका आच्छादक वस्त्र है। सच्चरित्र ही उसका पर्दा है और लोग जब उसकी सच्चरित्रता का वर्णन करें बस वह उसी 'गाथया एति परिष्कृता' पुण्यचरित्र की गाथा से सुभूषित होकर पति के घर आती है (१ । ७)।

३—इस सम्बन्ध में वेद कुछ और भी परिभाषाएं प्रकट करता है, जैसे (१ । ९)—

'सोमो वधूयुः अभवत् ।' वधू की कामना करने वाला पुरुष 'सोम' है और 'अश्विना स्ताम् उभा वरा' स्त्री पुरुषों के जोड़े सब मिलकर आये हुए बराती 'अश्विनौ' होते हैं। और 'सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता अददात् ।' जो पति को मन ही मन गुनती हुई कन्या को दान देता है वह कन्या का पिता 'सविता' कहाता है। परन्तु हमारे रूढ़ि-देववादियों ने इस सब रहस्य को ओट करके कुछ अजब ही 'सूर्या-सोम' के विवाह की कहानी सी बना ली है।

देवता वाचक रूढ़िनामों से इस प्रकरण के वेदमन्त्रों का अर्थ लगाना बड़ी भारी भूल है। हमें उनका आख्यातज अर्थ ही लेकर इस विवाह प्रकरण को सर्वथा क्रियात्मक रूप से सुसंगत करना होगा।

नव पति-पत्नी को वेद के उपदेश

इस प्रकरण में वेद नये गृहस्थ को बनाने वाले पति-पत्नी को बहुत से बहुमूल्य उपदेश देता है, जिनको देखकर वेद के आदर्शों का पता लगता है।

१—वेद कहता है 'मनो अस्याः अन आसीत् ।' वधू का चित्त ही पति तक पहुँचने का रथ है । 'द्यौः आसीद् उत च्छदिः ।' मन के भाव प्रकाश करने वाली वाणी ही मनो-रथ का 'छदि', छत अर्थात् आवरण है। अर्थात् स्त्री अपने मानसिक भावों को अपने प्रियतम के प्रति वाणी द्वारा प्रकट करे। (१ । १०)

२—यदयात् शुभस्पती वरेयं सूर्याम् उप ।

कन्या के वरण के अवसर पर वे दोनों शुभ संकल्पों को चित्त में रखकर समीप आते हैं। प्रत्येक चाहता है कि (वरेयम्) मैं स्वयं वरण करूं। तब—हे वर वधू !

'विश्वे देवा अनु तद् वाम् अजानन् ।'

समस्त विद्वान्गण तुमको अनुमति दें कि तुम दोनों विवाह करो (१।१५)।

३—जब कन्या को दान किया जाता है तो बहुतों का विचार है कि यह गाय भैंस, बकरी आदि पशु या रुपया, पैसा, भूमि, मकान आदि के समान ही कन्याओं का दान किया जाता है। वर्तमान में कुछ विद्वान् स्त्रियों की स्वतन्त्रता को विचार में रखकर इस 'कन्यादान' के भाव को बहुत गर्हणीय समझते हैं। ठीक है ! पशु धन आदि के समान कन्याओं को दान करना बहुत ही नीच, घृणित और अत्याचारपूर्ण कार्य है। मैत्रायणी संहिता (४ । ६ । ४) का उद्धरण देकर यास्क ने भी लिख दिया है कि—

तस्मात् पुमान् दायादो अदायदा स्त्रीति विज्ञायते । तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम् इति च। स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गाः विद्यन्ते न पुंसः । पुंसोऽपि इत्येके शौनःशेपे दर्शनात् ॥

अर्थ—पुमान् ही दायभागी होता है, स्त्री को दायभाग नहीं मिलता। इसलिये कन्या उत्पन्न हो तो उसको दूर भेज देते हैं पुत्र को नहीं । स्त्रियों के दान, विक्रय और त्याग सुना जाता है, पुरुषों का नहीं। पुरुषों का भी सुना जाता है जैसे शुनःशेपोपाख्यान में, इत्यादि ।

वेद प्रतिपादित 'कन्यादान' रुपये पैसे के दान के समान नहीं है। वेद स्वयं कहता है—

एषा ते कुलपा राजन् ताम् उ ते परिदद्मसि ॥ अथर्व० १ । १४ । ४ ॥

हे वर ! यह कन्या है, मैं उसको तुझे देता हूँ । पर क्यों देता हूँ ? इसलिये कि 'ज्योक् पितृषु आसाता' वह तेरे माता पिताओं के बीच में चिरकाल तक रहे। पर इस दान का क्या स्वरूप है ?

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाम् अमुतः करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १ । १८ ॥

मैं कन्या का पिता (इतः) इस पितृकुल से सर्वथा मुक्त करता हूँ, (न अमुतः) उस पति कुल से नहीं। साथ ही (अमुतः सुबद्धाम् करम्) उसको उस पति से खूब दृढ़ता से बद्ध कर देता हूँ। क्यों ? जिससे हे (मीढ्व इन्द्र !) वीर्यसेचन में समर्थ स्वामिन् पते ! यह कन्या उत्तम पुत्र और सौभाग्य से युक्त हो। यहां तो केवल सन्तानलाभ के लिये कन्या के साथ अपना सम्बन्ध मात्र परित्याग करने ही को 'दान' शब्द से कहा है। ऐसा दान या सम्बन्ध त्याग तो स्वयंवरा कन्या के ही अभिप्राय को पूर्ण करता है और उसको आज्ञा देता है कि वह अन्य समस्त प्रेम सम्बन्धों को शिथिल कर अपना समस्त प्रेम अपने पति के निमित्त समर्पण कर दे।

४—स्त्री अपना आत्मसमर्पण करके भी गृहस्थ में स्वामिनी और अधिकार वाली होकर रहे। वह सदा विदुषी होकर ज्ञानोपदेश भी किया करे। वेद कहता है—

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः वशिनी त्वं विदथम् आवदासि ॥ १।२० ॥

पति के गृह को प्राप्त होकर गृह की स्वामिनी हो। तू स्वयं जितेन्द्रिय होकर ज्ञान का उपदेश कर।

५—विवाह सम्बन्ध आजीवन है और उसको इच्छानुसार जब कभी भी तोड़ा नहीं जा सकता। वेद कहता है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वम् आयुर्व्यश्नुतम् ॥ १ । २२ ॥

तुम दोनों स्त्री पुरुष यहां ही रहो, कभी वियुक्त न होवो, समस्त आयु का भोग करो।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ १ । २२ ॥

पुत्र, पौत्र, नाती आदि सहित प्रसन्न रह कर, अच्छा सा घर बनाकर रहो।

६—सूर्य चन्द्र के समान स्त्री पुरुषों के कर्त्तव्यों पर वेद ने क्या ही अच्छा लिखा है—

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातोऽर्णवम् ।
विश्वा अन्यो भुवना विचष्टे ऋतूँरन्यो विदधत् जायसे नवः ॥ १ । २३ ॥

पति-पत्नी परस्पर की प्रेमलीला तथा क्रीडा विहार से संसार सागर के पार जाते हैं।

एक पुरुष तो सूर्य के समान समस्त घर के कार्यों को देखता है, दूसरा चन्द्र के समान ऋतु कालों अर्थात् ऋतुधर्म को भुगतता हुआ प्रति वार नवीन हो जाता है।

७—त्वं सम्राज्ञी एधि पत्युरस्तं प्रेत्य ॥ १ । ४३ ॥
सम्राज्ञी एधि श्वशुरेषु सम्राज्ञी उत देवृषु ॥
ननान्दुः सम्राज्ञी एधि सम्राज्ञी उत श्वश्र्वाः ॥ १ । ४४ ॥

हे नववधु ! तू पति के घर में जाकर उत्तम गुणों से प्रकाशमान 'सम्राज्ञी' अर्थात् महारानी होकर रह।

८—शिलारोहण का उद्देश्य विवाह में बड़ा पवित्र है। वेद आज्ञा देता है—

"प्रजा के हित के लिये सुखकारी शिला को पृथिवी के ऊपर रखता हूँ। तू उस पर खड़ी हो और पर्वत पर सूर्यप्रभा के समान प्रदीप्त हो। (१ । ४७)

९—वेद की दृष्टि में पति पत्नी दोनों मालिक मालकिन हैं।

पत्नी त्वमसि धर्मणा अहं गृहपतिस्तव ॥ १ । ५१ ॥

तू धर्म (कर्त्तव्य) से घर की 'पत्नी' स्वामिनी है और मैं तेरा गृहपति हूँ।

१०—स्त्री का पति सदा पालन पोषण करे।

ममेयमस्तु पोष्या । यह स्त्री मेरे पोषण योग्य है।

११—स्त्री के लिये पति इस लोक-यात्रा को सुखप्रद, सुगम करे।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥ १ । ५८ ॥

१२—कन्याओं का घात मत करो।

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि ॥ १ । ६३ ॥

ईश्वर या राजा के बनाये धर्म मार्ग पर चलते हुए कुमारी कन्या को, हे स्त्री पुरुषो ! मत मारो ।

१३—स्त्री पृथिवी के समान है । उसमें बीज का वपन करो ।

आत्मन्वती उर्वरा नारी इयम् आगन् । तस्यां नरो वपत बीजम् अस्याम् ॥२।१४॥

१४—स्त्री श्रेष्ठ वीर्यवान् पुरुष के वीर्य को धारण करके प्रजा को पैदा करे ।

सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धम् ऋषभस्य रेतः ॥ २ । १४ ॥

१५—जब स्त्री अग्निहोत्र करे तो बाद में वेद का पाठ करे और घर के पालक पिता आदि को नमस्कार करे ।

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् ।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ २ । २० ॥

१६—उत्तम विदुषी स्त्री सूर्य निकलने के पहले, प्रभा के समान, अपने पति के पहले जागे ।

इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥ २ । ३१ ॥

१७—ऋतुकाल में ही स्त्री पुरुष संग करें ।

सं पितरौ ऋत्विये सृजेथाम् ॥ २ । ३७ ॥

उपसंहार

इस प्रकार हमने इस खण्ड में आये १० से १७ तक आठ काण्डों के मुख्य २ विशेष विवादास्पद विषयों की आलोचना करके वेदोपदिष्ट पदार्थों का स्थालीपुलाक न्याय से दिग्दर्शन करा दिया है ।

समाप्ति पर मैं विद्वान् महानुभावों से सप्रेम अनुनय करता हूँ कि मेरे श्रम में लक्षों त्रुटियां सम्भव हैं, सैकड़ों अवसरों पर विचार अपरिपक्व

होने सम्भव हैं। ईश्वर का अनन्त ज्ञान 'वेद' कहां और अल्पबुद्धि हम कहां ? तब भी मैं विद्वानों से प्रार्थना करता हूँ कि वे जिन त्रुटियों को भी दर्शावेंगे, मैं उनके इस उपकार के लिये कृतज्ञ रहूँगा। मेरे जीवन काल में इस ग्रन्थ का यह चतुर्थ संस्करण हुआ है उसको यथाप्रमाण सुधार कर आपके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और वेदाध्यनरूप तप और वेद-चिन्तनरूप ज्ञानयज्ञ में सफल हो सका हूँ। अन्त में भट्ट कुमारिल के शब्दों में सविनय निवेदन है—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ।

प्रथम संस्करणः—
कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा
१९८६ वैक्रमाब्दे

द्वितीय संस्करणः—
कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा
१९९९ वैक्रमाब्दे

तृतीय संस्करणः—
श्रावण शुक्ला प्रतिपदा
२००९ वैक्रमाब्दे

चतुर्थ संस्करणः—
श्रावण शुक्ला प्रतिपदा
२०१४ वैक्रमाब्दे

विषय सूची

सूक्त संख्या | पृष्ठ

दशमं काण्डम्

एकादशं काण्डम्

सूक्त संख्या | पृष्ठ

चतुर्दशं काण्डम्

पञ्चदशं काण्डम्

षोडशं काण्डम्

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेदसंहिता

अथ दशमं काण्डम्

[१] घातक प्रयोगों का दमन

प्रत्यंगिरस ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १ महाबृहती, २ विराड्नाम गायत्री, ९ पथ्यापंक्तिः, १२ पंक्तिः, १३ उरोबृहती, १५ चतुष्पदा विराड् जगती, १७, २०, २४ प्रस्तारपंक्तिः, २० विराट्, १६, १८ त्रिष्टुभौ, १९ चतुष्पदा जगती, २२ एकावसाना द्विपदार्ची उष्णिक्, २३ त्रिपदा भुरिग् विषमा गायत्री, २८ त्रिपदा-गायत्री, २९ मध्ये ज्योतिष्मती जगती, ३२ द्व्यनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदातिजगती, ३-११, १४, २२, २१, २५-२७, ३०, ३१ अनुष्टुभः । द्वात्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

**यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ १ ॥**

भा०—(चिकित्सवः) युद्धविद्या के ज्ञानी लोग दूसरों की हिंसा करने और पीड़ा देने के लिये (याम्) हनन साधनों से बनी जिस 'कृत्या' हिंसाकारिणी सेना को (विश्वरूपां) सब प्रकार से सुन्दर (वहतौ) विवाह काल में रथ पर सजी (वधूम् इव) नववधू के समान अति मनोहर (कल्पयन्ति) बना देते हैं, वह यदि (सा आ, रात् एतु) समीप आवे तो हम (एनाम्) उसको (अप नुदामः) दूर करते हैं ।

**शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥**

भा०—(कृत्याकृता) विनाशकारिणी सेना का जो निर्माण करते हैं उन पुरुषों द्वारा (संभृता) रची गई, (विश्व-रूपा) नाना प्रकार की, (शीर्षण्वती) सिरों वाली, (नस्वती) नाकों वाली (कर्णिनी) कानों वाली (सा) वह सेना (आरात् एतु) दूर रहे। (एनाम्) उसको हम (अप नुदामः) दूर करें।

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥

भा०—(पत्या) पति से (नुत्ता) दुत्कारी हुई (जाया इव) स्त्री जिस प्रकार अपने उत्पन्न करने वाले मां-बाप या सम्बन्धी के पास आ जाती है, उसी प्रकार (शूद्र-कृता) शूद्रों की बनी, (स्त्रीकृता) स्त्रियों की बनी, (राजकृता) राजाओं की बनी, या (ब्रह्मभिः कृता) ब्राह्मणों की बनी हिंसाजनक सेना (बन्धु) अपने बन्धु रूप (कर्त्तारं) कर्त्ता को (ऋच्छतु) प्राप्त हो।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥

भा०—(यां) जिस कृत्या का (क्षेत्रे चक्रुः) लोग रणक्षेत्रों में प्रयोग करते हैं, (यां) जिसका (गोषु) तेरे गौ आदि प्राणियों पर, (यां वा ते पुरुषेषु) और जिसका वे तेरे पुरुषों पर प्रयोग करते हैं ऐसी (सर्वाः कृत्याः) पीड़ादायक घातक सेनाओं को (अहम्) मैं (अनया) इस (ओषध्या) संतापकारी दण्डरूप ओषधि व उपाय से (अदूदुषम्) नष्ट करता हूँ।

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते।
प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥

भा०—(अघ-कृते) जैसे पापाचरण करने वाले को (अघम् अस्तु) पाप का फल मिलता है, (शपथीयते शपथः) गाली दुर्वचन कहने वाले को इन कटु वचनों का फल प्राप्त होता है इसी प्रकार हम (प्रत्यक्) भेजी

सेना को लौटा कर (प्रति प्रहिण्मः) भेजने वाले की ओर वापिस कर देते हैं, (यथा) जिससे (कृत्याकृतं हनत्) उसका किया हिंसा का काम उस करने वाले को ही पीड़ित करे।

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥

भा०—(आङ्गिरसः) आङ्गिरस अर्थात् अथर्व वेद का जानने वाला विद्वान् (प्रतीचीनः) हिंसाकारी के विपरीत कार्य करने और उसके किये दुष्ट घातक प्रयोगों के प्रतीकार करने में समर्थ होता है। वही (नः) हमारा (अध्यक्षः) अध्यक्ष और (पुरोहितः) सब कार्यों का साक्षी, यज्ञ के पुरोहित के समान सावधान होकर कार्य कराने हारा हो। वह (कृत्याः) सब दुष्ट प्रयोगों को (प्रतीचीः) विपरीत रूप से (आकृत्य) पीछे फेर कर (अमून्) उन २ (कृत्या-कृतः) घातक प्रयोगों के करने वालों को (जहि) विनाश करे।

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम्।
तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥

भा०—हे (कृत्ये) सेनारूप घातक प्रयोग! (यः) जिस पुरुष ने (त्वा) तुझको (उवाच) कहा है कि (परा इहि) 'परे जा, अमुक को मार' तू (तं) उस (प्रतिकूलम्) हमारे प्रतिकूल, हमारे विरोध में (उदाय्यं) उठने वाले उस शत्रु के पास ही (असि-निवर्त्तस्व) लौट जा। (अस्मान् अनागसः) हम निरपराधों को (मा इच्छः) मत चाह।

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥

भा०—(ऋभुः) विद्वान् शिल्पी (रथस्य इव) जिस प्रकार रथ के जोड़ २ मिलाकर (धिया) अपनी बुद्धि और शिल्प-कारीगरी से जोड़ देता है, उसी प्रकार (यः) जो (ते परूंषि) तुझ कृत्या अर्थात् सेना के पोरु २ को (सं-दधौ) जोड़ता है, तू (तं गच्छ) उसी को प्राप्त हो, (तत्र ते

अयनम्) वहां ही तेरा निवासस्थान हो। (अयं जनः) यह जन अर्थात् हम लोग (ते अज्ञातः) तेरे जाने हुए भी न हों।

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः।
शंभ्वि१दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥९॥

भा०—(ये) जो (विद्वलाः) सेना निर्माण जानने वाले (अभिचारिणः) दूसरों पर घातक प्रयोग करने वाले लोग (त्वा) हे सेना! तेरा (कृत्वा) निर्माण करके (आ लेभिरे) तुझसे स्वार्थ लाभ करना चाहते हैं (इदं) यह (कृत्या दूषणं) सब घातक प्रयोगों के विनाश करने का (शंभु) उपाय है शान्ति अर्थात् साम का प्रयोग करना, और (पुनः-सरं) बार २ जाना-आना अर्थात् परस्पर समझौते के लिये आना-जाना (प्रति-वर्त्म) उस समय प्रतिकार का मार्ग है। (तेन) उसी से (त्वा) तुझ कृत्या को हम (स्नपयामः) शुद्ध करते हैं, उसका परिशोधन करते हैं।

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)

भा०—(यद्) जब हम (दुर्भगाम्) दौर्भाग्य वाली, (प्रस्नपिताम्) नहाई हुई (मृतवत्साम्) राजारूपी पुत्र जिसका मर गया है ऐसी शत्रु प्रजा के अथवा स्नान से शुद्ध हुई मरे बच्चे की माता के समान जो शत्रु प्रजा अपने राजा की मृत्यु के बाद शुद्ध हो गई है उसके (उप ईयिम) समीप विजेता होकर प्राप्त हों तब, (मत् सर्वं पापम्) मेरा समस्त कष्ट (अप एतु) मुझसे दूर हो, और (द्रविणम्) धन, बल (मा उप तिष्ठतु) मुझे प्राप्त हो। कृत्या को दूर करने का यह दण्डरूपी उपाय है।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥ ११ ॥

भा०—हे पुरुष! (यत) यदि (पितृभ्यः) अपने पूज्य आचार्य गुरुओं के प्रति (ददतः) दान करते हुए या (यज्ञे वा) यज्ञ के अन्दर में जो (ते नाम) तेरा नाम लोग बुरे भाव से (जगृहुः) लें, तो (ओषधीः)

ऐसे दोषों को दूर करने वाले उपाय (संदेश्यात्) संदेश या बुरे तानों वा वचनों से प्राप्त (सर्वस्मात् पापात्) सब प्रकार के पापजनक प्रभाव से (त्वा) तुझको (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात्।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥१२॥

भा०—(वीरुधः) नाना प्रकार से कष्ट से रोकने वाली क्रियाएं, ओषधियों के समान कष्ट निवारण करने हारी होकर, (त्वा) तुझको (देव-एनसात्) शत्रु प्रजा के विद्वानों के प्रति किये पापाचरण से, (पित्र्यात्) उनके माता-पिता, गुरुओं के प्रति किये अपराध से और (नाम-ग्राहात्) उनके प्रति बुरे नाम करने या बुरी तरह से पुकारने के अपराध से और (संदेश्यात्) उनके प्रति किये गये तानों से उत्पन्न अपराध से और (अभि-निः-कृतात्) उनके प्रति अत्याचार या अपमान, या दुत्कार देने से उत्पन्न पाप से, (त्वा) तुझे हम (ब्रह्मणः वीर्येण) ब्रह्मज्ञान रूप बल द्वारा (ऋग्भिः) वेदमन्त्रों के उपदेशों द्वारा, और (ऋषीणां पयसा) ऋषियों के सारमय उपदेशों द्वारा (मुञ्चन्तु) छुड़ावें।

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु का तेज झंकोरा (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) धूलि को और (अन्तरिक्षात् च अभ्रम्) अन्तरिक्ष से मेघ को (च्यावयति) उड़ा ले जाता है, (एवा) इसी प्रकार (सर्वम्) सब प्रकार के (दुर्भूतम्) कष्ट (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्मज्ञान या वेदज्ञान से ताड़ित होकर (अप अयति) दूर भाग जाते हैं।

अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥

भा०—हे कृत्ये ! दूसरों से उत्पन्न की गई दुर्भावने ! दुष्ट पीड़ाजनक

क्रिये ! तू (वीर्यवता) वीर्यवान् (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान रूप कोड़े से (नुत्ता) खेदी जाकर, (विनद्धा गर्दभी इव) विना बन्धन के, खुली गधी वा घोड़ी के समान, (नानदती) बराबर ऊंचा शब्द करती हुई, गर्जती हुई, (इतः) यहां से (कर्तॄन्) अपने उत्पन्न करने वालों के पास ही (नक्षस्व) भाग जा ।

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः ।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥१५॥

भा०—कृत्या रूप से सेना का वर्णन करते हैं । हे (कृत्ये) हिंसाकारिणी हमारी सेना ! (अयं पन्थाः) यह मार्ग है । (इति) इस मार्ग से (त्वा नयामः) हम तुझे ले चलते हैं । (अभिप्रहितां) दूसरों द्वारा हमारे प्रति भेजी गई सेना (प्रति प्र हिण्मः) के विरुद्ध हम तुझे भेजते हैं । (तेन) उसी मार्ग से तू (अनस्वती) रथों शकटों से युक्त होकर (वाहिनी) अश्वों, हाथियों से युक्त होकर के शत्रु सेना के समान (विश्वरूपा) नाना रूपों को धारण करने वाली, नाना व्यूहवती, (कुरूटिनी) कुत्सित, कठोर शब्द या प्रतिघात करने वाली होकर, (भञ्जती) शत्रु के बलों को या दुर्गों को तोड़ती हुई (अभि याहि) शत्रुओं के प्रति चढ़ाई कर ।

परा॑क् ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।
परेणेहि नवतिं नाव्या३ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि १६

भा०—हे हमारी सेना ! (ते ज्योतिः पराक्) तेरे लिये परे प्रकाश है अर्थात् शत्रु पर आक्रमण करने से तेरा नाम रोशन होगा । (अर्वाक्) और इधर अर्थात् हारकर अपने राष्ट्र में लौटने पर (ते) तेरे लिये (अपथम्) कोई मार्ग नहीं है । (अस्मत् अन्यत्र) हमसे अतिरिक्त (अयना) अपने जाने के मार्ग (कृणुष्व) कर । (नाव्याः) नाव से पार करने योग्य (दुर्गाः) दुर्गम (नवतिं) नव्वे, नई २, सैकड़ों (स्रोत्याः) नदियों को (अति) पार करके (परेण इहि) शत्रु के पीछे २ दूर २ तक चली जा । (मा क्षणिष्ठाः) देर मत कर, तू (परा इहि) दूर २ जा ।

वातं इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम्।
कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येऽ प्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥

भा०—हे (कृत्ये) कृत्ये ! हिंसाशील सेने ! (वात इव) वायु का झंकोरा जिस प्रकार (वृक्षान्) वृक्षों को तोड़ता-फोड़ता जड़ से उखाड़ गिरा देता है उसी प्रकार तू भी (कर्तॄन्) हिंसक पुरुषों को (नि मृणीहि) निर्मूल कर डाल और (नि पादय) उखाड़ डाल। (एषां) उनके (गाम् अश्वम् पुरुषम्) गौओं घोड़ों और पुरुषों को भी (मा उच्छिषः) जीता मत छोड़। (इतः) यहां से (निवृत्य) लौटकर उनकी (अप्रजास्त्वाय) प्रजाहीन हो जाने की (बोधय) खबर हमें दे।

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभि चेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् १८

भा०—हे पुरुष ! (यां) जिस (कृत्यां) घातक प्रयोग का (ते) तेरे लिये (बर्हिषि) धान्य, पशु या प्रजा में और (यां) जिसको (श्मशाने) मसान में और (क्षेत्रे) खेत में (निचख्नुः) गाड़ देते हैं, या जिस (वलगं) किसी गुप्त प्रयोग को प्रजा, मसान या खेत में गाड़ दिया है, गुप्तरूप से स्थापित कर दिया है और या (धीरतराः) अधिक बुद्धिमान् लोग (अनागसम्)निरपराध (पाकम्) पवित्र (त्वा) तुझ (सन्तं) सज्जन को (गार्हपत्ये) गार्हपत्य (अग्नौ) अग्नि में (अभिचेरुः) तेरे विरुद्ध अभिचार या घातक प्रयोग करते हैं उसकी भी हमें खबर दे।

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम्।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् १९

भा०—(उपाहृतम्) उपहाररूप में दिये गये, (अनु बुद्धं) बाद में जाने गये, (निखातम्) गाड़े गये या पुराने (वैरम्) जिस वैरभाव को, (त्सारि) तथा कुटिल और (कर्त्रम्) घातक प्रयोग को (अनु अविदाम) हम बाद में जानते हैं। (तत्) वह वैरभाव या प्रयोग (यतः आ-भृतम्)

जहां से उठा हो वहां ही (एतु) चला जाय और (तत्र) वहां (अश्वः इव) घोड़ा जैसे अपने अंगों को कंपाता है (वर्त्तताम्) वैसे शत्रु को कंपाता रहे, और वह (कृत्या-कृतः) घातक प्रयोग करने वाले की (प्रजाम्) प्रजा को (हन्तु) विनाश करे ।

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥ (२)

भा०—(सु-आयसाः) उत्तम लोहे की बनी (असयः) तल्वारें (नः गृहे सन्ति) हमारे घर में हैं। हे (कृत्ये) घातक सेने ! (ते) तेरे (परूंषि) पोरू २ अर्थात् अङ्ग प्रत्यङ्ग को (विद्म) हम जानते हैं कि (यतिधा) वे कितने हैं। (उत्तिष्ठ एव) अब शत्रु के प्रति उत्थान ही कर, (इतः) यहां से (परा इहि) परे जा। हे (अज्ञाते) शत्रु द्वारा न जानी हुई कृत्ये ! सेना ! (इह किम् इच्छसि) यहां तू और क्या साधन चाहती है ?

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव ।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥ २१ ॥

भा०—हे (कृत्ये) सेना ! (ते) तेरी (ग्रीवाः) गर्दनें और (पादौ) पावों को (अपि) भी (कर्त्स्यामि) मैं काट डालूंगा यदि तूने विरोध किया। (निर्द्रव) नहीं तो आक्रमण के लिये यहां से शीघ्र निकलो । हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, राजा और सेनापति (अस्मान्) हमारी (रक्षताम्) रक्षा करें, (यौ) जो दोनों (प्रजानां) प्रजाजनों के लिये (प्रजावती) प्रजावाली माता के समान रक्षक हैं।

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥२२॥

भा०—(सोमः) सोम सबको शुभ कामों में प्रेरणा करने वाला और शान्त, सौम्य गुणों से युक्त (राजा) राजा, प्रजा के हृदय को प्रसन्न रखने वाला, (अधिपाः) प्रजा का पालक और (मृडिता च) सुखी करने हारा हो। (नः) हमें (भूतस्य) समस्त संसार के या प्राणियों के (पतयः) पालक लोग (मृडयन्तु) सुखी करें।

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते। दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् २३

भा०—(भवाशर्वौ) भव अर्थात् सामर्थ्यवान्, और शर्व अर्थात् शत्रुहिंसक दोनों प्रकार के पुरुष, (पापकृते) पापचरण करने वाले, (कृत्याकृते) दूसरे पर घातक प्रयोग करने वाले, (दुष्कृते) दुष्ट या दुखदायी काम करने वाले पर (देवहेतिम्) दिव्य आयुधरूप (विद्युतम्) बिजुली के अस्त्र को (अस्यताम्) फेंकें।

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सेतो३ष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने॥ २४॥

भा०—(यदि) यदि (कृत्या कृता) घातक प्रयोग करने वाले शत्रुराज द्वारा (सं-भृता) परिपुष्ट हुई, (विश्व रूपा) नाना प्रकार की हिंसक सेना (द्विपदी) दो चरणों वाली अर्थात् पैदल सैनिकों से युक्त होकर (चतुष्पदी) या चार चरणों वाली अर्थात् अश्वारोहियों, गजारोहियों तथा रथियों से युक्त होकर, (एवथ) हम पर धावे के लिये आवे तो (सा) वह हमारी सेना (इतः) यहां से (अष्टापदी भूत्वा) आठ चरण वाली होकर अर्थात् शत्रु से दुगने साधनों वाली होकर (दुच्छुने) और दुःखदायिनी होकर (पुनः) फिर (परा इहि) शत्रु के राष्ट्र की ओर जावे।

अभ्य१क्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम्॥ २५॥

भा०—(अभ्यक्ता) हे हमारी सेना! तू सब प्रकार से चन्दनादि लेप से सुन्दर, (अक्ता) तैल आदि से मर्दित, (सु अरंकृता) उत्तम रीति से शस्त्रास्त्र आदि आभूषणों से सुसज्जित होकर (सर्वं) सब प्रकार के (दुरितम्) दुष्फलों अर्थात् शत्रुविनाश रूपी दुष्परिणामों को अपने भीतर (भरन्ती) धारण करती है तू (परा इहि) दूर २ तक आक्रमण कर। (दुहिता स्वम् पितरम् इव) जिस प्रकार कन्या अपने पिता को ही खूब जानती-बूझती है और उसका भला चाहती है, उसी प्रकार तू (कर्तारं जानीहि) अपने स्वामी राजा को जान, उसी के भले को चाह।

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

भा०—हे (कृत्ये) हमारी सेने ! (परा इहि) तू शत्रु की ओर जा । (मा तिष्ठ) यहां अब मत ठहर । (विद्धस्य इव पदम्) बाण से घायल शिकार के पैरों के निशान देखकर जिस प्रकार शिकार खोज लिया जाता है उसी प्रकार तू शत्रु के (पदं नय) पैर खोज २ कर उस तक पहुँच जा । (मृगः सः) वह शत्रु मृग अर्थात् शिकार के तुल्य है, और (त्वं मृगयुः) तू उसका शिकारी है। वह शत्रु (त्वा) तुझे (निकर्तुम् न अर्हति) दबा नहीं सकता ।

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥

भा०—युद्ध दो ही प्रकार से हो सकता है (उत) या तो (पूर्वासिनं) पहले ही 'आसन' वृत्ति से बैठे हुए पुरुष पर (अपरः) दूसरा (प्रति आदाय) उसके प्रतिकूल उस पर चढ़ाई करके (इष्वा) बाण द्वारा उसे (हन्ति) मारता है। और (उत) या (पूर्वस्य निघ्नतः) पहला पुरुष जब मारता हो तब (अपरः) दूसरा (प्रति नि हन्ति) उसके बदले उसको मारता है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव, इन छः अंगों में 'आसन' चतुर्थ है। अपने राज्य में जमे रहना 'आसन' कहाता है।

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ ।
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥

भा०—(एतत् हि) हे शत्रु द्वारा भेजी गई शत्रुसेना ! यह (मे) मेरा (वचः) वचन (शृणु) सुन, (अथ इहि) और वहां चली जा (यतः एयथ) जहां से तू आई है। (यः त्वा चकार) जो तुझको पैदा करता है (तं प्रति) तू उसी के प्रति जा ।

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः ।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव २९

भा०—हे (कृत्ये) शत्रु द्वारा भेजी गई सेना ! (अनागोः हत्या) निरपराध पुरुषों का घात करना (भीमा) बड़ा भयानक कृत्य है । अतः (नः) हमारे (गाम् अश्वं पुरुषं मा वधीः) गौ घोड़े और पुरुषों को मत मार । (यत्र यत्र) जहां २ तू (निहिता असि) रखी गई है, अर्थात् तूने जहां २ अपने डेरे डाले हैं (ततः) वहां २ से (त्वा उत्थापयामसि) तुझे हम उठा दें । तू अपमानित होकर (पर्णात्) पत्ते से भी अधिक (लघीयसी) हलकी (भव) हो जा ।

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव ।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥

भा०—हे सैनिक पुरुषो ! यदि तुम लोग (जालेन) जाल से (अभिहिताः इव) बंधे हुओं के समान (तमसा) अन्धकार से (आवृताः स्थ) घिर जाओ तो (सर्वाः) सब (कृत्याः) घातप्रतिघात करने वाली सेनाओं को (संलुप्य) मिटाकर हम (पुनः) फिर (कर्त्रे) उनके कर्त्ता अर्थात् संचालक के संहार के लिये ही उनको (इतः) यहां से (प्र हिण्मसि) उसके प्रति प्रयोग करें ।

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥

भा०—हे (कृत्ये) घातकारिणी सेने ! तू (कृत्याकृते) घातक प्रयोग करने वाले, (वलगिनः) गुप्त मन्त्रणा करने वाले, (प्रजाम् अभि-निः-कारिणः) प्रजा के ऊपर आक्रमण करने वाले लोगों का (मृणीहि) विनाश कर और (असून्) उन (कृत्या-कृतः) घातिनी सेना के प्रयोजक लोगों को (मा उच्छिषः) जीता न छोड़, प्रत्युत (जहि) मार डाल ।

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसंश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ३२

भा०—(यथा सूर्यः) जिस प्रकार सूर्य (तमसः परिमुच्यते) अन्धकार से आप से आप मुक्त हो जाता है, (रात्रिम्) वह रात्रि को और

(उषसः च केतून्) उषा के पूर्व ज्ञापक चिह्नों को भी क्रमशः (जहाति) त्याग देता है, और उदय को प्राप्त हो जाता है, (एवा) इसी प्रकार (अहम्) मैं (कृत्या-कृता) मेरे प्रति घातकसेना के प्रयोक्ता शत्रु से (कृतम्) प्रयोग किये (दुर्भूतम्) दुष्ट (कर्त्रं) घातक प्रयोगों वा सशस्त्र दल को (जहामि) त्याग दूं, विनाश कर दूं और उनसे पार हो जाऊं, और (हस्तिः रजः इव) हाथी जिस प्रकार धूल को उड़ा देता है उसी प्रकार मैं (दुरितम्) शत्रु के दुष्ट प्रयोग या दुराचार को भी (जहामि) छोड़ दूं, त्याग दूं, उड़ा दूं।

[२] पुरुषमेध

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । पार्ष्णी सूक्तम् । ब्रह्मप्रकाशि सूक्तम् । १–४, ७, ८, त्रिष्टुभः, ६, ११ जगत्यौ, २८ भुरिग् बृहती, ५, ४, १०, १२–२७, २९–३३ अनुष्टुभः, ३१,३२ साक्षात्परब्रह्मप्रकाशिन्यावृचौ । त्रयस्त्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥१॥

भा०—(पुरुषस्य) पुरुष के देह के (पार्ष्णी) दोनों एड़ियां (केन) किसने (आभृते) बनाई हैं ?, और (मांसं) मांस (केन) किसने (संभृतं) देह में लाकर लगाया, (गुल्फौ केन) टखने किसने लगाये ?, (पेशनीः) पोरुओं वाली नाना अवयवों से युक्त (अंगुलीः केन) ये अंगुलियां किसने जोड़ दीं ?, (खानि) शरीर के ये नाक, कान, मुंह आदि इन्द्रियों के छिद्र (केन) किसने बनाये ?, (उत्-श्लङ्खौ) सिर के ऊपर के दोनों कपाल (केन) किसने बनाये ?, और (मध्यमः) बीच में (प्रतिष्ठाम्) बैठने के लिये चूतड़ भाग (कः) किसने बनाया ?

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य ।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुःक्वस्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ॥२॥

भा०—(कस्मात् नु) किस कारण से (पुरुषस्य) पुरुष के (अधरौ)

नीचे के (गुल्फौ) दोनों टखने और (उत्तरौ) ऊपर के (अष्ठीवन्तौ) घुटने (अकृण्वन्) बनाये गये हैं ?, और (जंघे) दोनों जांघें (निर्ऋत्य) अलग २ करके (वि अदधुः) रखी गई हैं ?, और (जानुनोः) दोनों गोडों के (सन्धी) जोड़ों को (कस्वित्) कहां जोड़ा गया है, (तत्) इस सब रहस्य को (कः उ) कौन (चिकेत) जानता है ?

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३॥

भा०—(चतुष्टयं) पूर्वोक्त दोनों जांघें और दोनों गोडे इन चारों को (संहितान्तम्) इनके सिरे खूब अच्छी प्रकार मिला २ कर (युज्यते) जोड़े गये हैं, और (जानुभ्याम्) टांगों के साथ (ऊर्ध्वम्) ऊपर (कबन्धम्) धड़ भाग (शिथिरम्) शिथिल रूप से रख दिया गया है। (श्रोणी) दो कूल्हे और (यत् ऊरू) ये दोनों जंघाएं (तत्) इनको (क उ जजान) किसने बनाया ?, (याभ्याम्) जिनके कारण (कुसिन्धम्) यह कुत्सित, दुर्गन्ध मल मूत्र बहाने वाला या विचित्र रूप से बन्धा हुआ, अथवा परस्पर संसक्त, अथवा छोटी २ नाड़ियों से पूर्ण शरीर (सुदृढम्) खूब मजबूत (बभूव) हो गया है।

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ४

भा०—(कति देवाः) इस शरीर में देव, जीवन-ज्योति के प्रकाशक तत्त्व कितने हैं ?, (कतमे) उनमें से वे कौन से २ हैं (ये) जो (पुरुषस्य) पुरुष-देह की (उरः) छाती और (ग्रीवाः) गर्दन के मोहरों को (चिक्युः) बना रहे हैं ?, और (स्तनौ) स्तनों को (कति) कितने तत्त्व (वि-अदधुः) विशेष रूप से धारण कर रहे हैं ? और (कः) कौनसा तत्त्व (कफोडौ) दोनों हसुलियों या गालों को धारण करता है ? और (स्कन्धान् कति) कन्धों को कितने तत्व धारण कर रहे हैं ? और (पृष्टीः) पसुलियों या पीठ के मोहरों को (कति) कितने तत्त्व (अचिन्वन्) बनाये हुए हैं ?

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यंकरवादिति ।
अंसौ को अस्य तद् देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस पुरुष के (बाहू) बाहुओं को (कः) कौनसा देव (समभरत्) पुष्ट करता है कि (इति वीर्यं करवात्) वह ऐसा २ वीर्य, बल का काम करे ? (अस्य) इसके (अंसौ) भुजाओं के ऊपर के भागों को (कः) कौन बनाता है ? और (तद्) उनको (कः देवः) कौन देव (कुसिन्धे) शरीर में (अध्यादधौ) स्थापित करता है ?

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥६॥

भा०—(कः) कौन देव (शीर्षणि) शिर भाग में (सप्त खानि) सात इन्द्रियों के छिद्रों को (वि ततर्द) विशेष रूप से गढ़ कर बनाता है ? और (इमौ कर्णौ) इन दो कानों, (नासिके) इन दो नाक के छिद्रों, और (चक्षणी) इन दो आंखों, और (मुखं) इस मुख को किसने बनाया ? (येषां) जिनके (विजयस्य मह्मनि) विजय के महान् सामर्थ्य में (पुरुत्रा) बहुत से (चतुष्पदः) चौपाये और (द्विपदः) पक्षिगण और दोपाये मनुष्य भी (यामम्) अपना जीवन-मार्ग (यन्ति) तय करते हैं ।

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमाधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

भा०—जो देव (हन्वोः) दोनों जबाड़ों के बीच में (जिह्वाम्) जीभ को (अदधात्) रखता है, (अध) और वहां ही वह (पुरूचीम्) सर्व-व्यापक, (महीम्) बड़ी भारी (वाचम्) वाक्-शक्ति को (अधि शिश्राय) स्थापित करता है, (सः) वह (भुवनेषु) लोकों के (अन्तः) भीतर व्यापक (अपः वसानः) समस्त जीवों, प्राणियों के कर्मों, ज्ञानों और मूलकारण रूप प्रकृति के परमाणुओं में भी व्यापक है, (कः उ) कौन (तत्) उसको (चिकेत) जानता है ?

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

भा०—(यतमः) जो देव (अस्य) इस पुरुष-देह के (मस्तिष्कम्) मस्तिष्क को, (ललाटम्) माथे को, और (यः) जो (प्रथमः) सबसे प्रथम विद्यमान इस पुरुष के (ककाटिकाम्) गले की घेंटी और (कपालम्) खोपड़ी को, और (पूरुषस्य) पुरुष देह के (हन्वोः) दोनों जबाड़ों के बीच की (चित्यम्) रचना को (चित्वा) बनाकर (दिवः) प्रकाशस्वरूप द्यौः या मोक्षपद में (रुरोह) स्वयं व्याप्त हुआ है, (सः) वह (देवः) देव (कतमः) कौनसा है ?

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः ॥ ९ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! विचार करो कि (उग्रः) बलवान् होकर (पूरुषः) यह पुरुष (बहुला) बहुत प्रकार के (प्रिय-अप्रियाणी) प्रिय चित्त को भले लगने वाले, और अप्रिय चित्त को बुरे लगने वाले भावों को, (स्वप्नम्) निद्रा वा स्वप्न को (संबाध-तन्द्र्यः) पीड़ा और थकान को, (आनन्दान्) आनन्दों और (नन्दान् च) हर्षों को (कस्मात्) किस हेतु से या कहां से (वहति) प्राप्त करता है ?

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥ (४)

भा०—(पुरुषे) पुरुष में (आर्त्तिः) पीड़ा, दुख, मानसिक व्यथा, (आवर्त्तिः) बेचैनी या बेरोज़गारी, (निर्ऋतिः) पाप की प्रवृत्ति और (अमतिः) अज्ञान ये (कुतः) कहां से आये और किस कारण से उत्पन्न होते हैं ? और (राद्धिः) कार्य-सिद्धि, (समृद्धिः) संपत्ति, (अवि-ऋद्धिः) विशेष संपत्ति का अभाव अथवा दरिद्रता, सदाचार का अभाव, (मतिः)

विशेष ज्ञान और (उदितयः) ऊपर उठने की प्रवृत्तियां (कुतः) कहां से और किस कारण से उत्पन्न होती हैं ?

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय ज्ञाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ११

भा०—(अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष देह में (आपः) नाना द्रवों अर्थात् रक्त धाराओं आदि को (कः) किसने (वि-अदधात) रचा है, जो (विषूवृतः) नाना प्रकार से देह में घूमते हैं, (पुरू वृतः) समस्त अंगों में घूमते और (सिन्धु सृत्याय जाताः) नाड़ियों में गति करने के योग्य हो गये हैं। और यह नाड़ियें इस शरीर में (तीव्राः) तीव्र गति करने वाली (अरुणाः) लाल, (लोहिनी) सुर्ख और (ताम्रधूम्राः) लाल नीले रंग की होकर, (ऊर्ध्वाः) उपर, (अवाचीः) नीचे और (तिरश्चीः) तिरछी भी जाती हैं ?

को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्यानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥

भा०—(अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष-देह में (कः) कौन (रूपम्) रूप को धारण करता है ? (मह्यानं) महत्व या महिमा और (नाम च) नाम को (कः) कौन उत्पन्न करता है ? (अस्मिन्) इस पुरुष में (गातुः कः) गति चेष्टा वा वाणी को कौन स्थापित करता है ? (केतुं कः) आत्मा के ज्ञापक चिह्न या सामर्थ्य को कौन देता है ? और (चरित्राणि कः) नाना प्रकार के सत् और असत् चरित्रों, इन्द्रियों के व्यापारों और प्रवृत्तियों को कौन स्थापित करता है ?

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पुरुषे ॥ १३ ॥

भा०—(अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष देह में (प्राणम्) जीवन शक्ति को (कः अवयत्) कौन संचारित करता है ?, जिस प्रकार जुलाहा कपड़े के तन्तुओं को बुन देता है उसी प्रकार इस देह के ताने में प्राण रूप

बरनी कौन चुन देता है ?, (अपानम् व्यानम् उ कः) अपान और व्यान को कौन संचारित कर देता है ?, (कः देवः) कौन देव (अस्मिन्) इस पुरुष देह में (समानम्) समान नामक प्राण को (अधि शिश्राय) स्थापित करता है ?

को अ॑स्मिन् य॒ज्ञम॑दधा॒देको॑ दे॒वोऽधि॒ पूरु॑षे ।
को अ॑स्मिन्त्स॒त्यं कोऽनृ॒तं कुतो॑ मृ॒त्युः कुतो॒ऽमृत॑म् ॥ १४ ॥

भा०—वह (एकः) एक (कः) कौनसा (देवः) प्रकाशक देव है जो (अस्मिन्) इस (पुरुषे) पुरुष देह में (यज्ञम्) यज्ञरूप शक्तिप्रद आत्मा को (अधि अदधात्) अधिष्ठाता रूप से स्थापित करता है ?, (अस्मिन्) इसमें (सत्यम्) सत्य को (कः) कौन रखता है ? (अनृतं कः) झूठ को कौन रखता है ?, (मृत्युः) मौत अर्थात् देह का आत्मा से छूट जाना (कुतः) किस कारण से होता है ?, और आत्मा (अमृतम् कुतः) अमृत किस कारण से और किस प्रकार से हो जाता है ?

को अ॑स्मै॒ वास॒ः पर्य॑दधा॒त् को अ॒स्यायु॑रकल्पयत् ।
बल॒ं को अ॑स्मै॒ प्राय॑च्छ॒त् को अ॑स्याकल्पयज्ज॒वम् ॥ १५ ॥

भा०—(अस्मै) इस पुरुष को (वासः) पहनने के वस्त्र, देह रूप चोला (कः परि अदधात्) कौन पहराता है ?, (अस्य) इसके (आयुः) आयुष्काल को (कः अकल्पयत्) कौन नियत करता है ?, (अस्मै) इसको (बलम्) शारीरिक शक्ति (कः प्र-अयच्छत्) कौन प्रदान करता है ?, (अस्य) इस शरीर के (जवम्) वेग या क्रिया-सामर्थ्य को (कः अकल्पयत्) कौन रचता है ?

केना॒पो अन्व॑तनुत॒ केनाह॑रकरो॒द् रु॒चे ।
उ॒षस॒ं केनान्वै॑न्द्ध॒ केन॑ सायंभ॒वं द॑दे ॥ १६ ॥

भा०—(आपः) ये जल, देह में रुधिर रस आदि पदार्थ (केन) किस के सामर्थ्य से (अनु अतनुत) सर्वत्र फैले हैं ?, (केन) किसने (रुचे) प्रकाश के लिए (अहः) सूर्य को (अकरोत्) बनाया ?, (केन) किसने

(उषसम्) उषाकाल को (अनु-ऐन्ध) पुरुष के अनुकूल प्रकाशित किया ?, और (केन) किसने (सायंभवम् ददे) सायंकाल को बनाया ?

को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को वाणं को नृतों दधौ ॥ १७ ॥

भा०—(अस्मिन्) इस पुरुष देह में (रेतः) वीर्य को (कः नि अदधात्) कौन स्थापित करता है कि (तन्तुः, आ तायताम् इति) जिससे इस पुरुष का प्रजातन्तु और अधिक फैले ?, (अस्मिन्) इस पुरुष में (मेधां) बुद्धि को (कः) कौन (अधि औहत्) धारण कराता है ?, (बाणं कः) कौन इसमें वाणी या वाक्-शक्ति को धारण कराता, और (नृतः कः) नृत्य या हाथ पैर आदि की अपने इच्छानुरूप चेष्टाओं को कौन धारण कराता है ?

केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥

भा०—पुरुष ने (इमाम् भूमिम्) भूमि अर्थात् भौतिक देह को (केन) किस (मह्ना) बड़े सामर्थ्य से (और्णोत्) आच्छादित किया है ?, (केन) किस सामर्थ्य से (दिवम्) द्यौः मस्तिष्क को (परि अभवत्) व्याप रखा है। (पर्वतान्) पर्वतों अर्थात् अस्थियों को (केन) किस (मह्ना) महान् सामर्थ्य से धारण किया है, और (केन) किस सामर्थ्य से (पूरुषः) पुरुष (कर्माणि) नाना कर्मों को करता है ?

केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन् निहितं मनः ॥ १९ ॥

भा०—पुरुष (केन) किस प्रकार से (पर्जन्यम्) मेघ को (अनु एति) अपने जीवन के कार्यों में सुसंगत करता या प्राप्त करता है, और (विचक्षणम्) नाना प्रकार से देखने योग्य (सोमं) जल या अन्न को (केन) किस प्रकार से (अन्वेति) प्राप्त करता है, (केन यज्ञं च श्रद्धां च)

यज्ञ और श्रद्धा को किस प्रकार प्राप्त करता है ?, और (अस्मिन्) इस पुरुष देह में (केन) किसने (मनः) मननशील चित्त को स्थापित किया है ?

केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं प॑र॒मेष्ठि॑नम् ।
केने॒मम॒ग्निं पूरु॑ष॒: केन॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २० ॥ (५)

भा०—(श्रोत्रियम्) वेद के विद्वान् श्रोत्रिय पुरुष को (केन) किस रीति से, किस प्रयोजन से पुरुष (प्राप्नोति) प्राप्त करता है और (इमम्) इस (परमेष्ठिनम्) परम मोक्ष स्थान पर विराजमान परमेश्वर को (केन) किस प्रकार, किस मार्ग से प्राप्त करता है ? पुरुष (इमम्) इस (अग्निम्) जीवरूप अग्नि को (केन) किस रीति से ज्ञान करता है और (संवत्सरं) संवत्सर रूप, कालमय प्रजापति का (केन) किस प्रकार से (ममे) ज्ञान करता है या उसको मापता है ?

ब्रह्म॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ ब्रह्मे॒मं प॑र॒मेष्ठि॑नम् ।
ब्रह्मे॒मम॒ग्निं पूरु॑षो॒ ब्रह्म॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २१ ॥

भा०—(पुरुषः) पुरुष (ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान के लिये (श्रोत्रियम् आप्नोति) श्रुति अर्थात् वेद के ज्ञानी, ब्रह्म के विद्वान् ब्राह्मण के पास जाता है और (ब्रह्म) ब्रह्म ज्ञान से वह (परमेष्ठिनम्) परमपद में स्थित ब्रह्म को प्राप्त होता है। (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान और वेदाभ्यास से (इमम् अग्निम्) इस अग्नि को, इस जीवात्मा को भी प्राप्त करता, साक्षात् करता है, (ब्रह्म संवत्सरं ममे) और ब्रह्म से ही उस कालमय संवत्सर का ज्ञान करता है।

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विश॑: ।
केने॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ केन॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥

भा०—(देवान्) देवों, विद्वानों और परमात्मा के रचे दिव्य पदार्थों को (केन) किस सामर्थ्य से (अनु क्षियति) अपने वश करता है, उनको अपने अनुकूल करता है ? (दैवजनीः विशः) देव, परमात्मा से उत्पादित पशु पक्षी, कीटपतङ्ग आदि प्रजाओं को (केन) किस सामर्थ्य से (अनु

क्षियति) अपने अनुकूल बना कर उनके साथ रहता है ? अथवा (देवान्) प्राणों को और (दैवजनीः विशः) प्राण से उत्पन्न उप-प्राणों के साथ यह पुरुष अथवा आत्मा (केन) किस सामर्थ्य से (अनुक्षियति) एक ही देह में रहता है ? (केन अन्यत्) किससे विरहित होकर (इदम्) यह (नक्षत्रम्) बलहीन या चेतनारहित कहा जाता है और (केन सत्) जिसके साथ विद्यमान रह कर यह प्रकटरूप में (क्षत्रम्) बलस्वरूप या चेतनावान् (उच्यते) कहा जाता है ?

ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः ।
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते ॥ २३ ॥

भा०—(ब्रह्म) ब्रह्मशक्ति से यह आत्मा (देवान्) इन्द्रियों और वाणी के बीच में (अनु क्षियति) निवास करता है । (ब्रह्म) ब्रह्मशक्ति से ही (दैवजनीः) ईश्वर से उत्पादित चर, अचर प्रजाओं में या उपप्राणों में भी यह आत्मा निवास करता है । (ब्रह्म अन्यत्) ब्रह्मशक्ति से अतिरिक्त (इदम्) यह सब (नक्षत्रम्) 'नक्षत्र' निर्वीर्य रहता है और (ब्रह्म सत्) ब्रह्म शक्ति से युक्त ही यह सब (क्षत्रम् उच्यते) बलयुक्त रूप में 'चेतन' कहा जाता है ।

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २४ ॥

भा०—(इयं भूमिः) यह भूमि (केन) किसने (विहिता) विशेष रूप से स्थिर की, धारण की, या बनाई है ? और (केन) किसने (उत्तरा द्यौः) ऊपर का यह आकाश (हिता) धारण किया, थामा या बनाया ? और (इदम्) किसने यह (ऊर्ध्वं तिर्यक् च) ऊपर का और तिरछा (व्यचः) व्यापक (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वातावरण (हितम्) धारण किया, थामा या बनाया है ?

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २५ ॥

भा०—(ब्रह्मणा) उस महान् ब्रह्मशक्ति ने (भूमिः विहिता) यह भूमि वा देह बनाई और विशेष रूप से धारण और स्थिर की। (ब्रह्म) उस महान् शक्ति ब्रह्म ने (उत्तरा द्यौः) ऊपर का आकाश वा शिर भी (हिता) बनाया और स्थिर किया है। (इदं) यह (ऊर्ध्वं तिर्यक् च व्यचः, अन्तरिक्षम्) ऊपर का और तिरछा, फैला हुआ अन्तरिक्ष, वातावरण, देह का मध्य भाग भी उसी (ब्रह्म हितम्) महान् शक्ति ब्रह्म, ने धारण किया बनाया और स्थिर किया है।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

भा०—(अथर्वा) अथर्वा अर्थात् प्रजापति परमात्मा, (अस्य) इस पुरुष के (मूर्धानम्) सिर को और (हृदयं च) हृदय को (संसीव्य) सीकर (यत्) जब (मस्तिष्काद्) मस्तिष्क से (ऊर्ध्वः) ऊपर और (शीर्षतः) शिर के भी ऊपर होकर (पवमानः) प्राणस्वरूप होकर स्वयं समस्त देहों को (प्रैरयत्) गति दे रहा है। अर्थात् वह परमात्मा ही सब देहों में चेतना को चला रहा है। वह सब के मस्तिष्क और सिरों के ऊपर अध्यक्षरूप से विद्यमान है।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

भा०—(वा) अथवा (अथर्वणः) अथर्वा अर्थात् प्रजापति का बनाया हुआ (तत्) वह (शिरः) शिर ही (देव-कोशः) देव-कोश अर्थात् इन्द्रियों का मूल आवरण या निवासस्थान (सम्-उब्जितः) बना हुआ है। (तत्) उस (शिरः) शिर की (प्राणः) प्राण (अभिरक्षति) चारों ओर से रक्षा करता है। और (अन्नम् अथो मनः) अन्नमय शरीर की और मन की भी वही रक्षा करता है।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

भा०—(पुरुषः) पुरुष अर्थात् जीवात्मा (नु) क्या (ऊर्ध्वः) ऊपर ऊंचे खड़े हुए रूप में या मनुष्य से उच्च योनि में (सृष्टः) उत्पन्न किया गया था, या (तिर्यङ् नु) वह तिरछे या तिर्यग्-योनि में (सृष्टः) उत्पन्न किया गया था, या (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में (पुरुषः) पुरुष (आ-बभूव) प्रकट हुआ था ? ऊर्ध्व अर्थात् इस मनुष्यलोक से ऊपर कोई और इससे उच्च योनि में प्रथम पुरुष उत्पन्न हुआ था कि जिससे ये सब मनुष्य पीछे उत्पन्न हुए या वह पुरुष प्रथम तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुआ था और या सभी दिशाओं में अर्थात् सभी योनियों में वह पुरुष आत्मा प्रकट हुआ, यह वितर्क उठा करता है। अथवा—वह पुरुष (ऊर्ध्वः) ऊपर ही द्यौलोक में प्रकट हुआ था, (तिर्यङ्) अन्तरिक्ष लोक में प्रकट हुआ, या सभी दिशाओं में उसकी सत्ता रही, यह सदा वितर्क उठता है। इसकी विवेचना उचित रीति से करनी चाहिये। (यः) जो विद्वान् (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (पुरं) उस पुरी को जिसके भीतर रहने से वह आत्मा (पुरुष) पुरुष (उच्यते) कहा जाता है—जानता है, वही इस तर्क का समाधान कर सकता है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥

भा०—(यः) जो (वै) निश्चय से (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (अमृतेन) परमानन्द रस से या अनन्त जीवन से (आवृतां) घिरी हुई, (ताम्) उस (पुरीम्) पुरी को (वेद) जान लेता है (तस्मै) उसे (ब्रह्म च) वह ब्रह्म और (ब्राह्माश्च) उस ब्रह्मरूप महान् शक्ति के उपासकजन या उससे उत्पन्न लोक (चक्षुः) चक्षु आदि इन्द्रियां, (प्राणम्) जीवन और (प्रजाम्) सन्तान (ददुः) प्रदान करते हैं।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

भा०—(यः) जो (ब्रह्मणः पुरं वेद) ब्रह्म की उस पुरी को जानता

है (यस्याः) जिसका अध्यक्ष साक्षात् (पुरुषः उच्यते) 'पुरुष' कहा जाता है, (तम्) उसको (चक्षुः) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियगण (न जहाति) नहीं छोड़ते, (न प्राणः) और न प्राण ही (जरसः पुरा) बुढ़ापे के पूर्व उसे त्यागता है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥

भा०—(अष्टा-चक्रा) आठ चक्रों और (नव-द्वारा) नवद्वारों से युक्त, (देवानाम्) इन्द्रिय-गणों की (अयोध्या) किसी से युद्ध द्वारा विजय न की जाने वाली (पूः) पुरी है। (तस्यां) उसमें (हिरण्ययः) तेजःस्वरूप, (कोशः) प्राणों का एकमात्र आश्रय, (स्वर्गः) सुखस्वरूप जीवात्मा (ज्योतिषा) परमात्मा के तेज से (आवृतः) ढका हुआ रहता है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥

भा०—(तस्मिन्) उस (हिरण्यये) तेजोमय, (त्रि-अरे) तीन अरों वाले और (त्रि-प्रतिष्ठिते) तीन चरणों या आश्रयों पर स्थित (कोशे) होने वाले कोश में अर्थात् जीवात्मा में, (यत् यक्षम्) जो परम पूजनीय तत्व (आत्मन्वत्) परमात्मस्वरूप है, (तत् वै) उसका ही निश्चय से (ब्रह्म-विदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (विदुः) ज्ञान किया करते हैं।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥ (६)

भा०—(प्र-भ्राजमानाम्) अतिशय तेज से प्रकाशमान, (हरिणीम्) अति मनोहारिणी, (यशसा) यशोरूप तेज से (सं-परिवृताम्) चारों तरफ से घिरी हुई, (हिरण्ययीम्) अति तेजस्विनी, (अपराजिताम्) किसी से भी न जीती गई उस ब्रह्मपुरी में (ब्रह्मा) ब्रह्म (विवेश) प्रवेश किये हुए हैं। इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, पञ्चषष्टिश्चर्चः]

[३]

अथर्वा ऋषिः । वरणो, वनस्पतिश्चन्द्रमाश्च देवताः । २, ३, ६ भुरिक् त्रिष्टुभः, ८, १३, १४ पथ्यापंक्तयः ११, १६ भुरिजौ । १५, १७–२५ षट्पदा जगत्यः, १, ४, ५, ७, ९, १०, १२, अनुष्टुभः । पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥

भा०—(अयम्) यह (वरणः) सबसे उत्तम वरण करने या मुख्य रूप से चुनने योग्य, श्रेष्ठतम, हममें से राज्यतिलक द्वारा अभिषेक करने योग्य, अथवा शत्रु का वारण करने हारा पुरुष ही (मणिः) शिरोमणि, सबका प्रमुख नेता होने योग्य है। वह स्वयं (वृषा) सब सुखों का वर्षक, शकट के भार को उठाने योग्य वृषभ के समान राज्य भार को उठाने में समर्थ, या मेघ के तुल्य सुखों का वर्षक और (सपत्न-क्षयणः) शत्रुओं का नाशक है। हे राष्ट्रपते ! (तेन) ऐसे पुरुष के बल पर (त्वं) तू (शत्रून्) शत्रुओं को (रभस्व) विनष्ट कर या पकड़ और (दुरस्यतः) दुष्ट कामना करने वालों को (प्र मृणीहि) विनाश कर ।

प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुर एता पुरस्तात् ।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः ॥ २ ॥

भा०—हे राजन् ! (एनान्) इन शत्रुओं को (प्र शृणीहि) मार, (प्र मृण) विनाश कर, (रभस्व) पकड़ ले। वही शत्रुओं का निवारण करने में समर्थ सेनापति (पुरस्तात्) आगे ही आगे (पुरः-एता) अपनी सेना के आगे प्रमुख रूप से चलने वाला (अस्तु) हो। (देवाः) विद्वान् वा वीर लोग (वरणेन) शत्रु के वारण करने में समर्थ पुरुष द्वारा ही (असुराणाम्) असुरों के (श्वः-श्वः) निरन्तर होने वाले नये से नये (अभ्याचारम्) आक्रमण को (अवारयन्त) वारण करते हैं।

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः ।
स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥३॥

भा०—(अयम्) यह (वरणः) शत्रुओं का निवारण करने वाला (मणिः) नर-शिरोमणि पुरुष ही (विश्व-भेषजः) समस्त दुःखों को शान्त करने हारे औषध के समान है, वह (सहस्राक्षः) चर या गुप्त दूतों और राजसभा के सभासदों की आंखों और शास्त्र-चक्षुओं वा विद्वानों द्वारा मानो हजारों आंखों से युक्त होकर साक्षात् सहस्राक्ष इन्द्र है। वह (हरितः) मनोहर आश्रय वृक्ष के समान श्यामल या सूर्य के समान कान्तिमान् एवं शान्तिप्रद है और वही (हिरण्ययः) बड़ा धन-ऐश्वर्यसम्पन्न है। (सः) वह (ते) तेरे (शत्रून्) शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (पादयाति) कर देता है। हे शत्रु निवारक! तू (पूर्वः) सबसे पूर्वगामी होकर (तान्) उनका (दम्नुहि) विनाश कर डाल (ये) जो (त्वा) तुझे (द्विषयन्ति) द्वेष करते हैं।

अ॒यं ते॑ कृ॒त्यां वित॑तां पौरु॑षेयाद॒यं भ॒यात्।
अ॒यं त्वा॒ सर्व॑स्मात् पा॒पाद् व॒र॒णो वा॑रयिष्यते ॥ ४ ॥

भा०—(अयं वरणः) यह शत्रुओं को निवारण करने में समर्थ, सेनापति (विततास्) विस्तृत (कृत्याम्) घातक सेना को भी (वारयिष्यते) परे हटा देने में समर्थ है और (अयम्) यह सेनापति (पौरुषेयात् भयात्) पुरुषों से होने वाले भय से बचाने में समर्थ है और (अयं त्वा सर्वस्मात् पापात्) यह तुझ पर होने वाले सब प्रकार के अत्याचार से तुझको (वारयिष्यते) बचाने में समर्थ है।

व॒र॒णो वा॑रयाता अ॒यं दे॒वो व॒न॒स्पतिः॑।
यक्ष्मो॒ यो अ॒स्मिन्नावि॑ष्ट॒स्तमु॑ दे॒वा अ॑वीवरन् ॥ ५ ॥

भा०—(अयं) यह (वरणः) शत्रु को वारण करने में समर्थ (देवः) दिव्यगुणवान् कान्तिमान् तेजस्वी राजा साक्षात् (वनस्पतिः) वृक्ष के समान आश्रयपद है। (यः अस्मिन्) इसके भीतर (यक्ष्मः) पूजा सत्कार के योग्य महान् आत्मा (आविष्टः) प्रविष्ट है। (देवाः) विद्वान् लोग (तम् उ) उसका वरण करते और राज्यसिंहासन पर अभिषेक करते हैं।

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् ।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन् ! (यदि) यदि (सुप्त्वा) सोया हुआ तू (पापम्) पाप युक्त, अत्याचार और अन्यायपूर्ण अपने पर होने वाले भयङ्कर वध आदि के (स्वप्नं) स्वप्नमय दृश्य को (पश्यासि) देखे और (यदि) यदि (मृगः) कोई बनैला जन्तु (अजुष्टाम्) अनभिलषित (सृतिम्) मार्ग में (धावात्) आ धमके, (परिक्षवात्) निन्दाजनक लोकवाद और (शकुनेः) प्रबल आक्रामक और (पापवादात्) पापमय निन्दावाद इन सबसे, (वरणः) शत्रु से वारण करने में समर्थ (मणिः) यह शिरोमणि (वारयिष्यते) प्रजा की और तेरी रक्षा करेगा । राजा के रक्षकवर्ग राजा को सुख से सोने देते हैं, उसकी रक्षा में राजा रात को शत्रु के भय के अत्याचारमय स्वप्न नहीं देखता और प्रजा भी निश्चिन्त सोती है । उसकी रक्षा में वन के पशु नहीं सताते, व्यर्थ लोकापवाद नहीं उठते, प्रत्युत रक्षा के प्रबन्ध से उसका यश होता है और प्रबल पापमय निन्दा भी नहीं उठती ।

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात् ।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ७ ॥

भा०—(अरात्याः) सुख न देने वाली शत्रु की (निर्ऋत्याः) पापमयी सेना के (अभिचारात्) आक्रमण से और उसके कारण उत्पन्न (ओजीयसः) बड़े प्रबल (मृत्योः) मृत्यु के भय और (वधात्) प्राणनाश, शस्त्रवध से भी (वरणः) वह 'वरण' नाम रक्षकवर्ग राजा और प्रजा को (वारयिष्यते) आपत्तियों से बचा लेने में समर्थ होता है ।

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥ ८ ॥

भा०—(यत् एनः) जो पाप (मे माता) मेरी माता और (यत् एनः

मे पिता) जो पाप मेरा पिता और (यत् च) जो पाप (मे) मेरे (भ्रातरः) भाई लोग और (यत् एनः) जो पाप मेरे (स्वाः) अपने बन्धु जन और (यत् एनः) जो पाप (वयम्) हम (चकृम) करते हैं, (तत्) उन सब पापों से (अयम्) यह (वनस्पतिः) बड़े वृक्ष के समान शरण योग्य प्रजा-पालक (देवः) राजा (वारयिष्यते) रक्षा करेगा । राजा और प्रजा के भीतरी सम्बन्धों में होने वाले अत्याचारों से भी प्रजा की रक्षा राजा ही करे ।

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः ।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥

भा०—(स-बन्धवः) मेरे बन्धुओं के साथ मिलकर षड्यन्त्र रचने वाले मेरे (भ्रातृव्याः) शत्रु लोग, (वरणेन) इस रक्षकवर्ग से (प्र-व्यथिताः) पीड़ित होकर, जो (असूर्तं) प्रकाशहीन (रजः) राजसभाव अर्थात् क्रोध को (अपि अगुः) प्राप्त होते हैं, (ते) वे, (अधमं) अधम (तमः) तामस-भाव को (यन्तु) प्राप्त हों, अर्थात् वे भारी दण्ड को प्राप्त हों ।

अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मात्सर्वपूरुषः ।
तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥ १० ॥ (७)

भा०—(अहम्) मैं (अरिष्टः) अपीड़ित और (अरिष्टगुः) अपीड़ित पशुओं या इन्द्रियों सहित रहूँ और (सर्वपूरुषः) मैं अपने समस्त पुरुषों नौकर-चाकरों सहित (आयुष्मान्) दीर्घायु रहूँ । (तं मा) उस मुझको (अयं वरणः मणिः) यह क्षत्रवर्ग शिरोमणि (दिशः दिशः) समस्त दिशाओं में (परि पातु) सुरक्षित करे ।

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥ ११ ॥

भा०—(इन्द्रः) आत्मा (दस्यून्) आत्मज्ञान का नाश करने वाले (असुरान्) प्राणों में रमणकारी विषय भोगों को (इव) जिस प्रकार दमन करता है, उसी प्रकार (अयं वरणः) यह विद्वानों से वरने

और शत्रुओं को वारण करने में समर्थ (देवः) प्रकाशमान, (वनस्पतिः) आश्रय-वृक्ष के समान सबका पालक (राजा) राजा मेरी (उरसि) छाती या हृदय में विराजे। (सः) वह (मे) मेरे (शत्रून्) शत्रुओं का (वि बाधताम्) विशेष रूप से या विविध उपायों से दमन करे।

इमं बिभर्मि वरणमायुष्माञ्छतशारदः।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥ १२ ॥

भा०—(इमम्) इस (वरणम्) शत्रु-वारण में समर्थ पुरुष को (बिभर्मि) मैं भृति द्वारा पोषण करूं और (आयुष्मान् शत-शारदः) सौ बरसों तक की आयु वाला होऊं। (सः) वह (मे) मेरे राष्ट्रको और क्षत्र-बल को, (पशून्) पशुओं को (ओजः च) और ओज को (मे दधत्) मेरे में धारण करावे।

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान्
वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वातः) प्रबल वायु (वनस्पतीन्) वनों के पालक रूप बड़े २ (वृक्षान्) वृक्षों को (ओजसा) अपने बल से (भनक्ति) तोड़ डालता है, (एवा) उसी प्रकार (मे) मेरे (पूर्वान्) पूर्व के उत्पन्न (उत) और (अपरान्) बाद के (जातान्) उत्पन्न (सपत्नान्) शत्रुओं को (भङ्ग्धि) तोड़ डाल, नाश कर। हे राजन्! (वरणः) ऐसा शत्रु का वरण करने में समर्थ पुरुष (त्वा) तेरी (अभि रक्षतु) रक्षा करे।

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन्।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान्० ॥ १४ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वातः च अग्निः च) प्रबल वायु और अग्नि मिलकर (वनस्पतीन् वृक्षान्) वन के बड़े २ और साधारण वृक्षों को भी (प्सातः) खा जाते हैं, (एवा) इसी प्रकार (मे) मेरे (पूर्वान् जातान् उत अपरान् जातान् सपत्नान् प्साहि) पहले और पिछले उत्पन्न शत्रुओं

को खा डाल । हे राजन् ! (वरणः त्वा अभि रक्षतु) शत्रुनिवारक पुरुष तेरी रक्षा करे ।

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः ।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पय ।
पूर्वान् जातान् उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वातेन) प्रबल वायु से (प्रक्षीणाः) उखड़े और (नि अर्पिताः शेरे) नीचे गिराये वृक्ष भूमि पर लोट जाते हैं, (एव) उसी प्रकार (त्वं) तू 'वरण' (मे सपत्नान् प्रक्षिणीहि) मेरे शत्रुओं का विनाश कर और उनको (नि अर्पय) नीचे गिरा दे ।

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः ।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥ १६ ॥

भा०—(ये) जो लोग (एनम्) इस राजा के (पशुषु) पशुओं पर (दिप्सन्ति) घात लगाते हैं, (ये च) और जो (अस्य) इस राजा के (राष्ट्र दिप्सवः) राष्ट्र अर्थात् जनपद पर घात लगाते हैं, उनको मारकर हड़प लेना चाहते हैं, हे (वरण) शत्रुनिवारक ! (तान्) उनको (त्वं) तू (दिष्टात् पुरा) निर्दिष्ट अर्थात् कर्म में लिखे समय या संभावित आयु से पूर्व या (आयुषः पुरा) उनकी पूर्ण आयु होने के पूर्व ही (प्रच्छिन्धि) विनाश कर ।

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ १७ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (अति भाति) सबसे अधिक चमकता है और (यथा) जिस प्रकार (अस्मिन्) इस सूर्य में (तेजः) प्रखर तेज (आहितम्) ईश्वर ने रख दिया है, (एव) उसी प्रकार (वरणः मणिः) शत्रुवारक नर-शिरोमणि पुरुष (मे) मुझे (कीर्तिम्) यश और (भूतिम्) सम्पत्ति (नि यच्छतु) प्रदान करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (सम् उक्षतु)

सींचे अर्थात् शत्रुओं से रक्षा करने वाले पुरुषों के बल पर मैं सूर्य के समान कान्तिमान्, समृद्धिमान्, यशस्वी, तेजस्वी राजा हो जाऊं।

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि। एवा मे० ॥ १८ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में और (नृचक्षसि) समस्त मनुष्यों के देखने वाले या सुख के दर्शनीय (आदित्ये च) आदित्य में (यशः) यश, कीर्त्ति है, (एवा मे वरणो मणिः०) इसी प्रकार शत्रुवारक शिरोमणि पुरुष भी मुझे कीर्त्ति और भूति प्रदान करे, मुझे तेज और यश से युक्त करे।

यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि। एवा० ॥ १९ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पृथिव्यां) पृथिवी में और (अस्मिन् जातवेदसि) इस जातवेदा अग्नि में (यशः) कीर्त्ति है, इसी प्रकार···पूर्ववत्।

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे। एवा० ॥ २० ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार का यश, शोभा, मान, प्रतिष्ठा (कन्यायां) शुद्धचरित्र कन्या में और (यथा) जिस प्रकार का (अस्मिन्) इस (संभृते) युद्ध के लिये युद्ध सामग्री से सुसज्जित (रथे) रथ में (यशः) यश है, उसी प्रकार···पूर्ववत्।

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा० ॥ २१ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार का (सोमपीथे) सोमपान करने में (यशः) यश, मान, प्रतिष्ठा है और (यथा) जिस प्रकार का (मधुपर्के) मधुपर्क प्राप्त करने में (यशः) यश है, उसी प्रकार····पूर्ववत्।

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः। एवा० ॥ २२ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार का (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र करने में यश है और (यथा) जिस प्रकार का (वषट्कारे) यज्ञ करने में (यशः) यश है, इसी प्रकार का···पूर्ववत्।

यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम्। एवा० ॥ २३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार का यश (यजमाने) यज्ञ कराने वाले पुरुष में और (यथा) जिस प्रकार का यश (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (आहितम्) रखा है, इसी प्रकार का…पूर्ववत्।

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि। एवा० ॥ २४ ॥

भा०—(यथा प्रजापतौ यशः) जैसा प्रजापति में यश है और (यथा) जैसा (अस्मिन् परमेष्ठिनि) इस परमेष्ठी, ब्रह्मा या सर्वोच्च पद पर स्थित परमेश्वर और राजा होने में यश है, इसी प्रकार का…पूर्ववत्।

यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ २५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (देवेषु) दिव्य पदार्थों में (अमृतम्) जीवनप्रद सामर्थ्य है और विद्वानों में परम ब्रह्मज्ञान रहता है और जिस प्रकार (एषु) इन ब्रह्मज्ञ पुरुषों में (सत्यम्) सत्य (आहितम्) स्थिर है, इसी प्रकार का यश, कीर्त्ति, मान, प्रतिष्ठा, आदर और सम्पत्ति यह शत्रुवारक पुरुष मुझे प्राप्त करावे और वह मुझे तेजस्वी और यशस्वी करे।

[४] सर्प विज्ञान और चिकित्सा

अथर्वा ऋषिः ॥ गरुत्मान् तक्षको देवता ॥ १ पथ्यापंक्तिः । २ त्रिपदा यवमध्या गायत्री, ३, ४ पथ्या बृहती, ८ उष्णिगर्भा परा त्रिष्टुप्, १२ भुरिक् गायत्री, १६ त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री, २१ ककुम्मती, २३ त्रिष्टुप्, २६ बृहतीगर्भा ककुमती त्र्यवसाना षट्पदा भुरिक् त्रिष्टुप्, ५-७, ९, ११, १३-१५, १७-२०, २२, २४, २५ अनुष्टुभः । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्।
अहीनामपमा रथ स्थाणुमारदथार्षत् ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) आत्मा का (प्रथमः) सबसे उत्कृष्ट (रथः) रस या वीर्य है और (देवानाम्) शरीरगत इन्द्रियों का (रथः) रस या वीर्य

(अपरः) उससे उतर कर, दूसरे नम्बर पर है। (वरुणस्य) प्राण, अपान या अग्नि का (रथः) रस या वीर्य (तृतीयः) तीसरे दर्जे का (इत्) ही है। (अहीनाम्) सर्पों का (रथः) रस या वीर्य (अपमा = उपमाः) सबसे नीचे है, जो (स्थाणुम्) वनस्पतियों में या शरीर में (आरत्) प्राप्त होता है, (अथ अर्षत्) और जो तीव्र वेदना उत्पन्न करता या फैल जाता है (अथ आ ऋपत्) और प्राणघात करता है।

तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते। गो० पू० २ । २१ ॥ इन्द्र आत्मा का सबसे अधिक बल है, उससे उतर कर ज्ञानेन्द्रियों का, उससे उतर कर प्राण, अपान, व्यान या अग्नि का और सबसे कम अहि या सर्पों का। अधिक बलवान् अपने से कम बल वाले को दबा लेता है इस सिद्धान्त से सर्पों के रस अर्थात् विष को दूर करने या उस पर विजय पाने के लिये उससे अधिक रस-बल वाले पदार्थ का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त रस वनस्पतियों में विद्यमान है। सर्प का सबसे निकृष्ट श्रेणी का विष भी शरीर में प्रवेश करता और फैल जाता है।

दुर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः।
रथस्य बन्धुरम् ॥ २ ॥

भा०—विष के बांधने वाले पदार्थों का वर्णन करते हैं। (दर्भः) दाभ, कुशा घास, (शोचिः) जलता चमकता हुआ आग का अंगारा, (तरुणकम्) तरुणक या कत्तण, (अश्वस्य वारः) 'अश्व' अर्थात् सरपत या कनेर के बाल या जल और (परुषस्य वारः) परुष नाम के सरपत के बाल या जल ये पदार्थ (रथस्य) सर्पों के विष के (बन्धुरम्) बांधने वाले पदार्थ हैं।

'अश्वस्य वारः' = अश्व के बाल, ये घोड़े के बाल नहीं प्रत्युत यह एक 'काश' या सरपत की जाति है जिसको राजनिघण्टु में 'अश्वाल' शब्द से कहा गया है। यह पानी में बहुत फैलता है। उसके पत्ते विशेष रूप से दाह, तृष्णा को शान्त करते हैं। अथवा—'अश्वस्य वारः' करवीर का भी वाचक होना सम्भव है। आयुर्वेद में उसे 'अश्वमार' 'हयमार' आदि कहा

जाता है, वेद में उसे 'अश्व-वार' कहा गया है। यह तीव्र विपघ्न पदार्थ है। 'परुषस्य वारः'—परुष नामक छोटी दाभ की जाति है, इसको राजनिघण्टु 'खर' नाम से पुकारता है। यह पित्तोल्वण, दाह, विष आदि का नाशक है। अथवा परुष = पोरुओं वाला नड़, नल है जो "नलः स्यादधिको वीर्यः शस्यते रसकर्मणि" औरों से अधिक वीर्य वाला और रस-कर्म या विष-चिकित्सा में अधिक उपयोगी है। या फालसा = 'परूपक', तरूणक = तरुणक या तरुण = कत्तृग नामक ओषधि। यह 'भूतग्रहविषघ्नं च व्रणक्षतविरोपणम्" भूतग्रह और विष का नाशक, व्रण क्षतादि की रोपक ओषधि है।

अवं श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (श्वेत) श्वेत करवीर, अश्वक्षुरक नाम ओषधे! (वाः) जल जिस प्रकार (उदप्लुतम्) जल में उतराती हुई (दारु) लकड़ी को (अरसम्) निर्बल और नीरस करके विनष्ट कर देता है, उसी प्रकार (पूर्वेण) पूर्व के और (अपरेण च) अपर के (पदा) पाद, फूल और मूल से (अहीनां) सांपों के (उग्रम्) तीव्र (विषम्) विष को (अरसम्) निर्बल करके (अव जहि) विनाश कर।

अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत्।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥

भा०—(अरं-घुषः) तूम्बा (निमज्य) जल में डुबोया जाकर (पुनः उन्मज्य) फिर ऊपर उठकर (अब्रवीत्) मानो बतलाता है कि मेरे प्रभाव से (अहीनाम्) सांपों का (उग्रम्) उग्र, भयानक, तीव्र (विषम्) विष भी (अरसम्) रसहीन, निर्बल हो जाता है (उदप्लुतं दारु) जिस प्रकार कि पानी में डूबे लकड़ी के टुकड़े को (वाः इव) जिस प्रकार जल (अरसम्) निर्बल कर देता है। 'अरं-घुषा' अति शब्द करने वाली 'वीणा तुम्बी' है, वह कटु और विषघ्न होती है।

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम् ।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः ॥ ५ ॥

भा०—(पैद्वः) 'पैद्व' नामक ओषधि (कसर्णीलं) कसर्णील नामक सर्प को विनाश करती है। (पैद्वः) वही 'पैद्व' नामक ओषधि (श्वित्रम्) श्वेत सर्प (उत) और (असितम्) काले सर्प को भी विनाश करती है। (पैद्वः) पैद्व नामक ओषधि (रथर्व्याः) रथर्वी नामक सांप-जाति और (पृदाक्वाः) पृदाकू नामक सांप की जाति के (शिरः) शिर को भी (बिभेद) तोड़ डालती है। 'पैद्वः' द्वारा करवीर या गिरकर्णिक या अश्वक्षुरक या अश्वगन्धा नामक औषधि लेना उचित है। केशव के मत से पैद्व नामक एक जन्तु है जो 'तलिणी' कहाता है, जो पीले रंग का वा चिटकनेदार होता है। उसके भय से सर्प नहीं आता। 'कसर्णील' अति विषैली सर्प जाति होती है। 'श्वित्र' कौड़िया, 'असित' कालानाग, 'रथर्वी' फनियर और 'पृदाकू' कड़ैत ये सभी सर्पों की भिन्न २ जातियों के नाम हैं।

पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि ।
अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥ ६ ॥

भा०—हे (पैद्व) पैद्व अर्थात् अश्व नामक ओषधे ! (प्रथमः) प्रथम तू (प्र-इहि) आगे २ चल और (त्वा अनु) तेरे पीछे (वयम्) हम (एमसि) चलें। जिस मार्ग से (वयम्) हम (एमसि) चलें उस (पथः) मार्ग से (अहीन्) सांपों को (वि-अस्यतात्) तू दूर भगा दे।

इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम् ।
इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥

भा०—(इदम्) यह (पैद्वः) अश्व नामक ओषधि ही (अजायत) ऐसा उत्तम पदार्थ सिद्ध हुआ है कि (इदम्) यह ही (अस्य) इसका (परायणम्) परम औषध है (वाजिनीवतः) बलवती शक्ति से युक्त (अहिघ्न्यः) और सर्पनाशक (अर्वतः) 'अर्वन्' अर्थात् 'अश्व' नामक ओषधि के (इमानि) ये (पदा) विशेष जानने योग्य लक्षण हैं।

संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत् ।
अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥ ८ ॥

भा०—सांप का मुख (सं-यतम्) पकड़ कर बन्द कर दिया जाय कि (न विष्परत्) खुल न सके और यदि उसका मुख (व्यात्तं) खुला हो तो ऐसा उपाय किया जाय कि वह (न सं यमत्) बन्द न हो सके। तो (अस्मिन् क्षेत्रे) इस उपाय से (द्वौ) दोनों (अही) सांप जातियां (स्त्री च पुमान् च) मादा और नर (तौ उभौ) वे दोनों ही (अरसा) विष नहीं उगल सकतीं।

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके ।
घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥ ९ ॥

भा०—(ये) जो सांप (अन्ति) समीप हों और (ये च दूरके) जो दूर हों वे भी (अहयः) सांप (इह) इस उपाय से (अरसासः) निर्बल, बलरहित, लाचार हो जाते हैं कि (घनेन) किसी हतौड़े से (वृश्चिकम्) बिच्छू को (हन्मि) मारूं और (आगतम्) समीप आये (अहिम्) सांप को (दण्डेन हन्मि) दण्ड से मारूं।

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च ।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥ १० ॥ (१०)

भा०—(अघाश्वस्य) 'अघाश्व' नामक सर्प और (स्वजस्य च) 'स्वज' नामक सर्प (उभयोः) दोनों का (इदम् भेषजम्) यह भेषज है, (इन्द्रः) 'इन्द्र' नामक औषधि (मे) मेरे (अघायन्तम्) ऊपर आक्रमण करने वाले सर्प को उसी प्रकार विनाश करती है जिस प्रकार (पैद्वः) पूर्वोक्त अश्व या श्वेत नामक औषध (अहिम् अरन्धयत्) सर्प को नाश करती है। 'इन्द्र' या 'इन्द्रक' नामक औषध 'अश्मन्तक' या 'अश्वान्तक' है जो गुण में विष की पीड़ा को दूर करती है। 'अघाश्व' घोड़े के समान ऊपर उछल कर आक्रमण करता है; 'स्वज' शरीर के साथ लिपट-चिपट कर काटता है।

पैद्वस्य॑ मन्महे व॒यं स्थि॒रस्य॑ स्थि॒रधा॑म्नः ।
इ॒मे प॒श्चा पृदा॑कवः प्र॒दीध्य॑त आसते ॥ ११ ॥

भा०—(वयम्) हम (स्थिरस्य) स्थिर (स्थिरधाम्नः) स्थिर वीर्य वाले (पैद्वस्य) अश्व नामक ओषधि के बल से विष को (मन्महे) स्तम्भित करते हैं। उसके बल पर (इमे) ये (पृदाकवः) पृदाकू नामक महासर्प (पश्चा) पीछे हटकर (प्रदीध्यतः) विशेष रूप से चिन्तामग्न होकर (आसते) बैठे रह जाते हैं।

न॒ष्टास॑वो न॒ष्टवि॑षा ह॒ता इन्द्रे॑ण व॒ज्रिणा॑ ।
ज॒घानेन्द्रो॑ जघ्नि॒मा व॒यम् ॥ १२ ॥

भा०—(वज्रिणा) बल वाले (इन्द्रेण) 'इन्द्र' नामक पूर्वोक्त औषध से (हताः) मरे हुए सर्प (नष्टासवः) प्राणरहित और (नष्टविषाः) विषरहित हो जाते हैं। (इन्द्रः जघान) जब 'इन्द्र' औषध उनको मारता है तब उनको (वयम् जघ्निमा) हम भी मारते हैं।

ह॒तास्ति॑रश्चिराजयो॒ निपि॑ष्टास॒: पृदा॑कवः ।
दर्वि॒ꣳ करि॑क्रतं श्वि॒त्रं द॒र्भेष्व॑सि॒तं ज॑हि ॥ १३ ॥

भा०—(तिरश्चि-राजयः) तिरछी धारियों वाले सर्प (हताः) मार दिये जा सकते हैं और (पृदाकवः) पृदाकु नामक मूषक-भक्षक सर्प भी (निपिष्टासः) सर्वथा पीस डाले जा सकते हैं। (दर्विम्) 'दर्वि' कड़छे के आकार के फण वाले नाग को, (करिक्रतम्) और कड़ैत नामक काले सांप को और (श्वित्रम्) 'श्वित्र' नामक चितकबरे सांप को और (असितं) काल नामक सर्प को भी हे पुरुष ! (दर्भेषु) उपरोक्त दाभ या कुशाओं के बल पर (जहि) मार अथवा दाभ आदि घास में छिपे हुए इनको मार।

कै॒राति॒का कु॑मारि॒का स॒का ख॑नति भेष॒जम् ।
हि॒र॒ण्ययी॑भि॒रभ्रि॑भिर्गि॒रीणा॒मुप॒ सानु॑षु ॥ १४ ॥

भा०—(सका) वह (कैरातिका कुमारिका) 'किरात' वर्ग की कुमारी या बन्ध्यकर्कोटकी नामक जड़ी (गिरीणां) पर्वतों के (सानुषु) शिखरों पर

(हिरण्ययीभिः) लोहे-सोने की बनी (अभ्रिभिः) कुदालियों से (खनति) खोदती है या खोदी जाती है। कुमारिका ओषधि नागों का दमन करती है।

आयमंगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥ १५ ॥

भा०—(अयम्) यह (युवा) बलवान् (अपराजितः) 'अपराजित' नामक औषध, (पृश्नि-हा) पृश्नि, चितकबरे, कौड़िया सांप का नाशक और (भिषक्) विष रोग को दूर करने हारा है। (सः च) वह (स्वजस्य) 'स्वज' नामक सर्प (वृश्चिकस्य च) और वृश्चिक बिच्छू (उभयोः) दोनों का (जम्भनः) नाशक है।

'अपराजिता' शब्द से निघण्टु में अश्वक्षुरक, बलामोटा, विष्णुक्रान्ता और शुक्लांगी या शेफ़ालिका या शंखपुष्पी नामक ओषधि ली जाती हैं। इनमें—अश्वक्षुरक = गिरिकर्णिका, कटभी, श्वेत आदि नाम से कहाती हैं। वह विषदोषघ्न हैं। शेफ़ालिका भी विषघ्न है।

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च ।
वातापर्जन्यो३भा ॥ १६ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्रनामक ओषधि या विद्युत् (मित्रः च) मित्रनामक सूर्य और (वरुणः च) वरुणनामक जल, (वातपर्जन्या) वात, मेघ या पर्जन्य नाम ओषधि (उभा) ये भी (अहिम्) सर्प को (मे अरन्धयत्) मेरे लिये वश में करते हैं।

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत् पृदाकुं च पृदाक्वम् ।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥ १७ ॥

भा०—(पृदाकुम्) पृदाकु नामक नर सर्प को, (पृदाक्वम्) पृदाकू नाम मादा सांपिन को, (स्वजम्) स्वज (तिरश्चिराजिम्) तिरछी धारियों वाले सर्प और (कसर्णीलम्) कसर्णील और (दशोनसिम्) दशोनसि नामक सांप को भी (इन्द्रः) 'इन्द्र' नामक ओषधि (मे अरन्धयत्) मेरे वश कर देती है।

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव ।
तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित् तेषामसद् रसः ॥ १८ ॥

भा०—(अहे) हे सर्प ! (प्रथम) पहिले तो तेरे (जनितारं) उत्पादक को (इन्द्रः) 'इन्द्र' नामक ओषधि (जघान) विनाश करता है। (तेषां तृह्यमाणानाम्) वंश से ही विनाश किये जाते हुओं का (कः स्वित्) कौनसा (रसः) विष (असत्) शेष रहना सम्भव है ?

सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् ।
सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥ १९ ॥

भा०—मैं सर्पों को वश करने में चतुर पुरुष, सांपों के (शीर्षाणि) सिरों को (अग्रभम्) पकड़ लूं और जिस प्रकार (पौञ्जिष्ठः) केवट (सिन्धोः) नदी के (कर्वरं) अतिविक्षुब्ध (मध्यं) मध्य भाग को (परेत्य) पहुँच जाता है उसी प्रकार मैं भी (सिन्धोःमध्यम्) बहती नदी के बीच में (परेत्य) जाकर (अहेः) सांप के (विषम्) विष को (वि-अनिजम्) विशेष रीति से धो डालूं।

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः ।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥ २० ॥ (११)

भा०—(सर्वेषाम् अहीनाम्) सब प्रकार सांपों के (विषम्) विष को (सिन्धवः) नदियां (परा वहन्तु) दूर बहा ले जाती हैं। और इस प्रकार (तिरश्चिराजयः) तिरछी रेखाओं वाले सांप (हताः) विनष्ट हों, (पृदाकवः) मूषकखोर सांप भी (निपिष्टासः) सर्वथा पीस डाले जायं।

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया ।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ २१ ॥

भा०—(अहम्) मैं (ओषधीनाम्) ओषधियों को (उर्वरीः इव) धान्यों के समान (साधुया) भली प्रकार (वृणे) चुनता हूँ। और (अर्वतीः इव) 'अर्वती' ओषधियों के समान उत्तम गुण वाली ओषधियों को

(नयामि) ग्राप्त करता हूँ, जिनसे (अहे) हे सांप ! (ते) तेरा (विषम्) विष (निः, एतु) शरीर से दूर हो ।

यद॒ग्नौ सूर्ये॑ वि॒षं पृ॑थि॒व्यामोष॑धीषु॒ यत् ।
का॒न्दा॒वि॒षं क॒नक्नकं॑ नि॒रैत्वैतु॑ ते वि॒षम् ॥ २२ ॥

भा०—(यत्) जो (विषम्) विष (अग्नौ) अग्नि में है, (पृथिव्यां) पृथिवी और (ओषधीषु) ओषधियों में है और जो (कान्दाविषं) कन्दों में और (कनक्नकं) धतूरे आदि मादक पदार्थों में है, हे सर्प ! उन विषों के द्वारा (ते विषम्) तेरा विष (निर् आ एतु) सर्वथा दूर हो ।

ये अ॑ग्नि॒जा ओ॑षधि॒जा अही॑नां॒ ये अ॑प्सु॒जा वि॒द्युत॑ आवभू॒वुः ।
येषां॑ जा॒तानि॑ बहु॒धा म॒हान्ति॒ तेभ्यः॑ स॒र्पेभ्यो॒ नम॑सा विधेम ॥२३॥

भा०—(ये) जो सांप (अग्निजाः) अग्नि से उत्पन्न होने वाले अर्थात् आग्नेय गुण वाले, (ओषधिजाः) विषैली ओषधियों के सेवन से उत्पन्न होने वाले और (अहीनां) सांपों में से (ये) जो (अप्सुजाः) जलों में उत्पन्न अर्थात् सौम्य गुण वाले और जो (विद्युतः) बिजुली से (आ-बभू वुः) उत्पन्न अर्थात् कड़कते स्वभाव वाले होते हैं और (येषां) जिनकी (जातानि) नाना प्रकार की जातियें (बहुधा) बहुत प्रकार की (महान्ति) और बड़ी २ होती हैं, (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) सांपों को हम (नमसा) वज्र रूप ओषधियों के प्रयोग द्वारा (विधेम) अपने वश में लावें ।

तौदी॒ नामा॑सि क॒न्याघृ॒ताची॒ नाम॒ वा अ॑सि ।
अ॒ध॒स्प॒देन॒ ते प॒दमा द॑दे विष॒दूष॑णम् ॥ २४ ॥

भा०—(तौदी नाम) 'तौदी' अर्थात् सांप को व्यथा देने वाली नाम की (कन्या घृताची नाम वा) 'कन्या' और 'घृताची' नाम की (असि) तू औषध है । (ते) तेरे (अधः पदेन) नीचे के मूल से (ते) तेरा (पदम्) मूल (आददे) लेता हूँ, वह (विष-दूषणम्) विष का नाशक है ।

"तौदी-कन्या" या तो कीड़ी का वाचक है, या घृतकुमारी, या वन्ध्य-कर्कोटकी या नागदमन कहाती है ।

अङ्गादङ्गात् प्र च्यावय् हृदयं परि वर्जय ।
अधा विषस्य यत तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥ २५ ॥

भा०—(अङ्गात् अङ्गात्) अंग २ से (प्र च्यावय) विष को चुआ डाल । (हृदयं) हृदय को विष से (परि वर्जय) छुड़ा दे । (अध) और तब (विषस्य) विष का (यत् तेजः) जो तीखापन है (तत्) वह (ते) तेरे शरीर से (अवाचीनम्) नीचे (एतु) उतर आवे ।

यदि शरीर में जहर फैल जाय तो उसके वेग को कम करने के लिये स्थान २ से क्षत करके रुधिर वहा दे । इस प्रकार विष का वेग कम हो जाता है और उतर जाता है ।

आरे अभूद् विषमरौद् विषे विषमप्रागपि ।
अग्निर्विषमहेर्निरधात् सोमो निरणयीत् ।
दंष्टारमन्वगाद् विषमहिरमृत ॥ २६ ॥ (१२)

भा०—संक्षेप से इतने उपाय विष को दूर करने के हैं (१) (विषम्) विष (आरे) दूर (अभूद्) हो इसके लिये (विषम् अरौत्) प्रथम विष को दृढ़ बन्धन द्वारा रोक दिया जाय । (२) (विषे विषम् अप्राक् अपि) विष में विरोधी या होम्योपैथिक ढंग के सजातीय विष का योग कर दिया जाय । (३) (अग्निः) आग द्वारा जलाकर (अहेः विषम्) सांप के विष को (निर् अधात्) सर्वथा बाहर कर दे । (४) (सोमः) सोम या शान्तिकारक औषध (निर् अनयीत्) विष को दूर कर दे । (५) (विषम्) विष के स्थान को दाढ़ से काट कर विष चूस लिया जाय । (६) ऐसे जहरीले सांपों को मार दिया जाय, ताकि विष का भय ही मिट जाय । इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्चैकपञ्चाशत्]

[५] विजिगीषु राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य

१—२४ सिन्धुद्वीप ऋषिः । २६—३६ कौशिक ऋषिः । ३७—४० ब्रह्मा ऋषिः । ४२—५७ विहव्यः प्रजापतिर्देवता । १—१४, २२—२४ आपश्चन्द्रमाश्च देवताः ।

१५–२१ मन्त्रोक्ता देवताः। २६–३६ विष्णुक्रमे प्रतिमन्त्रोक्ता वा देवताः। ३७–५० मन्त्रोक्ता देवता। १–५ त्रिपदाः पुरोऽभिकृतयः ककुम्मतीगर्भाः पंक्तयः, ६ चतुष्पदा जगतीगर्भा जगती, ७–१०, १२, १३ त्र्यवसानाः पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहत्यः, ११, १४ पथ्याबृहत्यौ, १५–१८, २१ चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुब्गर्भा अतिधृतयः, १९, २० कृती, २४ त्रिपदा विराड् गायत्री, २२, २३ अनुष्टुभौ, २६–३५ त्र्यवसानाः षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्योऽतिशक्वर्यश्च, ३६ पञ्चपदा अतिशाक्वर–अतिजागतगर्भा अष्टिः, ३७ विराट् पुरस्ताद् बृहती, पुरउष्णिक्, ३९, ४१ आर्षी गायत्र्यौ, ४० विराड् विषमा गायत्री, ४२, ४३, ४५–४८ अनुष्टुभः, ४४ त्रिपाद् गायत्रीगर्भा अनुष्टुप्, ५० अनुष्टुप्। पञ्चदशर्चं सूक्तम्॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं
स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि॥ १॥

भा०—हे प्रजाजनो! आप लोग (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (ओजः स्थ) प्रभाव रूप हो, (इन्द्रस्य) राजा के (सहः स्थ) शत्रु को दबाने में समर्थ शक्तिरूप हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) राजा के बल रूप हो, (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) राजा के वीर्य रूप हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) राजा के धन रूप हो। मैं पुरोहित (वः) आप प्रजाजनों को (जिष्णवे) विजयशील (योगाय) उद्योगी विजिगीषु राजा के निमित्त (ब्रह्मयोगैः) वेद के विज्ञानमय उपायों के साथ (युनज्मि) जोड़ता हूँ। अर्थात् वेद के विज्ञानों की शिक्षा देता हूँ।

इन्द्रस्यौज०। जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि॥ २॥

भा०—हे प्रजाजनो! (इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि) आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शत्रु के दबाने वाली शक्ति हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। मैं आप लोगों को (जिष्णवे योगाय) विजीगीषु राजा के लिये वा विजयकारी प्रयोग साधना के लिये (क्षत्रयोगैः) क्षत्रियोचित साधनों से (युनज्मि) युक्त करता हूँ।

इन्द्र॒स्यौज॒० । जि॒ष्णवे॒ योगा॒येन्द्रयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ ३ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (इन्द्रस्य ओजः स्थ०) आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शत्रु को दबाने वाली शक्ति हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। मैं आप लोगों को (जिष्णवे योगाय) विजयशील उद्योगी राजा वा विजय साधना के लिये (इन्द्रयोगैः) राजा के उचित, अथवा परम ऐश्वर्य-वान् पुरुषों के उचित साधनों से (युनज्मि) युक्त करता हूँ।

इन्द्र॒स्यौज॒० । जि॒ष्णवे॒ योगा॑य सोमयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ ४ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग (इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि) ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शक्ति हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। मैं पुरोहित आप लोगों को (जिष्णवे योगाय) विजयशील उद्योगी राजा वा विजय साधना के निमित्त (सोम योगैः) सोम आदि ओषधियों के साधनों अथवा शान्तिदायक सुखदायक साधनों से (युनज्मि) युक्त करता हूँ।

इन्द्र॒स्यौज॒० । जि॒ष्णवे॒ योगा॑याप्सुयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ ५ ॥

भा०—(इन्द्रस्य ओजः स्थ०) हे प्रजाजनो ! आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शक्ति हो, वीर्य हो, धन हो। मैं राजपुरोहित, आप लोगों को (जिष्णवे योगाय) विजयशील उद्योगी राजा के निमित्त (अप्सु-योगैः) प्रजाओं के उचित व जलोपयोगी समस्त साधनों से (वः युनज्मि) युक्त करता हूँ।

इन्द्र॒स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॑ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ वी॒र्यं॑ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑ । जि॒ष्णवे॒ योगा॑य॒ विश्वा॑नि मा भू॒तान्युप॑ तिष्ठन्तु यु॒क्ता म॑ आप स्थ ॥ ६ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग (इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि०) ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शक्ति हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। (जिष्णवे योगाय) विजयशील उद्योगी राजा या विजयलाभ के लिये (विश्वानि) समस्त प्रकार के (भूतानि) प्राणीगण (मा उप तिष्ठन्तु) मेरे

पास आवें । हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! आप लोग (मे) मेरे द्वारा (युक्ताः) उचित २ कार्यों में नियुक्त (स्थ) रहो ।

अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ७ ॥

भा०—हे आप्त प्रजाजनो ! आप लोग (अग्नेः) अग्नि के समान शत्रु को संतापकारी राजा के (भागः स्थ) भाग, अंश या सेवन करने योग्य प्रजा हो । हे (देवीः) दिव्य गुण वाले (आपः) आप्तजनो ! (अपां) कर्मों और बुद्धियों के (शुक्रम्) सामर्थ्य को और (वर्चः) तेज को (अस्मासु) हमलोगों में (धत्त) धारण कराओ । मैं राजा का प्रतिनिधि (प्रजापतेः) प्रजा के स्वामी परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि व्यवस्थापक राजा के (धाम्ना) तेज या धारण सामर्थ्य या बल से आप लोगों को (अस्मै लोकाय) इस देशवासी प्रजा लोक के लिये (सादये) प्रतिष्ठित करता हूँ, उच्च पद प्रदान करता हूँ ।

इन्द्रस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ ८ ॥
सोमस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ ९ ॥
वरुणस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ १० ॥ (१३)
मित्रावरुणयोर्भाग स्थ । ० । ० ॥ ११ ॥
यमस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ १२ ॥
पितृणां भाग स्थ । ० । ० ॥ १३ ॥

देवस्य सवितुर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १४ ॥

भा०—हे आप्त प्रजाजनो ! आप लोग (इन्द्रस्य भाग स्थ० । ० इत्यादि) इन्द्र ऐश्वर्यशील राजा के भाग हो....। आप लोग (सोमस्य) सर्व प्रेरक राजा के (भागः स्थ० । ०) भाग हो....। आप लोग (वरुणस्य भागः स्थ०) सर्व दुःखनिवारक, प्रजा रक्षक राजा के भाग हो....। (मित्रावरुणयोः

भागः स्थ) सबको मृत्यु से बचाने वाले और सब आपत्तियों से बचाने वाले राजपद के भाग हो....। आप (यमस्य भागः स्थ) सर्व नियन्ता राजा के भाग हो....। आप (पितॄणाम्) राष्ट्र के परिपालक शासक जनों के (भागः स्थ) भाग हो....। आप (सवितुः) सबके प्रेरक और उत्पादक (देवस्य) देव राजा के (भागः स्थ) भाग हो....। (देवीः आपः) हे दिव्य-गुण वाले आप्त पुरुषो ! आप (अपाम्) उत्तम कर्मों और विज्ञानों के (शुक्रं वर्चः) उज्ज्वल तेज को (अस्मासु) हम प्रजा लोगों में (धत्त) धारण कराओ। मैं राजप्रतिनिधि (व) आप लोगों को (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजा के पालक राजा के अधिकार से (अस्मै लोकाय) इस राष्ट्रवासी प्रजाजन के उपकार के लिये (सादये) प्रतिष्ठित करता हूँ, उच्चपद प्रदान करता हूँ।

अर्थात् प्रजाओं को राजशासन के प्रत्येक विभाग का अंश समझाया जाय। आप्त विद्वान् लोग प्रजाओं में नाना विज्ञान और हितकारी कार्य प्रवृत्त करावें। इसी निमित्त उनको प्रजाओं में राजा के द्वारा उच्चपद प्रदान किये जावें और सब प्रकार के साधन उपस्थित किये जावें। जिससे राजा बलवान्, सामर्थ्यवान् हो और राष्ट्रविजयी और यशस्वी हो।

यो व आपोऽपां भागो॒ऽप्स्व॒न्तर्यजुष्योदेवयजनः ।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥१५॥

भा०—हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! (यः) जो (वः अपां) तुम प्रजाजनों का (भागः) अंश रूप राजा, (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान, (यजुष्यः) अन्न आदि से सत्कार करने योग्य, (देवयजनः) विद्वानों का उपासक या नियोजक है, (इदं) उसको यह राष्ट्र में (तम् अति सृजामि) सौंपता हूँ। मैं (तं) उसका (मा अभि अवनिक्षि) अपमान न करूं। (तेन) उसके बल पर (तम् अभि अति सृजामः) हम उस पर चढ़ाई करते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः)

और जिसको हम द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा) इस वेदज्ञान से, (अनेन कर्मणा) इस कर्म से और (अनया मेन्या) इस प्रबल आयुध वाले मन्यु-रूप बल या सेनारूप बल से (तं वधेयं) उसको मारें और (तं स्तृषीय) उसका विनाश करें।

यो व आपोऽपामूर्मिरप्स्व॑ ०।०।०।० ॥ १६ ॥
यो व आपोऽपां वत्सो॑ऽप्स्व॑ ०।०।०।० ॥ १७ ॥
यो व आपोऽपां वृषभो॑ऽप्स्व॑ ०।०।०।० ॥ १८ ॥
यो व आपोऽपां हिरण्यगर्भो॑ऽप्स्व॑ ०।०।०।० ॥ १९ ॥
यो व आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्यो॑ऽप्स्व॑ ०।०।०।० ॥२०॥ (१४)

भा०—हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! (यः) जो (वः) आप लोगों के (अपाम्) कर्मों और विज्ञानों की (ऊर्मिः) जलों के तरंग के समान बलवती उन्नतिकारिणी शक्ति (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान है; और हे (आपः) प्रजाजनो ! (वः अपां) तुम प्रजाओं का जो (वृषभः) मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षक, बलवान् पुरुष जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान है; और हे (आपः) प्रजा के आप्त पुरुषो ! (वः अपां) आप प्रजाजन के बीच (हिरण्यगर्भः) सुवर्ण आदि को धारण करने वाले धनाढ्य लोग (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान हैं, और हे (आपः) आप्तजनो ! (वः अपाम्) आप्त प्रजाओं का (अश्मा) भोक्ता, (दिव्यः) दिव्य गुणवान्, (पृश्निः) सूर्य के समान समस्त रसों का आदान करने वाला और (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर (यजुष्यः) अन्न आदि से पूजनीय, (देवयजनः) विद्वानों का उपासक राजा विद्यमान है, (इदम्) यह राष्ट्र (तम्) उसको (अति = सृजामि) मैं सौंपता हूँ, या उसको सबसे ऊपर राजा बनाकर स्थापित करता हूँ। (तम्) उसका (मा) कभी मत (अभि अव निक्षि) निरादर करूँ। (तेन) उस राजा के बल से हम (तम् अभि अति सृजामः) उस पर चढ़ाई करते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम

द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा) इस वेदज्ञान से और (अनेन कर्मणा) इस क्षत्र-कर्म से और (अनयामेन्या) इस शस्त्रमयी सेना बल से (तं वधेयम्) उसको मारूं और (तं स्तृषीय) उसका विनाश करूं।

ये व आपोऽपामग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः ।
इदं तानति सृजामि तान् माभ्यवनिक्षि ।
तैस्तमभ्यति सृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ २१ ॥

भा०—हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! (वः अपाम्) तुम प्रजाजनों में से (ये) जो (अग्नयः) ज्ञानवान्, शत्रुसंतापक पुरुष, (अप्सु अन्तः) प्रजाजनों के ही बीच में विद्यमान, (यजुष्याः) अन्नादि से सत्कार करने योग्य और (देवयजनाः) स्वयं विद्वानों के उपासक हैं, (इदम्) यह राष्ट्र (तान् अति सृजामि) उनके हाथों सौंपता हूँ, (तान्) उनका (मा अभि अवनिक्षि) अनादर न करूं। (तैः) उन्हीं के बल पर (तम् अभि अति-सृजामः) हम उस पर चढ़ाई करें (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा, अनेन कर्मणा, अनया मेन्या) इस ब्रह्मज्ञान से, इस कर्म से और इस आयुधयुक्त दण्ड अर्थात् सेनाबल से (तं वधेयं) उसको मारूं और (तं स्तृपीय) उसका विनाश करूं।

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥ २२ ॥

उत्तरार्धम् अथर्व० ७ । ६ । १ ॥

भा०—(त्रैहायणाद् अर्वाचीनं) तीन वर्ष से उरे २ अब तक (यत् किं च) जो कुछ हमने (अनृतं ऊचिम) असत्य भाषण किया, (आपः) आप्त पुरुष (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (दुरितात्) दुष्ट (अंहसः) पाप से (मा पान्तु) मुझे बचावें।

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥ २३ ॥

भा०—हे आप्त पुरुषो ! जिस प्रकार जलों का परम आश्रय स्थान समुद्र है, उसी प्रकार मैं (वः) आप लोगों को (समुद्रं) समुद्र के समान सब रसों, रत्नों के आश्रय परम ब्रह्म के प्रति (प्रहिणोमि) प्रेरित करता हूँ। आप लोग (स्वां योनिम्) उस ही अपने परम आश्रय को (अपीतन) प्राप्त होओ, उसमें मग्न रहो। आप लोग (सर्वहायसः) समस्त आयु के पूर्ण सौ वर्षों तक (अरिष्टाः) विना दुःख के सकुशल रहो। (नः) हमें (किंचन) कोई भी वस्तु (मा आममत्) रोग उत्पन्न न करे, पीड़ित न करे।

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥
अथर्व० १४। १। १। ११ ॥

भा०—(आपः) जिस प्रकार स्वच्छ जल मल को दूर कर देता है उसी प्रकार (आपः) आप्त पुरुष (अरिप्राः) स्वयं निष्पाप होकर (अस्मत्) हमारे (रिप्रम्) पाप को (अप वहन्तु) दूर करें और वे (सुप्रतीकाः) उत्तम रूप वाले, स्वच्छ हृदय, सौम्यस्वभाव (अस्मद्) हमारे (दुरितम्) दुष्टाचरण रूप (एनः) पाप को (प्र वहन्तु) बहा दें और वे (मलम्) हृदय के मल के समान अन्तःकरण पर संस्काररूप से जमे, (दुःस्वप्न्यम्) दुःखदायी बुरे स्वप्नों के कारणस्वरूप कुसंस्कार को भी (प्र वहन्तु) दूर करें।

राजा का स्वरूप और राजा और प्रजा के कर्त्तव्य

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः ।
पृथिवीमनु क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः) सर्व-व्यापक परमेश्वर के तू (क्रमः) चरण-चिह्न पर चलने हारा है। तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक, और

(पृथिवीसंशितः) पृथिवी की शक्तियों में सुशिक्षित और (अग्नितेजाः) अग्नि के समान तेजस्वी है। राजा इस प्रकार अभिपूजित होकर अपना कर्त्तव्य समझे कि (अहं) मैं (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर वश करने के लिये (वि क्रमे) विशेष रूप से पराक्रम करूं। जिससे हम सब लोग (तम्) उस पुरुष को (पृथिव्याः) इस पृथिवी के सुखों से (निर्भजामः) निकाल दें (यः) जो (अस्मान् द्वेष्टि) हम से द्वेष करता है और इसी कारण (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम द्वेष करते हैं। (सः) वह पुरुष (मा जीवीत्) न जीवे और (तम्) उसको (प्राणः जहातु) प्राण त्याग दे। वह निष्प्राण, मृतवत् होकर रहे।

विष्णोः क्रमो॑ऽसि सपत्नहान्तरि॑क्षसंशितो वायुते॑जाः ।
अ॒न्तरि॑क्षमनु वि क्र॑मे॒ऽहम॒न्तरि॑क्षात् तं निर्भ॑जामो० । ० । ॥२६॥

भा०—हे राजन् ! तू (विष्णोः क्रमः असि) विष्णु का चरण है अर्थात् परमेश्वर के समान ही प्रजापालक के अधिकार पर विराजमान है। तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक, (अन्तरिक्ष-संशितः) अन्तरिक्ष की शक्तियों में सुशिक्षित और (वायु तेजाः) वायु जैसा पराक्रमी है। इस प्रकार की प्रतिष्ठा के अनन्तर राजा संकल्प करे कि (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम् अनु) अन्तरिक्ष पर (विक्रमे) विशेष पराक्रम करूं। उसकी प्रजा विचार करे कि (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करे (अन्तरिक्षात् तं निर्भजामः) हम उसको अन्तरिक्ष के सुखों से निकाल दें, (सः मा जीवीत्०) वह न जीवे, प्राण उसको छोड़ दे।

विष्णोः क्रमो॑सि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्य॑तेजाः ।
दिवमनु वि क्र॑मे॒ऽहं दि॒वस्तं० । ० । ० ॥ २७ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (विष्णोः) विष्णु का (क्रमः) पद है, उसके समान प्रजापालक है। तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक, (द्यौ-संशितः) द्युलोक की शक्तियों में सुशिक्षित (सूर्य तेजाः) और सूर्य के समान तेजस्वी

है। इस प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त कर राजा विचार करे कि (अहम्) मैं (दिवम् अनु) द्यौः पर भी (वि क्रमे) पराक्रम करूं। उसके प्रजागण सदा यही संकल्प करें कि (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें (दिवस्तं निर्भजामः) द्यौलोक के सुखों से उसे वञ्चित करें। (सः मा जीवीत्, प्राणः तं जहातु) वह न जीवे और प्राण उसको त्याग दें।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः।

दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं ०। ०॥ २८॥

भा०—हे राजन्! तू (विष्णोः क्रमः असि) व्यापक परमेश्वर के समान प्रजापालक के कार्य पर नियुक्त है। तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक और (दिक् संशितः) दिशाओं की शक्तियों में सुशिक्षित (मनः-तेजाः) तथा मन के समान तेजस्वी है। राजा इस पद को प्राप्त करके संकल्प करे कि (अहम्) मैं (दिशः अनु वि क्रमे) दिशाओं में भी विक्रम करूं। प्रजाएँ संकल्प करें कि (दिग्भ्यः तं निर्भजामः०) दिशाओं से उसको हम निकाल दें जो हमसे द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें (सः मा जीवीत्०) ···पूर्ववत्।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः।

आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं ०। ०। ०॥ २९॥

भा०—(विष्णोः क्रमः असि) हे राजन्! तू व्यापक परमेश्वर के पद पर प्रजापालक के कार्य पर नियुक्त है। तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक, (आशा-संशितः) अवान्तर दिशाओं की शक्तियों में सुशिक्षित और (वात-तेजाः) प्रचण्ड वायु के समान तेजस्वी है। इस पद पर नियुक्त राजा संकल्प करे कि (अहम्) मैं (आशाः अनु वि क्रमे) आशाओं में स्वयं पराक्रम करूं (आशाभ्यः तं०) ···पूर्ववत्।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा ऋक्संशितः सामतेजाः।

ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं ०। ०। ०॥ ३०॥ (१५)

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः असि) तु व्यापक परमेश्वर के पद पर विराजमान है। तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक, (ऋक्-संशितः) ऋग्-वेद के ज्ञान में सुशिक्षित (सामतेजाः) सामवेद के समान तेजस्वी है। इस प्रकार राजा प्रतिष्ठित होकर संकल्प करे कि (अहं ऋचः अनु वि क्रमे) मैं ऋग् मन्त्रों के ज्ञानानुरूप विक्रम करूं और (ऋग्भ्यः तं निर्भजामः) ·· पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः ।
यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात् तं ० । ० । ० ॥ ३१ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (विष्णोः क्रमः असि) व्यापक परमेश्वर के पद पर है। तू (सपत्नहा) शत्रु का नाशक है, तू (यज्ञ-संशितः) यज्ञ के विज्ञान में सुशिक्षित (ब्रह्म-तेजाः) वेद वा अथर्ववेद के मन्त्रों के समान तेजस्वी है। इस पद पर प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि (अहं यज्ञम् अनु विक्रमे) मैं यज्ञ में विक्रम करूं (यज्ञात् तं०)···पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः ।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं ० । ० ॥ ३२ ॥

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः असि) तु व्यापक परमेश्वर के पद पर नियुक्त है। तु (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक, (ओषधी-संशितः) ओषधियों की शक्तियों में सुशिक्षित (सोम तेजाः) तथा सोम के तुल्य तेजस्वी है। इस पद पर प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि (अहं ओषधीः अनु विक्रमे) मैं ओषधियों के बल पर पराक्रम करूं···पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः ।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं ० । ० ॥ ३३ ॥

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः असि) तू व्यापक प्रभु के पद पर नियुक्त है। तु (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक, (अप्सु संशितः) जलों की शक्तियों में सुशिक्षित है, (वरुणतेजाः) वरुण अर्थात् स्वयं वृत राजा के समान तेजस्वी है। इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि

(अहम् अपः अनु विक्रमे) मैं प्रजाओं के बल पर अपना पराक्रम करूं। (अद्भ्यः तम्०) प्रजाओं से ···पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः ।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं ०।० ॥ ३४ ॥

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः असि) तू प्रजापालक के पद पर है। तू (सपत्नहा) शत्रुनाशक है, तू (कृषिसंशितः) कृषि की विद्या में सुशिक्षित, सुतीक्ष्ण है, (अन्नतेजाः) अन्न के समान तेज वाला है। इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि (अहं कृषिम् अनु विक्रमे) मैं कृषि-कर्म के लिये उद्योग, पराक्रम करूं। प्रजाएं संकल्प करें कि (कृष्याः तं०) हम कृषि से ···पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः ।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ ३५ ॥

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः असि) तू प्रजापालक के पद पर नियुक्त है ! तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक, (प्राण संशितः) प्राणों की शक्तियों में सुशिक्षित, (पुरुष-तेजा) आत्मा के समान तेजस्वी है। इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि (प्राणम् अनु अहम् विक्रमे) मैं प्राण को वश करने का पराक्रम करूं। प्रजा संकल्प करे कि (प्राणात् तं०) प्राण से उसको ···पूर्ववत् ।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः
प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३६ ॥

भा०—समस्त प्रजाएं अपने राजा के साथ सहोद्योगी होकर जब विजय प्राप्त करें तो निश्चय करें कि (जितम्) जो विजय किया गया है वह (अस्माकम्) हम सबका है। (उद्भिन्नम्) जो उत्तम फल प्राप्त हुआ है वह भी हम समस्त प्रजाओं का है। राजा संकल्प करे कि मैं

(विश्वाः) समस्त (अरातीः) शत्रुभूत, (पृतनाः) सेनाओं को (अभि अस्थाम्) पराजित करूं। पुरोहित उस विजय के पश्चात् विजेता राजा का अभिषेक करे कि (अहम् इदमे) मैं (आमुष्यायणस्य) अमुक के पोते के (अमुष्याः पुत्रस्य) अमुक माता के पुत्र के (वर्चः) वर्चस्, (तेजः) तेज, (प्राणम् आयुः) प्राण और आयु को (नि वेष्टयामि) लपेटता हूँ और (इदम्) इस प्रकार (एनम्) उस शत्रु को (अधराञ्चम्) नीचे (पादयामि) गिराता हूँ।

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।

सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३७ ॥

भा०—राजा संकल्प करे कि मैं (सूर्यस्य आवृतम् अनु) सूर्य के मार्ग या व्रत पर ही (आवर्त्ते) आचरण करूं। (दक्षिणाम् अनु आवृतम्) और सूर्य जिस प्रकार दक्षिण दिशा के पश्चात् अर्थात् उत्तर की ओर आता हुआ तीक्ष्ण हो जाता है उसी प्रकार मैं राजा भी दक्ष अर्थात् बलशाली होकर असह्य तेज से युक्त हो जाऊं। (सा) वह सूर्य के समान आचरण शैली (मे) मुझे (द्रविणं यच्छतु) द्रव्य, सम्पत्ति प्रदान करे और (सा) वह वृत्ति (मे) मुझे (ब्राह्मण-वर्चसम्) ब्राह्म तेज, ब्राह्मणों का तेज, विद्वानों का बल भी प्रदान करे।

सूर्य का व्रत मनुस्मृति में—

अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥

आठ मासों तक जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से जल लेता है उसी प्रकार राजा नित्य अपने राष्ट्र से कर संग्रह करे। यह 'अर्कव्रत' है।

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते।

ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३८ ॥

भा०—(ज्योतिष्मतीः) राजा संकल्प करे कि मैं ज्योति से सम्पन्न (दिशः) दिशाओं की तरफ (अभि आवर्त्ते) जाता हूँ। (ताः मे द्रविणं

यच्छन्तु) वे मुझे द्रव्य प्रदान करें, (ताः मे ब्राह्मण वर्चसम्) वे मुझे ब्राह्मणों, विद्वानों का तेज प्रदान करें।

सप्तऋषीनभ्यावर्ते।

ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३९ ॥

भा०—(सप्त ऋषीन् अभि आवर्ते । ते मे द्रविणं० इत्यादि) राजा संकल्प करे कि मैं सात ऋषियों के समीप जाता हूँ। वे मुझे द्रव्य, विभूति और वेदज्ञ ब्राह्मणों का तेज प्रदान करें।

ब्रह्माभ्यावर्ते तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४०॥(१६)

भा०—(ब्रह्म अभि आवर्ते) राजा संकल्प करे कि वेदज्ञान के प्रति मैं आता हूँ, तदनुकूल आचरण करता हूँ। (तत् मे द्रविणं यच्छतु तत् मे ब्राह्मणवर्चसम्) वह मुझे धन और विद्वान् ब्राह्मणों का तेज प्रदान करें।

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ४१

भा०—(ब्राह्मणान् अभि आवर्ते) राजा संकल्प करे कि मैं ब्राह्मणों की शरण जाता हूँ। (ते मे द्रविणं यच्छन्तु) वे मुझे धन प्रदान करें (ते मे ब्राह्मणवर्चसम्) मुझे विद्वान् ब्राह्मणों का तेज प्रदान करें।

यं वयं मृगयामहे तं वधैः स्तृणवामहे।

व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥ ४२ ॥

भा०—(यं) जिस शत्रु का (वयं) हम लोग (मृगयामहे) पीछा करें उसका (वधैः) हथियारों से (स्तृणवामहै) विनाश करें। (परमेष्ठिनः) परम स्थान में विराजमान राजा के (व्यात्ते) विशेष रूप से खुले न्यायमुख में (ब्रह्मणा) वेद के निर्णय के अनुसार, (तम्) उसको (आ अपीपदाम) हम दे दें।

वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि।

इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद् देवी सहीयसी ॥ ४३ ॥

भा०—(हेतिः) आयुध, वज्र आदि शस्त्र, (तम्) उस दण्ड के योग्य पुरुष को, (वैश्वानरस्य) समस्त प्रजा के हितकारी तथा अग्नि के समान

तेजस्वी राजा की दाढ़ों [कानूनी और पुलिस सम्बन्धी पकड़ों] से (अभि सम् अधात्) भली प्रकार पकड़ लें। जिस प्रकार (इयं आहुतिः) अग्नि में आहुति डाली जाती है उसी प्रकार अपराधी को राजा के हाथ पकड़ा देना भी राजा रूप अग्नि में आहुति देना है, वह राजा उसको (प्सातु) खाले, अपने वश में ले ले। (तम्) इस प्रकार राजा (समित्) जलते काष्ठ के समान (देवी) प्रकाशमान (सहीयसी) और अधिक बलवान् हो जाता है।

कैदी के साथ व्यवहार

राज्ञो वरुणस्य बन्धोसि ।
सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥ ४४ ॥

भा०—हे कारागार ! तू (वरुणस्य) पापों के निवारक (राज्ञः) राजा का (बन्धः) बन्धन स्थान है। (सः) वह तू (अमुष्यायणम्) अमुक पुरुष के पोते (अमुष्याः पुत्रम्) और अमुक माता के पुत्र (अमुम्) अमुक कैदी को (अन्ने प्राणे) खाने भर के अन्न पर (बधान) बांध ले। कारागार विभाग राजा के अधीन रहे और वह राजा के कैदी को जीवन और अन्न मात्र पर बन्धन में रखे।

यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु ।
तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥ ४५ ॥

भा०—हे (भुवः पते) पृथिवी के स्वामी ! (यत्) जो (ते अन्नम्) तेरा अन्न (पृथिवीम् अनु आक्षियति) पृथिवी पर है, हे (भुवस्पते प्रजापते) प्रजा के पालक ! पृथिवी के रक्षक ! राजन् ! (त्वं) तू (तस्य) उस अन्न को (नः) हमें (सं प्रयच्छ) प्रदान कर।

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ ४६ ॥
सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ ४७ ॥

अथर्व० कां० ७ । ८९ । १, २ ॥

भा०—इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० [कां० ७।८९।१,२]

पर-पीड़ाकारी पुरुष को दण्ड-विधान

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ४८
परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवाँ छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥४९॥
अथर्व० कां० ८। ३। १२, १९॥

भा०—इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व०[कां०८।३।१२।१३]।

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान्।
सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ ५० ॥ (१७)

भा०—मैं (विद्वान्) इसके अपराध को जानता हुआ (अस्मै) इसके लिये (अपाम्) आप्तजनों के बनाये (चतुर्भृष्टिम्) चारों ओर से संतापकारक (वज्रम्) और पाप से निवारक दण्ड को इसके (शीर्ष भिद्याय) शिर तोड़ने के लिये (प्र हरामि) प्रेरित करता हूँ। (सः) वह दण्ड (अस्य) इस अपराधी के (अङ्गानि) अंगों का (प्र शृणातु) अच्छी प्रकार नाश करे। (तत्) मेरे इस कार्य की (विश्वे-देवाः) सब विद्वान् पुरुष (अनुजानन्तु) अनुज्ञा दें राजा इस प्रकार अपराधियों को विद्वान् पुरुषों से अनुमति लेकर दण्ड प्रदान किया करे।

[६] शिरोमणि पुरुषों का वर्णन

बृहस्पतिर्ऋषिः ॥ फालमणिरुत वनस्पतिर्देवता, ३ आपः ॥ छन्दः—१, ४, २१ गायत्र्यः, ५ षट्पदा जगती, ६ सप्तपदा विराट् शक्करी, ७–९ त्र्यवसाना अष्टपदा अष्टयः, १० नवपदा धृतिः, ११,२०, २३–२७ पथ्यापंक्तयः, १२–१७ त्र्यवसानाः सप्तपदाः शक्वर्यः, २० पथ्यापंक्तिः, ३१ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ३५ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती, २, १८, १९, २१, २२, २८–३०, ३२–३४ अनुष्टुभः।

पञ्चत्रिंशर्चं सूक्तम् ॥

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः ।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥ १ ॥

भा०—(अरातीयोः) कर न देने वाले, (दुर्हार्दः) दुष्ट चित्त वाले, (द्विषतः) द्वेष करने हारे (भ्रातृव्यस्य) शत्रुभूत प्रजाजन के (शिरः) शिर को (ओजसा) नियम के प्रभाव और बल से (अपि वृश्चामि) मैं काट डालूं।

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति ।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

भा०—(फालात्) शत्रुनाशन सामर्थ्य से (जातः) सामर्थ्यवान् होकर (अयं) यह (मणिः) शिरोमणि सेनापति, (मह्यम्) मुझ राजा के लिये, (वर्म) कवच या रक्षा का साधन (करिष्यति) करेगा और वह (मन्थेन) शत्रु का मथन कर डालने वाले बल से (पूर्णः) पूर्ण बलवान् होकर और (रसेन) रस या रथबल और (वर्चसा) तेज से सम्पन्न होकर, (मा) मुझ राजा के पास (आ अगमत्) आवे ।

यत् त्वा शिक्वः परावधीत् तक्षा हस्तेन वास्या ।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥ ३ ॥

भा०—हे राजन् ! (यत्) जिस प्रकार (शिक्वः) चतुर (तक्षा) शिल्पी (वास्या) बसोली से लकड़ी को छीलता है, उसी प्रकार (त्वा) तुझे (यत्) जब (शिक्वः) चतुर शत्रु (हस्तेन) अपने शस्त्र से (परावधीत्) खूब घायल कर डाले, तो भी (जीवलाः आपः) जिस प्रकार जीवन देने वाले जल अधमरे को पुनः जिला देते हैं, उसी प्रकार (जीवलाः) जीवन-प्राण पुनः प्राप्त कराने वाले (शुचयः) शुद्ध चित्त वाले (आपः) आप्तजन, (शुचिम्) शुद्ध चित्त, निष्कपट तुझको (तस्मात्) उस आघात की पीड़ा से (पुनन्तु) मुक्त करें। मणिपक्ष में—हे मणे ! तुझको क्योंकि बढ़ई ने अपने हाथ से गढ़ा था अतः तुझको जीवनप्रद जल पवित्र करें ।

हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत् ।
गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥

भा०—(अयं) यह (मणिः) शिरोमणि पुरुष (हिरण्यस्रक्) सुवर्ण-माला धारण करने वाला होकर भी (श्रद्धां) ईश्वर और धर्म कार्य में श्रद्धा अर्थात् सत्य में धारणावती बुद्धि को (यज्ञ) यज्ञ और (महः) तेज को (दधत्) धारण करे और (नः) हमारे (गृहे) घर में (अतिथिः) अतिथि होकर (वसतु) निवास करे ।

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे ।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु
भूयोभूयः श्वः श्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥ ५ ॥

भा०—(तस्मै) उस शिरोमणि रूप अतिथि के लिये (घृतम्) घी, (सुराम्) जल, (मधु) शहद (अन्नम्-अन्नम्) और प्रत्येक प्रकार का मधुर अन्न, (क्षदामहे) खिलाते हैं। (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को (पिता इव) जिस प्रकार पिता (श्रेयः-श्रेयः) परम कल्याण का ही उपदेश करते हैं, उसी प्रकार (सः) वह भी (नः) हमारे (पिता) पिता के समान पूजनीय होकर हमें (श्रेयः श्रेयः) सब प्रकार के कल्याणमय कर्त्तव्य का ही (चिकित्सतु) ज्ञान करावे और वह (मणिः) शिरोमणि (भूयः भूयः) बार २ (श्वः-श्वः) प्रत्येक दिन (देवेभ्यः) विद्वानों से शिक्षा (एत्य) प्राप्त कर हमें उपदेश दिया करे ।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥

भा०—(फालं) शत्रु-सेना के तोड़ने फोड़ने वाले, (घृतश्चुतम्) वीर्य और बल पराक्रम को दर्शाने वाले, (खदिरम्) शत्रु के विनाशक, (मणिम्) शिरोमणि, (उग्रम्) तीक्ष्णस्वभाव वाले (यम्) जिस पुरुष को (ओजसे) उसके बल पराक्रम के कारण, (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक मन्त्री, (अबध्नात्) राजा के साथ बांधता है, अर्थात् उसके कार्य के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध या नियुक्त करता है, (तत्) उसको, (अग्निः) शत्रुतापक, अग्निस्वभाव

वाला राजा ही (प्रति-अमुञ्चत्) धारण करता है। तभी (सः) वह शिरोमणि पुरुष (अस्मै) इस राजा के लिये (भूयः-भूयः) बहुत २ प्रकार के ओर बार २ (आज्यं-दुहे) वीर्य और पराक्रम के कार्य पूर्ण करता है और हे राजन् ! (तेन) उसके बल से ही (श्वः-श्वः) भावी काल में बराबर (त्वं) तू (द्विषतः) अपने शत्रुओं का (जहि) विनाश कर।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं० । तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् ।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः ० । ० ॥ ७ ॥

भा०—(यम् फालं घृतश्चुतं = खदिरं उग्रं मणिं बृहस्पतिः ओजसे अबध्नात्) शत्रुसेना के तोड़ने फोड़ने वाले, बल पराक्रम के कर्त्ता, शत्रु के विनाशक, तीक्ष्णस्वभाव वाले शिरोमणि पुरुष को (बृहस्पतिः) वेदज्ञ महामात्य, राजा के कार्य में बांधता है, (तम् इन्द्रः ओजसे वीर्याय कम् प्रति अमुञ्चत) उसको ऐश्वर्यशील राजा अपने तेज और वीर्य की वृद्धि के लिये धारण करता है । (सः अस्मै भूयोभूयः बलम् इद् दुहे) वह उस राजा के लिये बराबर बल को ही बढ़ाता है । (तेन श्वः श्वः त्वं द्विषतः जहि) उसके बल से तू हे राजन् ! भविष्य में अपने शत्रुओं को मारने में समर्थ हो ।

यमब० । तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे ।
सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयो ० । ० ॥ ८ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) शत्रु सेना को तोड़ने ···पूर्ववत् । (तं सोमः) उस शिरोमणि पुरुष को सोमस्वरूप सबका प्रेरक राजा (महे) अपने बड़े महत्वपूर्ण कार्य (श्रोत्राय) कान के लिये अर्थात् राष्ट्र की सब शिकायतों को सुनने के लिये और (महे चक्षसे) चक्षु अर्थात् राष्ट्र के निरीक्षण के महत्वपूर्ण कार्य के लिये, (प्रति अमुञ्चत) धारण करता है । (सः अस्मै वर्चः इद् दुहे) वह राजा के तेज को बढ़ाता है । (भूयोभूयः श्वः श्वः तेन द्विषतः जहि) हे राजन् ! उसके बल पर तू भविष्य में अपने द्वेषकारी लोगों के मारने में समर्थ हो । उत्तम शिरोमणि पुरुषों को राजा वेतन पर राष्ट्र की प्रजाओं के परस्पर के विवादों को श्रवण करने और

व्यवस्था के निरीक्षण के लिये नियुक्त करे । इससे राजा का ही तेज बढ़ता है, शत्रु नष्ट होते हैं ।

यमब॑० । तं सूर्यः॒ प्रत्य॑मुञ्चत॒ तेने॒मा अ॑जय॒द् दिशः॑ ।
सो अ॑स्मै॒ भूति॒मिद् दु॑हे॒० भूयो॑० ॥ ९ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) ⋯पूर्ववत् । (तं) उस शिरोमणि पुरुष को, (सूर्यः) सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी राजा (प्रत्यमुञ्चत्) स्वयं धारण करता है, (तेन इमाः दिशः अजयत्) उसके बल पर वह इन समस्त दिशाओं पर जय प्राप्त करता है । (सः) वह शिरोमणि पुरुष (भूतिम् इत्) राष्ट्र और राष्ट्र की सम्पत्ति को (भूयः भूयः दुहे) बराबर अधिकाधिक बढ़ाया करता है । (तेज श्वः श्वः द्विषतः जहि) हे राजन् ! उसके बल पर ही तू भविष्य में सदा द्वेष करने हारे शत्रुओं को मारने में समर्थ हो ।

यमब॑ध्ना॒द् बृह॒स्पति॑र्म॒णिं फा॒लं घृ॒तश्चु॑तमु॒ग्रं ख॑दि॒रमोज॑से ।
तं बिभ्र॑च्च॒न्द्रमा॑ म॒णिमसु॑राणां पुरो॑ऽजयद् दान॒वानां॑ हिर॒ण्ययीः॑ ।
सा अ॑स्मै॒ श्रिय॒मिद् दु॑हे॒ भूयो॑० ॥ १० ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) शत्रु सेना के तोड़ने⋯पूर्ववत् । (तं मणिम्) उस श्रेष्ठ नररत्न को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (चन्द्रमाः) प्रजा को सुखी करने हारा राजा, (असुराणां) असुरों और (दानवानाम्) प्रजा के पीड़ाकारी दानवों के (हिरण्ययीः) लोहे की या सुवर्ण आदि धन सम्पत्ति से भरी हुई (पुरः) नगरियों को (अजयत्) विजय करता है । (सः) वह नररत्न (अस्मै भूयो भूयः श्रियम् इत् दुहे) इस राजा के धन ऐश्वर्य को ही अधिकाधिक बढ़ाता है । (तेन श्वः श्वः द्विपतः जहि) उसके बल पर भविष्य में भी राजा अपने शत्रुओं को विनाश करने में समर्थ होता है ।

यमब॑ध्ना॒द् बृह॒स्पति॒र्वाता॑य म॒णिमा॒शवे॑ ।
सो अ॑स्मै वा॒जिनं॑ दुहे॒ भूयो॑० ॥ ११ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति अर्थात् वेदज्ञ महामन्त्री, (यम्) जिस (मणिम्) पुरुष रत्न को, (आशवे) अति शीघ्रकारी (वाताय) वायु के समान तीव्र वेग कार्य सम्पादन करने के लिये (अबध्नात्) कार्य पर वेतन द्वारा नियुक्त करता है, (सः) वह (अस्मै) राजा के लिये (भूयो भूयः) अधिकाधिक (वाजिनम्) वेगवान् अश्व आदि यानों और रथों को (दुहे) तैय्यार कर देता है। (तेन श्वः श्वः द्विषतः जहि) हे राजन्! ऐसे नररत्न के बल पर तू भविष्य में बराबर शत्रुओं का नाश कर।

यमब॰ । तेने॒मां म॒णिना॑ कृ॒षिम॒श्विना॑व॒भि र॑क्षतः ।
स भि॒षग्भ्यां॒ महो॒ दुहे॒ भूयो॑० ॥ १२ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) वेदज्ञ महामात्य, (आशवे वाताय) आशुगामी वायु जिस प्रकार मेघ को समुद्र से लाकर पृथिवी पर वर्षा देता है, उसी प्रकार अपने प्रबल यन्त्रों से जलधाराओं और नदियों, नहरों को बनाने के कार्य के लिये (यम् मणिम्) जिस नर-रत्न को (अबध्नात्) राष्ट्र के कार्य में नियुक्त करता है, (तेन) उस नर-रत्न के बल से, (अश्विनौ) राष्ट्र के नर नारी लोग (इमां कृषिम्) इस अन्न की खेती को (अभि रक्षतः) रक्षा करते हैं। (सः) वही नर-रत्न (भिषग्भ्याम्) ओषधि-चिकित्सक और शल्य-चिकित्सक के लिये (भूयोभूयः) अधिकाधिक (महः) महत्त्वपूर्ण पदार्थ (दुहे) उत्पन्न करता है। हे राजन्! (तेन श्वः श्वः) उससे भविष्य में तू (द्विषतःजहि) शत्रुओं का विनाश कर।

यमब॰ । तं बिभ्र॑त् सवि॒ता म॒णिं तेने॒दम॑जय॒त् स्वः॑ ।
सो अ॑स्मै सू॒नृतां॒ दुहे॒ भूयो॑० ॥ १३ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) बृहस्पति अर्थात् वेदज्ञ ···पूर्ववत्। (तं मणिं) उस नर-रत्न को (सविता बिभ्रत्) धारण करके सूर्य के समान तेजस्वी राजा, (तेन) उस नररत्न के बल से (इदम्) इस (स्वः) आकाश लोक को (अजयत्) विजय कर लेता है। (सः) वह नररत्न (अस्मै) इस राजा के लिये (सूनृताम्) शुभ सत्यवाणी या कीर्ति को (भूयोभूयः दुहे)

अधिकाधिक उत्पन्न करता है। हे राजन्! (तेन श्वः श्वः द्विषतः जहि) उसके बल से भविष्य में शत्रुओं के विजय में समर्थ हो।

वेगवान् यानों के कर्त्ता शिल्पज्ञ के द्वारा आकाशचारी विमानों से राजा विशाल आकाश को वश करे और उस बल से यश कीर्त्ति प्राप्त करके शत्रुओं को वश करे।

यमब॑० । तमापो॒ बिभ्र॑तीर्म॒णिं सदा॑ धाव॒न्त्यक्षि॑ताः ।
स आ॑भ्यो॒ऽमृत॒मिद् दु॑हे॒ भूयो॑० ॥ १४ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) बृहस्पति अर्थात् वेदज्ञ… पूर्ववत्। (तं मणिं आपः बिभ्रतीः) उस नर-रत्न को अपने भीतर धारण करने हारी आप्त प्रजाएं, जल धाराओं के समान (अक्षिताः) विना विनाश के, (धावन्ति) निरन्तर अपने २ मार्ग पर चला करती हैं। (सः) वह नर-रत्न (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (भूयो भूयः) अधिकाधिक (अमृतम् इत् दुहे) अमृत या दीर्घायु या अमर जीवन को पूर्ण करता है। (तेन त्वं द्विषतः श्वः श्वः जहि) उसके बल से… पूर्ववत्।

यमब॑० । तं राजा॒ वरु॑णो म॒णिं प्रत्य॑मुञ्चत शं॒भुव॑म् ।
सो अ॑स्मै॒ स॒त्यमिद् दु॑हे॒ भूयो॑० ॥ १५ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) बृहस्पति अर्थात् वेदज्ञ… पूर्ववत्। (तं मणिम्) उस शिरोमणि (शम्भुवम्) सुखकारी नर-रत्न को (वरुणः राजा) चुना हुआ राजा (प्रत्यमुञ्चत्) मणि के समान धारण करता है। (सः अस्मैः) वह इस राजा के लिये (सत्यम् इद् दुहे) सत्य न्याय को ही (भूयो भूयः) अधिकाधिक बढ़ाता है (तेन द्विपतः श्वः श्वः जहि०) उसके बल से… पूर्ववत्।

यमब॑० । तं दे॒वा बिभ्र॑तो म॒णिं सर्वाँ॑ल्लो॒कान् यु॒धाज॑यन् ।
स ए॒भ्यो॒ जिति॒मिद् दु॑हे॒ भूयो॑० ॥ १६ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) बृहस्पति अर्थात् वेदज्ञ… पूर्ववत्। (तं० मणिम्) उस नर-रत्न को (बिभ्रतः) अपने बीच धारण करते हुए

(देवाः) विद्वान् पुरुष, अपने युद्ध करने के सामर्थ्य से (सर्वान् लोकान्) समस्त लोकों को (अजयन्) विजय कर लेते हैं। (सः) वह नर-रत्न (एभ्यः) इन विद्वान् पुरुषों के लिये (भूयः भूयः) अधिकाधिक (जितिम् इत दुहे) विजयों को करता है। (तेन श्वः श्वः० इत्यादि) उसके बल से ···पूर्ववत्।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम्।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि १७

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) बृहस्पति अर्थात् वेदज्ञ ···पूर्ववत्। (शम्भुवम्) कल्याण और सुख के उत्पादक (तम् इमं मणिम्) इस नर-रत्न को (देवताः) दिव्य प्रजाएं (प्रत्यमुञ्चन्त) धारण करती हैं। (सः) वह नर-रत्न (आभ्यः) इन दिव्य प्रजाओं के लिये (विश्वम् इद्) समस्त संसार के सारे पदार्थों को (भूयः भूयः) अधिकाधिक (दुहे) प्राप्त कराता है। (तेन श्वः श्वः ०इत्यादि) उसके बल से···पूर्ववत्।

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत।
संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ १८ ॥

भा०—(ऋतवः) ऋतुएं (तम्) उसको (अबध्नत) अपने में धारण करती हैं, (आर्तवाः तम् अबध्नत) ऋतुओं के समूह उसको धारण करते हैं। (तं) और उसको (संवत्सरः) संवत्सर बांधकर (सर्वं भूतं) समस्त प्राणीसमूह की (वि रक्षति) विविध प्रकार से पालन करता है। अर्थात् ऋतु, ऋतुओं के समूह और वर्ष जिस प्रकार सूर्य को धारण करते हैं और प्रजा का पालन करते हैं, उसी प्रकार प्रजाएं, अधिकारीगण और राजा भी ऐसे नर-रत्नों को स्वयं अपने राष्ट्र में नियुक्त करते हैं और इसके द्वारा नाना प्रकार से प्राणियों का पालन करते हैं।

ऋतव्याः—ऋतव एते यद् ऋतव्याः। श० ८। ७। १॥

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत।
प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥ १९ ॥

भा०—(अन्तः देशाः) अन्तराल दिशाएं या बीच के देश और (प्रदिशः) मुख्य चार दिशाएं (तम्) उस नर-रत्न को (अबध्नत) गले में मणि के बने हार के समान धारण करती हैं। (प्रजापति-सृष्टः) प्रजा-पालक परमेश्वर का उत्पन्न किया हुआ वह (मणिः) नर-शिरोमणि पुरुष (मे) मेरे से (द्विषतः) द्वेष करने हारे शत्रुओं को (अधरान्) नीचे कर देता है।

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २० ॥ (१९)

भा०—(अथर्वाणः) अथर्वा अर्थात् निश्चल, स्थिरमति, पुरुष और (आथर्वणाः) अथर्ववेद के विद्वान् उस नर-रत्न को अपने गले में हार के समान (अबध्नत) धारण करते हैं। (तैः) और उन विद्वानों की सहायता से (मेदिनः) परिपुष्ट तथा (अङ्गिरसः) विज्ञानवान् अधिकारी (दस्यूनां) दुष्ट डाकू लोगों के (पुरः) गढ़ों को (बिभिदुः) तोड़ डालते हैं। हे राजन् (तेन) उस द्वारा (त्वं) तू (द्विषतः) अपने शत्रुओं का (जहि) विनाश कर।

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत्।
तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥

भा०—(तं) उस नररत्न को (धाता) प्रजाधारक राजा (प्रति अमुञ्चत) धारण करता है। (सः) वह नररत्न (भूतम्) प्रजा को (वि अकल्पयत्) नाना प्रकार से सामर्थ्यवान् करता है। (तेन) उस नररत्न द्वारा हे राजन्! तू (द्विषतः जहि) शत्रुओं का नाश कर।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥

भा०—(यम्) जिस (असुर-क्षितिम्) असुरों के विनाशकारी अथवा (असु-रक्षितिम्) प्राणों के रक्षक पुरुष को (बृहस्पतिः) वेदज्ञ महामात्य (देवेभ्यः) श्रेष्ठ पुरुषों के लिये (अबध्नात्) राष्ट्र में नियुक्त

करता है, (सः) वह (मा) मुझ राजा के पास (रसेन) अपने बल और (वर्चसा) तेज के (सह) साथ प्राप्त हो।

यमब॑० । स मा॒यं म॒णिरा॑गमत् स॒ह गोभि॑रजावि॒भिरन्ने॑न प्र॒जया॑ स॒ह ॥ २३ ॥

भा०—(यम् अबध्नात् इत्यादि) दुष्टों वा असुरों के विनाशक वा प्राणों के रक्षक जिस पुरुष को वेदज्ञ महाभाग्य श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करता है (सः अयं) वह (मणिः) नररत्न (गोभिः अजाविभिः सह) गौओं, बकरियों और भेड़ों के साथ और (प्रजया सह) प्रजा के साथ (आ अगमत्) मुझ राजा को प्राप्त हो।

यमब॑० । स मा॒यं म॒णिरा॑गमत् स॒ह व्रीहिय॒वाभ्यां॒ मह॑सा भू॒त्या॑ स॒ह ॥ २४ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) असुरों के विनाशक वा प्राणों व प्राणियों के रक्षक जिस पुरुष को, वेदज्ञ विद्वान्, श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे, (सः अयं मणिः) वह नरश्रेष्ठ पुरुष, (व्रीहियवाभ्यां) धान्य और जौ आदि अन्नों और (महसा भूत्या सह) बड़ी भारी धन सम्पत्ति के साथ, (मा) मुझ राजा को (आ अगमत्) प्राप्त हो।

यमब॑० । स मा॒यं म॒णिरा॑ग॒मन्मधो॑र्घृ॒तस्य॒ धार॑या ।
की॒लाले॑न म॒णिः स॒ह ॥ २५ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) असुरों के विनाशक प्राणियों के प्राणों के रक्षक, जिस पुरुष को, वेदज्ञ विद्वान्, श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे, (सः अयं मणिः) वह नरश्रेष्ठ, (मधोः घृतस्य धारया) मधुर पदार्थों और घृत की धारा और (कीलालेन) अमृत या जल या परम अन्नरस के साथ (मा) मुझ राजा को (आ अगमत्) प्राप्त हो।

यमब॑० । स मा॒यं म॒णिरा॑गम॒दूर्जया॒ पय॑सा स॒ह द्रवि॑णेन श्रि॒या स॒ह ॥ २६ ॥

भा०—(यम् अवध्नात्० इत्यादि) असुरों के नाशक जिस प्रकार पुरुष को वेदज्ञ विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे (सः अयं मणिः) वह नरश्रेष्ठ, (ऊर्जया पयसा सह) अन्न की बलकारी सारवान् शक्ति और पुष्टिकारक दूध और जल के साथ और (द्रविणेन) धन सम्पत्ति और (श्रिया सह) लक्ष्मी के साथ (मा आ-अगमत्) मुझ राजा को प्राप्त हो।

यमब॑० । स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् तेज॑सा त्विष्या॑ स॒ह यश॑सा की॒र्त्या॑ स॒ह ॥ २७ ॥

भा०—(यम् अवध्नात्०) पूर्ववत् । (सः अयं मणिः) वह नरश्रेष्ठ (तेजसा) तेज, (त्विष्या) कान्ति, (यशसा कीर्त्या) यश और कीर्ति के (सह) साथ (मा आ-अगमत्) मुझ राजा को प्राप्त हो।

यमब॑ध्नाद् बृह॒स्पति॑र्दे॒वेभ्यो॒ असु॑रक्षितिम् ।
स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् सर्वा॑भि॒र्भूति॑भिः स॒ह ॥ २८ ॥

भा०—(यम् अवध्नात्० इत्यादि) पूर्ववत् । (सः अयं मणिः) वह नरश्रेष्ठ (सर्वाभिः भूतिभिः सह) समस्त कल्याण सम्पदाओं के साथ (मा आ-अगमत्) मुझ राजा को प्राप्त हो।

तमि॒मं दे॒वता॑ म॒णिं मह्यं॑ ददतु॒ पुष्ट॑ये ।
अ॒भि॒भुं क्ष॑त्र॒वर्ध॑नं सपत्न॒दम्भ॑नं म॒णिम् ॥ २९ ॥

भा०—(अभिभुम्) सबको अपने सामर्थ्य से पराभव करने वाले, (क्षत्रवर्धनम्) क्षत्र-बल को बढ़ाने वाले, (सपत्न दम्भनम्) शत्रुओं को दबाने वाले (तम् इमम् मणिम्) उस नरश्रेष्ठ पुरुष को, (देवताः) समस्त दिव्य प्रजाएँ (पुष्ट्यै) राज्य की पुष्टि के लिये (मह्यम्) मुझे (ददतु) प्रदान करें।

ब्रह्म॑णा तेज॑सा स॒ह प्रति॑ मुञ्चामि मे शि॒वम् ।
अ॒स॒प॒त्नः स॑पत्न॒हा स॒पत्ना॑न् मेऽध॑राँ अकः ॥ ३० ॥ (२०)

भा०—मैं (ब्रह्मणा) वेदमय या ब्राह्मणों के ज्ञानमय (तेजसा) तेज

के साथ (मे शिवम्) उस कल्याणमय नरश्रेष्ठ को (प्रतिमुञ्चामि) धारण करूं। वह (सपत्नहा) शत्रुनाशक (असपत्नः) अजातशत्रु, नरश्रेष्ठ (सपत्नान्) शत्रुओं को (मे अधरान्) मेरे नीचे (अकः) करे ।

उत्त॑रं द्वि॒ष॒तो मा॑म॒यं म॒णिः कृ॑णोतु दे॒व॒जाः ।
यस्य॑ लो॒का इ॒मे त्रयः॒ पयो॑ दु॒ग्धमु॒पास॑ते ।
स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मू॒र्ध॒तः ॥ ३१ ॥

भा०—(अयं) यह (मणिः) नर-रत्न (देवजाः) विद्वानों द्वारा सामर्थ्यवान् एवं अधिकार सत्ता को प्राप्त होकर (माम्) मुझे (द्विषतः) शत्रुओं के (उत्तरम्) ऊपर, उनसे ऊंचा (कृणोतु) करे और (यस्य) जिसके (दुग्धम्) उत्पन्न किये हुए ऐश्वर्य को (इमे) ये (त्रयः) तीनों (लोकाः) लोक अर्थात् उत्तम मध्यम और निकृष्ट तीनों श्रेणियों के प्राणी (उपासते) भोग करते हैं। (सः) वह (अयम् मणिः) नरश्रेष्ठ (श्रेष्ठ्याय) सबसे श्रेष्ठ पद प्राप्त करने के लिये (मूर्धतः माम् अधिरोहतु) मेरे भी शिरोभाग पर पूज्य होकर रहे ।

यं दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॒ उप॒जीव॑न्ति स॒र्व॒दा ।
स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मू॒र्ध॒तः ॥ ३२ ॥

भा०—(यं) जिस नरश्रेष्ठ पुरुष के आश्रय पर, (पितरः) माता, पिता, आचार्य आदि और (मनुष्याः) मननशील जीव, (सर्वदा) सब कालों में, (उप-जीवन्ति) अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं, (सः मणिः) वह शिरोमणि पुरुष (श्रैष्ठ्याय माम् मूर्धतः अधिरोहतु) सर्व श्रेष्ठ होने के कारण मुझसे भी ऊंचे पद पर मुख्य होकर रहे ।

यथा॒ बीज॑मु॒र्व॒रायां॑ कृ॒ष्टे फाले॑न॒ रोह॑ति ।
ए॒वा मयि॑ प्र॒जा प॒शवो॒ऽन्नम॑न्नं॒ वि रो॑हतु ॥ ३३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (उर्वरायाम्) उत्कृष्ट भूमि में, (फालेन) हल की फाली से (कृष्टे) हल चला लेने पर बोया हुआ (बीजम्) बीज

(रोहति) खूब अच्छी प्रकार उगता है और फलता है, (एव) उसी प्रकार (मयि) मुझमें (प्रजाः पशवः अन्नं वि रोहतु) प्रजाएं, पशु और अन्न विशेष प्रकार से उत्पन्न हों और समृद्ध हों। 'फाल मणिः' का रहस्यार्थ इस मन्त्र में स्पष्ट कर दिया है। अर्थात् जैसे हल की फाली से जोते खेत में बीज उगे उसी प्रकार जिसके कार्य करने पर राजा की प्रजा, पशु, सम्पत्ति बढ़े वही 'फाल मणि' है।

यस्मै॑ त्वा यज्ञवर्धन॒ मणे॑ प्र॒त्यमु॑चं शि॒वम्।
तं त्वं श॑तदक्षिण॒ म॒णे श्रैष्ठ्या॑य जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

भा०—(यज्ञवर्धन) यज्ञ अर्थात् राष्ट्र की व्यवस्था-संगति को निरन्तर बढ़ाने हारे (मणे) हे शिरोमणे! (त्वां) तुझ (शिवम्) कल्याणकारी को, (यस्मै) जिसके लिये (प्रति अमुचम्) मैं धारण करता हूँ, हे (शतदक्षिण मणे) सैकड़ों शक्तियों से सम्पन्न शिरोमणे (तं) उस राजा को (श्रैष्ठ्याय) सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कराने के लिये (जिन्वतात्) तू समर्थ हो।

ए॒तमि॒ध्मं स॒माहि॑तं जुषा॒णो अग्ने॒ प्रति॑ हर्य॒ होमैः॑।
तस्मि॑न् विदेम सुम॒तिं स्व॒स्ति प्र॒जां चक्षुः॑ प॒शून्त्समि॑द्धे
जा॒तवे॑दसि॒ ब्रह्म॑णा ॥ ३५ ॥ (२१)

भा०—हे (अग्ने) शत्रुतापकारिन् राजन्! (समाहितम् इध्मं जुषाणः) जिस प्रकार आग में रखे काठ को प्राप्त करके अग्नि घृत चरु के होमों द्वारा तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार (एतं) इस (समाहितम्) भली प्रकार तुझमें स्थापित (इध्मम्) दीप्तियुक्त राज्यपद को (जुषाणः) प्राप्त करता हुआ तू (होमैः) राष्ट्रकर रूप द्रव्यदानों से (प्रति-हर्य) समृद्ध हो। (ब्रह्मणा) वेद के विद्वान् ब्राह्मणवर्ग या ब्रह्मबल द्वारा (तस्मिन्) उस (जात-वेदसि) जातवेदाः ऐश्वर्यवान् राजा के (समिद्धे) अति प्रदीप्त हो जाने पर हम राष्ट्रवासी (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (सुमतिम्) उत्तम ज्ञान, (प्रजाम्) उत्तम सन्तान और (चक्षुः) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों और

(पशून्) गौ, अश्व आदि पशुओं को (विदेम) प्राप्त करें । इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम्, पञ्चाशितिश्च ऋचः]

[७] ज्येष्ठ ब्रह्म स्कम्भ का स्वरूप वर्णन

अथर्वा क्षुद्र ऋषिः ॥ मन्त्रोक्तः स्कम्भ अध्यात्मं वा देवता । स्कम्भ सूक्तम् ॥ १ विराट् जगती, २, ८ भुरिजौ, ७, १३ परोष्णिक्, ११, १२, १५, २०, २२, ३७-३९ उपरिष्टात् ज्योतिर्जगत्यः, १०, १४, १६, १८, १९ उपरिष्टाद्-बृहत्यः, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, २१ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, २३-३०, ३७, ४० अनुष्टुभः ३१ मध्येज्योतिर्जगती, ३२, ३४, ३६ उपरिष्टाद् विराड् बृहत्यः, ३३ परा विराड् अनुष्टुप्, ३५ चतुष्पदा जगती, ३, ६, ९, १२, १९, ३८, ४०, ४२-४३ त्रिष्टुभः, ४१ आर्षी त्रिपाद् गायत्री, ४४ द्विपदा वा पञ्चपदा निचृत् पदपंक्तिः । चतुश्चत्वारिंशदृचं सूक्तम् ॥

कस्मि॒न्नङ्गे॒ तपो॑ अ॒स्याधि॑ तिष्ठति॒ कस्मि॒न्नङ्ग॑ ऋ॒तम॒स्याध्याहि॑तम्।
क्व॑ व्र॒तं क्व॑ श्र॒द्धास्य॑ तिष्ठति॒ कस्मि॒न्नङ्गे॑ स॒त्यम॑स्य॒ प्रति॑ष्ठितम् ॥१॥

भा०—(अस्य) इसके (कस्मिन् अंगे) किस अङ्ग में (तपः) तप (अधि तिष्ठति) विराजता है ? (अस्य) इसके (कस्मिन् अंगे) किस अंग में (ऋतम् अधि आ-हितम्) ज्ञान धरा है ? (अस्य) इसके किस भाग में (व्रतं तिष्ठति) व्रत बैठा है ? और किस अङ्ग में (श्रद्धा) श्रद्धा स्थित है ? और (अस्य) इसके (कस्मिन् अंगे) किस अङ्ग में (सत्यम् प्रतिष्ठितम्) सत्य प्रतिष्ठित है ?

कस्मा॒दङ्गा॑द् दीप्यते अ॒ग्निर॑स्य॒ कस्मा॒दङ्गा॑त् पवते मात॒रिश्वा॑ ।
कस्मा॒दङ्गा॒द् वि मि॑मी॒तेऽधि॑ च॒न्द्रमा॑ म॒हः स्क॒म्भस्य॒ मिमा॑नो॒ अङ्ग॑म् ॥ २ ॥

भा०—(अस्य) इस स्कम्भ के (कस्मात् अंगात्) किस अंग से (अग्निः) अग्नि (दीप्यते) प्रकाशित होता है ? (मातरिश्वा) वायु (कस्मात्

अंगात्) किस अंग से (पवते) बहता है ? (महः स्कम्भस्य) महान्-स्कम्भ अर्थात् ज्येष्ठ ब्रह्म के (अङ्गम्) स्वरूप को (सिमानः) प्रकट करता हुआ (चन्द्रमा कस्मात् अंगात्) चन्द्रमा किस अंग से (अधि वि मिमीते) प्रकट होता है ?

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥३॥

भा०—(अस्य) इसके (कस्मिन् अंगे) किस अङ्ग में (भूमिः) भूमि (तिष्ठति) विराजती है ? (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (तिष्ठति) विराजमान है ? (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (निहिता द्यौः तिष्ठति) जड़ा हुआ द्युलोक विराजता है ? और (दिवः उत्तरम्) द्यौलोक से भी परे का भाग उस 'स्कम्भ' के (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (तिष्ठति) स्थित है ?

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥४॥

भा०—(ऊर्ध्वः अग्निः) ऊपर विराजमान वह सूर्याग्नि (क्व प्रेप्सन्) किसमें अपनी अभिलाषा बांधे, या कहां जाना चाहता हुआ (दीप्यते) प्रकाशित हो रहा है ? और (मातरिश्वा) वायुः (क्व प्रेप्सन्) कहां पहुँचने की अभिलाषा से (पवते) निरन्तर बहता है ? (आवृतः) ये सब आते जाते नक्षत्र आदि (यत्र प्रेप्सन्तीः) जहां पहुँचना चाहते हुए (अभि यन्ति) चलते चले जा रहे हैं, हे विद्वन् ! तू (तं) उसको (स्कम्भम्) सर्व जगत् का स्कम्भ या स्तम्भ (ब्रूहि) कह, उपदेश कर, (सः) वह अत्यन्त सुखमय है ।

क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः ।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं० ॥ ५ ॥

भा०—(अर्ध-मासाः) आधे मास और (मासाः) मास (सं-वत्सरेण) संवत्सर के (सह) साथ (संविदानाः) मिल करके (क्व यन्ति) कहां जा रहे

हैं ? ये (ऋतवः) ऋतुएँ और (आर्त्तवाः) ऋतुओं के समूह (यत्र यन्ति) जहां जा रहे हैं, हे विद्वन् ! (तं) उस सर्वाश्रय को तू (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) कह (सः कतमः स्वित् एव) वह अत्यन्त सुखमय है।

क्व॑ प्रेप्स॑न्ती युव॒ती विरू॑पे अहोरा॒त्रे द्र॑वतः संविदा॒ने ।
यत्र॑ प्रेप्स॑न्तीर॒भियन्त्याप॑ः स्क॒म्भं तं० ॥ ६ ॥

भा०—(विरूपे) विपरीत रूप वाले, काले और उजले रंग के, तमः और प्रकाशस्वरूप (युवती) मानों दो नर-नारी के समान (संविदाने) परस्पर मन्त्रणा करते हुए (अहोरात्रे) दिन और रात (क्व प्रेप्सन्ती) कहां पहुँचने की अभिलाषा करके (द्रवतः) वेग से जा रहे हैं ? (आपः) ये जल-धाराएँ नदियें (यत्र) जहां (प्रेप्सन्तीः) पहुँचने की अभिलाषा करती हुई (अभि-यन्ति) चली जा रही हैं, हे विद्वन् ! (तं स्कम्भं) उसको तू परम आश्रयभूत स्कम्भ अर्थात् जगत् का खम्भा कह (कतमः स्विद् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

यस्मि॑न्त्स्त॒ब्ध्वा प्र॒जाप॑तिर्लो॒कान्त्सर्वाँ॒ अधा॑रयत् ।
स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ ७ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक सूर्य, (यस्मिन्) जिस परम आश्रय में थमा हुआ होकर, (सर्वान् लोकान्) समस्त सौर लोकों को (अधारयत्) धारण किये हुए है, हे विद्वन् ! (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसे तू 'स्कम्भ' जगत्-स्तम्भ कह, (कतमः स्विद् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

यत् प॑र॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम् ।
किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त् तद् ब॑भूव ८

भा०—हे विद्वन् ! (प्रजापतिः) प्रजाओं के पालक सूर्य ने (यत्) जो (परमं) परला, (अवमं) नीचे का और (मध्यमं) मध्य का लोक (संसृजे) बनाया है (विश्वरूपं) जो कि सब रूपों वाला है, उसमें वह स्कम्भ (कियता) अपने कितने अंश से (प्र-विवेश) प्रविष्ट है और (यत्) स्कम्भ

का जो भाग (न प्राविशत्) उसमें प्रविष्ट नहीं है (तत्) वह (कियत् बभूव) कितना शेष है ?

कियता स्कुम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कुम्भः प्र विवेश तत्र ॥९॥

भा०—वह 'स्कम्भ' (भूतम्) भूतकाल में (कियता) कितने अंश से (प्रविवेश) प्रविष्ट है ? और (भविष्यत्) भविष्य काल में (अस्य) इस स्कम्भ का (कियत्) कितना अंश (अनु आ शये) व्याप्त है ? और (एकम् अङ्गम्) एक अंग अर्थात् प्रकृति को (यद्) जो (सहस्रधा) इसमें सहस्रों रूपों में (अकृणोत्) प्रकट किया है (तत्र) उस प्रकृति में (स्कम्भः) स्कम्भ (कियता) कितने अंश से (प्र विवेश) प्रविष्ट है ?

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असच्च यत्र सच्चान्त स्कुम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।१०।(२२

भा०—(जनाः) विद्वान् जन (यत्र) जिसके आश्रय पर (लोकान् च) समस्त लोकों को और (कोशान् च) और उनके आवरणों को, (आपः) समस्त विश्व के कारणरूप, प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं को और (ब्रह्म) महान् वेदज्ञान को भी आश्रित जानते हैं और (असत् च) जिसके भीतर अव्याकृत जगत् को और (सत् च) व्याकृत जगत् को आश्रित जानते हैं (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसको तू स्कम्भ कह (सः कतमः स्विद् एव) वह अत्यन्त सुखमय है ।

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कुम्भं तं० ॥ ११ ॥

भा०—(यत्र) जिसके आश्रय में (तपः) तप (पराक्रम्य) पराक्रम करके (उत्तरम्) उत्कृष्ट (व्रतम्) व्रत को (धारयति) धारण करता है और (यत्र च) जहां (ऋतम्) परम सत्य, (श्रद्धा च) और श्रद्धा (आपः) समस्त जीवगण या प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु या आप्त परमपद में प्राप्त मुक्त जीव

और (ब्रह्म) वेद का परम ज्ञान (सम्-आहिताः) आश्रित हैं, (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसको तू स्कम्भ कह, वह अत्यन्त सुखमय है ।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं० ॥१२॥

भा०—(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः) भूमि (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और (द्यौः) द्यौलोक (अधि आहिता) स्थित है, (यत्र) जिसमें (अग्निः चन्द्रमाः) अग्नि और चन्द्रमा (सूर्यः) सूर्य और (वातः) वायु (आ अर्पिताः) सब प्रकार से आश्रित होकर (तिष्ठन्ति) खड़े हैं, (तं स्कम्भम्) उसको तू स्कम्भ कह, (कतमः स्वित् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है ।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । स्कम्भं तं० ॥१३॥

भा०—(यस्य अङ्गे) जिसके अङ्ग अर्थात् प्रकृति में (सर्वे) सबके सब (त्रयः त्रिंशत्) तेतीस (देवाः) देवगण (सम्-आहिताः) भली प्रकार स्थित हैं, (तं स्कम्भं ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः) उसको तू स्कम्भ कह, वह अत्यन्त सुखमय है ।

बृहदारण्यक उपनिषत् (३,९,२-५) में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ 'वसु' कहे हैं, पुरुष-शरीर में दश प्राण और आत्मा ये ग्यारह मरणकाल में रुलाते हैं इससे ये 'रुद्र' कहे हैं, वर्ष के १२ मास बारह 'आदित्य', इन्द्र और प्रजापति ये ३३ देवता गिनाये हैं ।

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं० ॥ १४ ॥

भा०—(यत्र) जिसमें (प्रथमजा) सबसे प्रथम उत्पन्न ऋषि अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा और उनके हृदय में प्रकाशित (ऋचः साम यजुः मही) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या वाला अथर्ववेद आश्रित हैं और (यस्मिन्) जिसमें (एकर्षिः) अकेले विचरने वाला सूर्य (अर्पितः) विराजमान है, (तं स्कम्भं) उसको तू स्कम्भ कह, (कतमः स्वित् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है ।

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ १५ ॥

भा०—(अमृतं च) अमर जीवन और (मृत्युः च) मृत्यु दोनों (यत्र पुरुषे) जिस परम पुरुष में (अधि समाहिते) आश्रित हैं और (समुद्रः) नदियों समेत जिसमें समुद्र (नाड्यः सम् आहिताः) नाड़ियों समेत हृदय के समान स्थित है, (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसको तु स्कम्भ कह, (कतमः स्वित् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥

भा०—और (यस्य) जिसके विराट् रूप में (प्रदिशः) मुख्य दिशाएं (प्रथमाः नाड्यः) मुख्य २ नाड़ियों के समान (तिष्ठन्ति) विराजती हैं, (यत्र) जिसमें (यज्ञः) यह विश्वरूप महान् यज्ञ (पराक्रान्तः) बड़ी उत्कृष्टता से सम्पादित होता है, (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसको तू स्कम्भ कह, (कतमः स्वित् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् योगी जन (पुरुषे) शरीर-पुरी में विद्यमान जीवात्मा अन्तर्यामी रूप से स्थित (ब्रह्म) उस महान् ब्रह्म का (विदुः) साक्षात् ज्ञान करते हैं (ते) वे (परमेष्ठिनम्) परम अर्थात् उत्कृष्ट जीवात्मा में स्थित ब्रह्म का परमेष्ठी रूप में (विदुः) साक्षात्कार करते हैं और (यः) जो ब्रह्मवेत्ता (परमेष्ठिनम्) उस परम जीवात्मा में स्थित परमेष्ठी का (वेद) साक्षात् ज्ञान कर लेते हैं, (यः च) और साथ ही जो (प्रजापतिम्) सौर जगत् में स्थित सूर्य के समान समस्त जड़ संसार में स्थित उस पालक का प्रजापति रूप में (वेद) साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर लेते

हैं, और (ये) जो ब्रह्मवेदी (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ रूप से (ब्राह्मणं) उस ब्रह्म को (विदुः) साक्षात् जान लेते हैं, और (ये) जो ब्रह्मवेदी (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ रूप से (ब्राह्मणं) उस ब्रह्म को (विदुः) साक्षात् जान लेते हैं (ते) वे ही इन ज्ञानों के आधार पर (स्कम्भम्) उस जगदाधार स्कम्भ का (अनु सं विदुः) भली प्रकार ज्ञान लाभ करते हैं।

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१८॥

भा०—(वैश्वानरः) विश्वनेता सूर्य (यस्य) जिसका (शिरः) शिर है, (अङ्गिरसः) विराट् देह में सारभूत तेजोमय सहस्रों नक्षत्र (चक्षुः) जिसके चक्षुरूप (अभवन्) हैं और (यातवः) गतिमान् समस्त लोक (यस्य) जिसके (अङ्गानि) अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं, (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसको तू सर्वाधार 'स्कम्भ' कह, (कतमः स्वित् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं० ॥ १९ ॥ (१९)

भा०—(यस्य ब्रह्ममुखम्) वेद को जिसका मुख (आहुः) बतलाते हैं और (मधुकशाम्) मधुर वेदवाणी को (जिह्वाम् आहुः) जिस स्कम्भ की जिह्वा बतलाते हैं, (उत) और (विराजम्) प्रकृति को (यस्य) जिसका (ऊधः) ऊधस् अर्थात् 'थन' कहते हैं, हे विद्वन् ! (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसको तू स्कम्भ कह, (कतमः स्वित् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २० ॥ (२३)

भा०—(यस्मात्) जिससे (ऋचः) ऋचाएं (अप अतक्षन्) प्रकट हुईं और (यस्माद् यजुः अप अकषन्) जिससे यजुर्वेद प्रकट हुआ, (सामानि) साम (यस्य लोमानि) जिसके लोम हैं और (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद जो कि जीवन के रस के समान है वह (मुखम्) जिसका मुख

है, (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसको तू स्कम्भ कह, (कतमः स्विद् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥ २१ ॥

भा०—(असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीम्) शाखा-प्रशाखा रूप में प्रकट न आई अर्थात् प्रकट रूप में न आई गतिमती मूल प्रकृति को ही (जनाः परमम् इव विदुः) सर्व साधारण लोग परम तत्त्व के समान जानते हैं, (उतो) और (ये) जो लोग (शाखाम् उप आसते) शाखा-प्रशाखा रूप में प्रकट हुए स्थूल जगत् की उपासना करते हैं वे मानो इस सत्-जगत् को ही परम शक्ति की न्याई मानते हैं। (ते अवरे) वे अवर अर्थात् निम्न कोटि के लोग हैं।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

भा०—(यत्र) जिसमें (आदित्याः च रुद्राः च वसवः च) १२ आदित्य, ११ रुद्र और ८ वसु (सम् आहिताः) एकत्र स्थित हैं और (यत्र च) जिसमें (भूतं भव्यं च) भूत भविष्यत् जगत् और (सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः) समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं। (तं स्कम्भं ब्रूहि) उसको तू स्कम्भ कह, (कतमः स्विद् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥

भा०—(यस्य) जिसके (निधिम्) परम भण्डार की (त्रयस्त्रिंशत्) तेंतीस (देवाः) देवगण (सर्वदा रक्षन्ति) सदा रक्षा करते हैं, हे (देवाः) देवगणो! (यं) जिसकी तुम भी (अभि रक्षथ) सब प्रकार से रक्षा करते हो, (तं निधिम्) उस खजाने को (अद्य) अब (कः वेद) कौन जानता है?

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥ २४ ॥

भा०—(यत्र) जिसके आश्रय पर (देवाः) समस्त देवगण हैं उस (ज्येष्ठं ब्रह्म) सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म को, (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता ऋषि, (उपासते) उपासना करते हैं। (यः) जो (वै) भी (तान्) उन ब्रह्मवेदियों का (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (विद्यात्) सत्संग लाभ करे (सः वेदिता) वह भी ज्ञानी (ब्रह्मा) ब्रह्मवेत्ता (स्यात्) हो जाय।

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

भा०—(ते) वे (देवाः) देव (बृहन्तः) आकार में बड़े २ हैं (ये) जो (असतः) 'असत्' अर्थात् अव्याकृत प्रकृति से (परि जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं। (स्कम्भस्य) स्कम्भ का (तत्) वह (एकम् अङ्गम्) एक अङ्ग है जिसको (जनाः) लोग (परः) इस व्याकृत जगत् से परे, अति सूक्ष्म (असत्) 'असत्' अव्यक्त रूप से (आहुः) बतलाते हैं।

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

भा०—(यत्र) जिस अपने स्वरूप के आधार में, (स्कम्भः) 'स्कम्भ' ने, (प्र जनयन्) सृष्टि उत्पन्न करते हुए (पुराणं वि अवर्तयत्) 'पुराण' नामक प्रकृति में परिवर्त्तन उत्पन्न किया, विविध रूप से सृष्टि रूप में उत्पन्न किया, (तत्) वह (स्कम्भस्य) जगदाधार परमेश्वर का (एकं अङ्गम्) एक अङ्ग है जिसको विद्वान् लोग (पुराणम्) 'पुराण' नाम से (अनु संविदुः) जानते हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

भा०—(यस्य अङ्गे) जिसके शरीर में (त्रयस्त्रिंशत् देवाः) तैंतीस देव (गात्रा विभेजिरे) अवयव के समान बंटे हुए हैं, (एके ब्रह्मविदः) कोई २ ही ब्रह्मवेत्ता, (तान्) उन (त्रयस्त्रिंशत् देवान्) तैंतीस देवों का (विदुः) ज्ञान प्राप्त करते हैं।

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥

भा०—(हिरण्यगर्भम्) हिरण्यमय यह संसार जिसके गर्भ में है उस स्कम्भ को (अनति उद्यं विदुः) लोग परम तत्व जानते हैं कि जिसके बारे में अधिक न बतलाया जा सकता है । (तत् हिरण्यं) उस हिरण्य के समान चमकते हुए जगत् के निर्माता इस तत्व को (अग्रे) पहिले (स्कम्भः) स्कम्भ ने ही (लोके अन्तरा) लोकों के अन्दर (प्रासिञ्चत्) सींचा था ।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

भा०—(स्कम्भे लोकाः) स्कम्भ में समस्त लोक, (स्कम्भे तपः) स्कम्भ में तप और (स्कम्भे ऋतम् अधि आहितम्) स्कम्भ में परम-ज्ञान प्रतिष्ठित है । हे (स्कम्भ) जगदाधार स्कम्भ ! मैं द्रष्टा (त्वा) तुझको (प्रत्यक्षं वेद) साक्षात् करता हूँ कि (इन्द्रे सर्वं समाहितम्) तुझ परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर में समस्त जगत् अच्छी प्रकार स्थित है ।

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥ (२४)

भा०—(इन्द्रे लोकाः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर में समस्त लोक स्थित हैं, (इन्द्रे तपः) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर में तप स्थित है, (इन्द्रे ऋतम् अधि आहितम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर में समस्त परम ज्ञान स्थित है, (त्वा इन्द्रं प्रत्यक्षं वेद) तुझ जगदाधार परमेश्वर को ही परमैश्वर्यवान् साक्षात् जानूं । (स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्) उस जगत् के आधारभूत 'स्कम्भ' में समस्त संसार विराजमान है ।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ३१ ॥

भा०—(नाम नाम्ना जोहवीति) मनुष्य एक नाम या पद की व्याख्या करने के लिये दूसरे नाम या पद से उसको पुकारता है, या (नाम) उस नमस्कार योग्य परमेश्वर को (नाम्ना) किसी भी पद से पुकार लेता है। वह परम तत्व तो (पुरा सूर्यात्) इस सूर्य से भी पहले और (उपसः पुरा) सूर्य के पूर्व उषा होती है वह उषा से भी पूर्व विद्यमान है। (यत्) जब (प्रथमं) सबसे प्रथम (सः) वह (अजः) अजन्मा, परम आत्मा ही (सं बभूव) एकमात्र था, (तत्) उस समय, (सः) निश्चय से वही (स्वराज्यम् इयाय) स्वयं प्रकाशमान रूप को प्राप्त था। (यस्मात्) जिससे (अन्यत्) दूसरा (परम् भूतम्) कोई उत्पन्न होने वाला पदार्थ, इस जगत् को अतिक्रमण करने वाला, उससे पूर्व विद्यमान (न अस्ति) नहीं है।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

भा०—(भूमिः) भूमि (यस्य) जिसकी (प्रमा) चरणवत् हैं, (उत) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उदरम्) उदर है। (यः) और जो (दिवं) द्यौलोक को (मूर्धानं चक्रे) अपने शिर के समान बनाये है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

भा०—(सूर्यः पुनर्नवः चन्द्रमाः च यस्य चक्षुः) सूर्य और पुनः नवीन रूप में उत्पन्न होने वाला चन्द्र दोनों जिसकी दो आखों के समान हैं और (यः) जो (अग्निम्) अग्नि को (आस्यम्) अपने मुख के समान (चक्रे) बनाये हुए है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस सर्वश्रेष्ठ परमब्रह्म को नमस्कार है।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥

भा०—(वातः) वायु (यस्य प्राणापानौ) जिसके प्राण और अपान के समान हैं और (अङ्गिरसः) ज्ञानी विद्वान् या नक्षत्रादि तेजस्वी पदार्थ, जिसके (चक्षुः अभवन्) चक्षु के समान हैं और (यः) जो (दिशः) दिशाओं को (प्रज्ञानीः) अपनी उत्कृष्ट ज्ञापक, पताकाओं के समान (चक्रे) बनाये हुए है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम्।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ३५

भा०—वह (स्कम्भ) स्कम्भ (इमे) इन (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को (दाधार) धारण किये हुए है। (स्कम्भः) वही जगदाधार स्कम्भ (उरु) विशाल इस (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (दाधार) धारण किये हुए है। (स्कम्भः) स्कम्भ ही (उर्वीः) विशाल इन (प्रदिशः) दिशाओं को (दाधार) धारण करता है। वस्तुतः (इदं विश्वम्) यह समस्त चराचर (भुवनम्) लोक (स्कम्भे आविवेश) स्कम्भ के ही भीतर घुसा हुआ है। अथवा (स्कम्भः इदं विश्वं भुवनम् आविवेश) वह जगदाधार ही समस्त विश्व में प्रविष्ट है।

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥

भा०—(यः) जो (श्रमात्) योगाभ्यास में सतत परिश्रम और (तपसः) तप (जातः) द्वारा प्रकट होता है, (सर्वान् लोकान्) और जो समस्त लोकों में (सम् आनशे) पूर्णरूप से व्याप्त है और (सोमं यश्चक्रे केवलम्) जिसने चन्द्रमा को अकेला विचरने वाला बनाया है। (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥ ३७ ॥

भा०—(वातः) वायु (कथं न) क्यों नहीं (ईलयति) चैन पाता? (मनः) मन (कथं न रमते) क्यों नहीं एक ही वस्तु में रमता? वह क्यों

चंचल है ? (सत्यम्) उस सत्यस्वरूप को ही (प्रेप्सन्तीः) प्राप्त होने के लिये उत्सुक होकर क्या (आपः) जल भी (कदाचन) कभी (न ईलयन्ति) विश्राम नहीं पाते ?

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

भा०—(भुवनस्य मध्ये) इस समस्त संसार के बीच में (महद् यक्षम्) वह बड़ा भारी पूजनीय या समस्त शक्तियों का एक-मात्र संगम-स्थान है, जो (तपसि क्रान्तं) तप में बढ़ा हुआ और (सलिलस्य पृष्ठे) अन्तरिक्ष की भी पृष्ठ पर, उसके भी ऊपर शासक रूप से विद्यमान है। (ये उ के च) जो कोई भी (देवाः) दिव्य पदार्थ हैं वे (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्ष के तने के (परितः शाखाः इव) चारों ओर शाखाओं के समान (तस्मिन्) शक्तियों के एक-मात्र संगमस्थान उस 'यक्ष' में ही (श्रयन्ते) आश्रय ले रहे हैं।

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ३९ ॥

भा०—(यस्मै) जिसके निमित्त (हस्ताभ्यां पादाभ्याम्) हाथों और पैरों से, (वाचा, श्रोत्रेण, चक्षुषा) वाणी, कानों और आंखों से (देवाः) दिव्य पदार्थ या विद्वान् गण (बलिम् प्रयच्छन्ति) बलि-उपहार, या आदरभाव प्रदान करते हैं और जो (विमिते) नाना प्रकार से बने हुए इस परिमित संसार में (अमितम्) असीम, अपरिमित, अनन्त है, (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस जगदाधार भूत को तू स्कम्भ कह, (कतमः स्वित् एव सः) वह अत्यन्त सुखमय है।

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ ४० ॥

भा०—(तस्य) उस परमेश्वर की शक्ति से (तमः) समस्त अन्धकार (अप-हतम्) विनष्ट हो जाता है। (सः) वह समस्त (पाप्मना) पापों से (वि-आवृतः) पृथक् रहता है। (यानि) जो (त्रीणि) तीनों अर्थात् अग्नि, विद्युत् और सूर्यरूपी (ज्योतींषि) ज्योतियां हैं (सर्वाणि) ये सब (तस्मिन्) उसी (प्रजापतौ) प्रजापति में ही विराजमान हैं।

यो वे॑त॒सं हि॑र॒ण्ययं॒ तिष्ठ॑न्तं सलि॒ले वेद॑ ।

स वै गुह्यः॑ प्र॒जाप॑तिः ॥ ४१ ॥

भा०—(सलिले वेतसम्) जल में जिस प्रकार बेंत का पौदा जीवन धारण करता है, उसी प्रकार (हिरण्ययम् तिष्ठन्तं सलिले वेद) प्रकृति के समुद्र में सूक्ष्म रूप से स्थित चमकीले संसार को जो जानता है (सः वै) वही (गुह्यः) गुह्य (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी है।

त॒न्त्रमेके॑ युव॒ती विरू॑पे अभ्या॒क्रामं॑ वयतः॒ षण्म॑यूखम् ।

प्रान्या तन्तूँ॑स्ति॒रते॑ ध॒त्ते अ॒न्या नाप॑ वृञ्जाते॒ न ग॑माता॒तो अन्त॑म् ॥४२॥

भा०—दो युवतियों के समान (एके) उषा और रात्रि (विरूपे) जो कि तमोमय और प्रकाशमय इन विरुद्ध रूपों वाली (अभ्याक्रामम्) हैं वे बार २ आ आ और जा जा कर, (षड्मयूखम् तन्त्रम्) छः दिशाओं वाले या छः ऋतुओं वाले या छः किरणों वाले विश्वरूप जाल को (वयतः) बुन रही हैं। उनमें से (अन्या) एक उषा (तन्तून्) सूर्य की किरणरूप तन्तुओं को (प्र-तिरते) फैलाती है और (अन्या) दूसरी रात्रि (धत्ते) उन सब किरणों को अपने भीतर लुप्त कर लेती है। (न अप वृञ्जाते) ये दोनों कभी विश्राम नहीं लेतीं और (न गमातः अन्तम्) न कार्य के अन्त तक ही पहुँचती हैं।

तयो॑र॒हं प॑रि॒नृत्य॑न्त्योरिव॒ न वि जा॑नामि यत॒रा प॒रस्ता॑त् ।

पुमा॑नेनद् वय॒त्युद्गृ॑णत्ति पुमा॑नेनद् वि ज॑भा॒राधि॒ नाके॑ ॥ ४३ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १३० । २ इति पूर्वार्धेन समः ।

भा०—(परिनृत्यन्त्योः) मानो नाचती हुईं सी (तयोः) उन दोनों उषा और रात्रि में से (न वि जानाम) मैं यह नहीं निर्णय कर सकता कि (यतरा परस्तात्) पहले कौन उत्पन्न हुई? वस्तुतः (एनत्) इस समस्त विश्व को (पुमान्) वह परम पुरुष बुनता है और (पुमान्) वह पुरुष ही (एनत्) इसको (उद् गृणत्ति) उकेल डालता है, संहार करता है और (पुमान्) वह परम पुरुष ही (एनत्) इस विश्व को (नाके) परम सुखमय आश्रय में अथवा आकाश में (अधि वि जभार) नाना प्रकार से चला रहा है।

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं ।
सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥ (२५)

ऋ० १० । १३२ । २ तृ० च० ॥

भा०—(इमे) ये (मयूखाः) किरणें ही (दिवम्) द्यौःलोक या सूर्य को (तस्तभुः) थामे हुए हैं। (सामानि) वायु, आदित्य, मेघ आदि पदार्थ और वाग्, मन, श्रोत्र आदि प्राण ये पदार्थ ही (वातवे) इस लोक को बुनने के लिये (तसराणि) तन्तु जालों को (चक्रुः) बनाये हुए हैं।

[८] ज्येष्ठ ब्रह्म का वर्णन

कुत्स ऋषिः । आत्मा देवता । उपरिष्टाद् बृहंती, २ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, २ भुरिग अनुष्टुप्, ७ पराबृहती, १० अनुष्टुब्गर्भा बृहती, ११ जगती, १२ पुरोबृहती त्रिष्टुब्गर्भा आर्षी पंक्तिः, १५ भुरिग् बृहती, ६। १४, २१, २३, २५, २९, ३१-३४, ३७, ३८, ४१, ४३ अनुष्टुभः, २२ पुरोष्णिक्, २६ द्व्युष्णिग्गर्भा अनुष्टुब्, ५७ भुरिग् बृहती, ३० भुरिक्, ३९ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, ४२ विराड् गायत्री, ३, ४, ८, ९, १३ १६ २४, २८, २९, ३४, ३५, ३६, ४०, ४४ त्रिष्टुभः । चतुश्चत्वारिंशदृचं सूक्तम् ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व॒र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (भूतं च) भूतकाल और (भव्यं च)

भविष्यत्-काल और (यः च सर्वम्) जो समस्त जगत् पर (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता होकर वश करता है और (यः च) जिसका (केवलम्) स्वरूप (स्वः) सुखमय, आनन्दमय और प्रकाशमय है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म के लिये नमस्कार है।

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्॥ २॥

भा०—(स्कम्भेन) उस जगदाधार 'स्तम्भ' द्वारा (वि-स्तभिते) थामे हुए (इमे द्यौः च भूमि च) ये दोनों आकाश और पृथ्वी (तिष्ठतः) स्थिर हैं। (इदं सर्वम् आत्मन्वत्) यह समस्त चेतन प्राणिसंसार जिनमें यह आत्मा भोक्ता रूप से विद्यमान है, (यत्) जो (प्राणत्) प्राण लेता, (यत् निमिषत् च) और जो आंखें झपकता है, (सर्वम्) सब (स्कम्भे) उस स्कम्भ में आश्रित है।

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्य१न्या अर्कमभितोऽविशन्त।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश॥ ३॥

ऋ० ८। ९०। १४॥

भा०—(तिस्रः प्रजाः) सात्विक, राजस और तामस तीन प्रजाएं, (अति आयन्) अति अधिक आवागमन को प्राप्त होती हैं और दूसरी अर्थात् त्रिगुण-अतीत, बन्धनमुक्त प्रजाएं, (अर्कम् अभितः) अर्चना करने योग्य परम पूजनीय परमेश्वर के पास (नि अविशन्त) आश्रय लेती हैं। वह महान् परमात्मा (रजसः) समस्त लोकों को (विमानः) विशेष रूप से निर्माण करता हुआ (तस्थौ) सर्वत्र विराजमान है और वही (हरितः) सूर्य के समान अति प्रकाशवान् (हरिणीः) समस्त तेजस्वी प्रकाशमान् पदार्थों या समस्त दिशाओं में (आ विवेश) व्यापक है।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ४

ऋ० १। १६४। ४८॥

भा०—(द्वादश प्रधयः) बारह प्रधियां या पुट्ठियां हैं, (एकं चक्रम्) एक चक्र है (त्रीणि नाभ्यानि) तीन नाभियां हैं, (तत्) उस आत्मा के स्वरूप को (कः उ चिकेत) कौन जानता है ? (तत्र) वहां (त्रीणि शतानि षष्टिः च शङ्कवः) ३६० खूंटे (आहताः) लगे हैं और (त्रीणि शतानि षष्टिः च खीलाः) तीन सौ साठ कीलें भी लगी हैं, (ये) जो (अविचाचलाः) जो कि स्थिर हैं, नियत हैं। यहां संवत्सररूप से आत्मा का विचार किया गया है। जैसे संवत्सर में १२ मास हैं, संवत्सर का एक चक्र है, तीन महा ऋतु हैं और ३६० दिन और ३६० रात्रियां हैं, उसी प्रकार आत्मा में १२ प्राण हैं, अकेला आत्मा स्वयं जीवन मरण के चक्र वाला है, उसके तीन नभ्य = बन्धन सत्व, रजस् तमस् तीन गुण हैं, ७२० कीलें हृदय की नाड़ियां हैं जो कि स्थिर हैं।

इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः ।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥ ५ ॥

भा०—हे (सवितः) प्राणों के प्रेरक ! सूर्य के समान आत्मन् ! तू (वि जानीहि) इसे विशेष रूप से जान कि (षड् यमाः) छः जोड़े हैं और (एकः) एक (एकजः) स्वयं उत्पन्न है। (यः) जो (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (एकजः) स्वयं उत्पन्न है (तस्मिन्) उसमें (ह) ही अन्य सब (आपित्वम्) अपने को सम्बद्ध हुआ (इच्छन्ते) जानते हैं।

संवत्सरपक्ष में—छः ऋतुएं ६ यम हैं, वे दो दो मासों से बने हैं, १३वां सूर्य है। १२ मास सूर्य में अपने को बंधा पाते हैं। अध्यात्मपक्ष में—दो कान, दो नाक, दो आंख, दो रसना और वाणी, दो हाथ, दो पांव, ये छः यम हैं। एक मन है, उसमें सब बंधे हैं और ये सब प्राण उसी में लीन होते हैं। अथवा—पांच इन्द्रियें और छठा मन ये छः यम हैं। आत्मा एकज, स्वयंम्भू एक है। उसमें वे पांचों सम्बद्ध हैं। अथवा—द्वादश प्राण छः यम अर्थात् जोड़े हैं वे एक आत्मा में सम्बद्ध हैं।

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

भा०—(गुहा) ब्रह्माण्ड में और इस शरीर में (जरन् = चरन्) (महत्) वह महान् (पदम्) ज्ञातव्य, वेद्य (नाम) पदार्थ है, जो व्यापक (आविः) साक्षात् (सन्निहितम्) अति समीप में भीतर स्थित है। (तत्र) उस आत्मा में (इदं सर्वम्) यह सब (एजत् प्राणत्) गतिशील प्राण लेने वाला देह, इन्द्रिय, चित्त आदि और ब्रह्माण्ड में समस्त सूर्य चन्द्र नक्षत्र वायु आदि सब (प्रतिष्ठितम्) आश्रित है।

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद् बभूव ॥ ७ ॥
अथर्व० ११। ४। २२॥

भा०—(सहस्राक्षरम्) वह परमात्मा आगे पीछे सर्वत्र विद्यमान है, वही एक मुख्य कर्तृ शक्ति है, अकेला जगत् का नेता है, वह सहस्रों अक्षय शक्तियों से सम्पन्न होकर, (वर्त्तते) सदा विद्यमान रहता है, जो (अर्धेन) अपनी स्वल्प शक्ति से वह (विश्वं भुवनं जजान) समस्त उत्पन्न होने वाले कार्य जगत् को उत्पन्न करता है और (यद्) जो (अस्य) इस परमेश्वर की (अर्धम्) शेष अर्ध शक्ति है (तत्) वह (क्व बभूव) कहां, किस रूप में है, नहीं कहा जा सकता।

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥ ८ ॥

भा०—(पञ्चवाही) पांचों प्राणों और भूतों को वहन करने वाला परमात्मा (एषाम् अग्रं वहति) इनके अग्र भाग में मानों जुत कर इनका वहन कर रहा है और (प्रष्टयः) ये पांचों उसके पीछे लगकर (युक्ताः अनु सं वहन्ति) इसके पीछे २ चल रहे हैं। (अस्य) इस परमात्मा का (अयातम्) न चलना तो (ददृशे) दीखता है और (यातम्) चलना (न ददृशे) दिखाई

नहीं पड़ता। अर्थात् यह अचल है। जो (परं नेदीयः) वह बहुत दूर होकर भी समीप और वह (अवरम्) समीप होकर भी (दवीयः) अति अधिक दूर है।

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥

भा०—एक (तिर्यग्-बिलः) तिरछे मुख और (ऊर्ध्व बुध्नः) ऊपर को पेंदे वाला (चमसः) चमस अर्थात् पात्र है। (तस्मिन्) उसमें (विश्वरूपं) नाना रूप (यशः) भूतिमान् बल (निहितम्) रखा है। (तत्) वहां उस शक्तिमान् आत्मा में (सप्त ऋषयः) सात ऋषि अर्थात् सात शिरोगत प्राण (साकम्) एकत्र होकर (आसते) विराजते हैं (ये) जो (अस्य महतः) इस महान् आत्मा के (गोपाः) रक्षक या द्वारपाल के समान उसको आवरण किये हुए या घेरे हुए (बभूवुः) हैं।

शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक (अ० २।२।३।४) भाग में—'अर्वाग्-बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नइतीदं तच्छिर एव ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं प्राणा वै यशो विश्वरूपं तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे। प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह।' यह 'शिर' वह 'चमस' या पात्र है जिसका बिल अर्थात् मुख पासे पर तिरछे खुला है और पैंदा अर्थात् कपाल ऊपर है। उसमें यशोरूप प्राण रखे हैं। उस पात्र के किनारे २ सात ऋषि, सात प्राण, दो कान (गोतम और भरद्वाज), दो चक्षु (विश्वा-मित्र और जमदग्नि), दो नासिका (वसिष्ठ और कश्यप) और मुख (अत्रि) ये सात ऋषि विराजते हैं, जो इसके 'गोपा' पहरेदार के समान उसको घेरे हैं।

या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥१०॥(१६)

भा०—(ऋचां सा कतमा) ऋचाओं में से वह कौनसी अर्चनीय शक्ति है (या) जो (पुरस्तात्) आगे २ भी (युज्यते) जुती रहती हैं और

(या च पश्चात्) पीछे भी जुती रहती हैं, (या च विश्वतः युज्यते) जो विश्व में जुती रहती है, (या च सर्वतः) तथा सब ओर जुती रहती है और (यया) जिससे (यज्ञः) विश्वरूप ब्रह्माण्ड (प्राङ्) पूर्वाभिमुख होकर (तायते) विस्तृत किया गया है ? (देखो, गोपथ ब्रा० १।१।२२॥ 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्०)।

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद भुवत् ।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥ ११ ॥

भा०—(यद् एजति) यह जो कुछ कम्पन कर रहा है, (पतति) चल रहा है, (यत् च तिष्ठति) और जो खड़ा है, (प्राणत् अप्राणत्) प्राण ले रहा है या प्राण नहीं ले रहा, (यत् निमिषत् भुवत् च) और झंपक रहा है और सत्ता वाला है, (तत्) वह परब्रह्म ही (विश्वरूपम्) उस सर्वरूप जगत् को (दाधार) धारण कर रहा है, वही (पृथिवीं दाधार) पृथिवी को धारण करता है (तत् संभूय) वह जगत् एकत्र होकर (एकं एव भवति) प्रलयकाल में इस परमात्मा में ही एक हो जाता है।

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

भा०—(अनन्तम्) सीमारहित परम कारण और (अन्तवत् च) सीमा युक्त कार्य ये दोनों ही (सम् अन्ते) एक दूसरे की सीमा हैं। वस्तुतः देखें तो (अनन्तम्) अन्तरहित कारण पदार्थ ही है जो (पुरुत्र) नाना रूपों में (विततम्) प्रकट रूप से फैला है, परन्तु कारण और कार्य (ते) उन दोनों प्रकार के जगत् को (नाकपालः) मोक्षमय धाम का पालक वह प्रभु परमात्मा ही, जो (अस्य) इस विश्व के (भूतम्) उत्पन्न हुए अतीत को और (भव्यम्) उत्पन्न होने वाले भविष्यत् को (विद्वान्) जानता है वह दोनों में (विचिन्वन्) विवेक करता हुआ (ते) उन दोनों को (चरति) वश कर रहा है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ १३ ॥

पूर्वार्धः यजु० ३१। १९ पूर्वार्धेन सम ॥

भा०—(गर्भे अन्तः) गर्भ के भीतर जिस प्रकार आत्मा (अदृश्यमानः) बिना दीखे ही (चरति) विचरता है और (बहुधा विजायते) बहुत प्रकार से नाना योनियों में नाना शरीर धारण कर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार (प्रजापतिः) प्रजा का पालक वह प्रभु (गर्भे अन्तः) इस प्रकृति रूपी गर्भ के भीतर (चरति) विचरता है और (अदृश्यमानः) स्वयं दृष्टिगोचर न होता हुआ भी (बहुधा) सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि रूपों में (विजायते) विविध शक्तियों के रूपों में प्रकट होता है। वह (अर्धेन) आधे जड़ या प्रकृतिमय भाग से (विश्वं भुवनं जजान) समस्त कार्य जगत् को प्रकट करता है और (यत्) जो (अस्य) इसका (अर्धम्) शेप अर्ध, आधा या परम समृद्ध रूप है (सः) वह (केतुः) ज्ञानमय पुरुप (कतमः) कौनसा है? पता नहीं। अथवा (सः केतुः कतमः) वह ज्ञानमय पुरुप कतमः = अतिशय सुख स्वरूप है।

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम्।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥ १४ ॥

भा०—(ऊर्ध्वम्) सिर के ऊपर (उदकम्) पानी के घड़े को (भरन्तम्) उठाये हुए व्यक्ति को आंखों से देखकर (कुम्भेन इव) घड़े के द्वारा जिस प्रकार सब लोग (उदहार्यम्) कहार या धीवर रूप में देखते हैं उसी प्रकार उस प्रभु को (सर्वे) सभी लोग (चक्षुषा) आंखों से उसके कार्यों को (पश्यन्ति) देखकर उसका अनुमान तो करते हैं परन्तु (मनसा) मन से या ज्ञान साधन से (न विदुः) उसका साक्षात् ज्ञान नहीं करते हैं।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ १५ ॥

भा०—वह परब्रह्म (दूरे) दूर रहकर भी (पूर्णेन) पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ (वसति) रहता है और (दूरे) दूर रह कर ही (ऊनेन) अल्प परिणाम वाले इस जगत् से (हीयते) परे भी बचा रहता है। वह (महद् यक्षम्) महान् पूजनीय देव (भुवनस्य) इस सत्तावान् जगत् के बीच में व्यापक है। (तस्मै) उसके लिये (राष्ट्र-भृतः) दीप्तिमान् सूर्यादिक भी, (बलिं भरन्ति) बलि या कर, उपहार और भेंट प्रदान करते हैं, जैसे कि राष्ट्र के पति सम्राट् को भेंट दिया करते हैं।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ १६ ॥

भा०—(यतः) जिससे (सूर्यः) सूर्य (उद् एति) उदय अर्थात् उत्पन्न होता और (यत्र च) जहां (अस्तं गच्छति) अस्त अर्थात् पुनः प्रलय काल में लीन हो जाता है, (तद् एव) उसको ही मैं (ज्येष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म (मन्ये) मानता हूँ। (तद् उ) उसको (किंचन न अत्येति) बड़प्पन में कोई लांघ नहीं सकता।

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् लोग (अर्वाङ्) वर्तमान काल में विद्यमान, (मध्यः) मध्यकाल में वर्तमान, (उत वा) और (पुराणम्) प्राचीन काल में वर्तमान (वेदं विद्वांसम्) वेदमय ज्ञान को जानने वाले पुरुष के विषय में (अभितः) सर्वत्र (वदन्ति) वर्णन किया करते हैं, (ते) वे सब विद्वान् (सर्वे) समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर ले लेने वाले उस महान् पुरुष को ही लक्ष्य करके (परि वदन्ति) वर्णन करते हैं और (द्वितीयम्) उससे दूसरे दर्जे पर (अग्निम्) ज्ञान से युक्त, मुक्त जीव का वर्णन किया करते हैं और तीसरे दर्जे पर (त्रिवृतम् हंसम्) हंस अर्थात् शरीर में गमनागन

करने वाले, त्रिगुण प्रकृति के बन्धन में बंधे, अंहकारवान् जीव के विषय में वर्णन किया करते हैं।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥१८॥

अथर्व० १३ । २ । ३८ ॥ १३ । ३ । १४ ॥

भा०—(हरेः) आदित्य के समान तेजस्वी (हंसस्य) जो महान् परमात्मा है (स्वर्ग पततः अस्य सहस्राह्ण्यं पक्षौ विततौ) वह मानो आकाश में उड़ रहा है और इसके लिये उसके दोनों पंख अर्थात् द्युलोक और भूलोक हजारों दिनों से खुले हुए हैं। (स देवान्) वह आकाश के समस्त तेजस्वी पदार्थों को अपने (उरसि) विशाल वक्षःस्थल पर (उपदद्य) लेकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (सं पश्यन्) देखता हुआ (याति) मानो जाता है।

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥

भा०—वह महान् ब्रह्म सत्य के प्रकाश से (ऊर्ध्वः) सबसे ऊपर विराजमान होकर (तपति) तपता है और (ब्रह्मणा) वेदज्ञान द्वारा (अर्वाङ्) निचले इस कार्य जगत् को (वि पश्यति) नाना प्रकार से प्रकाशित करता है। वह (प्राणेन) प्राणरूप वायु द्वारा (तिर्यङ्) तिर्यक् जगत् को भी (प्राणति) जीवन प्रदान करता है। (यस्मिन्) उसमें ही (ज्येष्ठम्) सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञान (अधि श्रितम्) स्थित है।

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥२०॥ (२७)

भा०—(यः वै) जो विद्वान् पुरुष (ते अरणी) उन दो अरणियों को (विद्यात्) जानता है (याभ्यां) जिनसे कि (वसुम्) वह ब्रह्माण्ड में बसने वाली ब्रह्माग्नि मथ कर प्रकाशित कर ली जाती है, (सः) वही (विद्वान्) विद्वान् पुरुष (ज्येष्ठं) ज्येष्ठ ब्रह्म को जानता है, (सः) वही

(महत्) बड़े (ब्राह्मणम्) ब्रह्म के स्वरूप को (विद्यात्) जान लेता है।

श्वेताश्वर उप० में अ० १ । १४ ॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येत् निगूढवत् ॥

अपने देह को निचली अरणि बनाकर, प्रणव 'ओ३म्' को उत्तर अरणि बनावे और ध्यान के मंथन-दण्ड से बराबर रगड़े तो परम गूढ़ आत्माग्नि के भी दर्शन हो जाते हैं।

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्व१ रा भरत् ।
चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥ २१ ॥

भा०—(अग्रे) सृष्टि के पूर्व (सः) वह परम पुरुष (अपात्) 'अपात्', अविज्ञेय रूप, 'अमात्र' स्वरूप (सम् अभवत्) रहा और (अग्रे) सृष्टि के उत्पन्न होने के पूर्व वह (स्वः) सुखमय, प्रकाशमय मोक्ष धाम को (आभरत्) धारण करता था। वह पुनः (चतुष्पात् भूत्वा) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्रकट करके 'चतुष्पात' होकर, (भोग्यः) और सब संसार का भोक्ता बन कर, (सर्वम्) समस्त संसार को (भोजनम्) अपना भोजन बना कर, (आ अदत्त) अपने भीतर लीन कर लेता है, प्रलय में ले लेता है।

भोग्योऽभवदथोऽन्नमदद् बहु ।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥ २२ ॥

भा०—वह पुरुष (भोग्यः) समस्त संसार को अपना भोग्य बनाने वाला होकर (अभवत्) अर्थात् सबका प्रभु होकर विराजता है, वह ही (बहु) बहुत सा (अन्न) अन्न अर्थात् खाने के पदार्थ जीवों को भी (अदद्) प्रदान करता है, (यः) जो, (उत्तरावन्तं) सबसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त (सनातनम्) इस सनातन (देवम्) देव की (उपासातै) उपासना करता है।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥

भा०—(एनम्) उस परम पुरुष को (सनातनम्) सनातन पुरुष (आहुः) कहा करते हैं। परन्तु (उत अद्य) वह तो आज भी (पुनः नवः) फिर भी नया का नया ही है। जैसे (अहोरात्रे प्रजायेते) दिन और रात सनातन काल से आते हुए भी बराबर नये २ उत्पन्न होते रहते हैं तो भी (अन्यो अन्यस्य रूपयोः) अपने २ रूपों में सदा से वे समान रहते हैं।

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४॥

भा०—(अस्मिन्) इस परम पुरुष में (शतम्) सैकड़ों, (सहस्रम्) हजारों, (अयुतम्) दसों हज़ार, (न्यर्बुदम्) लक्षों और (असंख्येयम्) असंख्य (स्वं निविष्टम्) धन रखा है। (अस्य) इसके (अभिपश्यतः एव) देखते हुए ही समस्त लोक इसके (तत्) उस धन को (घ्नन्ति) प्राप्त करते रहते हैं। (तस्मात्) इसलिये (देवः) वह परम देव (रोचते) जगत् को रुचता है, (एष एतत्) यह बात सत्य है।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २५ ॥

भा०—(एकम्) एक वस्तु जो (बालात्) केश से भी (अणीयस्कम्) अत्यन्त सूक्ष्म है (उत एकम्) और जो एक वस्तु (न इव दृश्यते) नहीं के समान दीखती है। तो फिर (ततः) जो सत्ता उससे भी सूक्ष्म वस्तु के (परि ष्वजीयसी) भीतर व्यापक है, अति सूक्ष्मतम है (सा देवता) वह देवता (मम) मेरे (प्रिया) हृदय को तृप्त करती, एवं प्रिय लगती है। मैं उसका उपासक हूँ।

इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥

भा०—(इयं) यह (कल्याणी) कल्याणमयी (अजरा) और कभी जीर्ण न होने वाली परम चितिशक्ति (मर्त्यस्य) मरणशील जीव के (गृहे)

देह में भी (अमृता) अमृत है। (यस्मै कृता) जिस जीवात्मा के भले के लिये (सः शये) वह परम चितिशक्ति जीवात्मा के भीतर शयन कर रही है (यः चकार सः जजार) वह जीवात्मा वह है जो कि कर्म करता है और वार २ जीर्ण होता रहता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमा॑नसि त्वं कु॑मार उ॒त वा॑ कुमा॒री।
त्वं जी॒र्णो द॒ण्डेन॑ वञ्चसि॒ त्वं जा॒तो भ॑वसि वि॒श्वतो॑मुखः ॥२७॥

श्वेता० उप० ४ । ३ ॥

भा०—(त्वं स्त्री) हे जीवात्मन्! तू स्त्री है, (त्वं पुमान् असि) तू पुरुष है। (त्वं कुमारः) तू कुमार है (उत वा) और (कुमारी) तू कुमारी है। (त्वं जीर्णः) तू ही बूढ़ा होकर (दण्डेन वंचसि) दण्ड हाथ में लेकर चलता है। (त्वं) तू ही (जातः) शरीरधारीरूप में उत्पन्न होकर (विश्वतो-मुखः) नाना प्रकार के मुखों वाला (भवसि) होता रहता है।

उ॒तैषां॑ पि॒तोत वा॑ पु॒त्र ए॑षामु॒तैषां॑ ज्ये॒ष्ठ उ॒त वा॑ कनि॒ष्ठः।
एको॑ ह दे॒वो मन॑सि॒ प्रवि॑ष्टः प्र॑थ॒मो जा॒तः स उ॒ गर्भे॑ अ॒न्तः ॥२८॥

भा०—(उत) वह जीवात्मा (एषां पिता) कभी तो इन बालकों का पिता बनता है (उत वा) और कभी इन का (एषां पुत्रः) पुत्र बन जाता है। (एषां ज्येष्ठः) वह भाइयों में कभी ज्येष्ठ भाई (उत वा) और (कनिष्ठः) कनिष्ठ भाई बन जाता है। (एकः देवः) वह एक २ जीवात्मदेव (मनसि) एक २ मन या अन्तःकरण में (प्रविष्टः) प्रविष्ट रहता है, वही (जातः) पहले भी शरीर ग्रहण करके उत्पन्न होता रहा है और (सः उ अन्तः गर्भे) वह ही गर्भ में नये २ रूप में आता रहता है।

पू॒र्णात् पू॒र्णमुद॑चति पू॒र्णं पू॒र्णेन॑ सिच्यते।
उ॒तो त॒द॒द्य वि॑द्याम॒ यत॒स्तत् प॑रिषि॒च्यते॑ ॥ २९ ॥

भा०—(पूर्णात्) पूर्ण परमेश्वर से (पूर्णम्) पूर्ण जगत् (उद् अचति) उत्पन्न होता है। (पूर्णेन) पूर्ण परमेश्वर से (पूर्णम्) यह समस्त जगत् (सिच्यते) माली से वाटिका के समान सींचा जा रहा है। (उतो)

और (अद्य) अब (तत्) उस परब्रह्म का (विद्याम) हम ज्ञान करें (यतः) जिससे (तत्) कि वह जगत् (परिषिच्यते) सींचा जा रहा है।

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव ।
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥३०॥ (२८)

भा०—(एषा) वह (सनत्नी) पुराण शक्ति (सनम् एव जाता) अति पुरातनकाल ही से विद्यमान है। वह (पुराणी) अति पुराण शक्ति (सर्वं परि बभूव) समस्त संसार में व्यापक है। वह (मही देवी) महती दिव्य-शक्ति (उषसः) समस्त उषाओं को (विभाति) प्रकाशित करने हारी है। (सा) वही (एकेन मिषता) प्रत्येक निमेषोन्मेष में, प्रत्येक क्षण २ में (विचष्टे) सबको देख रही है ।

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ ३१ ॥

भा०—(अविः वै नाम देवता) वह 'अवि' सर्वपालक देवता है जो (ऋतेन परिवृता आस्ते) 'ऋत' परम सत्य से व्याप्त है। (तस्याः रूपेण) उसके रोचक रूप से ही (इमे वृक्षाः) ये वृक्ष (हरिताः) हरे भरे हैं और (हरित-स्रजः) हरी पत्रमालाओं से ढके हैं।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ३२ ॥

भा०—पुरुष (अन्ति सन्तम्) समीप विद्यमान उस परमदेव को (न जहाति) कभी दूर नहीं कर सकता, कभी नहीं त्याग सकता, कभी उससे अलग नहीं हो सकता और वह पुरुष (अन्ति अन्तम्) समीप में विद्यमान उस परम देव को (न पश्यति) देखता भी नहीं है। (देवस्य काव्यं पश्य) इसके लिये उस परम देव के वेदरूपी काव्य को देख जो काव्य कि (न ममार) न कभी मरता है और (न जीर्यति) न जीर्ण होता है, पुराना होता है।

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥

भा०—(अपूर्वेण) जिसके पूर्व में कोई न था उस सबके आदि भूत परमेश्वर से (इषिता:) प्रेरित (वाच:) वेदवाणियां (यथायथम्) सत्य सत्य ही (वदन्ति) तत्त्व का वर्णन करती हैं। वे (वदन्ती:) यथार्थ तत्त्व का वर्णन करती हुईं (यत्र गच्छन्ति) जहां जाती और विश्राम लेती हैं अर्थात् जहां पहुँचती हैं (तत्) उस परम महान् को (महत्) ऋषि लोग (ब्राह्मणं आहु:) ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रवक्ता कहते हैं।

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ॥ ३४ ॥

भा०—(यत्र) जिसमें (देवा: च) सूर्य आदि देव और (मनुष्या: च) मनुष्य (नाभौ अरा: इव) धुरी में अरों के समान (श्रिता:) आश्रित हैं, हे विद्वन्! (त्वा) तुझसे मैं (अपां पुष्पं पृच्छामि) प्रकृति की उस विकासावस्था के सम्बन्ध में प्रश्न करता हूँ जिस विकासावस्था में कि वह ब्रह्म (मायया) अपनी शक्ति के साथ (हितम्) स्थित रहता है।

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन् ॥३५॥
जै० उ० ब्रा० १। ३४॥

भा०—(येभि:) जिनसे (इषित:) प्रेरित होकर (वात:) वायु (प्रवाति) बहता है और (ये) जो (सध्रीची:) एक साथ मिली हुई (पञ्च दिश:) पाचों दिशाओं को (ददन्ते) विभक्त कर लेते हैं या धारण करते हैं और (ये) जो (देवा:) प्रकाश युक्त पदार्थ (आहुतिम्) आहुति, या आहूति अर्थात् प्रजा की पुकार या प्रार्थना अभिलाषा को (अति अमन्यन्त) नहीं जानते हैं अर्थात् जड़ हैं, (ते) वे (अपां) सूक्ष्म जलों वा प्राणों वा सूक्ष्म प्रकृति परमाणुओं के (नेतार:) प्रणेता (कतमे आसन्) कौन हैं?

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव ।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥३६॥
जै० उ० ब्रा० ॥

भा०—(एषाम् एकः) इनमें से एक अग्नि नामक देव (इमाम् पृथिवीं वस्ते) इस पृथिवी में व्यापक है। (एकः) दूसरा वायु (अन्तरिक्षं परि बभूव) अन्तरिक्ष में व्यापक है। (एषाम्) इनमें से एक सूर्य (दिवं ददते) द्यौ को धारण करता है (यः) जो समस्त सौर जगत् को (विधर्त्ता) विविध प्रकार से धारण करता है और (एके) कुछ चन्द्रमा, नक्षत्र आदि देव (विश्वाः आशाः) समस्त दिशाओं को (प्रति रक्षन्ति) पालते हैं।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताःप्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिसमें (इमाः) ये समस्त (प्रजाः) प्रजाएं (ओताः) उरोयी पिरोई हुई हैं (यः) जो विद्वान् उस (विततम्) विस्तृत (सूत्रम्) प्रकृतिरूपी सूत्र को (विद्यात्) जानता है और (यः) जो (सूत्रस्य सूत्रम्) उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है (सः महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह महान् ब्रह्म के रूप को जानता है।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥

भा०—(अहम्) मैं (विततम्) उस व्यापक (सूत्रम्) प्रकृतिरूपी सूत्र को (वेद) जानता हूँ (यस्मिन्) जिसमें (इमाः प्रजाः ओताः) ये प्रजाएं बिनी हुई हैं, (अहं) मैं (सूत्रस्य सूत्रम्) सूत्र के भी सूत्र को (वेद) जानता हूँ, (यद्) जो कि (महत् ब्राह्मणम्) महान् ब्रह्म है।

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः ।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥३९॥

भा०—(यद्) जब (द्यावापृथिवी अन्तरा) ज़मीन और आकाश दोनों

के बीच (प्रदहन्) जाज्वल्यमान और (विश्वदाव्यः) समस्त संसार को जलाने हारा (अग्निः) अग्नि देव (ऐत्) व्याप जाता है, (यत्र) जब कि (परस्तात्) दूर तक दिशाएं (एकपत्नीः) उस एक महान् अग्नि की पत्नी अर्थात् पालक शक्तियों के समान दिशाएं (अतिष्ठन्) खड़ी रहती हैं, (तदानीम्) तब प्रलय काल में (मातरिश्वा) वायु (क इव आसीत्) कहां रहता है ?

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन् ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश ॥४०॥

भा०—(मातरिश्वा) वायु उस समय (अप्सु) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में (प्रविष्टः) प्रविष्ट रहता है और (देवाः) अन्य देव भी (सलिलानि प्रविष्टाः आसन्) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। उस समय वह (बृहन्) महान् (पवमानः) सबका संचालक परमेश्वर (रजसः) लोकों की (विमानः) रचना करने वाला (तस्थौ) विद्यमान रहता है और वह (हरितः आविवेश) समस्त जाज्वल्यमान दिशाओं में भी व्यापक रहता है।

उत्तरेणेव गायत्रीममृतेऽधि वि चक्रमे ।
साम्ना ये साम संविदुरजस्तद् ददृशे क ॥ ४१ ॥

भा०—(गायत्रीम् उत्तरेण) साधक पुरुष गय अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाली चितिशक्ति को पार करके उससे ऊपर विराजमान (अमृते अधि विचक्रमे) अमृत आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करते हैं। (ये) जो योगी लोग (साम्ना) साम अर्थात् शान्त अपनी आत्मा से (साम) 'साम' अर्थात् शान्त उस परब्रह्म को (संविदुः) जान लेते हैं, वे ही जानते हैं कि (तद्) उस समय (अजः) अजन्मा परमात्मा (क ददृशे) कहां या किस दशा में साक्षात् होता है ?

निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा ।
इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥ ४२ ॥

भा०—वह (देवः सविता इव) देवाधिदेव सूर्य के समान (सत्य-धर्मा) सत्य के बल से समस्त संसार को धारण करने हारा, (निवेशनः) समस्त जगत् का आश्रय और (संगमनः) पञ्चभूतों का सङ्गमस्थान है। वह (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यवान (धनानाम्) ऐश्वर्यों के निमित्त होने वाले (समरे) संग्रामों में (इन्द्रः इव तस्थौ) स्थिर होकर लड़ने वाले सेनापति की नांई वह विरोधी शक्तियों का पराजय करता है।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥

भा०—(नवद्वारम्) नौ द्वारों वाला (पुण्डरीकम्) पुण्डरीक अर्थात् कमल के समान वर्तमान यह शरीर (त्रिभिः) तीन (गुणैः) गुणों से (आवृतम्) घिरा है। (तस्मिन्) उसमें (यत्) जो पूजनीय ब्रह्मतत्त्व रहता है, जो कि जीवात्मा के साथ रहता है (एतत् वै) उसको ही (ब्रह्म-विदः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष (विदुः) साक्षात् करते हैं।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ४४ (२९)

भा०—वह (स्वयंभूः) अपनी सत्ता से सामर्थ्यवान्, (अकामः) संकल्पों से रहित (धीरः) धीर (अमृतः) अविनाशी, (रसेन) और आनन्द रस से (तृप्तः) तृप्त है। (कुतश्चन न ऊनः) वह किसी प्रकार भी और कहीं से भी न्यून नहीं है। वह सर्वतः पूर्ण है। (तम्) उस (धीरम् अजरम्) धीर, अजर, अमर, (युवानम्) नित्य तरुण, (आत्मानं) आत्मा को (एव) ही (विद्वान्) जान कर विद्वान् पुरुष (मृत्योः) मौत से (न बिभाय) नहीं डरता। इति चतुर्थोनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्चाष्टाशीतिः]

[९] 'शतौदना' नाम प्रजापति की शक्ति का वर्णन

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता शतौदना देवता। १ त्रिष्टुप् २–११, १३–२४ अनुष्टुभः, १२ पथ्यापंक्तिः, २५ द्व्युष्णिग्गर्भा अनुष्टुप्, २६ पञ्चपदा बृहत्य-

नुष्टुब् उष्णिग्गर्भा जगती, २७ पञ्चपदा अतिजगत्यनुष्टुब्गर्भा शक्करी।
सप्तविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्।
इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥१॥

भा०—हे राजन्! प्रभो! (अघायताम्) पापाचारी लोगों के (मुखानि) मुखों को या मुख्य पुरुषों को (अपि नह्य) बांध डाल और (सपत्नेषु) तेरे राष्ट्र पर अपना स्वामित्व जमाने वाले शत्रुओं पर (एतम् वज्रम्) इस वज्र को (अर्पय:) चला। इस प्रकार की (इन्द्रेण) परमेश्वर से, या राजा से (दत्ता) प्रदान की हुई (प्रथमा) सर्वश्रेष्ठ (शतौदना) और सैंकड़ों वीर्य वाली, (भ्रातृव्यघ्नी) तथा शत्रुओं का नाश करने वाली शक्ति (यजमानस्य) यज्ञ अर्थात् राष्ट्रमय व्यवस्था करने वाले के लिये (गातुः) सन्मार्ग है।

'शतौदना'—प्रजापतिर्वा ओदनः। श० १३।३।६।७॥ तै० ३।८।२।३॥ जिस शक्ति में सैंकड़ों प्रजापालक पुरुष विद्यमान हों वह साम्राज्यशक्ति 'शतौदना' है। जो सब राष्ट्र को सुसंगठित करता है वह 'यजमान' है। यह पृथ्वी 'शतौदना' गौ है। अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः तां० १९।१३।१॥ स्वराज्य प्राप्त करने को विशाल यज्ञ 'गोसव' या 'गोमेध' है। इस तत्व को न जानकर गोमेध में गौ को मारने आदि का उल्लेख करने वालों का अज्ञान प्रकट होता है।

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते।
एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ॥ २ ॥

भा०—पृथ्वी का 'गो' स्वरूप वर्णन करते हैं। हे पृथ्वीरूप गौ! (ते) तेरे ऊपर (वेदिः) बनी यह वेदि (चर्म भवतु) चर्म अर्थात् ऊपर का आवरण है और (बर्हिः) कुशा आदि ओषधियां (यानि लोमानि) लोम रूप हैं। (एषा रशना) यह 'रशना' रस्सी राजा की राज-व्यवस्था है (त्वा

अग्रभीद्) जो तुझे बांधती हैं (एषः ग्रावा) यह विद्वान् वाग्मी पुरुष या क्षत्रिय राजा व प्रजा (त्वा अधि) तेरे ऊपर (नृत्यतु) आनन्द प्रसन्न होकर रहे ।

विशो ग्रावाणः श० ३ । ९ । ३ । ३ ॥ विद्वांसो हि ग्रावाणः । श० ३ । ९ । ३ । ४० ॥ प्रजाएं और विद्वान् 'ग्रावा' कहाते हैं ।

बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं मार्ष्ट्वघ्न्ये ।

शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ३ ॥

भा०—(प्रोक्षणीः) प्रोक्षणियां (ते बालाः सन्तु) तेरे पूंछ के बाल के समान हैं । हे (अघ्न्ये) गौ के समान न मारने योग्य पृथिवी ! (ते जिह्वा) तेरी जिह्वा अग्नि (संमार्ष्टु) संमार्जन, परिशोधन करती है । इस प्रकार (त्वं) तू (यज्ञिया) यज्ञ की हितकारिणी (शुद्धा) शुद्ध (भूत्वा) होकर हे शतौदने ! शतवीर्ये ! तू (दिवं) आकाशमार्ग में (प्रेहि) गमन करती है, द्युलोक में भी गमन करती है ।

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते ।

प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो इस (शतौदनां) शतवीर्यवती, पृथिवी को (पचति) यथा समय परिपाक करता है, वह (कामप्रेण) अपने समस्त संकल्पों को पूर्ण करने वाले फल से (कल्पते) सम्पन्न हो जाता है और (अस्य) उस राजा के (ऋत्विजः) यथा ऋतु यज्ञ सम्पादन करने वाले अन्य विद्वान् पुरुष भी (प्रीताः) सुप्रसन्न, तृप्त होकर (सर्वे) सब (यथायथम्) ठीक ठीक (यन्ति) काम करते और फल प्राप्त करते हैं ।

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः ।

अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ५ ॥

भा०—(सः) वह (स्वर्गम्) सुखमय राज्य पर (आरोहति) चढ़ता है, अभिषिक्त होता है (यत्र) जहां (अदः) वह (दिवः) तेजोमय लोक के (त्रि-

दिवम्) तीनों तेजों से सम्पन्न लोक है, (यः) (शतौदनाम्) जो कि शतवीर्यों से युक्त पृथिवी को (अपूपनाभिम्) अपूप अर्थात् अक्षीण राजशक्ति को नाभि या केन्द्र में स्थापित करके (ददाति) राष्ट्रवासियों को प्रदान करता है।

अपूपनाभिः—इन्द्रियम् अपूपः। ऐ०। २। २४॥ इन्द्रस्य वीयम् इन्द्रियम्। तन्नाभिः सन्नहनं बलं यस्याः सा अपूपनाभिः। जिस पृथिवी को राजा का वीर्य सुबद्ध, सुव्यवस्थित करता है वह 'अपूपनाभि' शतौदना पृथिवी है। जो राजा ऐसे सुव्यवस्थित राष्ट्र को बना देता है वह अपने राष्ट्र में तीनों लोकों का सुख प्राप्त करता है।

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः।
हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (शतौदनाम्) शतवीर्यों वाली पृथिवी को (हिरण्यज्योतिषम्) सुवर्णमय सम्पत्ति से युक्त (कृत्वा) करके (ददाति) प्रदान करता है (सः) वह (ये दिव्याः) जो दिव्य और (ये च पार्थिवाः) जो पार्थिव, पृथिवी पर विद्यमान सुन्दर लोकस्थान हैं (सः तान्) उन (लोकान्) लोकों को (सम् आप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥ ७ ॥

भा०—हे (देवि) देवि! पृथिवी! (ते) तेरे (ये) जो (शमितारः) कल्याण करने वाले और (पक्तारः) तुझे परिपक्व करने वाले, (च) और (ये) जो (ते) तेरे (जनाः) ऊपर रहने वाले नाना प्रकार के जन्तु प्रजाजन हैं, (ते) वे (त्वा) तेरी (सर्वे) सब (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे। (एभ्यः) इनसे हे (शतौदने) शतवीर्यें पृथिवि! (मा भैषीः) भय मत कर।

अग्निरुश्च अपापश्चोभौ देवानां शमितारौ। तै० ३। ६। ६। ४॥ मृत्युस्तदभवद् धाता शमितोग्रो विशांपतिः। तै० ३। १२। ९। ६॥ अर्थात् अध्यक्ष, निष्पाप राजा, प्रजापालक, दुष्टों को दण्ड देने वाले लोग

पृथिवी के शमिता हैं जो उसको विभाग करके प्रजा को बांटते और उसमें खेती करते हैं।

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा ।

आदित्याः पश्चाद् गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥ ८ ॥

भा०—हे पृथिवी ! (त्वा) तुझको (वसवः) वसु लोग (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा से, (मरुतः त्वा उत्तरात्) वैश्यगण तुझे उत्तर दिशा से और (आदित्याः) ज्ञानी पुरुष तुझे (पश्चात्) पीछे से (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे। (सा) वह तू (अग्निष्टोमम् अति द्रव) अग्निस्तोम नामक यज्ञ को पार कर जा।

'अग्निष्टोमः'—स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमः । तं यदस्तुवँस्तस्मादग्निस्तोमः । ऐ० ३ । ४३ ॥ यो ह वा एष सूर्यः तपति एषोऽग्निष्टोमः एष साह्नः । गो० उ० ४ । १० ॥ अग्निष्टोमो वै संवत्सरः । ऐ० ४ । १५ ॥ अग्निष्टोमेन वै देवा इमं (भू) लोकमभ्यजयन् । ता० ९ । २ । ९ ॥ प्रतिष्ठा वा अग्निष्टोमः । श० ३ । ३ । ३ । २ ॥

अग्नि अर्थात् शत्रु संतापक राजा स्वयं 'अग्निष्टोम' है। उसी की उसमें स्तुति होती है। अथवा सूर्य पृथिवी को तपाता है यह अग्निष्टोम का स्वरूप है। संवत्सर अग्निष्टोम है। अग्निष्टोम से इस भूलोक का विजय किया जाता है। इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करना 'अग्निष्टोम' है।

देवाः पितरो मनुष्यागन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥ ९ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् जन (पितरः) पितृ लोग, पालक, देश के वृद्ध लोग, (मनुष्याः) मननशील प्रजाएं, (गन्धर्वाः) युवक लोग, (ये च) और जो (अप्सरसः च) स्त्रियें हैं (ते सर्वे) वे सब (त्वाम्) तेरी (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे, (सा) वह तू (अतिरात्रम्) 'अतिरात्र' नामक यज्ञ को (अति द्रव) पार कर जा।

'अतिरात्रः'—भूतं पूर्वो अतिरात्रो भविष्यदुत्तरः, पृथिवी पूर्वोऽतिरात्रो द्यौरुत्तरः । अग्निः पूर्वोऽतिरात्रः, आदित्य उत्तरः । प्राणः पूर्वोऽतिरात्रः, उदान उत्तरः ता० १० । ४ । १ ॥ चक्षुषी अतिरात्रौ । ता० १० । ४ । २ ॥ प्रतिष्ठा वा अतिरात्रः । श० ५ । ५ । ३ । ५ ॥ भूत और भविष्यत्, पृथिवी और द्यौः, अग्नि और सूर्य, प्राण और उदान ये दो २ जोड़े अति रात्र हैं । जैसे देह में आंखें हैं उसी प्रकार राष्ट्र के निरीक्षक लोग अति रात्र के रूप हैं । राज्य की प्रतिष्ठा 'अतिरात्र' है ।

अ॒न्तरि॑क्षं॒ दिवं॒ भूमि॑मादि॒त्यान् म॒रुतो॒ दिशः॑ ।
लो॒कान्त्स सर्वा॑नाप्नोति॒ यो ददा॑ति श॒तौद॑नाम् ॥१०॥ (३०)

भा०—(यः) जो (शतौदनाम्) शतवीर्या भूमि को (ददाति) प्रदान करता है वह (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (दिवम्) द्यौः (भूमिम्) भूमि और (आदित्यान्) आदित्यों, (मरुतः) वायुओं और (दिशः सर्वान् लोकान्) दिशाओं और समस्त लोकों को (आप्नोति) प्राप्त होता है ।

घृ॒तं प्रो॒क्षन्ती॑ सु॒भगा॑ दे॒वी दे॒वान् ग॑मिष्यति ।
प॒क्तार॑मघ्न्ये॒ मा हिं॑सी॒र्दिवं॒ प्रेहि॑ शतौदने ॥ ११ ॥

भा०—हे पृथिवि ! तू (घृतम्) घृत आदि पदार्थों को देने वाली गौ के समान, अन्न और पुष्टिकारक जल को सर्वत्र अपने समस्त प्रदेशों में नदियों और झरनों द्वारा (प्रोक्षन्ती) सींचती हुई, (सुभगा) उत्तम अन्न रत्नादि ऐश्वर्य से युक्त होकर, (देवी) समस्त पदार्थों के देने हारी होकर, (देवान्) विद्वान् दानियों को (गमिष्यति) प्राप्त होगी । हे (अघ्न्ये) न हिंसा करने योग्य देवि ! गौ के समान पृथ्वी ! तू (पक्तारम्) अपने परिपाक करने वाले, तुझे बहु गुणसम्पन्न करने वाले राजा को (मा हिंसीः) मत मार । प्रत्युत, स्वयं हे (शतौदने) सैकड़ों अन्नादि वीर्यों को धारण करने हारी तू (दिवम्) स्वर्ग के समान सुखकारी लोक बन जाने के प्रति (प्रेहि) गमन कर, अर्थात् राजा को प्राप्त होकर धन धान्य सम्पन्न होकर स्वर्ग भूमि के समान हो जा ।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि ।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १२ ॥

भा०—(ये) जो (देवाः) दान देने वाले और ज्ञान के प्रकाशक और सब तत्वों के यथार्थ द्रष्टा विद्वान् (दिवि-षदः) मस्तिष्क के कार्य में विराजमान रहते हैं और (ये अन्तरिक्षसदः च) जो विद्वान् अन्तरिक्ष में स्थित वायु आदि पदार्थों और वायु विद्या के ज्ञाता हैं और (ये च) जो (अधि भूम्याम्) जल समुद्रादि पदार्थों के ज्ञाता विद्वान्गण भूमि पर विराजते हैं, (तेभ्यः) उनके लिये (त्वं) तू (सर्वदा) सब कालों में (क्षीरम्) दूध, (सर्पिः) घृत आदि पौष्टिक पदार्थ और (मधु) अन्न, मधुर पदार्थ (धुक्ष्व) गौ के समान उत्पन्न कर ।

यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १३ ॥

भा०—हे देवि ! (यत्) जो (ते) तेरा (शिरः) शिर है, (यत् ते मुखम्) जो तेरा मुख है, (यौ कर्णौ) जो तेरे दो कान हैं और (ये च ते हनू) जो तेरे जबाड़े हैं, वे सब (दात्रे) दानशील पुरुष को (आमिक्षाम्) दही (क्षीरं सर्पिः अथो मधु) दूध घी और मधुर पदार्थ (दुहताम्) प्रदान करें, उत्पन्न करें ।

यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी । आमिक्षां० ॥१४॥
यत् ते क्लोमा यद्धृदयं पुरीतत् सहकण्ठिका । आमिक्षां० ॥१५॥
यत् ते यकृद् ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः । आमिक्षां० ॥१६॥
यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते । आमिक्षां० ॥१७॥
यत् ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम् । आमिक्षां० ॥१८॥
यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत् । आमिक्षां० ॥१९॥
यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः । आमिक्षां० २० (३१)
यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत् । आमिक्षां० ॥२१॥

यत् ते पुच्छं ये ते बाला यदूधो ये च ते स्तनाः । आमिक्षां० ॥२२॥
यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः । आमिक्षां० २३

भा०—(१४) (ते यौ ओष्ठौ) तेरे जो ओठ हैं, (ये नासिके) जो नासिकाएं हैं, (ये शृङ्गे) जो दो सींग हैं और (ये च ते अक्षिणी) जो तेरी दो आंखें हैं। (१५) (यत् ते क्लोमा) जो तेरा फेफड़ा है, (यत् ते हृदयम्) जो तेरा हृदय है, (सह कण्ठिका) और जो कण्ठ सहित (पुरीतत्) मलाशय की बड़ी आंत है। (१६) (यत् ते यकृद्) जो तेरा कलेजा है, (ये मतस्ने) जो गुर्दे हैं, (यद् आन्त्रम्) जो आंतें हैं, (याः च ते गुदाः) जो तेरी गुदा भाग की आंत हैं। (१७) (ये ते प्लाशिः) जो तेरी पिलही है, (यः वनिष्ठुः) जो तेरा गुदा भाग है (यौ कुक्षी) जो दो कोख हैं, (यत् च ते चर्म) और जो तेरा चर्म है। (१८) (यत् ते मज्जा) जो तेरी मज्जा हैं, (यत् अस्थि) जो हड्डी है, (यत् मांसम्) जो मांस है, (यत् च लोहितम्) और जो तेरा रुधिर है। (१९) (यौ ते बाहू) जो तेरी दोनों भुजाएं हैं, (ये दोषणी) जो दो बाहुएं हैं, (यौ अंसौ) जो दो कन्धे हैं, (या च ते ककुत्) जो तेरा कुहान है। (२०) (याः ते ग्रीवाः) जो तेरे गर्दन के मोहरे हैं, (ये स्कन्धाः) जो तेरे कन्धे हैं, (याः पृष्टीः) जो पीठ के मोहरे हैं (याः च पर्शवः) और जो पसुलियां हैं। (२१) (यौ ते ऊरू) जो तेरी पीछे की दो जंघाएं हैं, (अष्ठीवन्तौ) जो दो घुटने हैं, (ये श्रोणी) जो दो कुल्हे और (या च ते भसत्) जो तेरा गुह्यांग, मूत्र मार्ग है। (२२) (यत् ते पुच्छम्) जो तेरी पूंछ है, (ये ते बाला) जो तेरे बाल हैं, (यद् ऊधः) जो तेरा थान है, (ये च ते स्तनाः) और जो तेरे स्तन हैं। (२३) (याः ते जंघाः) जो तेरी जांघें हैं, (याः कुष्ठिकाः) जो तेरी खुट्टियां और (ऋच्छराः) कलाई के भाग हैं और (ये च ते शफाः) जो तेरे खुर हैं, ये सब तेरे अङ्ग हे गोरूप वसुंधरे! (दात्रे) दान करने हारे पुरुष को (अमिक्षां क्षीरं सर्पिः अथो मधु दुह्रताम्) दूध, दही, घी और मधु आदि पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करें। पृथ्वी के इन अङ्गों की कल्पना गोरूप

से की है। राष्ट्रमय पुरुष के भिन्न २ अङ्गों के समान ही इनकी कल्पना करनी चाहिये। कुछ अङ्गों का वर्णन अगले सूक्त में स्पष्ट होगा।

यत् ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये।
आमिक्षां दुहतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ २४ ॥

भा०—हे (शतौदने) शतवीर्ये गौ! हे (अघ्न्ये) अहिंसनीय! (यत् ते चर्म) जो तेरा चर्म है और (यानि लोमानि) और जो लोम हैं, वे (दात्रे) दानशील कल्याणवान् पुरुष को (आमिक्षां क्षीरं सर्पिः अथो मधु दुह्रताम्) दधि, दूध, घी, मधु आदि दें।

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥ २५ ॥

भा०—हे गौ! पृथ्वी! (पुरोडाशौ) घृत से मिले हुए दो पुरोडाश अर्थात् तेज से मिले हुए आकाश और द्युलोक दोनों ही (ते क्रोडौ) तेरे दोनों पार्श्वों के समान (स्ताम्) हैं। हे (देवि) दानशील गौ तू उन दोनों को (पक्षौ) पक्ष (कृत्वा) बना कर (पक्तारम्) अपने पकाने हारे राजा को (दिवं वह) द्यौ सुख में ले जा।

'पुरोडाशौ'—स कूर्म रूपेणाच्छन्नः पुरोडाशो वा एभ्यो मनुष्येभ्ये-स्तत्पुरोऽदशयत्। य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्। य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत् तस्मात् पुरोदाशः पुरोदाशो वै नाम एतत् यत् पुरोडाश इति। श० २। ६। २। ५॥ पुरो वा एतान् देवा अक्रन्। ऐ० २। २३॥ विड् उत्तरः पुरोडाशः श० ४। २। ५। २२॥ 'द्यावापृथिव्यौ हि कूर्मः' श०।

आकाश और पृथिवी, राजा और प्रजा ये दोनों मिलकर कूर्माकार हो जाते हैं, ये दोनों दो पुरोडाश हैं, इनके नाना रम्य पदार्थों से यह संसार जीवों को भला मालूम हुआ इसलिये ये दोनों पुरोदाश या पुरोडाश कहे जाते हैं। वे दोनों सूर्य से प्रकाशित हैं वे पृथ्वी रूप गौ के दो पार्श्व हैं। उनके ऊपर वह राजा को धारण करती और स्वर्ग का सा आनन्द प्रदान करती है।

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः ।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २६ ॥

भा०—(यः च तण्डुलः कणः) जो तण्डुल या चावलों का कण (उलूखले) ओखली में और (मुसले) मुसल में है, (यः च चर्मणि यो वा शूर्पे) और जो दाने नीचे बिछे चर्म अर्थात् आवरण में और जो शूर्प या छाज में हैं, (यं वा) और जिसको (वातः) प्रबल वेगवान् (मातरिश्वा) वायु (पवमानः) तुषों को कण से अलग करता हुआ (ममाथ) एक तरफा गिरा देता है, (होता अग्निः) स्वीकार करने वाला अग्नि (तत्) उस कण को (सुहुतं कृणोतु) उत्तम आहुति रूप में स्वीकार करे ।

पृथ्वी, क्षेत्र, भूमि आदि के परिपक्व हो जाने पर खेतों से धान काट कर ऊखल मूसल से कूटकर, उन्हें वायु, छाज द्वारा साफ करके उनसे यज्ञ करे और पुनः उनका भोजन करे, यह वेद का उपदेश है ।

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २७ ॥

भा०—मैं यज्ञशील पुरुष (ब्रह्मणां हस्तेषु) ब्राह्मण, वेद के विद्वानों के हाथों में (देवीः) दिव्य गुणवाली, (मधुमतीः) मधुर रसवाली (घृतश्चुतः) घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थ और तेज को उत्पन्न करने वाली, (अपः) आप्त प्रजाओं को (प्र पृथक् सादयामि) पृथक् २ सौंपता हूँ, (यत्काम) जिस अभिलाषा से (इदम्) यह (अहम्) मैं (वः) हे विद्वानो! आप लोगों का (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूँ, अर्थात् प्रजाओं में आप लोगों को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करता हूँ, (तत्) वे मेरी अभिलाषाएं (सर्वं सम्पद्यताम्) सब पूरी हों और (वयम्) हम सब (रयीणाम्) धन सम्पत्तियों के स्वामी हों । जल हाथ में लेकर राजा विद्वान् ब्राह्मणों

को पृथक् २ प्रदेशों में मान-आदरपूर्वक अभिषिक्त कर, उनको अधिकारी रूप से प्रतिष्ठित करे। ताकि सब धन धान्य सम्पत्ति से युक्त हों। इस प्रकार विद्वानों के हाथों में राज्य के भागों को देना ही वेदसम्मत दान है। ऐसे विद्वानों के हाथ में भूमि के सौंपने से भूमि समस्त रत्नों, अन्नों, पशु और गौ, दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थों को प्रसव करती है।

इस सूक्त से गौ मार कर होम करने आदि का जो अर्थ निकालते हैं वे भूल में हैं। समस्त सूक्त में कहीं मारने आदि का सम्बन्ध नहीं है। यदि मारने आदि का प्रसङ्ग होता तो उससे तो रुधिर, वसा, मांस आदि प्राप्त होता, घी, दूध, दही और मधुर पदार्थ कभी प्राप्त न होते।

[१०] वशा रूप महती शक्ति का वर्णन

कश्यप ऋषिः। मन्त्रोक्ता वशा देवता। १, ककुम्मती अनुष्टुप्। ५, पञ्चपदाति जगतानुष्टुप् स्कन्धोग्रीवी बृहती, ६, ८, १० विराजः, २३ बृहती, २४ उपरिष्टाद् बृहती, २६ आस्तारपंक्तिः, २७ शङ्कुमती, २९ त्रिपदा विराड्गायत्री, ३१, उष्णिग्गर्भा ३२ विराट्पथ्या बृहती, २-४, ७, ९, ११-२२, २५, २८, ३०, ३३, ३४ अनुष्टुभः। चतुस्त्रिंशदृचं सूक्तम्॥

नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नमः।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः॥ १॥

भा०—(अघ्न्ये) न त्यागने योग्य, हे संसार को वश करने वाली परमात्मा शक्ति! (ते जायमानायै नमः) प्रकट होती हुई तुझे नमस्कार है। (जातायाः उत ते नमः) प्रकट हुई २ तुझको नमस्कार है। (ते बालेभ्यः शफेभ्यः) बालों अर्थात् ओषधियों में और शफों अर्थात् कठोर पर्वतों में विद्यमान जो तू है उसके प्रति (नमः) हमारा नमस्कार है।

बाल = ओषधियां, शफ = अदिति (अथर्व० ९। ७। ८।१०)।

यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात्॥ २॥

भा०—(यः) जो (सप्त प्रवतः) सात उपरिचर प्राणों को (विद्यात्) जानता है और जो (सप्त परावतः) सात अधस्तन प्राणों को जानता है और (यः) जो (यज्ञस्य शिरः विद्यात्) उपासना यज्ञ के शिरोमणि प्राण को जानता है, (सः वशां प्रति गृह्णीयात्) वह इस वशा सम्बन्धी ज्ञान का अधिकारी है।

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥ ३ ॥

भा०—(अहम्) मैं (सप्त प्रवतः वेद) सात उपरितन प्राणों को जानता हूँ और (सप्त परावतः वेद) सातों अधस्तन प्राणों को भी जानता हूँ और (अहम्) मैं (यज्ञस्य शिरः वेद) उपासना यज्ञ के शिरोभाग प्राण को भी जानता हूँ और (अस्याम्) इस वशा पर (विचक्षणम्) विशेष रूप से द्रष्टा (सोमम्) सोम राजा को जो प्रेरक है उसे भी मैं जानता हूँ।

वशा का स्वरूप

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥ ४ ॥

भा०—(यया) जिसने (द्यौः) द्यौलोक को और (यया पृथिवी) जिसने पृथिवी को और (यया इमाः आपः) जिसने इन समस्त जलों को (गुपिताः) अपने भीतर सुरक्षित रखा हुआ है (ताम्) उस (सहस्र धाराम्) सहस्रों को धारण पोषण करने वाली (वशाम्) अति कमनीय, सब जगत् को वश करने वाली 'वशा' को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा हम (अच्छा वदामसि) भली प्रकार वर्णन करते हैं।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

भा०—(अस्याः अधिपृष्ठे) पृथिवी की पीठ पर (शतं कंसाः) सैकड़ों शिष्य कांसे के बर्तन के समान उस शक्ति के दोहनफल के पात्र हैं, (शतं

दोग्धारः) और सैकड़ों उसके दोहने वाले गुरुजन हैं, (शतं गोप्तारः) उस वशा विद्या के सैकड़ों रक्षक हैं। (ये देवाः) जो योगी पुरुष (तस्यां प्राणन्ति) उसके आधार पर प्राण धारण करते हैं (ते) वे उसको (एकधा) एक रूप से जानते हैं, अर्थात् वह एक है ऐसा जानते हैं।

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

भा०—वह 'वशा' (यज्ञ-पदी) उपासना यज्ञ का एक अङ्ग है, (स्वधा प्राणा) आत्मधारण शक्ति रूप प्राण वाली है (महीलुका) पृथ्वी आदि लोकों को प्रजारूप से धारण करने वाली है, (पर्जन्य पत्नी) मेघ समान सुखों की वर्षा करने वाले परमात्मा की वह पत्नीस्वरूप है, वह यह (वशा) वशा (ब्रह्मणा) ब्रह्म = अन्न के साथ वेद के साधनों द्वारा समृद्ध होकर (देवान्) विद्वानों को (अप्येति) प्राप्त होती है।

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ ७ ॥

भा०—हे (वशे) वशे ! (त्वा) तेरे में (अग्निः) अग्नि (अनु प्राविशत्) तेरे अनुकूल होकर प्रविष्ट है। (त्वा अनु सोमः) तेरे अनुकूल होकर ही चन्द्रमा तुझमें प्रविष्ट है। हे (भद्रे) हे कल्याण और सुख के करने वाली ! (पर्जन्यः) मेघ (ऊधः) दूध का भरा तेरा 'थान' है और (विद्युतः) बिजुलियां (ते स्तनाः) तेरे स्तन हैं।

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥

भा०—हे (वशे) वशे ! (त्वं) तू (अपः) जलों को या दुग्धों को (धुक्षे) प्रदान करती है। तू (प्रथमा) सबसे मुख्य सर्वश्रेष्ठ (उर्वरा) अन्न और प्रजा के उत्पन्न करने में समर्थ (अपरा) अपरा विद्या है और (वशे) हे वशे ! (त्वम्) तू (अन्नं क्षीरं धुक्षे) अन्न प्रदान करती है और दूध प्रदान

करती है और (तृतीयम्) तीसरा या सबसे श्रेष्ठ (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (धुक्षे) राष्ट्रोपयोगी प्रजा, धन ऐश्वर्य को भी तू ही प्रदान करती है।

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि।
इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद् वशे ॥ ९ ॥

भा०—हे (वशे) वशे ! हे (ऋतावरि) सत्यमयी ! (यद्) जब तू (आदित्यैः) आदित्य ब्रह्मचारियों द्वारा (हूयमाना) आहुति प्राप्त करती हुई (उपातिष्ठः) उनके समीप विराजमान होती है तब (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् जीवात्मा (त्वा) तुझको (सहस्रं पात्रान्) हजारों पात्र, हजारों कलसे भर २ कर (सोमं अपाययत्) भक्ति रूपी सोम का पान कराता है।

यदनूचीन्द्रमैरात् त्वं ऋषभोऽह्वयत्।
तस्मात् ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोऽहरद् वशे ॥१०॥ (३३)

भा०—हे (वशे) वशे ! (यत्) जब तू (अनूचीः) भक्त के अनुकूल होकर (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् जीवात्मा के पास (ऐः) प्राप्त होती है। (आत्) और उसके पश्चात् (ऋषभः) श्रेष्ठ जीवात्मा (त्वा अह्वयत्) तुझे अपने प्रति बुलाता है, तुझे अपने अभिमुख करता है। (तस्मात्) उस समय से यह जीवात्मा (क्रुद्धः) क्रुद्ध सा होकर (वृत्रहा) कामादि वृत्रों का हनन कर देता है और (पयः क्षीरं अहरत्) तेरे रसों का आस्वादन करने लगता है।

यत् ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद् वशे ।
इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥

भा०—हे वशे ! (यत्) जब (क्रुद्धः) वृत्रों के नाश के लिये अति क्रुद्ध हुआ जीवात्मा (धनपतिः) आत्मिक धनों का पति होकर (ते क्षीरम्) तेरे रसों को (आहरत्) ले लेता है, (इदं तत्) यह वही तेरा रस है जिसको (अद्य) सदा (नाकः) मोक्षावस्था (त्रिषु पात्रेषु) उत्तम, अधम, मध्यम तीनों प्रकार के लोकों में (रक्षति) सुरक्षित रखती है।

त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद् वशा।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १२ ॥

भा०—(यत्र) जब (दीक्षितः) दीक्षित हुआ, स्थिर मति (अथर्वा) अथर्ववेद का विद्वान् (बर्हिषि आस्ते) आसन जमा कर विराजता है तब (वशा) वशा (तम्) उस (सोमम्) भक्ति रूपी सोम को (देवी) पृथिवी (त्रिषु पात्रेषु) तीनों पात्रों में, उत्तम, अधम और मध्यम तीनों प्रकार के लोकों में (आ अहरत्) स्वीकार करती है।

सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता।
वशा समुद्रमध्यष्ठाद् गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥ १३ ॥

भा०—वह (वशा) वशा (सोमेन) सोम अर्थात् चन्द्रमा के साथ (सम् अगत) संयुत हुई है, वह (सर्वेण) समस्त (पद्वता) चरणों वाले प्राणियों से (सम् उ) संगत हुई है। वह वशा (कलिभिः) क्रीड़ा करने वाली (गन्धर्वैः) गन्धर्व शक्तियों के सहित (समुद्रं) उपासक के हृदय-समुद्र पर (अधि अस्थात्) अधिष्ठात्री रूप से विराजमान हो जाती है।

सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः।
वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ॥ १४ ॥

भा०—(सं वातेन सम् आगत हि) वह वशा वायु के साथ संगत हुई २ है, (सर्वैः पतत्रिभिः सम् उ) वह समस्त पक्षियों के साथ संगत हुई २ है। वह वशा (ऋचः) ऋग्वेद और (सामानि) सामवेद को (बिभ्रती) धारण करती हुई (समुद्रे प्रानृत्यत्) भक्त के हृदय समुद्र में नाच पड़ती है।

सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा।
वशा समुद्रमत्यख्यद् भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥ १५ ॥

भा०—वह वशा (सूर्येण) सूर्य के साथ (सम् अगत) संगत हुई २ है, (सर्वेण चक्षुषा) वह चक्षु वाले समस्त प्राणियों के साथ (सम् उ) भी संगत हुई २ है। वह (भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती) कल्याणकारी तेजों को धारण करती हुई (समुद्रं अति अख्यत्) हृदय-समुद्र में अपना रूप प्रकट करती है।

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि।
अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद् वशे त्वा ॥ १६ ॥

भा०—हे (ऋतावरि) सत्यमयी ! (यत्) जब तू (हिरण्येन) सुवर्ण के समान चमक से (अभीवृता) घिरी हुई होकर हृदय समुद्र में (अतिष्ठः) अपना स्थान बना लेती है तब (वशे) हे वशे ! तेरे ऊपर (अश्वः समुद्रो भूत्वा अध्यस्कन्दत्) शक्तिशाली भक्त की भक्ति समुद्र की न्याईं उमड़ पड़ती है।

तद् भद्राः सर्मगच्छन्त वृशा देष्ट्र्यथो स्वधा ।
अर्थर्वा यत्रं दीक्षितो बर्हिष्यास्तं हिरुण्यये ॥ १७ ॥

भा०—(यत्र) जब (दीक्षितः) दीक्षा ग्रहण करके (अथर्वा) स्थिरमति अथर्ववेद का ज्ञाता (हिरण्यये) तुझको चमकीला आसन बना कर उस (बर्हिषि) आसन पर (आस्ते) बैठ जाता है, (तद्) उस समय (भद्राः) भद्र पुरुष (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते, (अथो) और (वशा) यह वशा उस समय (स्वधा देष्ट्री) आत्म धारण शक्ति को देने वाली उपदेशिका होती है।

वृशा माता राजन्यस्य वृशा माता स्वधे तवं ।
वृशायां युज्ञ आयुधं ततश्चित्तमंजायत ॥ १८ ॥

भा०—(वशा) यह वशा (राजन्यस्य माता) राजा के समान वर्तमान भक्त की माता है। हे (स्वधे) हे आत्म धारण शक्ति (तव माता वशा) तेरी भी यह वशा माता है। (वशायाः आयुधम् जज्ञे) वशा शक्ति से वृत्रों के नाश के लिये भक्त को शस्त्र प्राप्त हो जाते हैं (ततः चित्तम् अजायत) तत्पश्चात् भक्त का एक नया सा चित्त उत्पन्न होता है।

वशा के देह का अलंकारमय वर्णन

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदंचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि ।
ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ॥ १९ ॥

भा०—(ब्रह्मणः ककुदात् अधि) ब्रह्म रन्ध्र के श्रेष्ठ भाग से (ऊर्ध्वः बिन्दुः उदचरत्) ऊपर की ओर बिन्दु सा चमकता है। हे वशे ! (ततः त्वं) तब तू (जज्ञिषे) प्रकट होती है। (ततः होता अजायत) उसके पश्चात् भक्त तेरा आह्वान करने लगता है।

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे ।
पाजस्याज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव ॥ २० ॥ (३४)

भा०—हे वशे ! (ते आस्नः) तेरे मुख के समान ब्राह्मण से (गाथाः अभवन्) गाथाएं, ऋचाएं उत्पन्न होती हैं । (उष्णिहाभ्यः बलम्) गर्दन की धमनियों के समान क्षत्रिय से बल उत्पन्न होता है । (पाजस्यात् यज्ञः जज्ञे) उदर के मध्य भाग के समान वर्तमान वैश्य से यज्ञ उत्पन्न होता है । (तव स्तनेभ्यः रश्मयः) तेरे स्तनों के समान वर्तमान शूद्रों से रश्मियां, अशन अर्थात् भोजन के पदार्थ उत्पन्न होते हैं ।

ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव ।
आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः ॥ २१ ॥

भा०—हे (वशे) वशे ! (तव) तेरी (ईर्माभ्यां) बाहुओं से (सक्थिभ्यां च) और तेरी अगली टांगों से अर्थात् गति शक्तियों से (अयनम्) सूर्य के दक्षिण और उत्तर अयन (जातम्) होते हैं, (आन्त्रेभ्यः) आंतों से (अत्राः) मानों नाना खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं और तेरे (उदरात्) पेट से (वीरुधः) मानों लताएं ओषधियां उत्पन्न होती हैं ।

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे ।
ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत् स हि नेत्रमवेत् तव ॥ २२ ॥

भा०—हे वशे ! (यत्) जब तू (वरुणस्य) सबसे श्रेष्ठ वरणीय भक्त के हृदय में, (उदरम्) पेट में अन्न के समान (अनु प्राविशथाः) प्रविष्ट होती है, (ततः) उसके बाद (ब्रह्मा वेद और ब्रह्म का जानने वाला विद्वान् (त्वा) तुझे तेरा (उत् अह्वयत्) ऊंचे स्वर से आह्वान करता है । (स हि तव नेत्रं अवेत्) तब वह तेरी दृष्टि का सत्पात्र बन जाता है ।

सर्वे गर्भाद् अवेपन्त जायमानाद् असूस्वः ।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः सह्यस्या बन्धुः ॥ २३ ॥

भा०—(असूस्वः) प्रलयावस्था में प्रसव न करने हारी इस वशा के (जायमानात्) प्रकट होते (गर्भात्) प्रकृति के गर्भ से (सर्वे) उत्पन्न सब

सूर्यादि पदार्थ (अवेपन्त) कम्पन करने लगते हैं, (ताम्) उसको उस समय विद्वान् (आहुः) कहते हैं कि (वशा ससूव इति) वशा उत्पन्न कर रही है, सू रही है। (सः) वह भक्त (ब्रह्मभिः) वेदवाणियों से (क्लृप्तः) सामर्थ्य-वान् होकर (अस्याः) इस वशा का (बन्धुः) बन्धु बन जाता है।

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद् वशी।
तरांसि यज्ञा अभवन् तरसां चक्षुरभवद् वशा ॥ २४ ॥

भा०—(यः) जो (अस्याः) इस वशा का (एकः इत्) एक मात्र (वशी) वश करने हारा भक्त होता है (एकः) वह अकेला ही (युधः संसृजति) संसार में बुरी शक्तियों के साथ युद्ध छेड़ देता है, (तरांसि) अविद्या-अन्ध-कारों में से पार करने वाले वे बलवान् भक्त (यज्ञाः अभवन्) तब यज्ञ स्वरूप बन जाते हैं और (तरसां वशा चक्षुः अभवत्) उनकी आंख उस समय यह वशा होती है।

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत्।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥

भा०—(वशा) वशा (यज्ञम्) यज्ञमय भक्त को (प्रति अगृह्णात्) स्वयं स्वीकार करती है। (वशा सूर्यं अधारयत्) वशा सूर्य समान तेजस्वी भक्त का स्वयं धारण पोषण करती है। (ओदनः वशायां अन्तः ब्रह्मणा सह अविशत्) भक्त ओदन की न्याईं सबका पालक होकर और ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न होकर इस वशा में प्रवेश पा जाता है।

वशाममेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्याऽ असुराः पितर ऋषयः ॥ २६ ॥

भा०—विद्वान् लोग (वशाम् एव) वशा को ही (अमृतम् आहुः) 'अमृत' कहते हैं और (वशाम्) वशा को ही (मृत्युम्) 'मृत्यु' रूप से (उपासते) उपासना करते हैं। (इदं सर्वम्) यह सब कुछ (वशा अभवत्) वशा ही है, (देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः) देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषिगण भी वशा के ही रूपान्तर है।

य एवं विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ।
तथा हि यज्ञः सर्वपाद् दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥ २७ ॥

भा०—(यः एवं विद्यात्) जो भक्त इस प्रकार का तत्त्व जान लेता (सः) वह (वशां प्रतिगृह्णीयात्) वशा को स्वीकार करने में समर्थ होता है । (तथा दात्रे) उसी प्रकार के जाननेहारे और वशा विद्या के दानी के लिये (यज्ञः) यह उपासना यज्ञ (सर्वपाद्) सर्व चरणों से सम्पन्न होकर (अनपस्फुरन्) विना व्याकुल हुए ही (दुहे) सब फल प्रदान करता है ।

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥ २८ ॥

भा०—(वरुणस्य) उस समय सर्वश्रेष्ठ भक्त के (आसनि) मुख के (अन्तः) भीतर (तिस्रः) तीन जिह्वाएं अर्थात् वेदत्रयी (दीद्यति) चमक उठती है । (तासाम्) उस वेदत्रयी के (मध्ये) बीच में (या) जो शक्ति (राजति) सबसे अधिक उज्वल होकर चमक रही है (सा) वह (वशा) 'वशा' शक्ति है (दुष्प्रतिग्रहा) जिसका प्रतिग्रह करना स्वीकार करना और वश करना बड़ा कठिन कार्य है ।

चतुर्धा रेतो अभवद् वशायाः ।
आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥ २९ ॥

भा०—(वशायाः) उस 'वशा' का (रेतः) उत्पादक सामर्थ्य (चतुर्धा) चार प्रकार से विभक्त (अभवत्) होता है । (तुरीयम् आपः) एक चतुर्थांश आप्त प्रजाएं हैं, (तुरीयं अमृतम्) दूसरा चतुर्थांश अमृत अर्थात् उनके लिये मोक्षावस्था है (तुरीयं यज्ञः) तीसरा चतुर्थांश यज्ञ है और चौथा चतुर्थांश (तुरीयं पशवः) 'पशु' हैं जिनके घृत से यज्ञ सम्पन्न होता है।

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः ।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥ ३० ॥

भा०—(वशा द्यौः) वशा द्युलोक रूप है, (वशा पृथिवी) वशा पृथिवी रूप है । (प्रजापतिः) प्रजा का पालक सूर्य (विष्णुः) और व्यापक वायु भी

(वशा) के रूप हैं। (वशायाः) वशा के (दुग्धम्) रस को, (साध्याः)साधना सम्पन्न व्यक्ति और (वसवः) प्राणों में बसने वाले योगी (अपिबन्) पान करते हैं। उपनिषदों में लिखा है कि परमात्मा रसरूप है (रसो वै सः)।

वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥ ३१ ॥

भा०—ये (साध्या) जो साधनासम्पन्न और (वसवः) प्राणों में वास करने हारे योगी हैं वे (वशायाः) उस वशा के (दुग्धं पीत्वा) रस का पान करके (ते ब्रध्नस्य) वे सूर्य के (विष्टपि) इस महती शक्ति के स्वरूप में स्थित होकर ताप पीड़ा आदि से रहित (अस्या) इसके (पयः) रस का (उपासते) लाभ करते हैं।

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥ ३२ ॥

भा०—(एके) एक प्रकार के योगाभ्यासी (एनाम्) इस वशा से (सोमं दुहे) सौम्यशक्ति का दोहन करते हैं (एके) दूसरे प्रकार के योगाभ्यासी (घृतम्) उससे प्रकाश या पुष्टि का दोहन करते हैं। (एवं विदुषे) इस प्रकार के तत्व को जानने वाले योगाभ्यासियों को (ये) जो (वशा) इस वशा का दान करते हैं वे (दिवः त्रिदिवं गताः) प्रकाशमय प्रभु के तीनों प्रकाशों को प्राप्त कर लेते हैं। उसके ज्ञान, इच्छा और कृति का प्रकाश यहां अभिप्रेत है।

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥ ३३ ॥

भा०—(ब्राह्मणेभ्यः वशां दत्वा) ब्रह्मविद्या के अधिकारी पुरुषों को उक्त 'वशा विद्या' का दान करके दाता (सर्वान् लोकान् सम् अश्नुते) सब लोगों का प्रीतिभाजन बन जाता है। (अस्याम्) इस 'वशा' में (ऋतम्) सत्यज्ञान (ब्रह्म) वेदज्ञान और (तपः) तप (आ अर्पितम्) आश्रित है।

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत ।
वशेदं सर्वमभवद् यावत् सूर्यो विपश्यति ॥ ३४ ॥ (३५)

भा०—(देवाः) योगीगण (वशाम्) वशा के आधार पर (उप जीवन्ति) जीवन धारण करते हैं। (उत वशाम् मनुष्याः) और मनुष्य भी इस वशा के आधार पर जीते हैं। (यावत् सूर्यः विपश्यति) जितने भी लोकों को सूर्य प्रकाशित करता है (इयं सर्वं वशा अभवत्) यह सब 'वशा' का ही रूप है। इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इति दशमं काण्डं समाप्तम् ।

[दशमे दश सूक्तानि ऋचः सार्धशतत्रयम्]

बाण-वस्वङ्क चन्द्राब्दे चैत्रे शुक्ले द्वितीयके ।
भृगौ काण्डं च दशमं पूर्तिमापदथर्वणः ॥

अथैकादशं काण्डम्

[१] ब्रह्मौदन रूप से प्रजापति के स्वरूपों का वर्णन

ब्रह्मा ऋषिः ॥ ब्रह्मौदनो देवता ॥ छन्दः—१ अनुष्टुब्गर्भा भुरिक् पंक्तिः, २, ५ बृहतीगर्भा विराट्, ६ चतुष्पदा शाक्करगर्भा जगती, ४,१५,१६ भुरिक्, ६ उष्णिक्, ८ विराड्गायत्री, ९ शाक्करातिजागतगर्भा जगती, १० विराट् पुरोऽतिजगती विराड् जगती, ११ जगती, १७, २१, २४, २६, २८ विराड्जगत्यः, १८ अति-जागतगर्भापरातिजागताविराड्अतिजगती, २० अतिजागतगर्भापरा शाक्करा चतुष्पदा-भुरिग् जगती, २९, ३१ भुरिक्, २७ अतिजागतगर्भा जगती, ३५ चतुष्पात् ककुम्मत्युष्णिक्, ३६ पुरोविराड्, ३७ विराड् जगती, ७, १२, १४, १०,२२, २३, ३०–३४ त्रिष्टुभः । सप्तत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने जायस्व) राजन् ! अग्नि के समान तेजस्विन् ! तू उत्पन्न हो प्रकट हो। (इयं अदितिः नाथिता) यह पृथिवी अखण्डित ऐश्वर्य

वाली होकर, (पुत्रकामा) अपने पुत्र अर्थात् ऐसे पुरुष की कामना करती है जो कि बहुत से पुरुषों की रक्षा कर सके (ब्रह्मौदनं पचति) वह ब्राह्मण शक्ति से युक्त राजा को परिपक्क कर रही है। (भूतकृतःसप्त ऋषयः) प्राणियों को उत्पन्न करने वाले मरीचि, अत्रि आदि सात ऋषि (प्रजया सह) प्रजा के साथ (इह त्वा) इस भूतल पर तुझे (मन्थन्तु) मथन करें, तेरी शक्ति को प्रकट करें।

कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥

भा०—हे (वृषणः) सुखों की वर्षा करने वाले तथा वीर्यवान् (सखायः) मित्रगणो ! आप लोग (धूमम्) शत्रु को कंपाने वाले इस वीर्यवान् पुरुष को (कृणुत) सम्पन्न करो। यह (अद्रोघाविता) न द्रोह करने वालों की रक्षा करने हारा है। इसकी (वाचम् अच्छ) वाणी के प्रति ध्यान दो। (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, (सुवीरः) उत्तम वीर, (पृतनाषाट्) समस्त शत्रुसेनाओं को दबाने हारा है। (येन) जिसके बल से (देवाः) देवगण (दस्यून् असहन्त) विनाशकारी दुष्टों को पराजित करते हैं।

अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नियच्छ ॥३॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (महते वीर्याय) बड़े भारी सामर्थ्य के लिये (अजनिष्ठाः) उत्पन्न हुआ है। हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ विद्वान् या ऐश्वर्यवान् ! तू (ब्रह्मौदनाय पक्तवे) ब्राह्मण शक्ति को परिपक्क या दृढ़ करने के लिये (अजनिष्ठाः) उत्पन्न हुआ है। (ते भूतकृतः सप्त ऋषयः) प्राणियों की सृष्टि को व्यवस्थित करने वाले, सात ऋषि जन (त्वा अजीजनन्) तुझको उत्पन्न करते हैं। (अस्यै) इस पृथ्वी के लिये तू (सर्ववीरं रयिम्) सब प्रकार के वीर-जनों से युक्त सामर्थ्य, यश और बल को (नि यच्छ) नियमित कर, व्यवस्थित कर।

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! तू (सम् इधा) समग्र तेज से (समिद्धः) अति प्रदीप्त होकर (सम् इध्यस्व) प्रकाशित हो। तू (विद्वान्) विद्वान् होकर (इह) इस राष्ट्र में (यज्ञियान्) राष्ट्रयज्ञ के योग्य (देवान्) उत्तम विद्वान् और सुसभ्य शासकों को (आ वक्षः) धारण कर, स्थापित कर। हे (जातवेदः) विद्वन्! ऐश्वर्यवन् राजन्! (तेभ्यः) उन उत्तम शासकों के लिये मैं राष्ट्रवासी (हविः) अन्न आदि पदार्थ (श्रपयम्) पकाता हूँ। (इमम्) इस राजा को (उत्तमम्) उत्कृष्ट (नाकम्) सुखमय राज्य पर (अधिरोहय) चढ़ा।

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम्।
अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति॥५॥

भा०—(यः) जो (पुरा) पहले ही (त्रेधा भागः) तीन प्रकार के भाग (निहितः) बना कर रखे गये हैं, एक (देवानाम्) राज शासकों के लिये, दूसरा (पितृणाम्) प्रजा के पालक, आचार्य और वानप्रस्थी माता पिता पितामह आदि के लिये और तीसरा (मर्त्यानाम्) साधारण अन्य मनुष्यों, अतिथियों और गृहवासियों के लिये, हे देव, पितर और मर्त्य-जनो! (अहम्) मैं (वः) आप लोगों के (तान्) उन भागों को (वि भजामि) विशेष रूप से पृथक् २ कर देता हूँ। आप लोग अपने २ (अंशान्) अंशों को (जानीध्वम्) पृथक् २ जान लें। (यः) जो (देवानाम्) शासकों का भाग है (सः) वह (इमाम्) इस पृथ्वी को (पारयाति) पालन करता है।

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान्।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु॥६॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! तू (सहस्वान्) शत्रु के दबाने वाले बल से सम्पन्न होकर (अभिभूः इत् अभि असि) सब प्रकार से शत्रु को दबाने में समर्थ हो जाता है। (अतः) तू (द्विषतः) द्वेष करने हारे (सपत्नान्)

शत्रुओं को (नीचः) नीचे (नि उब्ज) दबा। (मियमाना) मापी जाती हुई और (मिता च) मापी गई करे कि यह मात्रा (ते) तेरे (सजातान्) साथ उन्नति को प्राप्त हुए अन्य राजाओं को (वलिहृतः) कर लेने वाला (कृणोतु) करे।

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥७॥

भा०—हे राजन्! तू (पयसा) अपने क्षात्र बल से (सजातैः) अपने साथ उत्पन्न, उन्नत पद को प्राप्त मित्र राजा और बन्धु और सहोत्थायी लोगों के (साकम्) साथ (एधि) प्रबल बना रह और (महते वीर्याय) अपने बड़े भारी बल को बढ़ा लेने के लिये (एनाम्) इस राष्ट्र को (उद् उब्ज) उन्नत कर। (नाकस्य विष्टपम्) सुखमय राज्य के विशेष तेजस्वी या, पीड़ा परिताप से रहित उस राजसिंहासन पर (ऊर्ध्वः) तू स्वयं उच्च होकर (अधिरोह) चढ़, (यम्) जिसको (स्वर्गो लोकः) लोग स्वर्ग लोक तक भी (वदन्ति) कह देते हैं। 'ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः' इति कालिदासः। क्षत्रं वै पयः। श० १२।७।३।८।८॥

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

भा०—(इयं मही) यह विशाल, पूजनीय (पृथिवी) पृथिवी, (देवी) अन्नादि देने हारी (सु-मनस्यमाना) शुभ संकल्प वाली, सौम्य चित्त वाली होकर, (चर्म प्रतिगृह्णातु) छेदन भेदन करने वाले राजभक्त को स्वीकार करे। (अथ) और उसके बाद हम राष्ट्र वासी जन (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य के लोक को (गच्छेम) प्राप्त हों।

'चर्म = ' चरतेर्मनिन्नौणादिकः। चरति येन स चर्म इति दयानन्दः।

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु। अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥ ९ ॥

भा०—हे पुरोहित ! अमात्य ! तू (एतौ ग्रावाणौ) इन दोनों (स युजौ) सदा साथ रहने वाले क्षत्रिय और वैश्यप्रजा अथवा राजा और प्रजा दोनों को (युङ्धि) परस्पर मिला और (यजमानाय) राष्ट्रपति के लिये (अंशून्) तेजोमय अन्नादि पदार्थों को (निर्भिन्धि) बल से प्राप्त कर। विशो वै ग्रावाणः। श० ३।७।१॥ क्षत्रं वै प्रस्तरः। श० १।३।४।१।

गृहाण ग्रावाणौ सुकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि १० (१)

भा०—हे वीर! राजन्! (सकृतौ) परस्पर सहकारी (ग्रावाणौ) क्षत्रियों और प्रजाओं दोनों को (हस्ते गृभाण) अपने वश में तू रख। (यज्ञियाः) राष्ट्र पालन में समर्थ (देवाः) देवतुल्य शासक लोग (ते यज्ञम् अगुः) तेरे राष्ट्रयज्ञ में प्राप्त हों। (यतमान्) जिन २ वरण करने योग्य श्रेष्ठ पुरुषों को (त्वं) तू (वृणीषे) वरण करता है वे (त्रयः वराः) तीन प्रकार के श्रेष्ठ पुरुष हैं। (ताः) उन नाना प्रकार की (समृद्धीः) सम्पत्तियों को (ते) तेरे लिये मैं (राधयामि) प्राप्त कराता हूँ। तीन प्रकार के श्रेष्ठ पुरुष—तीन प्रकार के दुःखों से राष्ट्र को बचाने वाले अधिकारी।

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥११॥

भा०—हे राजन्! (इयम्) यह प्रजा (ते) तेरी (धीतिः) दुग्ध पान कराने वाली माता के समान है। (इदम् उ ते) यह ही तेरा (जनित्रम्) उत्पन्न होने का स्थान है। (शूरपुत्रा) तेरे समान शूरवीर पुत्र से युक्त होकर यह (अदितिः) पृथिवी (त्वाम्) तुझे (गृह्णातु) स्वीकार करे। (ये) जो लोग (इमां) इस पृथ्वी को (पृतन्यवः) सेना संग्रामों द्वारा कष्ट देना चाहते हैं उनको (परा पुनीहि) दूर कर डाल। (अस्यै) इस पृथिवी के लिये (सर्व-वीरम्) समस्त वीर पुरुषों समेत (रयिं) धन को (नियच्छ) नियम में बांध, या प्रदान कर।

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥१२॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (यूयं) आप लोग (द्रुवये) धनैश्वर्य और स्थिर (उपश्वसे) जीवनयात्रा के लिये (सीदत) बैठो । हे (यज्ञियासः) पूजनीय पुरुषो ! आप लोग (तुषैः) तुष के समान तुच्छ लोगों से (वि विच्यध्वम्) पृथक् होकर रहो । हम उत्तम पुरुष (श्रिया) लक्ष्मी और धन की सत्ता में (समानान्) समान कोटि के लोगों में से (सर्वान्) सबसे (अति स्याम) अधिक श्रेष्ठ हों और मैं राजा (द्विषतः) द्वेष करने वाले पुरुषों को (अधः पदम्) नीचे के स्थान में (आ पादयामि) गिरा दूं ।

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद् भराय ।
तासां गृह्णीताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥

भा०—(नारि) राष्ट्र की हे गृहनारि ! (परेहि) जा (पुनः क्षिप्रं एहि) और फिर शीघ्र आ । (अपां गोष्ठः त्वा भराय अधि अरुक्षन्) जलों का भरा घट तेरे सिर पर लाने के लिये रखा है । (तासां यतमाः यज्ञियाः असन्) जो उत्तम स्वच्छ जल हों उनको (गृह्णीतात्) ले ले और जो मलिन जल हों उनको (विभाज्य) अच्छों से अलग करके तू (धीरीतरा) बुद्धिमती (जहीतात्) त्याग दे । अर्थात् नारियां घर के कामों में दत्तचित्त रहें ।

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व ।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय १४

भा०—(इमाः योषितः) ये स्त्रियां (शुम्भमानाः, आ अगुः) शोभित होकर वस्त्र-अलंकारादि से सज कर आती हैं । (हे नारि उत्तिष्ठ तवसं रभस्व) हे नारि ! पत्नी ! तू बलवान् पुरुष को अपने पतिरूप से प्राप्त कर । (पत्या सुपत्नी) उत्तम पति के द्वारा ही स्त्री उत्तम पत्नी होती है । (प्रजया प्रजावती) उत्तम सन्तान से स्त्री प्रजावती होती है । (यज्ञः त्वा अगन्) गृहस्थ यज्ञ तुझे प्राप्त हुआ है, (कुम्भं प्रति गृभाय) तू जल लाने

के लिये कुम्भ का ग्रहण कर। कुम्भरूप राष्ट्र को स्वीकार कर। राष्ट्रं द्रोण कलशः । तां० ६ । ६ । १ ॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः ।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु १५

भा०—हे (आपः) जलो ! (वः ऊर्जः भागः निहितः) तुम्हारा सारवान् भाग इस कलश में रखा है। हे नारि ! (ऋषि प्रशिष्टा) तू ऋषि कोटि के व्यक्तियों से उपदेश पाकर (एताः अपः आभर) जलों वा उत्तम कर्मों को प्राप्त कर। (अयं यज्ञः गातुविद्०) यह गृहस्थ यज्ञ सन्मार्ग, ऐश्वर्य, प्रजा, पशु और वीर पुत्र को प्राप्त कराने वाला हो।

अग्ने चुरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
आर्षेया दैवा अभिसङ्गत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥१६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी राजन् ! (यज्ञियः चरुः) राष्ट्र-यज्ञ सम्बन्धी वीर्य और तेज (शुचिः) शुद्ध है, (तपिष्ठः) और दुष्टों को ताप देने वाला है, (त्वा अधि अरुक्षत्) यह तुझे प्राप्त हुआ है। (एनम्) इसे अपने (तपसा) तेज से (तप) तपा और उज्वल कर। (आर्षेयाः दैवाः तपिष्ठाः) तपस्वी ऋषि और देव मिलकर (इमम्) इस (भागम्) राष्ट्र के भाग को(ऋतुभिः) ऋतु अनुसार (तपन्तु) उज्वल करें, परिपक्व करें।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पुक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् १७

भा०—(इमाः) ये (शुद्धाः) निष्पाप, (यज्ञियाः) दान, संगति और पूजा के योग्य (योषितः) स्त्रियां और उनके समान अनिन्दित और (आपः) जलों के समान स्वच्छ हृदय वाली (शुभ्राः) सुन्दर गुण अलङ्कार और वस्त्रों से सजी प्रजाएं (चरुम्) इस चरु रूप राष्ट्र में (अव सर्पन्तु) आवें और (नः) हमें (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, (बहुलान् पशून्) बहुत से पशु (अदुः) प्रदान करें। ऐसे (ओदनस्य पक्ता) राष्ट्र के क्षात्रबल का परि-

पाक करने वाला राजा (सुकृताम्) पुण्य आचारवान् पुरुषों के (लोकम्) उत्तम लोक को (एतु) प्राप्त हो।

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् १८

भा०—(इमे) ये (यज्ञियाः) राष्ट्ररूप यज्ञ के योग्य (तण्डुलाः) तण्डुल अर्थात् पके भात के समान परिपक्व, राष्ट्र के निवासी, शिक्षित सैनिक युवक, (सोमस्य) सबके प्रवर्त्तक राजा के (अंशवः) भाग हैं। ये (ब्रह्मणा) ब्रह्मबल अर्थात् वेदज्ञान से (शुद्धाः) पवित्र और (घृतेन) क्षात्र-तेज से (पूताः) पवित्र हैं। हे (अपः) जलों के समान स्वच्छ प्रजाओ! तुम (प्र विशत) राष्ट्र में प्रवेश करो। (वः) तुमको (चरुः) यह ओदन का भाण्डरूप राष्ट्र (प्रति गृहणातु) स्वीकार करे। तुम सब (इमम्) इसको (पक्त्वा) पकाकर, परिपक्व करके (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकम् एत) लोक को प्राप्त होओ।

'तण्डुलाः'—वसूनां वा एतद् रूपं यत्तण्डुलाः। तै० ३। ८। ४। ३॥ वसु राष्ट्र के वासी 'तण्डुल' हैं। तण्डति, ताडयति इति तण्डुलः, इति दयानन्दः। दुष्टों के ताड़न करने हारा 'तण्डुल' है। वृज लुटि तनि-ताडिभ्यश्च उलच् तण्डश्च [उणा० ५। ९] राजा को घेरने या पीड़कों को वारण करने वाले, शत्रुओं को लूटने वाले, धनुष को तानने और दुष्टों की ताड़ना करने वाले पुरुष 'तण्डुल' कहाते हैं।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि॥ १९॥

भा०—हे राजन्! तू (उरुः) सबसे बड़ा होकर (महता महिम्ना) बड़े भारी ऐश्वर्य से (प्रथस्व) बढ़। तू (सुकृतस्य लोके) पुण्य के लोक में (सहस्र-पृष्ठः) सहस्रों पीठों से युक्त है, अर्थात् जैसे एक पीठ वाला एक बोझ उठाने में समर्थ है वैसे तू हजारों प्रकार के कार्य भार उठाने में समर्थ, मानों हजारों पीठों वाला होकर विद्यमान है। (पितामहाः) दादा लोग,

(पितरः) पिता लोग, (प्रजा) सन्तान और (उपजा) सन्तानों की भी सन्तानें हों और (अहम्) मैं वीर क्षत्रिय (पक्ता) सबका परिपाक करने वाला (पञ्चदशः) पन्द्रहवां, अर्थात् १४ विभागों के ऊपर, पन्द्रहवें स्तोम का भागी होकर (अस्मि) रहूँ।

'पञ्चदशः'—क्षत्रं पञ्चदशः । ऐ० ८।४ ॥ तस्माद् राजन्यस्य पञ्चदशः स्तोमः । राज्य के १४ विभागों के ऊपर १५ वां राजा है।

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडता-
न्मह्यमेव ॥ २० ॥ (२)

भा०—(सहस्रपृष्ठः) सहस्रों पृष्ठों वाला या सहस्रों का पोषक, (शतधारः) सैकड़ों का धारण करने वाला, (अक्षितः) अक्षय, (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्म के बल से संयुक्त प्रजापति अर्थात् क्षत्रबल ही (स्वर्गः) सुखमय (देवयानः) देवताओं का मार्ग है। तेरे वश में मैं (अमून् आ दधामि) उन शत्रु लोगों को रखता हूँ । (एनान्) उनको (प्रजया) प्रजासहित (बलिहाराय) कर देने के लिये (रेषय) पीड़ित कर, दण्डित कर, (मह्यम्) मुझको (एव) ही (मृडतात्) सुखी कर ।

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥२१॥

भा०—हे राजन् ! (वेदिम् उदेहि) इस पृथ्वी पर उदय को प्राप्त हो और (एनां प्रजया वर्धय) इसको उत्तम प्रजा से बढ़ा। (रक्षः नुदस्व) राक्षस लोगों को दूर कर (एनां प्रतरं धेहि) इस पृथ्वी को अपनी सर्वोत्तम नाव समझकर उसकी रक्षा कर । यही तुझको शत्रुओं के बीच और भव-सागर में तरावेगी। (श्रिया समानान्) लक्ष्मी सम्पत्ति में समान पद अर्थात् सत्ता वाले अन्य (सर्वान्) सब लोगों से मैं (अति स्याम्) बढ़ जाऊं और (द्विषतः) द्वेष करने वालों को (अधः आ पादयामि) नीचे गिराऊं।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।

मा त्वा प्रापंच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि रांज ॥२२॥

भा०—हे राजन् ! (पशुभिः सह एनाम् अभ्यावर्त्तस्व) पशु-सम्पत्ति सहित इस पृथ्वी का पालन कर। (देवताभिः सह एनां प्रत्यङ् एधि) देवतुल्य पुरुषों सहित इसको प्राप्त हो। (शपथः मा अभिचारः त्वा मा प्रापत्) लोक-निन्दाएं और शत्रु के गुप्त आक्रमण तुझ तक न पहुँच पावें। तु (स्वे क्षेत्रे अनमीवाः विराज) अपने राष्ट्र के अहाते में नीरोग और विना क्लेश के विराजमान रह।

ऋतेन तुष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे।
अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥ २३ ॥

भा०—(ब्रह्मौदनस्य) ब्रह्मवीर्य से युक्त क्षत्र-बल के लिये (ऋतेन तष्टा) सत्यज्ञान से या वेद की व्यवस्था से रची गई और (मनसा) सत्य संकल्प से (हिता) स्थापित, (एषा) यह (अग्रे) सबसे प्रथम (वेदिः) पृथ्वी (विहिता) बनाई गई है। हे नारि ! पत्नि ! (शुद्धाम्) शुद्ध (अंसद्रीम्) थाली को (उपधेहि) रख और (दैवानाम्) विद्वान् पुरुषों के लिये (तत्र ओदनं सादय) उसमें ओदन अर्थात् भात रख।

अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन्।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु ॥ २४ ॥

भा०—(भूतकृतः सप्तऋषयः) सत्यानुष्ठान करने वाले ऋषि कोटि के मन्त्री आदि ने (अदितेः हस्ताम्) पृथ्वी के हस्त रूप, हनन साधन (याम्) जिस सेना को (द्वितीयां स्रुचम् अकृण्वन्) आहुति की दूसरी 'स्रुचा' ही बनाया है, (सा दर्विः) वह शत्रुओं को विदारण करने में समर्थ, (ओदनस्य मात्राणि विदुषी) क्षात्रबल या राजा के समस्त अंगों को जानने वाली (एनम्) इस राजा को (वेद्याम् अधि) इस पृथ्वी पर (अधि चिनोतु) स्थापित करदे।

शृतं त्वां हव्यमुप सीदन्तु दैवा निः सृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः २५

भा०—(हव्यम्) पूजनीय (शृतम्) परिपक्व (त्वा) हे राजन्! तुझको (देवाः) देव तुल्य, विद्वान्गण (उप सीदन्तु) प्राप्त हों तू (अग्नेः) अग्नि तुल्य आचार्य के समीप से या उसके सदृश तेज से (निः सृप्य) निकल कर (पुनः) फिर (एनान्) इनको (प्र सीद) प्रसन्न कर। तू (सोमेन पूतः) सोमरूप राष्ट्र से पवित्र होकर, (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानी वेद के विद्वानों के (जठरे) गर्भ में, उनकी रक्षा में (सीद) रह। (ते) वे (आर्षेयाः) ऋषियों के सन्तान या वेदज्ञ जन तेरा (प्राशितारः) भोग करने वाले, तेरी शक्ति का लाभ उठाने वाले, (मा रिषन्) कभी दुष्टों से पीड़ित न हों।

सोम॑ राजन्त्सं॒ज्ञान॒मा व॑पैभ्यः सुब्रा॑ह्मणा य॒त॒मे त्वो॑प॒सीदा॑न्।
ऋषी॑नार्षे॒यांस्तप॒सोऽधि जा॒तान् ब्र॑ह्मौद॒ने सु॒हवा॑ जोहवीमि ॥२६॥

भा०—हे (सोम राजन्) सौम्यगुण युक्त राजन्! (त्वा) तेरे समीप (यतमे सुब्राह्मणाः) जितने उत्तम ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मण विद्वान् (उपसीदन्) आवें और बैठें, (एभ्यः) उनके (संज्ञानम् आ वप) सत् ज्ञान को तू प्राप्त कर। सदा संकल्प कर कि (ऋषीन्) ऋषियों का, (आर्षेयान्) ऋषियों की सन्तानों और शिष्यों को, जो कि (तपसः) तप से (जातान्) द्विजन्मा रूप में उत्पन्न हुए हैं उनको, मैं (सुहवा) उत्तम यज्ञ सम्पादन करने हारा, (ब्रह्मौदने) ब्रह्मोदन यज्ञ में (जोहवीमि) बुलाऊं। अर्थात् उत्तम राजा अपने राष्ट्र में उन विद्वानों को बुलावे।

शु॒द्धाः पू॒ता यो॒षितो॑ य॒ज्ञिया॑ इ॒मा ब्र॒ह्मणां॒ हस्ते॑षु प्रपृ॒थक् सा॑दयामि
यत्का॑म इ॒दम॑भिषि॒ञ्चामि॑ वो॒हमिन्द्रो॑ म॒रुत्वा॒न्त्स द॑दादि॒दं मे॑ ॥२७॥

भा०—(इमाः) ये (यज्ञियाः) सत्संग दान आदि के कर्म में विराजने योग्य (शुद्धाः पूताः) शुद्ध पवित्र (योषितः) स्त्रियां हैं, इनको (ब्रह्मणां) वेदवेत्ताओं के (हस्तेषु) हाथों में (पृथक् प्र सादयामि) मैं राजा पृथक् २ प्रदान करता हूँ (यत्कामः) मैं राजा जिस अभिलाषा से (वः इदं अभि-

पिञ्चामि) हे स्त्रियो ! तुम्हारे विवाहार्थ स्नान करने की विधि बनाता हूँ (इदं) उस अभिलाषा को (सः) वह (मरुत्वान्) देवों का स्वामी (इन्द्रः) परमेश्वर (मे ददात्) मुझे प्रदान करे। अथवा—

(इमाः यज्ञियाः शुद्धाः पूताः योषितः) राष्ट्र यज्ञ में विराजने योग्य ये शुद्ध पवित्र प्रजाएं हैं। इनको विद्वान् ब्राह्मणों के हाथ सौंपता हूँ। (यत्कामः०) जिस कामना से हे विद्वान् पुरुषो ! मैं आपको अधिकारपदों पर स्थापित करता हूँ, वह परमेश्वर मेरी उस कामना को पूर्ण करे।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥२८॥

भा०—(इदं हिरण्यम्) यह मनोहर सुवर्ण जो कि (अमृतं ज्योतिः) अमृत स्वरूप तेज है (क्षेत्रात्) मेरे राष्ट्र रूप क्षेत्र से (पक्वम्) सुपक्व रूप में (मे) मुझे प्राप्त हुआ है। (एषा) यह पृथ्वी (मे कामदुघा) मेरी समस्त कामनाओं, अभिलाषाओं को पूर्ण करने हारी है। (इदं धनम्) यह धन मैं (ब्राह्मणेषु नि दधे) ब्राह्मणों में रखता हूँ, उनको प्रदान करता हूँ और (पितृषु) पितृजनों में (यः स्वर्गः पन्थाः) जो सुख को प्राप्त कराने वाला मार्ग है उसका (कृण्वे) मैं भी पालन करता हूँ।

अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम्।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥२९॥

भा०—हे राजन् ! (तुषान्) तुषों के समान तुच्छ दुष्टों को (जातवेदसि अग्नौ) जातवेदा अग्नि में (आ वप) डाल दे, भस्म कर दे और (कम्बूकान्) इन छिलकों को (दूरम्) दूर (अप मृड्ढि) मार भगा। (एतं) इस शेष अन्न को, शेष उत्तम प्रजा को (गृहराजस्य) राष्ट्र गृह के राजा का (भागं शुश्रुम) सेवनीय भाग सुनते हैं। (अथो) और तुष आदि को (निर्ऋतेः) पाप या मृत्यु का (भागधेयम् विद्मः) भाग जानते हैं।

श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम्।
येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमं नाकं परमं व्योम ॥३०॥ (३)

१ तृ.

भा०—(श्राम्यतः) श्रम से, तप साधना करने हारे, (पचतः) ज्ञान और आचार का परिपाक करने वाले और (सुन्वतः) ज्ञान का शिष्यों को सम्पादन कराते हुए विद्वानों को हे राजन्! (त्वं विद्धि) तू भली प्रकार जान। हे ईश्वर (स्वर्गम् पन्थाम् एनम् अधिरोहय) सुखकारी मार्ग पर इस राजा को चढ़ा। (येन) जिससे वह (परम्) परम श्रेष्ठ (वयः) आयु, १०० वर्ष के जीवन को (आपद्य) प्राप्त होकर (उत्तमम्) सबसे उत्कृष्ट (यत्) जो (नाकम्) सुखमय दुःख, से रहित (परमम्) परम (व्योम) रक्षास्थान, मोक्ष धाम है उसको (रोहात्) प्राप्त हो।

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥३१॥

भा०—(अध्वर्यो) यज्ञ के नेता तथा (बभ्रेः) प्रजा का धारण पोषण करने हारे इस (एतत् मुखम्) मुख्यस्वरूप राजा को (विमृड्ढि) उज्ज्वल और शुद्ध कर तू (प्रविद्वान्) अति अधिक विद्वान् है (आज्याय) क्षात्र-बल के भोग के लिये इस (लोकम्) राष्ट्र को (कृणुहि) तू तय्यार कर दे और (घृतेन) तेज से (सर्वा गात्रा) राष्ट्र के समस्त अङ्गों को (विमृड्ढि) विशेष रूप से परिष्कृत कर दे। मैं प्रधान मन्त्री (पितृषु) प्रजा के पालक माता, पिता, गुरु, आचार्य, राजा, राजशासक आदि लोगों के आधार पर आश्रित (यः स्वर्गः पन्थाः) जो सुखकारी मार्ग है उसको (पन्थां कृण्वे) तय्यार करूं।

बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्यो ब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥३२॥

भा०—हे (बभ्रे) प्रजा के धारण और पोषणकर्ता राजन्! (यतमे) जो २ श्रेष्ठ (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी लोग (त्वा) तेरे समीप (उपसीदान्) आकर बैठें, तेरी शरण लें, (तेभ्यः) इनके लिये तू (समदम् रक्षः) मदमत्त राक्षसों को (आ वप) विनाश कर। (ते) तेरे जो (प्राशिताः)

उपभोग करने वाले (पुरीषिण:) पुरवासी हैं, (प्रथमाना:) और सर्वत्र प्रसिद्ध और (पुरस्तात्) पूर्वोक्त (आर्षेया:) ऋषियों की सन्तानें हैं (मा रिषन्) वे कभी क्लेश को प्राप्त न हों।

प्रजा वै पशव: पुरीषम् । तै० सं० २ । ६ । ४ । ३ ॥ अन्नं पुरीषम् । श० ८ । १ । ४ । ५ ॥ रक्षिण: पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १७ ॥ पुरीष्य इति वै तमाहु: य: श्रियं गच्छति । श० २ । १ । १ । ७ ॥ यत्पुरीषं स इन्द्र: । श० १० । ४ । १ । ७ ॥

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥३३॥

भा०—हे (ओदन) राजन् ! (आर्षेयेषु) ऋषियों की सन्तानों के बीच (त्वा) तुझे (नि दधे) मैं स्थापित करता हूँ, नाना प्रकार की ऋषि सन्तानों का भी इसमें भाग है, अथवा अनार्ष लोगों का (अत्र) इस राज्य में (अस्ति) कोई भाग नहीं है। (मे) राष्ट्र का (गोप्ता) रक्षक (अग्नि:) अग्नि के समान तेजस्वी राजा है और (मरुत: च) वायु के समान प्रबल शीघ्रगामी, तीव्रप्रहारी, सैनिक तथा (विश्वे च देवा:) समस्त विद्वान्गण (पक्वम्) परिपक्व राजा की (रक्षन्तु) रक्षा करें ।

यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ ३४ ॥

भा०—(यज्ञं दुहानम्) राष्ट्रयज्ञ को पूर्ण करने वाले, (सदम् इत्) सदैव (प्रपीनं) बड़े बड़े, (रयीणाम् सदनम्) सब ऐश्वर्यों के आश्रय स्थान, (धेनुम्) महावृषभ के समान विशाल (त्वा) तुझ (पुमांसम्) पुंगव-पुरुष को प्राप्त होकर, हम प्रजावासी लोग, (पोषै:) पुष्टिकारक अन्न आदि पदार्थों के साथ २, (प्रजामृतत्वम्) अपनी सन्तति द्वारा सदा वंश की अमरता, (उत) और (दीर्घम् आयु:) दीर्घजीवन और (रायश्च) सुवर्णादि धन को (उप सदेम) प्राप्त हों ।

प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यं अमृतम् । इति तै० ब्रा० १ । ५ । ५ । ६ ॥ प्रजा रूप में उत्पन्न होना ही मनुष्य का अमृत रहना है ।

वृ॒ष॒भो॑ऽसि स्व॒र्ग ऋषी॑नार्षे॒यान् ग॑च्छ ।
सु॒कृतां॑ लो॒के सी॑द॒ तत्र॑ नौ संस्कृ॒तम् ॥ ३५ ॥

भा०—हे राजन् ! (वृषभः असि) तू समस्त सुखों की राष्ट्र पर वर्षा करने वाला है । तू ही सुख और आनन्द देने वाला होने से (स्वर्गः असि) 'स्वर्ग' है । तू (ऋषीन्) मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों और (आर्षेयान्) उनके सन्तानों एवं शिष्य प्रशिष्यों को भी (गच्छ) प्राप्त हो । तू (सुकृतां लोके) पुण्य, शुभ आचारी, पुण्यात्मा लोगों के लोक में (सीद) विराजमान हो । (तत्र) वहां ही (नौ) तुम प्रजा और राजा दोनों को (संस्कृतम्) समान रूप से पुण्य फल प्राप्त हो ।

स॒मा चि॑नुष्वानुसं॒प्रया॑ह्यग्ने प॒थः क॑ल्पय दे॒व॒याना॑न् ।
ए॒तैः सु॑कृ॒तैरनु॑ गच्छेम य॒ज्ञं नाके॒ तिष्ठ॑न्त॒मधि॑ स॒प्तर॑श्मौ ॥ ३६ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (सम् आ चिनुष्व) सब राष्ट्र के वासियों को या सैनिक वर्गों को सुव्यवस्थित कर । (अनुसंप्रयाहि) और जिन पर आक्रमण करना हो उन पर आक्रमण कर । (देवयानान् पथः कल्पय) विद्वानों और शासकों के लिये चलने योग्य मार्गों उनके कर्त्तव्यों का निर्माण कर । (एतैः) इन (सुकृतैः) उत्तम कार्यों के कारण (यज्ञम्) हम यज्ञरूप राष्ट्रपति का (अनु गच्छेम) अनुगमन करें । जिस प्रकार (सप्तरश्मौ) सात प्राणों से युक्त मूर्धा में विराजमान (यज्ञम्) आत्मा को योगी प्राप्त होते हैं उसी प्रकार सात विद्वान् अमात्यों से युक्त राजा को हम प्राप्त हों ।

येन॑ दे॒वा ज्योति॑षा॒ द्यामु॒दाय॑न् ब्रह्मौद॒नं प॒क्त्वा सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒कम् ।
तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं स्व॑रा॒रोह॑न्तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मम् ।३७। (४)

भा०—(येन ज्योतिषा) जिस परम ज्योति द्वारा (देवाः) तत्व के

द्रष्टा लोग (ब्रह्मौदनं) ब्रह्मरूप परम ओदन, रसमय ज्ञान का (पक्त्वा) परिपाक करके (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य कर्मों के फल स्वरूप (द्याम्) प्रकाशमय लोक को (उत् आयन्) प्राप्त होते हैं, (तेन) उसी परम ज्योति द्वारा हम भी (स्वः) परम तेजोमय, (उत्तमम्) उत्कृष्टतम, (नाकम्) सुखमय लोक पर (आरोहन्तः) चढ़ते हुए (सुकृतस्य लोकं) पुण्यकर्मों से प्राप्त होने योग्य लोक को (अभि गेष्म) प्राप्त हों ।

यह सूक्त 'ब्रह्मरूप ओदन' अर्थात् ब्रह्म ज्ञान को परिपक्व करके मोक्ष प्राप्त करने पर लगता है ।

[२] रुद्र ईश्वर के भव और शर्व रूप

अथर्वा ऋषिः ॥ रुद्रो देवता ॥ छन्दः—१ परातिजागता विराड् जगती, २ अनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती १३ चतुष्पात्स्वराडुष्णिक्, ४,५,७,१३,१५,१६ आनुष्टुभः, ६ आर्षी गायत्री, ८ महाबृहती, ९ आर्षी, १० पुरोकृतिस्त्रिपदा विराट्, ११ पञ्चपदा विराड् जगतीगर्भा शक्वरी, १२ भुरिक्, १४, १७–१९, २६, २७ तिस्रो विराड् गायत्र्यः, २० भुरिग्गायत्री, २१ अनुष्टुप्, २२ विषमपादलक्ष्मा त्रिपदा महाबृहती, २४, २९ जगत्यौ, २५ पञ्चपदा अतिशक्वरी, ३० चतुष्पादुष्णिक्, ३१ त्र्यवसाना विपरीतपादलक्ष्मा षट्पदा जगती, ३, १६, २३, २८ त्रिष्टुभः । एकत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम् । प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥

भा०—(भवाशर्वौ) हे भव ! और हे शर्व ! अर्थात् हे सर्वोत्पादक और हे सर्वसंहारक ! आप दोनों दिव्य शक्तियां (मृडतम्) हमें सुखी करो । (मा अभियातम्) हम पर चढ़ाई मत करो । आप दोनों (भूतपती) समस्त प्राणियों के पालक और (पशुपती) समस्त पशुओं, जीवों और मुक्तात्माओं के पालक हो । (वाम् नमः) तुम दोनों को हमारा

नमस्कार है। (प्रतिहिताम्) धनुष में रखे हुए और (आयताम्) डोरी से ताने हुए बाण को (मा वि स्राष्टं) हम पर मत छोड़ो। (नः द्विपदः मा) हमारे दोपायों भृत्य आदि मनुष्यों को मत मारो और (चतुष्पदः मा) हमारे चौपायों को मत मारो।

सर्वोत्पादक होने से ईश्वर 'भव' है। सर्वसंहारक होने से वही 'शर्व' है। राष्ट्र पक्ष में प्रजा की उत्पत्ति और वृद्धि करने और सामर्थ्यवान् होने से राजा 'भव', और दुष्टों का पीड़क होने से वही रूपान्तर में या उसका सेनापति 'शर्व' हैं। हम यहां ईश्वर पक्ष का अर्थ लिखेंगे।

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः। मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥२॥

भा०—हे (पशुपते) समस्त जीवों के स्वामिन्! (शरीराणि) हमारे शरीरों को (शुने) कुत्ते और (क्रोष्ट्रे) गीदड़ों के लिये, (अलिक्लवेभ्यः गृध्रेभ्यः) भयकर शब्दकारी गीधों के लिये अथवा निर्भय गीधों के लिये और जो (कृष्णाः) काटने वाले या काले (अविष्यवः) हिंसक जन्तु हैं उनके लिये (मा कर्तम्) मत बनाओ और हे पशुपते ! हे जीवों के स्वामिन् ! (ते मक्षिकाः) तेरी बनाई मक्खियां और अन्य (ते) तेरे बनाये (वयांसि) हिंसक पक्षी भी हमको अपने (विघसे) भोजन के निमित्त (मा विदन्त) न प्राप्त कर सकें।

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः।
नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥

भा०—हे (भव) सर्वोत्पादक भव! ईश्वर! (क्रन्दस्य) सबको आह्लादित करने और सबको रुलाने वाले और (प्राणाय) प्राण के समान सबके प्राणस्वरूप, सबको जीवन देने हारे (ते) तुझको और (याः च) जो (ते) तेरी (रोपयः) मोहनकारिणी शक्तियां हैं उनको (नमः) नमस्कार है। हे सबको रुलाने हारे और दुःखों के विनाशक! हे अमर्त्य! (ते) तुझ

(सहस्राक्षाय) सहस्रों आंखों वाले, सर्वद्रष्टा को (नमः कृण्मः) हम नमस्कार करते हैं।

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत।
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥

भा०—हे परमेश्वर! (पुरस्तात्) आगे, (उत्तरात्) ऊपर, (अधरात् उत) नीचे विद्यमान (ते) तुझको (नमः कृण्मः) हम नमस्कार करते हैं। (अभीवर्गात्) सब तरफ से घेरने वाले अन्तरिक्ष और (दिवः परि) द्यौलोक से भी परे विद्यमान (अन्तरिक्षाय) अन्तर्यामी, सर्वव्यापक तुझको (नमः) नमस्कार है।

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव।
त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥

भा०—हे पशुपते! जीवों के स्वामिन्! परमात्मन्! (ते मुखाय नमः) तेरी मुखशक्ति को नमस्कार है। हे (भव) सर्वोत्पादक ईश्वर! (ते यानि चक्षूंषि) तेरी जो चक्षुशक्तियां हैं उनको भी नमस्कार है। (ते त्वचे नमः) तेरी त्वचाशक्ति को नमस्कार है। (ते) तेरे (संदृशे) सम्यग्दर्शन तथा (प्रतीचीनाय) प्रत्यक् आत्मस्वरूप, (रूपाय) और तेरे नाना रूपों के लिये (नमः) नमस्कार है।

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वायां आस्याय ते।
दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥

भा०—हे परमेश्वर! (ते अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों को (नमः) नमस्कार है। (उदराय) तेरे उदर भाग को नमस्कार है। (ते जिह्वायै नमः) तेरी जीभ को नमस्कार है। (ते आस्याय) तेरे मुख को नमस्कार है। (ते दद्भ्यः नमः) तेरे दांतों को नमस्कार है। (ते गन्धाय नमः) तेरे गन्ध को नमस्कार है।

५, ६ मन्त्रों में मुख, चक्षु, त्वचा, रूप, उदर, जिह्वा, मुख, दांत, गन्ध आदि नाम आने से ईश्वर का कोई शरीर नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत

वहां आलंकारिक रूप लेना उचित है जो पूर्व कहे स्थानों पर दर्शा चुके हैं। [अथर्व का० ९ । सू० ७]। जैसे गीता में :—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

आंख जैसे—रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरूपादम् ।
रूप जैसे—नभस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम् ।
नेत्र जैसे—अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
गन्ध और रूप जैसे—पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च–(अ० ७ । ९) तेजश्चास्मि विभावसौ ।
दांत और जीभ जैसे—दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि (११ । २५) लेलिह्यते ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ॥ ११।२८।३॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना ।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

भा०—(नीलशिखण्डेन) नील केश या कल्गी वाले (वाजिना) वेगवान् (अस्त्रा) बाण आदि को फेंकने वाले एक योद्धा के समान भयंकर, (सहस्राक्षेण) हजारों आंखों वाले, (अर्धकघातिना) इस समृद्ध संसार बन्धन को सहसा नाश करने वाले, अति भयंकर (रुद्रेण) रुद्र से हम (मा) कभी न (सम् अरामहि) लड़ें, उसके हम कभी विरोधी न हों।

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः । मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

भा०—(सः भवः) वह संसार का उत्पादक परमेश्वर (नः) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परिवृणक्तु) रक्षा करे, हमें अपने संहारकारी कोप से बचाए रखे। जैसे (आपः अग्निः इव) अग्नि भड़क कर भी जलों और जलाशय को बिना जलाये छोड़ देता है उसी प्रकार (नः भवः परि-

वृणक्तु) वह सर्व प्रभु अपने संहार से हमें छोड़ दे। (नः) हमें (मा अभि) मांस्त) मत संहार करे, (अस्मै नमः अस्तु) उसको हमारी नमस्कार हो।

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ ९॥

भा०—हे (पशुपते) जीवों के स्वामिन्! (भवाय) संसार के उत्पत्ति स्थान रूप आपको (चतुः) चार बार, (अष्टकृत्वः, दशकृत्वः) आठ बार और दश बार (नमः) नमस्कार हो। (तव इमे पञ्च पशवः विभक्ताः) तेरे विभाग किये हुए ये पांच प्रकार के पशु जीव हैं, (गावः) गौएं, (अश्वाः) घोड़े, (पुरुषाः) पुरुष, (अजावयः) बकरी और भेड़ें। तुलना कीजिये—
ततो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते। गी० ११।३८

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥ १० ॥ (५)

भा०—हे (उग्र) सर्वशक्तिमन्! (चतस्रः प्रदिशः तव) चारों दिशाएं तेरी हैं। (द्यौः तव) यह महान् आकाश व सूर्य तेरा है। (पृथिवी तव) यह पृथ्वी तेरी है। (इदम् उरु अन्तरिक्षम्) यह विशाल अन्तरिक्ष भी (तव) तेरा ही है। (इदं सर्वम्) यह सब (आत्मन्वत्) चेतन आत्मा से युक्त (यत्) जो (पृथिवीम् अनु प्राणत्) पृथिवी पर जीवन धारण कर रहा है यह सब (तव) तेरा ही है।

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥

भा०—हे (पशुपते) जीवों के स्वामिन्! (अयम्) यह (तव) तेरा (उरुः कोशः) महान् कोश, भुवन कोश है जिसमें (वसुधानः) जिसमें अपने भीतर बसाने हारे ये सूर्य, पृथिवी आदि सुरक्षित रखे गये हैं। (यस्मिन्) जिसमें (इमा) ये (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन लोक

(अन्तः) प्रविष्ट हैं उस तुझको (नमः ते) नमस्कार हो। (स नो मृड) तू हमें सुखी कर। (क्रोष्टारः) सियार, (अभिभाः) गीदड़ियां, (श्वानः) और कुत्ते (परः) हमसे परे रहें और (अघरुदः) पापों के कारण रोने चीखने वाली, (विकेश्यः) बाल खोल कर भयंकर रूप से विचरने वाली दुष्ट स्त्रियां भी (परः) हमसे दूर रहें। 'उरुःकोशो वसुधानः' तुलना कीजिये गीता—
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥१२॥

भा०—हे (सहस्रघ्नि) सहस्रों के नाशक (शिखण्डिनम्) शिखण्ड, केश धारण करने वाले, पर-संहारक और (शतवधं) सैंकड़ों के मारने वाले, (हिरण्ययं) सुवर्ण के समान कान्तिमान्, (हरितम्) तेजस्वी, सर्वसंहारक, सूर्यमय (धनुः बिभर्षि) धनुष को धारण करता है। (रुद्रस्य) सब पापियों को रुलाने वाले उस परमात्मा का (इषुः) प्रेरित यह बाण ही (चरति) सर्वत्र चलता है, (देवहेतिः) जो कि परमात्मा का आयुध है। (यतमस्यां) जिस (दिशि) दिशा में भी वह उसका बाण है (तस्यै) उसको नमस्कार है।

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥ १३ ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टों को रुलाने वाले! (यः अभियातः) जो आक्रान्त होकर (निलयते) छिप जाता है और (त्वां निचिकीर्षति) तुझे नीचे दिखाना चाहता है, तू (तम्) उसके (पश्चात्) पीछे २ पुनः (विद्धस्य पदनीः इव) घायल जानवर की चरण-पंक्तियों के समान उसको (अनु प्रयुङ्क्षे) खोजता है और उसे दण्ड देता है। पापी को परमात्मा कभी दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ता। उसी प्रकार राजा को भी अपने शत्रु को न छोड़ना चाहिये, प्रत्युत उसकी खोज लगाकर दण्ड देना चाहिये।

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १४ ॥

भा०—परमात्मा के दो स्वरूप हैं एक 'भव' जो सर्वत्र जीवों को उत्पन्न करता है, दूसरा 'शर्व' जो उनको नाना प्रकार से संहार करता है। वे ही दोनों (भवारुद्रौ) भव और रुद्र (सयुजा) सदा एक दूसरे के साथ संयुक्त और (संविदानौ) एक दूसरे के साथ मानों सलाह करके रहते हैं। (उभौ) वे दोनों (उग्रौ) बलवान् (वीर्याय चरतः) अपने वीर्य से सर्वत्र व्यापक हैं। (इतः यतमस्यां दिशि) यहां से जिस दिशा में भी वे दोनों विद्यमान हों उन दोनों रूपों वाले परमात्मा के प्रति हम (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार करते हैं।

नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ १५ ॥
अथर्व० ११ । ४ । ७ ॥

भा०—(आसते ते नमः अस्तु) हमारी ओर आते हुए साक्षात् होते हुए तुझको नमस्कार है। (परायते नमः अस्तु) परे जाते हुए, हम से बिछुड़ते हुए तुझे नमस्कार है। हे रुद्र! (तिष्ठते ते नमः) खड़े हुए तुझको नमस्कार है। (आसीनाय उत ते नमः) और बैठे हुए तुझे नमस्कार है।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥ १६ ॥

भा०—(सायं नमः) परमात्मा को सायंकाल नमस्कार हो, (प्रातः नमः) प्रातःकाल नमस्कार हो। (रात्र्या नमः) रात्रिकाल में नमस्कार हो। (दिवा नमः) दिन को नमस्कार हो। (भवाय च शर्वाय च) सर्वोत्पादक और सर्वसंहारक ईश्वर के (उभाभ्याम्) दोनों स्वरूपों को (नमः अकरम्) मैं नमस्कार करता हूँ।

सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् ।
मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥ १७ ॥

भा०—मैं साक्षात् द्रष्टा (पुरस्तात्) अपने समक्ष (सहस्राक्षम् रुद्रम्) सहस्रों आंखों से सम्पन्न, दुष्टों को रुलाने हारे, (विपश्चितम्) समस्त कार्यों और ज्ञानों को जानने हारे, (बहुधा अस्यन्तम्) नाना प्रकार के अपने बाण प्रहार करते हुए प्रभु को मैं (अतिपश्यम्) अति-क्रान्तदर्शिनी दृष्टि से देख रहा हूँ । (जिह्वया ईयमानं) अपनी काल-जिह्वा से सर्वत्र व्यापक उसकी (मा उपाराम) हम अवहेलना न करें, प्राप्त न हों।

'सहस्राक्षम्' = सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । यजु० ।

श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् ।
पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥ १८ ॥

भा०—(श्यावाश्वं) श्याव अर्थात् दिन और रात्रिरूप दो अश्वों वाले, (कृष्णम्) आकर्षणशील, बन्धन रहित, (मृणन्तम्) इस संसार को मटिया-मेट करने वाले, (भीमम्) अति भयानक और (केशिनः) केश रूप किरणों से युक्त सूर्य के भी (रथम्) रमणीय गोले को (पादयन्तम्) उदयास्त करते हुए और चलाते हुए उस परमात्मा को, हम (पूर्वे) पूर्ण होकर ही (प्रति-इमः) प्राप्त करते एवं साक्षात् करते हैं। (अस्मै नमः अस्तु) उसको हमारा नमस्कार हो ।

मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते ।
अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धूनु ॥ १९ ॥

भा०—हे (पशुपते) समस्त प्राणियों के पालक ! (मत्यं) चमकने वाले (देवहेतिं) दिव्य शस्त्र को (नः) हम पर (मा अभि स्राः) मत चला । (नः) हम पर (मा क्रुधः) क्रोध मत कर । (ते नमः) तुझे नमस्कार है । (दिव्याम्) दिव्य तेजस्विनी, विजयशालिनी अथवा घनघोर गर्जना करने वाली या मर्दनकारिणी (शाखाम्) आकाशचारिणी, शक्तिमती विद्युत् लता को (अस्मत् अन्यत्र) हमसे परे (वि धूनु) कर ।

'दिव्या' दिवु परिकूजने, दिवु मर्दने (इति चुरादिः) दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (दिवादिः) शाखा-खे शेते इति शाखा । शक्नोतेर्वा [नि० ६ । ६ । ४]

मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः ।
मा त्वया समरामहि ॥ २० ॥

भा०—(नः) हमें (मा हिंसीः) विनाश मत कर । (नः अधिब्रूहि) हमें शिक्षित कर । (नः परि वृङ्ग्धि) हमारी सब ओर से रक्षा कर । (मा क्रुधः) हम पर कोप मत कर । (त्वया) तुझसे हम (मा सम् अरामहि) युद्ध न करें, तेरे विपरीत न जावें ।

मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु ।
अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥ २१ ॥

भा०—हे (उग्र) शक्तिमन् ! रुद्र ! (नः) हम जो तुझसे विपरीत नहीं जाते उनकी (गोषु) गौओं (पुरुषेषु) पुरुषों और (अजाविषु) बकरी और भेड़ों की अभिकांक्षा (मा गृधः) मत कर हे (अन्यत्रोग्र वि वर्तय) उग्र ! तू अपनी उग्रता को उस पर प्रकट कर जो तेरे विपरीत जाते हैं । (पियारूणां प्रजां जहि) तू हिंसकों की प्रजा का विनाश कर ।

यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति ।
अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥ २२ ॥

भा०—रुद्र के हथियारों का वर्णन करते हैं । (यस्य) जिस रुद्र के (तक्मा) कष्टदायी ज्वर और (कासिका) खांसी (हेतिः) हथियार हैं । वे हथियार (वृषणः) बलवान् (अश्वस्य) घोड़े के (क्रन्दः इव) हिन हिनाने के समान (एकम् एति) किसी भी पुरुष पर आक्रमण करते हैं । (अभिपूर्वम्) पूर्व कर्मों के अनुसार (निर्णयते) दण्ड निर्धारण करने वाले (अस्मै नमः अस्तु) उस रुद्र को नमस्कार है ।

योऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् ।
तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः ॥ २३ ॥

भा०—(यः) जो रुद्र (अयज्वनः) यज्ञ न करने हारे और (देव-पीयून) सत्पुरुषों के घातक पुरुष को (प्रमृणन्) नाश करता हुआ (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (वि-ष्भितः) स्थिर होकर (तिष्ठति) खड़ा है, (तस्मै) उसको, (दशभिः शक्वरीभिः) दशों शक्तियों सहित (नमः) नमस्कार है। अथवा (तस्मै दशभिः शक्वरीभिः नमः) उसको हमारा दसों अंगुलियां जोड़ कर नमस्कार है।

तुभ्यंमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि। तव यक्षं पशुपते अप्स्वन्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥२४॥

भा०—हे रुद्र! (तुभ्यम् = तव) तेरे ही ये (आरण्याः) जङ्गल के (पशवः) पशु (मृगाः) हरिण, सिंह, हाथी आदि हैं जो कि (वने हिताः) जङ्गल में रहते हैं। (हंसाः) हंस आदि (सुपर्णाः) सुन्दर पंखों वाले और (शकुनाः) अति शक्तिशाली (वयांसि) गृध्र आदि पक्षी ये सब भी तेरे ही हैं। हे (पशु-पते) समस्त जीवों के स्वामिन्! (तव यक्षम्) तेरा ही पूज्यतम स्वरूप (अप्सु अन्तः) जलों या प्रजाओं के भीतर है। (तुभ्यं वृधे) तेरी महिमा को बढ़ाने के लिये (दिव्या आपः क्षरन्ति) ये आकाशस्थ जल मेघ से वर्षा रूप में बरसते हैं।

शिशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि। न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् परि पश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन्त्समुद्रे ॥ २५ ॥

भा०—हे पशुपते! (शिशुमाराः) घड़ियाल (अजगराः) अजगर, (पुरीकयाः-पुरीचयाः = पुरीषयाः) बड़े २ विशाल कछुए की कठोर त्वचा वाले जानवर, (जषाः = झषाः) महामत्स्य, (मत्स्याः) साधारण मच्छ और (रजसाः) 'रजस' नाम के प्राणी ये सब तेरे वश हैं। (येभ्यः) जिन पर तू अपना काल रूप जाल (अस्यसि) फेंका करता है। (न ते दूरम्) तुझ से कोई दूर नहीं। हे भव! (न ते परिष्ठाः) और तुझे कोई छोड़कर या

तुझसे परे भी नहीं रहता। तू (सद्यः सर्वान् परि पश्यसि) सदा ही सब को देखता रहता है। (पूर्वस्मात्) और पूर्व समुद्र से (उत्तरस्मिन् समुद्रे) उत्तर समुद्र तक (भूमिम्) समस्त भूमि को (हंसि) व्याप्त रहता है और क्षण भर में समस्त भूमि को देख लेता है।

मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना।
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम् ॥ २६ ॥

भा०—हे रुद्र! (नः तक्मना मा सं स्राः) हमें ज्वर के समान कष्टदायी रोग से पीड़ित मत कर। (विषेण मा) विष से भी हमें पीड़ित मत कर। (दिव्येन अग्निना न सं स्राः) मर्दन करने वाली अग्नि से हमारा संपर्क न कर। (अस्मद् अन्यत्र एताम् विद्युतं पातय) हमसे अन्य स्थान पर इस बिजुली को डाल।

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्व१न्तरिक्षम्।
तस्मै नमो यतमस्यां दिशी३तः ॥ २७ ॥

भा०—(भवः) सर्वोत्पादक परमात्मा (दिवः ईशे) द्यौलोक को वश करता है और वही सर्वोत्पादक (भवः) भव (पृथिव्याः ईशे) पृथिवी को भी वश कर रहा है और वही सर्वोत्पादक (भवः) परमेश्वर (उरु अन्तरिक्षम् आ पप्रे) विशाल अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुए है। (इतः यतमस्यां दिशि) इधर से वह जिस दिशा में भी है (तस्मै नमः) हमको नमस्कार है।

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥ २८ ॥

भा०—हे (राजन्) प्रकाशमान! हे (भव) सर्वस्रष्टः! आप (यजमानाय) यज्ञ करने हारे को (मृड) सुखकारक हों (पशूनाम्) पशुओं के (पशुपतिः) पशु-पालक (बभूथ) हों। (यः) जो पुरुष (श्रत् दधाति) इस बात को सत्य जानता है कि (देवाः सन्ति इति) देवगण शक्तिशाली होते

हैं (अस्य) उसके (द्विपदे चतुष्पदे मृड) मनुष्यों और पशुओं सबको सुखी कर ।

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ अर्भ॒कं मा नो॒ वह॑न्तमु॒त मा नो॑ वक्ष्य॒तः ।
मा नो॑ हिंसीः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॒ स्वां त॒न्वं॑ रुद्र॒ मा री॑रिषो नः ॥२९॥

ऋ० १ । ११४ । ७ ॥ यजु० १६ । १५ ॥

भा०—हे रुद्र ! (नः महान्तं मा हिंसीः) हमारे वृद्ध पुरुष को मत मार, पीड़ा मत दे । (नः अर्भकं मा) हमारे बच्चे को भी पीड़ा मत दे । (नः वहन्तम् मा) हमारे कुटुम्ब का भार उठाने वाले को पीड़ा मत दे । (उत नः वक्ष्यतः मा) भविष्यत् में भार अपने ऊपर लेने हारे हमारे नवयुवकों को भी पीड़ा मत दे । (न पितरं मातरं च मा हिंसीः) हमारे पिता और माता को भी मत मार । हे रुद्र ! (नः स्वां तन्वं मा रीरिषः) हमारी अपनी देह का भी विनाश न कर, पीड़ित न कर ।

रु॒द्रस्यै॑लवका॒रेभ्यो॑ऽसंसूक्तगि॒लेभ्यः॑ ।
इ॒दं म॒हास्ये॑भ्य॒ः श्वभ्यो॑ अकरं॒ नमः॑ ॥ ३० ॥

भा०—(रुद्रस्य) रुद्र के (ऐलवकारेभ्यः) भेड़ के समान शब्द करने वाले और (अ-सं-सूक्त गिलेभ्यः) भली प्रकार न उच्चारण करने योग्य विकृत शब्दों को उच्चारण करने वाले (महास्येभ्यः) बड़े २ मुख वाले (श्वभ्यः) कुत्तों या स्वामिभक्त सैनिकों को (इदं नमः अकरम्) यह (नमः) अन्न हम प्रदान करते हैं । 'ऐलवकार' ऐलवानि प्रेरणयुक्तानि कर्माणि कुर्वन्ति 'ऐलवकाराः कर्मकाराः प्रथमगणाः इति सायणः । ऐलवकार = ऐड-रवकारा' इति शकन्ध्वादित्वात् साधुः ।

'असंसूक्त गिलाः' अ-सं-सूक्त-गिलाः 'असंसूक्तगिराः' समीचीनं शोभनं सूक्तं वेदमन्त्रादि, सद्भाषितं वा न गिरन्ति भाषन्ते इति असंसूक्तगिराः । न संसूक्तेन गिलन्ति भक्षयन्ति इति ह्वि० ।

नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः।
नमो नमस्कृताभ्यो नमः सम्भुञ्जतीभ्यः।
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः ॥३१॥ (७)

भा०—हे (देव) रुद्र के प्रतिनिधि सेनापति! (ते सेनाभ्यः नमः) तेरी सेनाओं को नमस्कार है। (ते घोषिणीभ्यः नमः) बड़े २ नाद करने वाली तेरी सेनाओं को नमस्कार है। (ते केशिनीभ्यः) केशी अर्थात् किरणों रूपी केशों वाली जो अग्नि, विद्युत् और सूर्य रूपी शक्तियां हैं उन शक्तियों वाले हथियारों से सम्पन्न जिन सेनाओं को हमने नमस्कार किया उन्हें पुनः २ (नमः) नमस्कार है। (सम् भुंजतीभ्यः नमः) अच्छी प्रकार राष्ट्र का पालन करती हुई सेनाओं को नमस्कार है। इति प्रथमोऽनुवाकः॥

[तत्र सूक्तद्वयम्, ऋचश्चाष्टाषष्टिः ।]

[३ (१)] विराट् प्रजापति का वार्हस्पत्य ओदन रूप से वर्णन

अथर्वा ऋषिः॥ वार्हस्पत्यौदनो देवता॥ छन्दः—१,१४ आसुरीगायत्र्यौ, २ त्रिपदासमविषमागायत्री, ३, ६, १० आसुरीपंक्तयः, ४, ८ साम्न्यनुष्टुभौ, ५, १३, १५ साम्न्युष्णिहः ७, १९–२२ प्राजापत्या अनुष्टुभः, ९, १७, १८ आसुर्य अनुष्टुभः ११ भुरिग् आर्ची अनुष्टुप्, १२ याजुषी जगती, १६, २३ आसुरीबृहत्यौ, २४ त्रिपदा प्रजापत्याबृहती २६ आर्ची उष्णिक्, २७, २८ साम्नीबृहती, २९ भुरिक्, ३० याजुषी त्रिष्टुप्, ३१ अल्पाचः पंक्तिरुत याजुषी। एकत्रिंशच्चं सूक्तम्॥

(प्रथमः पर्यायः)

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥१॥ द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥२॥ चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥३॥ दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥४॥ अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥५॥ कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥६॥ श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥७॥ त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥

खलः पात्रं स्फ्यावंसा॑वी॒षे अ॑नू॒क्ये॑ ॥९॥ आ॒न्त्राणि॑ ज॒त्रवो॒ गुदा॑ वर॒त्राः ॥ १० ॥

भा०—(१) विराट् रूप ओदन के अङ्गों की यज्ञमय कल्पना का प्रकार दर्शाते हैं। (तस्य) उस (ओदनस्य) विराट् का (बृहस्पतिः शिरः) बृहस्पति शिर है, (ब्रह्म मुखम्) वेद उसका ज्ञानप्रवक्ता मुख है। (२) (द्यावा पृथिव्यौ श्रोत्रे) द्यौ और पृथिवी अर्थात् समस्त दिशाएं उसके कान हैं। (सूर्या-चन्द्रमसौ अक्षिणी) सूर्य और चन्द्रमा उसकी दो आंखें हैं। (सप्त ऋषयः प्राणपानाः) सात ऋषि उसके प्राण अपान आदि वायु हैं। (३) (चक्षुः मुसलं काम उलूखलम्) यज्ञरूप प्रजापति के अङ्गों में विद्यमान मुसल आंख है और उलूखल या ओखली 'काम' संकल्प है। (४) (दितिः) खण्डन-कारिणी विभाग शक्ति (शूर्पम्) सूप या छाज है। (शूर्पग्राही) उस सूप को लेने वाली 'अदिति' अर्थात् 'पृथ्वी' है, (वातः अप-अविनक्) वायु पूर्वोक्त ब्रह्मौदन के चावलों को तुषों से पृथक् करने वाला है। (५) (अश्वाः कणाः) अश्व कण हैं, (गावः तण्डुलाः) गौएं चावल हैं, (मशकाः तुषाः) मशक आदि क्षुद्र जन्तु तुष हैं। (६) (कब्रु फलीकरणाः) नाना रंग वाले दृश्य उसके ऊपर के छिलके हैं, (शरः अभ्रम्) ऊपर की पपड़ी मेघ हैं। (७) (श्यामम् अयः अस्य मांसानि) काला लोहा इसके मांस हैं और (लोहितम् अयः अस्य लोहितम्) लाल लोहा तांबा आदि धातु इसके रुधिर हैं। (८) (त्रपु-भस्म) टीन सीसा आदि इसका 'भस्म' है, (हरितम् वर्णः) पीला सुवर्ण आदि धातु इसका उत्तम वर्ण है, (पुष्करम् अस्य गन्धः) कमल फूल इसका गन्ध है। (९) (खलः पात्रम्) खलिहान इसका पात्र है, (स्फ्यौ अंसौ) 'स्फ्य' नाम शकट के स्थान उसके कंधे हैं। (ईषे अनूक्ये) 'इषा' नामक शकट के दो दण्ड उसके अनूक अर्थात् हंसली की हड्डी के समान हैं। (१०) (आन्त्राणि जत्रवः गुदाः वरत्राः) शकट में बैल जोड़ने की रस्सियां आंतें हैं और बैल को शकट में जोड़ने की पटियां गुदा की नसें हैं।

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ११
सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥ १२ ॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥

भा०—(राध्यमानस्य ओदनस्य) रांधे जाने वाले ओदनरूप प्रजापति के लिये (इयम् एव पृथिवी) यह पृथिवी ही (कुम्भी भवति) बड़ी भारी डेगची है और (द्यौः अपिधानम्) द्यौलोक ऊपर का ढक्कन है। (१२) (सीताः पर्शवः) हल कृषि आदि उसकी पसुलियां हैं, (सिकताः ऊबध्यम्) वालुएं रेगिस्तान आदि प्रदेश उसके पेट में पड़े मल के समान हैं। (१३) (ऋतम्) सत्य ज्ञान या समस्त जल उसका (हस्तावनेजनम्) हाथ धोने का जल है और (कुल्याः उपसेचनम्) नहरें, नदियें सब उसके गूंधने का जल है।

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥
ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मोऽभीन्धे ॥ १८ ॥
ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥

भा०—(१४) (ऋचा कुम्भी अधिहिता) ऋग्वेद द्वारा पूर्वोक्त डेगची, आग पर रख दी गई और (आर्त्विज्येन प्रेषिता) यजुर्वेद द्वारा आग से गरम की। (१५) (ब्रह्मणा) अथर्व-वेद से (परिगृहीता) धारण की गई और (साम्ना पर्यूढा) सामवेद से परिवेष्टित है। (१६) (बृहत् आयवनं) 'बृहत्' नामक गान 'आयवन' अर्थात् जल चावलों को मिलाने वाले दण्ड के समान है। (रथन्तरं दर्विः) 'रथन्तर' नामक गान कड़छा के समान है। (१७) ऐसे 'ओदन' के (पक्तारः) पकाने वाले (ऋतवः) ऋतुगण हैं। (आर्तवाः समिन्धते) ऋतु सम्बन्धी वायुएं ओदन के पाककारी अग्नि को

प्रदीप्त करते हैं। (१८) (पञ्चबिलं चरुम् उखम्) विस्तृत मुख वाले उस ओदन से भरे 'चरु' अर्थात् डेगची को (घर्मः अभि इन्धे) घर्म या घाम, सूर्य का ताप और भी प्रदीप्त करता है। (१९) ऐसे (ओदनेन) ओदन द्वारा (यज्ञवचः) यज्ञों के प्रतिपादक वैदिक वचन (सर्वे लोकाः) तथा उनमें प्रतिपादित समस्त लोकों के ज्ञान (सम् आप्याः) भली प्रकार प्राप्त हो जाते हैं।

यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥
तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥

भा०—(२०) (यस्मिन्) जिस ओदन में (समुद्रः द्यौः भूमिः) आकाश, द्यौ और भूमि (त्रयः) तीनों (अवरपरं श्रिताः) एक दूसरे के ऊपर नीचे और उरे-परे आश्रित हैं। (२१) (यस्य उच्छिष्टे) प्रलय में भी बचे रहने वाले जिस शेष में (षट् अशीतयः देवाः) छः गुणा अस्सी = ४८० [चारसौ अस्सी] दिव्यगुण पदार्थ, सौर मण्डल में विचरने वाले ग्रह, उपग्रह, धूम्रकेतु तथा राशिचक्र के मुख्य २ नक्षत्र और तारे (अकल्पन्त) सामर्थ्य-वान् विद्यमान हैं। (२२) (तम् ओदनं त्वा पृच्छामि) हे गुरो ! मैं तुझसे उस ओदन के विषय में प्रश्न करता हूँ (यः अस्य महान् महिमा) और उसकी जो बड़ी भारी महिमा है, वह भी बतलाइये।

स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥
नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥ २४ ॥

भा०—(२३-२४) (यः) जो (ओदनस्य महिमानं विद्यात्) 'ओदन' रूप प्रजापति की महिमा को जान ले (सः) वह (अल्पः इति न ब्रूयात्) थोड़ा है, ऐसा न कहे। (अनुपसेचन इति न) विना उपसेचन या व्यंजन द्रव्य के है ऐसा भी न कहे। (इदम् च न) साक्षात् यह दीजिये इस प्रकार निर्देश करके भी न कहे। (किं च इति न) और कुछ थोड़ा सा

और दीजिये ऐसा भी न कहे। अर्थात् प्रवक्ता के पास जाकर ब्रह्मज्ञान को सन्तोष से ग्रहण करे।

यावद् दाताभिमनस्येत तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥

भा०—(दाता) 'ब्रह्मौदन' के ज्ञान का प्रदान करने वाला (यावत्-अभिमनस्येत) जितने के दान का संकल्प करे (तत् न अतिवदेत्) उससे अधिक न मांगे।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३: प्रत्यञ्चा३मिति ॥२६॥
त्वमोदनं प्राशी३ स्त्वामोदना३ इति ॥ २७ ॥

भा०—(२६) (ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ब्रह्म का विचार करने वाले ब्रह्म-ज्ञानी लोग इस प्रकार परस्पर प्रश्न करते हैं, हे पुरुष ! (पराञ्चम् ओदनं प्राशी:३) क्या तू अपनी आंखों से अदृश्य 'ओदन' का प्राशन करता है, या (प्रत्यञ्चा३म् इति) साक्षात् प्रत्यक्ष ओदन का प्राशन करता है। (२७) (त्वम् ओदनं प्राशी:३) क्या तू स्वयं 'ओदन' का भोग प्राशन करता है या (त्वाम् ओदनः३ इति) तुझको वह 'ओदन' तेरा प्राशन करता है ?

जीव का ब्रह्म को अपने भीतर लेना मानो ब्रह्म प्राशन है और तत्पश्चात् जीव जब ब्रह्म में तल्लीन होकर अपनी व्यक्ति को खो सा बैठता है तब मानो ब्रह्म ने जीव को खा लिया।

पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २८ ॥
प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २९ ॥

भा०—(२८) (एनं च पराञ्चं प्राशी:) हे पुरुष ! यदि तू इन 'ओदन' का परोक्ष में प्राशन करता है, तो विद्वान् (एनम् आह) इस भोक्ता के प्रति कहता है कि (त्वा प्राणः हास्यन्ति) तुझे प्राण छोड़ देंगे। (२९) (प्रत्यक्षं च एनं प्राशी:) और यदि उसका साक्षात् रूप में प्राशन करता है तो (एनम् आह) विद्वान् उस भोक्ता के प्रति कहा करता है कि (अपानाः त्वा हास्यन्ति इति) तुझ साक्षात् ओदन के भोक्ता को अपान परित्याग कर देंगे।

अर्थात् परोक्ष रूप में या प्रत्यक्षरूप में ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन नहीं। इसमें ज्ञाता का व्यक्तित्व बना ही रहता है। ऐसी परिस्थिति में बार २ प्राप्त करना और उनसे बार २ वियुक्त होना रूपी जन्म-मरण बना ही रहता है।

नैवाहमोदनं न मामोदनः ॥ ३० ॥
ओदन एवौदनं प्राशीत् ॥ ३१ ॥ (८)

भा०—(३०) (नैव अहम् ओदनम्, न माम् ओदनः) इस मन्त्र में उत्तर दिया गया है न मैं ओदन का प्राशन करता हूँ और न ओदन मेरा प्राशन करता है। (३१) तत्व यह है कि (ओदनः एव ओदनं प्राशीत्) ओदन ही ओदन का प्राशन करता है। अर्थात् आत्मारूप देहस्थ प्रजापति ही स्वयं ओदन बनकर विराट् प्रजापति का आनन्द प्राप्त करता है।

भोक्तृभोक्तव्यप्रपञ्चात्मक ओदन इति सायणः।

[३ (२)] ब्रह्मोदन के उपभोग का प्रकार

अथर्वा ऋषिः ॥ मन्त्रोक्तो ब्रह्मौदनो देवता ॥ छन्दः—३२,३८,४१ एतासां (प्र०), ३१—३९ एतासां (स०) साम्नीत्रिष्टुभः, ३२, ४१, ४२, ४८ आसां (द्वि०) ३२—३९ आसां (तृ०) ३३,३४,४४—४८ आसां (पं०) एकपदा आसुरी गायत्री, ३२, ४१, ४३ ४७ आसां (च०) दैवी जगती, ३८, ४४, ४६ (द्वि०) ३२, ३५—४३, ४९ आसां (पं०) आसुरी अनुष्टुभः, ३२—४०, आसां (पं०) साम्न्यनुष्टुभः ३३—४९ आसां (प्र०) आर्च्य अनुष्टुभः, ३७ (प्र०) साम्नी पंक्तिः ३३, ३६, ४०, ४७, ४८ आसां (द्वि०) आसुरीजगती ३४, ३७, ४१, ४३, ४५ आसां (द्वि०) आसुरी पंक्तयः, ३४ (च०) आसुरी त्रिष्टुप्, ४५, ४६, ४८ आसां (च०) याजुष्योगायत्र्यः, ३६ ४०, ३७ आसां (च०) दैवीपंक्तयः, ३८, ३९ एतयोः (च०) प्राजापत्यागायत्र्यौ ३९ (द्वि०) आसुरी उष्णिक्, ४२, ४५, ४९ आसां (च०) दैवी त्रिष्टुभः, ४९ (द्वि०) एकापदा भुरिक् साम्नीबृहती। अष्टादशर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।

ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह ।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
बृहस्पतिना शीर्ष्णा तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३२ ॥

भा०—विद्वान् पुरुष जिज्ञासु को उपदेश करे कि हे पुरुष ! (येन च) जिस (शीर्ष्णा) शिर से (पूर्वे ऋषयः एतं प्राश्नन्) पूर्व मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग इसका प्राशन करते रहे (ततः च अन्येन) उससे दूसरे (शीर्ष्णा) शिर से यदि (प्राशीः) तू प्राशन करता है तो (ते प्रजा) तेरी सन्तति (ज्येष्ठतः मरिष्यति) ज्येष्ठ क्रम से मरेगी, प्रथम जेठा, फिर उससे छोटा फिर उससे छोटा इस प्रकार तेरी सन्तान मर जायगी, (इति एनम् आह) इस प्रकार ब्रह्मौदन का तत्वज्ञानी विद्वान् दूसरे पुरुषों को उपदेश करे। तो फिर (अहम्) मैंने (न अर्वाञ्चं, न पराञ्चं) न नीचे के, न पराङ्मुख अर्थात् परली तरफ के और (न प्रत्यञ्चम्) न अपनी तरफ के ओदन का मैंने प्राशन किया है। अर्थात् उसके एकाङ्गी रूप का मैंने प्राशन नहीं किया। प्रत्युत (बृहस्पतिना शीर्ष्णा) बृहस्पति रूप शिर से इस ओदन का मैंने प्राशन किया है। (तेन एनं प्राशिषम्) उस शिर से ही इसका मैंने प्राशन किया है, (तेन एनम् अजीगमम्) उसी शिर से इसको मैंने प्राप्त किया है। (एष वा ओदनः) यह ओदन प्राशन के बाद भी समस्त अङ्गों वाला बना रहता है, (सर्वपरुः) सब पोरुओं वाला बना रहता है, (सर्व-तनुः) समस्त शरीर वाला बना रहता है। (य एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह स्वयं भी (सर्वाङ्ग सर्वपरुः सर्वतनुः सम्भवति) सर्वाङ्ग सब पोरुओं वाला, तथा शरीर की सब शक्तियों वाला वाला बना रहता है।

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा०। द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्
ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा०।०॥ ३३॥

भा०—(एनम् आह) विद्वान् पुरुष जिज्ञासु को कहे कि (याभ्यां चैतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिन कानों से पूर्व के ऋषियों ने इस 'ओदन' का प्राशन किया (ततः च अन्याभ्याम् श्रोत्राभ्यां एनं प्राशीः) यदि उनसे दूसरे कानों से तू प्राशन करेगा तो (बधिरः भविष्यसि) तू बहरा हो जायगा मानो कि ब्रह्म के श्रवण करने की तुझमें शक्ति नहीं। इस दृष्टि में तु निपट बहरा ही है। (तं वा अहं० इत्यादि) तो फिर मैंने न नीचे के, न परली तरफ के, न अपनी तरफ के ओदन का मैंने प्राशन किया है, उपभोग किया है। प्रत्युत् (द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्) द्यौ और पृथिवी इन दोनों श्रोत्रों से उसका प्राशन किया है। (ताभ्याम् एनं प्राशिषम्) उन दोनों से उसका प्राशन किया है, (ताभ्याम् एनम् अजीगमम्) उन दोनों के द्वारा इसको मैंने प्राप्त किया है। (एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्व-परुः ० इत्यादि) यह ओदन सब अंगों वाला, सब पोरुओं वाला, समस्त शरीर वाला बना रहता है। जो यह तत्व जान लेता है वह सर्वाङ्ग, सब पोरुओं से युक्त और सम्पूर्ण शरीर में हृष्ट-पुष्ट रहता है।

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अन्धो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा०।सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम्। ताभ्यामेनं०। ०॥ ३४॥

भा०—(याभ्याम् च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्, ततः अन्याभ्याम् च एनं अक्षीभ्याम् प्राशीः, अन्धः भविष्यसि इति एनम् आह) विद्वान् पुरुष जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिन आंखों से पूर्व के ऋषियों ने इसका प्राशन किया उनसे अतिरिक्त दूसरी आंखों से हे पुरुष! यदि तू प्राशन करेगा तो अन्धा हो जायगा। (अहं तं वा न अर्वाञ्चं०) तो फिर मैंने.... पूर्ववत्। (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् अक्षीभ्याम् ताभ्याम् एनं प्राशिषम् ताभ्या-मेनम् अजीगमम्) सूर्य और चन्द्रमा इन दो आंखों से उस ओदन का प्राशन किया है और उन दोनों से उसको प्राप्त किया है। (एष वा०) यह ओदन....इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। ब्रह्मणा मुखेन।
तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा०। ०॥ ३५॥

भा०—(एनम् आह। येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् ततः च एनम् अन्येन मुखेन प्राशीः मुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिस मुख से इस ओदन का पूर्व काल के ऋषि प्राशन करते थे उससे अतिरिक्त मुख से यदि तू प्राशन करेगा तो तेरी प्रजा मुख से मरेगी। (तं वा०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत्। (ब्रह्मणा मुखेन तेन एनं प्राशिषं तेन एनम् अजीगमम्) ब्रह्म रूप मुख से उस ओदन का प्राशन किया है और उससे ही उसको प्राप्त किया है। (एष वा०) यह ओदन....इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। अग्नेर्जिह्वया।
तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा०। ०॥ ३६॥

भा०—(एनम् आह। एतं यया पूर्वे ऋषयः प्राशन् तत अन्यया जिह्वया एनं प्राशीः जिह्वा ते मरिष्यति इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिस जिह्वा से इस ओदन का पूर्व काल के ऋषियों ने प्राशन किया उससे अतिरिक्त जिह्वा से यदि तू प्राशन करेगा तो तेरी जिह्वा मरेगी। (तं वा०) तो फिर मैंने इत्यादि पूर्ववत्। (अग्नेः जिह्वया तया एनं प्राशिषम् तया एनम् अजीगमम्) अग्नि की जिह्वा से इस ओदन का प्राशन किया है। उससे ही इस ओदन को प्राप्त किया है। (एषः वा०) यह ओदन....इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह। तं वा०। ऋतुभिर्दन्तैः।
तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्। एष वा०। ०॥ ३७॥

भा०—(एनम् आह । यैः च एनं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् , ततः च एनम् अन्यैः दन्तैः प्राशीः दन्ता ते शत्स्यन्ति इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिन दांतों से पूर्व ऋषियों ने उस ओदन का प्राशन किया यदि तू उनसे अतिरिक्त दूसरे दांतों से प्राशन करता है तो तेरे दांत झड़ जावेंगे। (तं वा०) तो फिर मैंने इत्यादि....पूर्ववत् । पूर्व ऋषियों ने इसका (ऋतुभिः दन्तैः) ऋतु रूप दांतों से प्राशन किया है। (तैः एनं प्राशिषम्) उनसे ही मैंने प्राशन किया है और (तैः एनम् अजीगमम्) और उन ही से इसको मैंने प्राप्त किया है। (एष वा०) यह ओदन इत्यादि...पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह । तं वा० ।
सप्तर्षिभिः प्राणापानैः । तैरेनं० । ० ॥ ३८ ॥

भा०—(एनम् आह । यैः च एतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् , ततः च एनम् अन्यैः प्राणपानैः प्राशीः प्राणापानाः त्वा हास्यन्ति इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि जिन प्राणों और अपानों से पूर्व ऋषियों ने इसका प्राशन किया यदि तू उनसे अतिरिक्त दूसरे प्राणों और अपानों से प्राशन करता है तो प्राण और अपान तुझको छोड़ देंगे। (तं वा०) तो फिर मैंने....पूर्ववत् । पूर्व ऋषियों ने (सप्तर्षिभिः प्राणपानैः) सप्त ऋषि अर्थात् सात शीर्षगत प्राणों और अपानों द्वारा उसका प्राशन किया है (तैः एनं प्राशिषम्) उनसे ही मैंने प्राशन किया है। (तैः ऐनम् अजीगमम्) उनसे ही इसको प्राप्त किया है। (एष वा०) यह ओदन....इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा०।अन्तरिक्षेण व्यचसा ।
तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा० । ० ॥ ३९ ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है (येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिस अन्तराकाश रूपी विस्तार से पूर्व ऋषियों

ने इस ओदन का प्राशन किया (ततः च एनम् अन्येन व्यचसा प्राशीः) यदि तू उससे अतिरिक्त दूसरे मध्य भाग से प्राशन करेगा तो (राजयक्ष्मा त्वा हनिष्यति इति) राजयक्ष्मा तुझे मारेगा। (तं वा०) तो फिर मैंने.... इत्यादि पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने अन्तरिक्ष रूप विस्तार से प्राशन किया। मैंने भी (तेन एनं प्राशिषम्) उससे ही प्राशन किया है। (तेन एनम् अजीगमम्) उससे ही इसको प्राप्त किया है। (एष वा०) यह ओदन.... इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। दिवा पृष्ठेन।
तेनैनं०।०।० ॥ ४० ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिस पृष्ठ भाग से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का प्राशन किया (ततः च एनम् अन्येन पृष्ठेन प्राशीः) यदि तू उसके सिवाय दूसरे पीठ भाग से भोग करेगा तो (विद्युत् त्वा हनिष्यति इति) बिजुली तुझे मार जायगी। (तं वा०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने इसका (दिवा पृष्ठेन) द्यौ रूप पीठ से प्राशन किया। (तेन एनं प्राशिषं०) मैंने भी उससे प्राशन किया है। उससे ही इसको प्राप्त किया है। (एष वा०) यह ओदन....इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह। तं वा०। पृथिव्योरसा।
तेनैनं०।०।०।०॥ ४१ ॥

भा०—(एनम् आह। येन चैतं० ततः च एनम् अन्येन उरसा प्राशीः कृष्या न रात्स्यसि इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि जिस उरःस्थल से पूर्व ऋषियों ने उसका प्राशन किया यदि तू उसके सिवाय दूसरे वक्षःस्थल से प्राशन करेगा तो खेती के अन्न से समृद्ध न होगा।

(त वा०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत् । ऋषियों ने (पृथिव्या उरसा) पृथिवी रूप उरःस्थल से इस ओदन का प्राशन किया है । (तेन एनं०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत् । (एष वा०) यह ओदन....इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । सत्येनोदरेण ।
तेनैनं० । ० । ० ॥ ४२ ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (येन चैतं०) जिस उदर भाग से ऋषियों ने इस ओदन का प्राशन किया है । (ततः च एनम् अन्येन उदरेण प्राशीः) यदि तू उसके सिवाय दूसरे उदर भाग से प्राशन करेगा तो (उदरदारः त्वा हनिष्यति इति) उदरदार = अतिसार वा उदर्द नामक रोग तुझे मार देगा । (तं वा०) तो फिर मैंने.... इत्यादि पूर्ववत् । ऋषियों ने (सत्येन उदरेण) सत्य रूप उदर से इसका प्राशन किया था । (तेन एनं प्रा०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अप्सु मरिष्यसीत्येनमाह । तं वा० । समुद्रेण वस्तिना ।
तेनैनं० । ० । ० ॥ ४३ ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (येन च एतं) जिस वस्ति से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का प्राशन किया (ततः च एनम् अन्येन वस्तिना प्राशीः) यदि उसके अतिरिक्त दूसरे वस्ति से प्राशन करेगा तो तू (अप्सु मरिष्यसि) जलों में मरेगा । (तं वा०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत् । (समुद्रेण वस्तिना) ऋषियों ने उसका समुद्र रूप वस्ति से प्राशन किया (तेन एनं०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह । तं वा० । मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् ।
ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा० । ० ॥ ४४ ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (याभ्यां च एनं०) जिन जांघों से पूर्व ऋषियों ने इसका प्राशन किया (ततः च एनं अन्याभ्यां ऊरूभ्यां प्राशीः) यदि उसके अतिरिक्त जंघाओं से तू प्राशन करेगा तो (ऊरू मरिष्यतः इति) तेरी जांघें मारी जाएंगी। (तं वा०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत्। (मित्रावरुणयोः ऊरूभ्याम्) मित्र और वरुण की बनी जाघों से पूर्व ऋषियों ने प्राशन किया था। (ताभ्याम् एनं प्राशिषं ताभ्याम् एनं अजीगमम्) उन दोनों से मैंने उसका प्राशन किया है और उन दोनों से उसको प्राप्त किया है। (एष वा०) यह ओदन.... इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। स्रामो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा०। त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम्। ताभ्यामेनं०।०।०॥ ४५॥

भा०—(एनं आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (याभ्यां च एतं०) जिन जानुओं से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का प्राशन किया है (ततः च एनं अन्याभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् प्राशीः) यदि इस ओदन का तू उनसे दूसरे जानुओं से प्राशन करेगा तो (स्रामः भविष्यसि इति) लंगड़ा हो जायगा। (तं वा०) तो फिर मैंने... इत्यादि पूर्ववत्। (त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्याम्) पूर्व ऋषियों ने त्वष्टा के बने जानुओं से ओदन का प्राशन किया था। (ताभ्यामेनं०) उन दोनों से मैंने....इत्यादि पूर्ववत्। (एव वा० इत्यादि) यह ओदन....पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह। तं वा०। अश्विनोः पादाभ्याम्। ताभ्यामेनं०।०।०॥ ४६॥

भा०—(एनं आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (याभ्यां चैतं) जिन पैरों से पूर्व ऋषियों ने ओदन का प्राशन किया (ततः च एनम्

अन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीः) यदि उनके सिवाय दूसरे पैरों से तू प्राशन करेगा तो (बहुचारी भविष्यसि इति) बहुचारी होगा, तुझे पैरों से बहुत चलना पड़ेगा। (तं वा०) तो फिर मैंने ...इत्यादि पूर्ववत्। (अश्विनोः पादाभ्याम्) पूर्व ऋषियों ने अश्वियों के बने चरणों से उस ओदन का प्राशन किया था। (ताभ्याम् एनं०) उन दोनों से मैंने....इत्यादि पूर्ववत्। (एष वा०) यह ओदन...इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। सवितुः प्रपदाभ्याम्। ताभ्यामेनं०।०।० ॥ ४७ ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (याभ्यां चैतं०) जिन पंजों से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का प्राशन किया था यदि तू (ततः च एनम् अन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीः) उनसे अतिरिक्त दूसरे पंजों से प्राशन करेगा तो (सर्पः त्वा हनिष्यति इति) सांप तुझे मार देगा। (तं वा०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत्। (सवितुः प्रपदाभ्याम्) पूर्व ऋषियों ने सविता के बने पंजों से ओदन का प्राशन किया था (ताभ्याम् एनम्० एष वा०) उनसे मैंने....इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह। तं वा०। ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं०।०।० ॥ ४८ ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (याभ्याम् च एतं०) जिन हाथों से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का प्राशन किया था ततः च एनम् अन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीः) यदि तू उनसे दूसरे हाथों से प्राशन करेगा तो तू (ब्राह्मणं हनिष्यसि) ब्राह्मण का घात करेगा। ब्रह्महत्या का भागी होगा। (तं वा० इत्यदि) तो फिर मैंने...पूर्ववत्। (ऋतस्य हस्ताभ्याम्) ऋत = सत्य परम तप व धर्म के हाथों से ऋषियों ने उसका प्राशन किया। (ताभ्याम् एनम् एष वा०) उनसे मैंने....इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह ।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
सत्ये प्रतिष्ठाय । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४९॥ (९)

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (यया च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिस प्रकार के 'प्रतिष्ठा' भाग से पूर्व ऋषियों ने इसका प्राशन किया (ततः च एनम् अन्यया प्रतिष्ठया प्राशीः) यदि तू उससे दूसरी प्रतिष्ठा भाग से इस ओदन का प्राशन करेगा तो तु (अप्रतिष्ठानः अनायतनः मरिष्यसि इति) विना घरके और विना आश्रय के मरेगा। (तं वा अहं०) तो फिर मैंने....इत्यादि पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने (सत्ये प्रतिष्ठाय) सत्य पर आश्रित होकर उस ओदन का प्राशन किया था। (तया एनं०) उसी प्रतिष्ठा से मैंने उस ओदन का प्राशन किया है, और (तया एनम् अजीगमम्) और उस द्वारा ही उसको प्राप्त किया है।

(एप वा ओदनः) यह ब्रह्म का विराट् स्वरूप (सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्व तनूः) सब अंग, जोड़ तथा शरीर वाला है। (यः एवं वेद०) ब्रह्म को जो इस प्रकार जानता है वह सर्वाङ्ग पूर्ण ब्रह्ममय हो जाता है।

संक्षेप में—मनुष्य यदि चाहे कि मैं अपनी स्वल्प शक्ति से ही परमेश्वर के समस्त ऐश्वर्यों का भोग कर लूं तो यह उसकी शक्ति से बाहर है। वह अपने जिस २ अंग से भी भोगने की चेष्टा करेगा वह ही उसका शीघ्र जीर्ण हो जायगा और विपत्तिग्रस्त हो जायगा। इसलिए उसको ब्रह्म का महान् ऐश्वर्य महान् शक्तियों के द्वारा ही भोगना चाहिए। उसके विराट् रूप का 'बृहस्पति' शिर है, द्यौः पृथिवी दो कान हैं, सूर्य और

चन्द्रमा दो आंखें हैं, ब्रह्म अर्थात् वेद उसका मुख है, अग्नि या विद्युत् उसकी जिह्वा है, ऋतु दांत है, सप्तऋषि सात प्राण हैं, अन्तरिक्ष फुफ्फुस है, द्यौः पृष्ठ है, पृथिवी छाती है, सत्य उदर है, समुद्र वस्तिस्थान है, मित्रावरुण उसकी जांघें है, त्वष्टा उसकी जानु या गोडे हैं, दो अश्वी दो पाद हैं, सविता उसके पंजे हैं, ऋत हाथ हैं, सत्य प्रतिष्ठा है । इनके द्वारा परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करना चाहिये ।

इसकी तुलना छान्दोग्य उपनिषद् में आये और कैकय देश के राजा अश्वपति द्वारा बतलाये 'वैश्वानर' प्रकरण से करनी चाहिये ।

[३ (३)] ब्रह्मज्ञ विद्वान् की निन्दा का बुरा परिणाम

अथर्वा ऋषिः ॥ ओदनो देवता॥ छन्दः—५० आसुरी अनुष्टुप्, ५१ आर्ची उष्णिक्, ५२ त्रिपदा भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्, ५३ आसुरीबृहती, ५४ द्विपदाभुरिक् साम्नी बृहती, ५५ साम्नी उष्णिक्, ५६ प्राजापत्या बृहती । सप्तर्चं तृतीयं पर्यायसूक्तम् ।

एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥५१॥

भा०—(५०) (यत् ओदनः) जो पूर्व सूक्तों में 'ओदन' कहा गया है (एतत् वै) वह (ब्रध्नस्य विष्टपम्) सकल संसार को अपने भीतर बांधने वाला, विशेष रूप से तपने हारा परम तेज है । (५१) (यः एवं वेद) जो इस प्रकार ज्ञान लेता है वह (ब्रध्नस्य) उस सबको बांधने वाले परम बन्धुरूप (विष्टपि) परम तेजोमय स्वरूप में (श्रयते) आश्रय पाता है । (ब्रध्नलोकः भवति) और स्वयं भी इसी प्रकार अन्यों को अपने आश्रय में बांधने वाला, आश्रयभूत हो जाता है ।

एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥

भा०—(एतस्माद् वा ओदनात्) इस 'ओदन' से (त्रयः त्रिंशतं लोकान्) ३३ देवों को (प्रजापतिः) ।पति ने (निःअसिमीत) बनाया

है । (तेषां प्रज्ञानाय) उनके उत्तम रीति से ज्ञान करने के लिये (यज्ञम् असृजत) प्रजापति ने यज्ञ को रचा । अर्थात् यज्ञ की रचना के ज्ञान से ही जगत् की रचना का भी ज्ञान हो जायगा ।

स य एवं विदुषं उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥
न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥ ५५ ॥
न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥५६॥ (१)

भा०—(५४) (यः) जो (एनं) पूर्वोक्त प्रकार के (विदुषः) प्राणरूप ओदन के रहस्य जानने वाले विद्वान् का (उपद्रष्टा) दोषदर्शी, निन्दक (भवति) होता है, (सः) वह अपने ही (प्राणं) प्राण बल को (रुणद्धि) विच्छेद करता है, अर्थात् अपने प्राण-बल का अन्त कर लेता है । (५५) (न च) और न केवल (प्राणं रुणद्धि) प्राण-बल का अन्त कर लेता है बल्कि (सर्वज्यानिम् जीयते) उसका सर्वनाश हो जाता है । (५६) (न च) और न केवल (सर्व ज्यानिं जीयते) सर्वनाश हो जाता है बल्कि (एनं) उसको (जरसः पुरा) बुढ़ापे के पहले ही (प्राणः जहाति) प्राण छोड़ देता है ।

[४] प्राणरूप परमेश्वर का वर्णन

भार्गवो वैदर्भिर्ऋषिः ॥ प्राणो देवता ॥ छन्दः—१ शंकुमती, ८ पथ्यापंक्तिः, १४ निचृत्, १५ भुरिक्, २० अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्, २१ मध्येज्योतिर्जगती, २२ त्रिष्टुप्, २६ बृहतीगर्भा, २-७-९-१३-१६-१९-२३-२५ अनुष्टुभः ।

षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

भा०—(प्राणाय) समस्त प्राणियों के प्राणस्वरूप परमेश्वर को (नमः) नमस्कार है, (यस्य) जिसके (वशे) वश में (इदं सर्वम्) यह समस्त संसार है । (यः) जो (भूतः) स्वयंभू (सर्वस्य ईश्वरः) सबका ईश्वर है और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्) जिस पर समस्त संसार आश्रित है ।

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥

भा०—हे (प्राण) प्राणस्वरूप परमेश्वर ! (क्रन्दाय ते नमः) सबको आह्लादित करने हारे परम आनन्दस्वरूप तुझको नमस्कार है । (स्तनयित्नवे ते नमः) समस्त संसार पर मेघ के समान सुखों, अन्नों, जलों और जीवनों की वर्षा करने हारे पर्जन्यरूप तुझ प्रजापति को नमस्कार है । हे (प्राणः) प्राण ! (ते विद्युते नमः) विद्युत् के समान प्रखर कान्ति से चमकने वाले प्रकाशस्वरूप तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! (वर्षते ते नमः) आनन्दधाराओं को वर्षण करते हुए तुझे नमस्कार है ।

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः ।
प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥

भा०—हे (प्राण) समस्त संसार के प्राणस्वरूप ! (यत्) (स्तनयित्नुना) मेघ द्वारा (ओषधीः अभिक्रन्दति) ओषधियों के प्रति गर्जते हो, (तदा) तब वे ओषधियां (प्र वीयन्ते) विशेष रूप से प्रजनन का कार्य करती हैं अर्थात् नर, मादा वनस्पतियां परस्पर के कुसुम परागों द्वारा संग करती हैं और फिर (गर्भान् दधते) गर्भ धारण करती हैं । (अथ) और बाद में (बह्वीः) नानाविध होकर (वि जायन्ते) विविध प्रकारों से उत्पन्न होती हैं ।

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः ।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

ऋ० ५ । ८३ । ९ उत्तरार्धेनोत्तरार्धः समः ॥

भा०—और हे (प्राण) प्राणप्रद प्रभो ! (ऋतौ आगते) मौसम आ जाने पर (यत्) जब (ओषधीः अभिक्रन्दति) ओषधियों और प्रजाओं के प्रति आप मेघ रूप में गर्जते हो (तदा सर्वं) तब समस्त संसार, (यत् किं च) जो कुछ भी (अधि भूम्याम्) इस भूमि में है, (प्र मोदते) आनन्द प्रसन्न हो जाता है ।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

भा०—(यदा) जब (प्राणः) प्राणप्रद मेघ रूप होकर प्रजापति (वर्षेण) वर्षा द्वारा (महीम् पृथिवीम्) विशाल पृथ्वी पर (अभि अवर्षीत्) बरसता है (तत्) तब (पशवः प्र मोदन्ते) पशु प्रसन्न होते हैं कि (नः) हमारे लिये (महः वै भविष्यति) बहुत अन्न उत्पन्न होगा ।

यदा त्वमथ वर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति ॥ प्रश्नोप० २ । १० ॥

हे प्राण जब तू बरसता है तब ये समस्त तेरी प्रजाएं आनन्द प्रसन्न होती हैं कि खूब अन्न होगा ।

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् ।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

भा०—(अभिवृष्टाः ओषधयः) वर्षा से सिंची हुई ओषधियां (प्राणेन सम् अवादिरन्) प्राणरूप-प्रजापति के साथ संवाद करती हैं कि हे प्रजापते ! (नः) हमें तू (वै) निश्चय से (आयुः प्रातीतरः) जीवन प्रदान करता है । (नः सर्वाः) हम सबको तू (सुरभीः अकः) सुगन्धित फल, रस आदि उत्पन्न करने में समर्थ बना देता है ।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

अथर्व० ११ । २ । १५ ॥

भा०—हे प्राण ! (आयते) आते हुए (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो । (परायते) जाते समय तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार हो । हे प्राण ! (तिष्ठते ते नमः) स्थिर होते हुए तुझे नमस्कार हो । (आसीनाय उत ते नमः) बैठे हुए तुझे नमस्कार हो । समस्त पदार्थों और जीवों में ये

क्रियाएं उसी प्राण के बल पर हैं, अतः उनकी वे दशायें 'प्राण' की ही हैं। उन दशाओं में वर्त्तमान 'प्राण' का हम आदर करते हैं।

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥

भा०—हे (प्राण प्राणते नमः) प्राण ! प्राण क्रिया करते, श्वास त्यागते हुए तुझे नमस्कार है। (अपानते नमः अस्तु) श्वास ग्रहण करते हुए तुझे नमस्कार है। (पराचीनाय ते नमः) देह से बाहर जाते हुए तुझे नमस्कार है और (प्रतीचीनाय) देह के भीतर आते हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार है। (सर्वस्मै ते) संसार के प्राणियों और समस्त चराचर पदार्थों के स्वरूप में विद्यमान तुझको (इदं नमः) हमारा यह नमस्कार, आदरभाव है।

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ९ ॥

भा०—हे प्राण ! (या ते प्रिया तनूः) जो तेरा प्रिय स्वरूप है और हे प्राण ! (यो = या उ) जो (ते) तेरी (प्रेयसी) प्रियतम आत्मरूप (तनूः) तनु है, (अथो यद् तव भेषजं) और जो तेरा कष्टों को दूर करने और आत्मा को शान्ति देने हारा अमृतमय स्वरूप है, (तस्य नः जीवसे धेहि) उसको हमारे जीवन के लिये प्रदान कर।

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥ १० ॥ (११)

भा०—(पिता प्रियम् पुत्रम् इव) पिता जिस प्रकार प्रिय पुत्र के प्रति उत्पादक, जीवनप्रद, पालक पोषक है, उसी प्रकार (प्राणः प्रजाः अनु वस्ते) प्राणस्वरूप परमेश्वर समस्त प्रजाओं के प्रति उनका उत्पादक, जीवनप्रद, पालक और पोषक है। वह (प्राणः) प्राण (यत् च प्राणति यत् च न) जो प्राण लेता है और जो प्राण नहीं लेता है (सर्वस्य ईश्वरः) उस सबका ईश्वर अर्थात् स्वामी है।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥ ११ ॥

भा०—(प्राणः मृत्युः) प्राण ही मृत्यु अर्थात् शरीर के आत्मा से वियुक्त होने का कारण है। (प्राणः तक्मा) जीवन में ज्वर आदि होने का मूलकारण भी वही प्राण है। (देवाः) समस्त देवगण अर्थात् पृथ्वी, सूर्य चन्द्र आदि लोक और वाग् चक्षु आदि इन्द्रियगण और विद्वान् पुरुष (प्राणम् उपासते) प्राण की उपासना करते हैं। (प्राणः ह) निश्चय से सर्वप्राणेश्वर ही (सत्यवादिनम्) सत्यवादी पुरुष को (उत्तमे लोके आ दधत्) उत्तम लोक में स्थापित करता है।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्वं उपासते ।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ १२ ॥

भा०—(प्राणः विराट्) प्राण ही 'विराट्' रूप है, (प्राणः देष्ट्री) प्राण ही सबका उपदेष्टा है, (सर्वे) समस्त विद्वान् (प्राणम् उपासते) प्राण की उपासना करते हैं, (प्राणः ह सूर्यः) वह प्राण ही 'सूर्य' शब्द से कहा जाता है, (चन्द्रमाः) वही 'चन्द्रमा' शब्द से कहा जाता है। (प्राणम् प्रजापतिम् आहुः) उस प्राण को ही 'प्रजापति' नाम से विद्वान् पुकारते हैं।

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥ १३ ॥

भा०—(प्राणपानौ व्रीहियवौ) प्राण और अपान इन दोनों को वेद के शब्दों में 'व्रीहि' और 'यव' नाम से कहा जाता है। (प्राणः अनड्वान् उच्यते) वह पूर्वोक्त प्राण 'अनड्वान्' शब्द से कहा जाता है। (यवे ह प्राण आहितः) 'यव' में प्राण स्थित है और (अपानः व्रीहिः उच्यते) अपान 'व्रीहि' कहाता है। 'यव' शब्द से कहने योग्य वह शक्ति है जो कि संसार में पञ्चभूतों को परस्पर मिलाती है वह 'प्राण' है; और जो बढ़ाती

व पुष्ट करती है वह 'व्रीहि' अर्थात् अपान है। अनस् अर्थात् प्राणशक्ति का वह वहन कर रहा है इसलिये वह 'अनड्वान्' है।

अपानाति प्राणाति पुरुषो गर्भे अन्तरा।

यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ १४ ॥

भा०—(अपानति प्राणति) मातृ गर्भ में बच्चा श्वास लेता और श्वास त्यागता है। हे (प्राण) प्राणेश्वर! (यदा त्वं जिन्वसि) जब तू उस गर्भस्थ बालक को परिपुष्ट कर देता है (अथ) तब (सः पुनः) वह (जायते) बालक रूप में उत्पन्न होता है।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

भा०—(प्राणम् मातरिश्वानम् आहुः) प्राणेश्वर को ही 'मातरिश्वा' नाम से पुकारते हैं। (वातः ह प्राणः उच्यते) वह 'प्राण' 'वात' शब्द से कहा जाता है। (प्राणे ह भूतं भव्यं च) भूत और भविष्यत् दोनों प्राण में प्रतिष्ठित हैं। (प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्) प्राण में सर्व संसार आश्रित है।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।

ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥ १६ ॥

भा०—(आथर्वणीः आङ्गिरसीः) आथर्वणी, आङ्गिरसी दैवीः मनुष्यजाः) दैवी और मानुषी (ओषधयः) ओषधियां (प्र जायन्ते) तब उत्पन्न होती हैं (यदा) जब हे (प्राण) प्राणेश्वर (त्वं जिन्वसि) तू उनको तृप्त करता है।

इस मन्त्र में—'आथर्वणी', 'आङ्गिरसी', 'दैवी' और 'मनुष्यजा' वैदिक ओषधिशास्त्र में 'अथर्वा' अर्थात् आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाली 'आथर्वणी', अंगों में रस, बल और धातु की पोषक ओषधियां 'आंगिरसी', देव अर्थात् इन्द्रियों की शक्तियों को बढ़ाने वाली 'दैवी' और मनुष्यों द्वारा स्वयं विचार पूर्वक परस्पर योगों व यन्त्रों से बनाई

'मनुष्यजा', इस प्रकार ये चार विभाग उनके विशेष २ उपचारों के कारण प्रतीत होते हैं।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः ॥ १७ ॥

भा०—(यदा) जब (प्राणः) प्राण (वर्षेण) वर्षा के रूप में (महीम् पृथिवीम्) इस विशाल पृथ्वी पर (अभि अवर्षीत्) वर्षता है, (अथो) तब (ओषधयः) ओषधियां और (याः च काः च) जो कोई भी (वीरुधः) नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाली लताएं हैं वे सब (प्र जायन्ते) खूब पैदा होती हैं।

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥ १८ ॥

भा०—हे (प्राण) प्राणेश्वर ! (यः ते इदं वेद) जो उपासक तेरे इस तत्व को जान लेता है और (यस्मिन् च) जिस उपासक में (प्रतिष्ठितः असि) तू दृढ़ स्थिति पा जाता है उसे (तस्मै) उसको (सर्वे) सब (अमुष्मिन् उत्तमे लोके) उस परम उत्तम लोक में भी (बलिं हरन्ति) बलि, पूजोपहरादि द्रव्य (हरान्) उपस्थित करते हैं। उसका आदर सत्कार करते हैं।

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥ १९ ॥

भा०—हे (प्राण) प्राणेश्वर ! (यथा) जिस प्रकार (तुभ्यं) तुम्हारे लिये (इमाः सर्वाः प्रजाः) ये समस्त प्रजाएं (बलिहृतः) बलि भेंट करती हैं और तुम्हारी उपासना करती हैं, (एवा) उसी प्रकार (यः त्वा) जो (सुश्रवः) उत्तम श्रवण धारणशक्ति युक्त होकर तेरे विषयक ज्ञान को (शृणवत्) सुनता है, (अस्मै बलिं हरान्) समस्त प्राणी उसके लिये भी बलि, भेंट पूजा की सामग्री उपस्थित करते, उसका आदर करते हैं।

तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि । प्रश्न० २।७

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः ।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥(१२)

भा०—(देवतासु) पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि देवों में वह 'प्राण' ही (गर्भः) ग्रहणशक्ति और धारणशक्ति होकर, (अन्तः चरति) उनके भीतर क्रिया कर रहा है। (सः) वही (आभूतः) व्यापक होकर (भूतः) भूतकाल में प्रकट होकर (पुनः जायते) फिर सृष्टिरूप में प्रकट होता है। वह (भूतः) भूतकाल में भी विद्यमान वह (भव्यं भविष्यत्) 'भव्य' अर्थात् भविष्यत् रूप में भी अपनी (शचीभिः) शक्तियों द्वारा इस प्रकार (प्र विवेश) प्रविष्ट रहता है जिस प्रकार (पिता पुत्रम्) पिता अपने सूक्ष्म अवयवों और संस्कारों से युक्त बीज द्वारा पुत्र में प्रविष्ट होता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदा चन ॥ २१ ॥

भा०—(हंसः) वह परम पुरुष, प्राण (सलिलात्) जिस प्रकार हंस नाम जलजीव एक पैर उठाकर भी दूसरा पैर पानी में ही स्थिर रखता है उसी प्रकार इस (सलिलात्) महान् संसार से (उत् चरत्) ऊपर मोक्षरूप में असङ्ग रहकर भी (एकं पादं) अपना एक चरण संसार से (न उत्खिदति) नहीं उखाड़ता। इसी से यह संसार चलता है। (अङ्ग) हे जिज्ञासो ! (यत्) यदि (सः) वह परमेश्वर (तम् उत् खिदेत्) उस चरण को भी ऊपर उठा ले तब (नैव अद्य न श्वः स्यात्) तो न आज और न कल हुआ करे अर्थात् (न रात्री न अहः स्यात्) न रात और न दिन हुआ करे, (न विउच्छेत्) और न उषाकाल ही हो। क्योंकि उसका सर्व प्रवर्त्तक चरण चालक शक्ति संसार से उठ जाने से समस्त ससार जड़ हो जाय और न चले। न सूर्य चले न चन्द्र, न उदित हो न अस्त।

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ २२ ॥
अथर्व० १० । ८ । ७ । १३ ॥

भा०—(अष्टाचक्रम्) आठ चक्रों और (एकनेमि) एक नेमि अर्थात् चक्रधारा से युक्त है, (सहस्राक्षरम्) उसमें सहस्रों अक्ष अर्थात् धुरे हैं। (प्र पुरः नि पश्चा) वह आगे जाता और पीछे को भी लौट आता है। वह प्राण रूप प्रजापति (अर्धेन विश्वं भुवं जजान) अर्ध भाग से समस्त विश्व को उत्पन्न करता है और (यद् अस्य अर्धम्) इसका जो अर्ध है (सः केतुः) वह ज्ञानमय (कतमः) कौनसा है ?

शरीर का प्राण उस महाप्राण का एक प्रतिदृष्टान्त है। इस शरीर में त्वचा रुधिर आदि सात और ओज आठवीं धातु आठ 'चक्र' हैं, ये शरीर को बनाती हैं, उन पर 'प्राण' ही एक 'नेमि' अर्थात् हाल चढ़ा है। मन के संकल्प विकल्प रूप सहस्रों उसमें 'अक्ष' हैं। वह प्राण बाहर और भीतर जाता है। आधे से इस शरीर को थामता और आधे से वह स्वयं आत्मरूप है। अर्थात् एकांश से कर्त्ता और एकांश से भोक्ता है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में पृथिवी आदि पञ्चभूत, काल, दिशा, पंच कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति ये आठ संसार के प्रवर्त्तक 'चक्र' हैं। उन पर एक 'नेमि' उनका वशयिता 'प्राण' परमेश्वर है। वह (प्र पुरः नि पश्चा) इस संसार को आगे ढकेलता और पीछे प्रलय में ले जाता है। उसका अर्ध = विभूतिमत् अंश समस्त विश्व को उत्पन्न करता है और दूसरा 'अर्ध' विभूतिमान् स्वरूप ज्ञानमय है जो 'कतमः' अज्ञेय है। न जाने कौनसा और कैसा है ? अथवा 'क-तमः' अतिशय सुख स्वरूप, 'परमानन्द' रूप है।

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः ।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥

भा०—(यः) जो (अस्य चेष्टतः विश्वस्य) समस्त इस क्रियाशील विश्व की (विश्वः जन्मनः) नाना प्रकार की उत्पत्ति पर (ईशे) सामर्थ्यवान् है, अथवा नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाले इस क्रियाशील विश्व पर वश कर रहा है और (अन्येषु) अन्य प्राणियों में भी (क्षिप्रधन्वने) अति शीघ्रता से गति दे रहा है। हे (प्राण) हे प्राणेश्वर ! (तस्मै ते नमः अस्तु) उस तेरे लिये हम नमस्कार करते हैं।

'क्षिप्रधन्वने' शब्द से भव शर्वसूक्त अथर्व० ११ । ३ । ७ ॥ में आये 'अस्त्रा', शब्द पर प्रकाश पड़ता है । 'क्षिप्रं गच्छते, व्याप्नुवते' इति सायणः ।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ २४ ॥

भा०—(यः) जो (अस्य सर्वजन्मनः) सब प्रकारों से उत्पन्न होने वाले, (चेष्टतः सर्वस्य) और क्रियाशील समस्त संसार के ऊपर (ईशे) वश किये हुए है, (सः) वह जगदीश्वर, (प्राणः) सबके प्राणों का प्राण, (अतन्द्रः) आलस्य और निद्रा से रहित, (धीरः) प्रज्ञावान्, (ब्रह्मणा) अपनी अन्नरूप शक्ति से (मा अनु तिष्ठतु) मुझे प्राप्त हो। अथवा वेदज्ञान के रूप में प्राप्त हो।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार नुनु तिर्यङ् नि पद्यते ।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥

भा०—हे प्राण ! तू (ऊर्ध्वः) सबके ऊपर विराजमान शासक होकर (सुप्तेषु) सबके सो जाने पर भी (जागार) जागता रहता है। (ननु) साधारण लोग तो (तिर्यङ्) तिरछा होकर (नि पद्यते) नीचे निद्रा में गिर पड़ता है पर तब भी तू जागता रहता है। (सुप्तेषु) सोते हुए प्राणियों में भी (अस्य) इस प्राण के (सुप्तम्) सो जाने के विषय की बात को (कश्चन) किसी ने भी (न) नहीं (अनु शुश्राव) सुना ।

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥ २६ ॥ (१३)

भा०—हे (प्राण) प्राण ! (मत्) मुझसे (मा परि आवृतः) दूर पराङ्मुख मत हो । तू (मद् अन्यः) मुझसे पृथक् (न भविष्यसि) नहीं हो सकता । हे (प्राण) प्राण ! (अपां) समस्त कार्यों और विज्ञानों को (गर्भम् इव) ग्रहण करने हारे परम सामर्थ्यवान् वसु के समान (त्वा) तुझको ही (जीवसे) जीवन धारण के लिये (मयि) अपने में मैं (बध्नामि) बांधता हूँ ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् , द्व्यशीतिश्च ऋचः ।]

[५] ब्रह्मचारी

ब्रह्मा ऋषिः ॥ ब्रह्मचारी देवता ॥ छन्दः—पुरोतिजागता विराड्गर्भा, २ पञ्चपदा बृहतीगर्भा विराट् शक्वरी, ३ उरोबृहती । ६ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती, ७ विराड्गर्भा, ८ पुरोतिजागता विराड् जगती, ९ बार्हतगर्भा, १० भुरिक् , ११ जगती, १२ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराड् अति जगती, १३ जगती, १५ पुरस्ताज्ज्योतिः, १४, १६–२२ अनुष्टुप् , २३ पुरोबार्हतातिजागतगर्भा, २५ आर्ची उष्णिग् २६ मध्ये ज्योतिरुष्णिगगर्भा । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

भा०—(ब्रह्मचारी) वेद के अध्ययन में दृढ़ ब्रह्मचर्य का पालन करने हारा ब्रह्मचारी, (उभे रोदसी) द्यौः और पृथिवी माता और पिता दोनों का (इष्णन्) अनुकरण करता हुआ (चरति) पृथ्वी पर विचरण करता है । (तस्मिन्) उसमें (देवाः) समस्त विद्वान् (समनसः) एक चित्त (भवन्ति) हो जाते हैं । (सः) वह (पृथिवीं दिवं च दाधार) पृथिवी और द्यौः = सूर्य माता और पिता विद्या और गुरु दोनों को धारण करता है । (सः) वह (आचार्यम्) अपने आचार्य को (तपसा) तप से (पिपर्ति) पालन और पूर्ण करता है ।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥

भा०—(ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को देखकर (पितरः) उस पिता आदि, (देवजनाः) दान-शील पुण्यात्मा लोग और (देवाः) तत्त्वदर्शी विद्वान् (पृथक्) अलग २ (सर्वे) सब (अनुसंयन्ति) उसकी रक्षा के लिये तदनुकूल रूप में उसके पीछे २ चलते हैं। (गन्धर्वाः) गन्धर्व अर्थात् सामान्य पुरुष भी (एनम् अनु आयन्) उसकी रक्षार्थ तदनुकूल रूप में उसके पीछे २ चलत हैं। (षट्सहस्राः त्रिशताः त्रयः त्रिंशत्) जैसे सूर्य ६३३३ अथवा ३३ और ३०३ और ६००० देव हैं (सः सर्वान् देवान्) समस्त विद्वद् गण का (तपसा पिपर्ति) अपने तप से पालन करता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य के बल से सबका धारण पोषण करता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥३॥

भा०—(उपनयमानः आचार्यः) उपनयन संस्कार करता हुआ आचार्य (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (अन्तः गर्भम्) अपने भीतर, गर्भ को माता के समान, (कृणुते) धारण करता है। (तिस्रः रात्रीः) तीन रातों तक अर्थात् तीन दिन उसको उसकी (उदरे बिभर्ति) माता के समान अपने में धारता है। (जातम्) ब्रह्मचारी बनते हुए उसको (द्रष्टुम्) देखने के लिये (देवाः) देव कोटि के लोग भी (अभिसंयन्ति) चारों ओर से आते हैं। स ह विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म जनयतः। शरीरमेव मातापितरौ इति (आप० ध० १। १। १४-१)

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥

भा०—(इयं पृथिवी) यह पृथिवी (समित्) ब्रह्मचारी की प्रथम

समिधा है। (द्यौः द्वितीया) यह द्यौ दूसरी समिधा है। (उत अन्तरिक्षं) और अन्तरिक्ष तीसरी समिधा है। इन तीनों को ब्रह्मचारी (समिधा) अपने अग्नि में आहुति की गई समिधा अर्थात् आचार्य रूप अग्नि से प्रज्वलित अपने ज्ञानवान् आत्मा से (पृणाति) पालन करता और पूर्ण करता है। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मज्ञान में दीक्षित ब्रह्मचारी (समिधा) समित् आधान द्वारा और (मेखलया) मेखला द्वारा, (श्रमेण) श्रम द्वारा और (तपसा) तप द्वारा (लोकान्) समस्त मनुष्यों का (पिपर्ति) पालन करता है।

समिद्-आधान में—ब्रह्मचारी नियम से आचार्य की अग्नि में तीन समिधा या पलाशकाष्ठ मन्त्रपाठपूर्वक आहुति करता है इसका तात्पर्य यह होता है कि भूलोक में अग्नि, मध्यम लोक में विद्युत् और द्यौ लोक में सूर्य ये तीन अग्नियें हैं, उनके समान तेजस्वी होकर वह तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ होता है।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥५॥

भा०—(ब्रह्मणः) ब्रह्म अर्थात् जगत् के आदि कारण परमेश्वर से (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ब्रह्म की शक्ति से विचरण करने वाला सूर्य (पूर्वः जातः) सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ। वह (घर्मं वसानः) तेजोमय रूप को धारण करता हुआ (तपसा उद् अतिष्ठत्) तप से ऊपर उठा और उस ब्रह्मचारी से (ब्राह्मणम्) ब्रह्म का अपना स्वरूप (ज्येष्ठम्) सबसे उत्कृष्ट (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान और (अमृतेन साकम्) उस अमृत दीर्घ जीवन के साथ २ (सर्वे च देवाः) सब विद्वान् भी उत्पन्न हुए। वेद का विद्वान् ब्रह्मचारी पूर्व आश्रम में उत्पन्न होकर तप करता हुआ बड़ा होता है, उससे प्रकट हुआ वेद का ज्ञान सबसे उत्कृष्ट रूप में फैलता है और उसके साथ सब विद्वान् अमृतमय तेज के साथ वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥६

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) प्रज्वलित काष्ठ के समान देदीप्यमान तेज से (समिद्धः) भली प्रकार तेजस्वी होकर, (कार्ष्णं वसानः) कृष्ण मृग का चर्म धारण करता हुआ, (दीक्षितः) व्रत में दीक्षित होकर, (दीर्घश्मश्रुः) डाढ़ी, मोंछ के लम्बे केशों को रखे हुए, (एति) जब गुरु गृह से आता है, तब (सः) वह (सद्यः) शीघ्र ही (पूर्वस्मात् समुद्रात् उत्तरं समुद्रम्) जिस प्रकार तेजस्वी सूर्य पूर्व के समुद्र या आकाश भाग को पार करता हुआ उत्तर समुद्र में या आगे के आकाश भाग में प्रवेश करता है उसी प्रकार वह भी पूर्व समुद्र अर्थात् ब्रह्मचर्य को पार कर (उत्तरं समुद्रम्) उसके उपरान्त पालन करने योग्य गृहस्थ आश्रम में (एति) प्रवेश करता है और वहां (लोकान् संगृभ्य) अपने साथ के लोगों को अपने साथ मिलाकर (मुहुः) बराबर (आचरिक्रत्) अपने वश करता है।

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ही (ब्रह्म) ब्राह्मण वर्ण को, (अपः) आप्त पुरुषों को, (लोकम्) इस भूलोक को, (प्रजापतिम्) प्रजा के पालक (परमेष्ठिनम्) परम सर्वोच्चस्थान पर स्थित सम्राट् को, और (विराजम्) विराट् अर्थात् छोटे राजाओं को भी (जनयन्) शक्ति सम्पन्न करता हुआ, तथा (अमृतस्य योनौ) मोक्ष के परम स्थान परमेश्वर में (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप होकर (इन्द्रः ह) और साक्षात् इन्द्र होकर (असुरान्) असुर शक्तियों का (ततर्ह) विनाश करता है। प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् और इन्द्र ये उत्तरोत्तर विभूतिमान् पद हैं जिनको ब्रह्मचारी ही प्राप्त हो सकता है और वही असुरों, दुष्टों का संहार करता है।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥

भा०—(आचार्यः) जिस प्रकार सबका परम आचार्य परमेश्वर (इमे) इन दोनों (उर्वी) विशाल, (गम्भीरे) गम्भीर, (नभसी) सबको अपने भीतर बांधने वाले (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्यौलोक को (ततक्ष) बनाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी का आचार्य ही माता और पिता को और प्रजा और राजा को भी विशाल, गम्भीर और यशस्वी बना देता है। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तपसा) अपने तप से (ते) उन दोनों की (रक्षति) रक्षा करता है। (तस्मिन्) ऐसे ब्रह्मचारी में (देवाः) समस्त विद्वान् गण (संमनसः भवन्ति) एकचित्त होकर रहते हैं।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

भा०—(प्रथमः) सबसे प्रथम (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (इमां पृथिवीं भूमिम्) इस विशाल पृथिवी को और (दिवं च) द्यौलोक को (भिक्षाम्) भिक्षा के निमित्त ग्रहण करता है और (ते) उन दोनों को (समिधौ कृत्वा) समिधा बनाकर (उपास्ते) परमात्मा की उपासना करता है, वह अग्नि और आचार्य की उपासना करता है। (तयोः) उन दोनों में ही (विश्वा भुवनानि आर्पिता) समस्त भुवन, प्राणी आश्रित हैं। मानो भिक्षा द्वारा वह समस्त प्राणियों के योगक्षेम की ही कामना को प्रगुणित करता है। भूमि और द्यौ उसकी दो समिधा, माता पिता और गुरु हैं, वा पृथ्वी और अग्नि हैं। वह अपनी विनय वृत्ति से दोनों के गुणों को उज्वल करता है।

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् १० (१६)

भा०—(अन्यः) एक वेदज्ञान (अर्वाक्) यहां है और (अन्यः) दूसरा स्वयं ब्रह्म (दिवः पृष्ठात् परः) द्यौ लोक से भी परे है (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मशक्ति से सम्पन्न पुरुषों के (निधी) ये दो खजाने हैं (गुहा निहितौ) जो कि गुहा में स्थित हैं (तौ) उन दोनों की (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तपसा) अपने तपोबल से (रक्षति) रक्षा करता है। (विद्वान्) ब्रह्मचारी विद्या से

सम्पन्न होकर (तन्) उस (केवलं) केवल, मोक्षरूप (ब्रह्म) महान् ब्रह्म को (कृणुते) प्राप्त करता है ।

निधि = खजाने—एक तो यह ब्रह्मकोश है वेद का विज्ञान, दूसरा स्वयं ब्रह्मपद । ये दोनों उसके गुरु या आचार्य के हृदय के भीतर विराजमान हैं । वह तप से दोनों को धारण करता है और ब्रह्मज्ञान के बलपर, केवल परमपद प्राप्त करता है । आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः । मनु० ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृ॑थि॒व्या अ॒ग्नी स॒मेतो नभ॑सी अन्त॒रेमे ।
तयोः श्रयन्ते र॒श्मयोऽधि दृ॒ढास्ताना तिष्ठति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री ।११

भा०—(इतः पृथिव्याः) इस पृथिवी के भी (अर्वाक्) नीचे (अन्यः) एक और्वानल नामक अग्नि है और (अन्यः) दूसरा (पृथिव्याः) इस पृथिवी का पार्थिव अग्नि है, ये दोनों (अग्नी) अग्निएं (इमे नभसी अन्तः) इन दोनों लोकों के बीच में (सम् एतः) परस्पर संगत होते हैं । (तयोः) उन दोनों में (अति दृढा) अत्यन्त दृढ़ (रश्मयः) रश्मियें, किरणें (श्रयन्ते) आश्रित हैं । (तान्) उनको ब्रह्मचारी (तपसा) अपने तपोबल से (आ तिष्ठति) प्राप्त होता है ।

अ॒भि॒क्रन्द॑न् स्त॒नय॑न्नरु॒णः शि॑ति॒ङ्गो बृ॒हच्छेपोऽनु॒ भूमौ॑ जभार ।
ब्र॒ह्म॒चा॒री सि॑ञ्चति॒ सानौ॒ रेतः॑ पृथि॒व्यां तेन॑ जीवन्ति प्र॒दिश॒श्च॑त॑स्रः ॥ १२ ॥

भा०—मेघ के समान ब्रह्मचारी (अभिक्रन्दन् स्तनयन्) सबको प्रसन्न करता हुआ, गर्जता हुआ, (अरुणः) सूर्य के समान तेजस्वी, (शितिङ्गः = क्षितिङ्गः) प्रदीप्ताङ्ग, (बृहत्शेपः भूमौ अनु जभार) भूमि पर बड़ा भारी वीर्य धारण किये रहता है । वह (सानौ) पर्वत के शिखर के समान महान् उच्च कार्य में या (पृथिव्यां) पृथिवी के समान उपकार की विशाल भूमि में अपना (रेतः सिञ्चति) वीर्य और सामर्थ्य लगा देता है । (तेन जीवन्ति प्रदिशः चतस्रः) उससे चारों दिशाओं के प्राण धारण करते, जीवन जागृत प्राप्त करते और सुखी होते हैं ।

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति ।
ता सांमर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥१३॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् अप्सु) अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में और जलों में (समिधम्) अपने देदीप्यमान तेज को (आ दधाति) धारण कराता है। (तासाम्) अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु और जल इनके (अर्चींषि) अपने २ तेज (पृथक्) अलग २ (अभ्रे) आकाश में (चरन्ति) दृष्टि गोचर होते हैं। (तासाम्) उनके ही सामर्थ्य से (आज्यम्) दूध, घी, अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और (पुरुषः) पुरुष आदि जीव उत्पन्न होते हैं, (वर्षम्) काल पर वर्षा होती और (आपः) यथेष्ट कूप तड़ागादि के जलों की सुविधा होती है ।

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व राभृतम् ॥ १४ ॥

भा०—(आचार्यः) आचार्य, (मृत्युः) मृत्यु, (वरुणः) वरुण, (सोमः) सोम, (ओषधयः) ओषधियें (पयः) जल और (जीमूताः) मेघ ये सब पदार्थ (सत्वानः) बल सम्पन्न हैं। (तैः) इन्होंने ही (इदं स्वः) यह तेजोमय ब्रह्माण्ड लोक (आभृतम्) धारण किया है ।

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

भा०—(वरुणः) सर्वश्रेष्ठ पुरुष (आचार्यः भूत्वा) आचार्य होकर (केवलम्) स्वयं (घृतम्) अतिदीप्त ज्ञानमय (अमा) अपरिमित तेज को (कृणुते) साधता है। इसलिये वह (यत् यत् ऐच्छत्) जो २ पदार्थ गुरुदक्षिणा रूप में चाहता है (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (मित्रः) आचार्य का मित्र होकर (आत्मनः स्वान्) अपने धन आदि पदार्थों को (प्रजापतौ) प्रजापति अर्थात् गुरु में ही (प्रायच्छत्) अर्पण करता है ।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रो ऽभवद् वशी ॥ १६ ॥

भा०—(आचार्यः ब्रह्मचारी) आचार्य स्वयं प्रथम ब्रह्मचारी होता है। (ब्रह्मचारी प्रजापतिः) ब्रह्मचारी पुरुष ही बाद में प्रजापति प्रजा का पालक, उत्तम गृहाश्रमी होता है। (प्रजापतिः) प्रजा का पालक गृहस्वामी ही (वि राजति) नाना प्रकार से शोभा पाता है। (वशी) वशी पुरुष ही (विराट् इन्द्रः अभवत्) विराट् नाना प्रकार से शोभा देने वाला, साक्षात् इन्द्र, आचार्य हो जाता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥

भा०—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य रूप तप से (राजा राष्ट्रम्) राजा राष्ट्र की (वि रक्षति) नाना प्रकार से रक्षा करता है। आचार्य भी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के बल से ही (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (इच्छते) अपने अधीन व्रत पालन कराना चाहता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ १८ ॥

भा०—(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के पालन से (कन्या) कन्या (युवानं पतिम् विन्दते) युवा पति को प्राप्त करती है और (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य रूप इन्द्रिय संयम द्वारा ही (अनड्वान्, अश्वः) गाड़ी का भार उठाने वाला बैल और घोड़ा (घासं जिगीर्षति) घास खाने में समर्थ होता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥

भा०—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपोबल से (देवाः मृत्युम् अप अघ्नत) देव, विद्वान् पुरुष मृत्यु को भी विनाश कर देते हैं, वे मृत्युंजय हो जाते हैं। (इन्द्रः ह) निश्चय से इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के बल पर (देवेभ्यः) प्रजा-वासियों को अपने राष्ट्र में (स्वः आभरत) स्वर्ग के समान सुख प्राप्त कराता है।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥

भा०—(औषधयः) ओषधियें, (भूतभव्यम्) भूत काल, भविष्यत् काल, (अहोरात्रे) दिन और रात्रि (संवत्सरः सह ऋतुभिः) ऋतुओं सहित वर्ष, (ते) वे सब (ब्रह्मचारिणः जाताः) ब्रह्मचारी सूर्य के तप से उत्पन्न होते हैं।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

भा०—(पार्थिवाः) पृथिवी के और (दिव्याः) द्यौलोक के समस्त लोक, (पशवः) पशु जो (आरण्याः) जंगली और (ग्राम्याश्च ये) जो गांव के हैं और (अपक्षाः) बिना पंख के प्राणी और (ये पक्षिणः च) जो पंख वाले भी हैं (ते ब्रह्मचारिणः जाताः) वे सब ब्रह्मचारी के ही तप से या वीर्य से ही उत्पन्न होते हैं ।

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥

भा०—(सर्वे) सब (प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मा की सन्तानें जो (आत्मसु) अपने देहों में (पृथक्) पृथक् २ (प्राणान् बिभ्रति) प्राणों को धारण करते हैं, (तान् सर्वान्) उन सबकी (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी में (आभृतं) सुरक्षित (ब्रह्म) वीर्य ही (रक्षति) रक्षा करता है ।

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥२३॥

भा०—(देवानाम् एतत् परिषूतम्) देवों को भी यह ब्रह्म रूप वीर्य सब प्रकार से प्रेरणा करने वाला संचालक (अनभ्यारूढम्) किसी के भी वश न होकर, सर्वोपरि विराजमान, (रोचमानम्) अति प्रकाशमान होकर (चरति) व्याप्त है । (तस्मात्) उससे (ब्राह्मणम्) ब्रह्म से उत्पन्न (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म, वेदज्ञान और (अमृतेन साकम्) अमृत,

दीर्घायु, मोक्ष के साथ (सर्वे देवाः च) समस्त देवगण, दिव्य सूर्यादि लोक और विद्वान् गण भी (जातम्) उत्पन्न हुए हैं।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥२४॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी पुरुष (भ्राजद् ब्रह्म बिभर्ति) अति प्रकाशमान ब्रह्म अर्थात् वीर्य और वेद को धारण करता है। (तस्मिन्) उसमें ही (विश्वे देवाः) समस्त इन्द्रियगण और उत्तम गुण (अधि सम् ओताः) समाये हुए हैं। वह (प्राणपानौ) प्राण और अपान को और (आत्) अनन्तर (व्यानं वाचं मनः हृदयं ब्रह्म मेधाम्) व्यान अर्थात् व्यापक प्राण, वाणी, मन, हृदय, ब्रह्म और मेधा बुद्धि को (जनयन्) स्वयं अपने भीतर उत्पन्न करके धारण करता है।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥

भा०—हे ब्रह्मचारिन्! (अस्मासु) हम प्रजाओं में आप (चक्षुः श्रोत्रं यशः) चक्षु, श्रोत्र, यश और (अन्नं रेतः लोहितम् उदरं) अन्न वीर्य रक्त और उत्तम जाठर अग्नि से युक्त पेट को भी (धेहि) धारण कराओ।

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥ (१६)

भा०—(तानि) पूर्वोक्त प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, ब्रह्म, मेधा, यश, अन्न, वीर्य आदि समस्त धातुओं को (कल्पत्) धारण करता हुआ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समुद्रे) समुद्र के समान ज्ञान और सामर्थ्य में गम्भीर परमेश्वर के आधार पर, (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल अर्थात् जल के समान सर्व जीवनाधार परमेश्वर के आनन्द रस के पृष्ठ पर, समुद्र के जल के ऊपर तपते हुए सूर्य के समान (तपः तप्यमानः) तप करता हुआ (अतिष्ठत्) विराजता है। (सः) वह (स्नातः) विद्या और व्रत में निष्णात होकर (बभ्रुः) ज्ञान धारण में समर्थ, प्रकाशमान,

तेजस्वी, (पिङ्गलः) ओजस्वी होकर, (बहु रोचते) अत्यन्त अधिक शोभा देता है ।

[६] पाप से मुक्त होने का उपाय

शंतातिर्ऋषिः ॥ चन्द्रमाः उत मन्त्रोक्ताः देवताः ॥ छन्दः—२३ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, १–१७, १९–२२ अनुष्टुभः, १८ पथ्यापंक्तिः । त्रयोविंशर्चं सूक्तम् ॥

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः ।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—(अग्निम्) परमेश्वर, (वनस्पतीन्) वनस्पतियों, (ओषधीः वीरुधः) ओषधिरूप लताओं, (इन्द्रम्) ज्ञानैश्वर्यवान् आचार्य और (बृहस्पतिं) वेदवाणी के पालक, तथा (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी आदित्य ब्रह्मचारी के (ब्रूमः) गुणों का वर्णन करें कि जिससे (ते) वे सब (नः अंहसः) हमें पाप और कष्टों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् ।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो० ॥ २ ॥

भा०—(राजानम्) सबके राजा, (वरुणम्) सर्वश्रेष्ठ, (विष्णुम्) सर्वव्यापक, (मित्रम्) सबके स्नेही तथा मृत्यु से भी त्राणकारी, (अथो भगम्) और ऐश्वर्यवान्, (अंशम्) सर्वान्तर्यामी, (विवस्वन्तम्) सब लोकों को बसाने हारे, सबके हृदयों में नाना रूपों से बसने वाले परमात्मा का या इन २ गुणों के धारण करने वाले महात्माओं को हम (ब्रूमः) वर्णन करें कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें अपने गुणों के प्रभाव से पाप से मुक्त करें ।

ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम् ।
त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो० ॥ ३ ॥

भा०—(देवं सवितारम्) सर्वदाता, सर्वप्रेरक, (धातारं पूषणम्) सर्वधारक, सर्वपोषक, (त्वष्टारम्) सर्वजगदुत्पादक, (अग्रियं) सबके

आदि मूल कारण प्रभु परमेश्वर का (ब्रूमः) वर्णन करें कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) परमात्मा के वे समस्त गुण हमें पाप से बचावें ।

गन्धर्वाप्सरसौ ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् ।

अर्यमा नाम यो देवस्ते नो० ॥ ४ ॥

भा०—(गन्धर्वाप्सरसः) सच्चरित्र नवयुवक पुरुष और सती स्त्रियां, (अश्विनौ) माता और पिता (ब्रह्मणस्पतिम्) वेद के पालक, विद्वान् आचार्य और (अर्यमा) सर्वश्रेष्ठ, न्यायकारी (यः देवः) जो सब देवों का देव राजा है (ब्रूमः) हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि (ते) वे (नः) हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पापों से मुक्त करें ।

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा ।

विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो० ॥ ५ ॥

भा०—(अहोरात्रे) दिन और रात (सूर्याचन्द्रमसौ उभौ) दोनों सूर्य और चन्द्रमा (विश्वान् आदित्यान्) समस्त आदित्यों, १२ मासों का (इदम् ब्रूमः) इस प्रकार से हम वर्णन करें कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें अपने सत्य प्रभाव से पाप से मुक्त करें ।

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः ।

आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

भा०—(वातं पर्जन्यम् अन्तरिक्षम्, अथो दिशः आशाः च सर्वाः ब्रूमः) वायु, मेघ, अन्तरिक्ष और दिशाएं इन समस्त ईश्वर की शक्तियों का हम वर्णन करें कि (ते च अंहसः मुञ्चन्तु) वे अपने प्रभावों से हमें पाप से मुक्त करें ।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषाः ।

सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥

भा०—(शपथ्याद्) परनिन्दा या दूसरे के विषय में कठोर दुःखदायी वचनों के कहने से उत्पन्न होने वाले पाप से, (अहोरात्रे) दिन और रात

(अथो उषाः) और उषा (मा मुञ्चन्तु) मुझे मुक्त करें। (सोमः देवः) सोम देव (यम् चन्द्रमा आहुः) जिसको विद्वान् 'चन्द्रमा' कहते हैं वह भी (मा मुञ्चतु) मुझे पाप से मुक्त करे। अर्थात् दिन रात्रि और उषा काल और चन्द्र को पवित्र और शान्तिकारक मनन करके हम अपने चित्त को परनिन्दा और क्रोध से बचावें।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः।
शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥

भा०—(पार्थिवाः) पृथिवी के पर्वत, नदी आदि उत्तम पदार्थ और आकाश के सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ आदि दिव्य पदार्थ, (आरण्याः पशवः) अरण्य के रहने वाले सिंह, हाथी आदि पशु, (उत) और (ये मृगाः) जो अन्य नाना पशु और (शकुन्तान् पक्षिणः) शक्तिशाली पक्षिगण हैं (ब्रूमः) हम उनका वर्णन करें। (ते) वे सब अपने २ उत्तम गुणों के प्रभाव से (नः) हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पाप की प्रवृत्तियों और कष्टों से दूर करें।

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥

भा०—(भवाशर्वौ) भव, शर्व और (रुद्रं) रुद्र स्वरूप की, तथा (यः पशुपतिः च) सर्व जीवों के पालक ईश्वर के विशेष गुणों से युक्त स्वरूपों की (ब्रूमः) हम स्तुति करें और (याः एषां इषूः संविद्म) और जो इनके इषु, बाण या प्रेरक शक्तियां हैं जिनसे जीव प्रेरित होते हैं हम उनको भी जानें। (ताः नः सदा शिवाः सन्तु) वे हमारे लिये सदा सुखकारी हों।

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥ (१७)

भा०—(दिवं) सूर्य, (नक्षत्राणि) नक्षत्र, (यक्षाणि) पूज्य स्थान, (पर्वतान्) पर्वत, (समुद्राः) समुद्र, (नद्यः) नदियें (वेशन्ताः) जलाशय

आदि के (ब्रूमः) नाना उत्तम गुण वर्णन करते हैं। (ते नः) वे हमें (अंहसः) पाप प्रवृत्तियों और बुरे प्रभावों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्।
पितृन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो० ॥ ११ ॥

भा०—हम (सप्तर्षीन्) सात ऋषियों, (देवीः अपः) दिव्य जलों और विचारों और (प्रजापतिम् ब्रूमः) प्रजापालक परमेश्वर और आत्मा के उत्तम गुणों का वर्णन करते हैं। हम लोग (यमश्रेष्ठान्) यम नियम के पालक ब्रह्मचारियों में भी श्रेष्ठ (पितृन्) अपने पिता आदि के और आचार्यों के (ब्रूमः) गुणों का वर्णन एवं पुण्यकथा करते हैं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप भावों से मुक्त करें।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये।
पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो० ॥ १२ ॥

पूर्वार्धः अथर्व १० । ९ । १२ ॥

भा०—(ये देवाः) जो दिव्य पदार्थ (दिविषदः) द्यौलोक में सूर्य आदि रूप से स्थित हैं, (ये अन्तरिक्षसदश्च) और जो वायु, मेघ आदि अन्तरिक्ष में विराजमान हैं और (ये) जो (शक्राः) शक्तिमान् दिव्य पदार्थ और शक्तिमान् राजर्षि, ब्रह्मर्षि लोग और शक्तिशाली महापुरुष (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (श्रिताः) विराजमान हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप के भावों से मुक्त करें।

आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः।
आङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो० ॥ १३ ॥

भा०—(आदित्याः रुद्राः वसवः) आदित्य के समान ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी, (रुद्राः) रुद्र अर्थात् ४४ वर्ष के ब्रह्मचारी, (वसवः) वसु, अर्थात् २४ वर्ष के ब्रह्मचारी, अथवा-आदित्य = १२ मास, रुद्र = १० प्राण और आत्मा, वसु = पृथिवी आदि ८ लोक, (दिवि) तथा जो द्यौःलोक में स्थित या सात्विक स्थिति में विराजमान (देवाः) देवगण, (अथर्वाणः) जगत् के रक्षक विद्वान्

गण, (अङ्गिरसः) ज्ञानी, (मनीषिणः) मनस्वी, विचारक लोग हैं (ते) वे सब (नः) हमें (अंहसः) पाप के भावों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो० ॥ १४ ॥

भा०—हम (यज्ञं) यज्ञ, (यजमानं) यजमान, (सामानि) सामवेद के पवित्र गायनों, (भेपजा) अथर्ववेद के रोगहारी उपायों, और (यजूंषि) यजुर्वेद के कर्म-काण्डों और (होता) आहुति या होम आदि कार्यों का (ब्रूमः) वर्णन करते हैं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पापों से मुक्त करें।

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो० ॥ १५ ॥

भा०—(वीरुधाम्) लताओं के (पंच) पांच (राज्यानि) राज्यों या श्रेणियों का हम (ब्रूमः) वर्णन करते हैं। (सोमश्रेष्ठानि) जिनमें सबसे श्रेष्ठ 'सोम' हैं और शेष चार (दर्भः भङ्गः यवः सहः) दर्भ, भङ्ग [षण] यव और सहस् [सहमाना] ओषधि हैं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप, रोगादि से मुक्त करें।

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो० ॥ १६ ॥

भा०—(अरायान्) धन सम्पत्ति से रहित दरिद्रों, (रक्षांसि) दुष्ट पुरुषों, (सर्पान्) सांपों, (पुण्यजनान्) प्रजापीड़क मायावी लोगों और (पितॄन्) उनसे बचाने वाले पालकों का (ब्रूमः) हम नाना प्रकार से वर्णन करते हैं और (एकशतं मृत्यून् ब्रूमः) एक सौ एक या सौ प्रकार की मृत्युओं, देह से प्राणों के छूटने के प्रकारों का वर्णन करते हैं। (ते) वे सब (नः) हमें (अंहसः) पाप कर्म से (मुञ्चन्तु) छुड़ा देवें।

ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्।
समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो० ॥ १७ ॥

भा०—(ऋतून्) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुपतियों, (आर्त्तवान्) ऋतु पर होने वाले विशेष वृक्ष आदि पदार्थों और घटनाओं और (हायनान्) अयन के परिवर्तन कालों, (समाः) समान दिन रात्रि वाले कालों का और (संवत्सरान्) संवत्सरों का (ब्रूमः) वर्णन करते हैं, (ते नः) वे हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पाप तथा कष्टों से मुक्त करें।

'हायन, समा, संवत्सर'—ये वर्ष के ही पर्याय हैं। परन्तु इन शब्दों का प्रयोग चान्द्र, सौर और प्रायः सावन भेद से किया जाता है। अतः उन तीनों का एक साथ ग्रहण किया गया है।

'ऋतुपति'—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर इनके क्रम से वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभु और मरुद्-गण ऋतुपति हैं।

एत॑ देवा दक्षिण॒तः प॒श्चात् प्राञ्च॑ उ॒देत॑ ।
पु॒रस्ता॑दुत्त॒राच्छ॒क्रा विश्वे॑ दे॒वाः स॒मेत्य॒ ते नो॑० ॥ १८ ॥

भा०—हे (देवाः) राजाओ और विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (दक्षिणतः एत) दक्षिण दिशा से आओ, (विश्वे देवाः) हे शक्तिशाली समस्त राजाओ ! और विद्वान् पुरुषो ! (पश्चात् उत्तरात्) पश्चिम पीछे से और उत्तर दिशा, बायें से और (पुरस्तात्) हम लोगों के समक्ष से (समेत्य) आकर उपस्थित होओ और अपने आदर्श जीवनों से (ते) वे सब (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पाप कर्म से मुक्त करें।

विश्वा॑न् दे॒वानि॒दं ब्रू॑मः स॒त्यस॑न्धानृ॒तावृ॑धः ।
विश्वा॑भिः पत्नी॑भिः स॒ह ते नो॑० ॥ १९ ॥

भा०—(विश्वान्) समस्त (सत्यसंधान्) सत्य प्रतिज्ञा करने वाले, (ऋतावृधः) और सत्य की वृद्धि करने वाले (देवान्) विद्वान् अधिकारी पुरुषों से (इदं ब्रूमः) हम यह प्रार्थना करते हैं कि वे (विश्वाभिः पत्नीभिः) अपनी समस्त पत्नियों या पालक शक्तियों सहित (नः) हम प्रजाओं को (अंहसः मुञ्चन्तु) पाप से छुड़ावें।

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः ।
सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नों० ॥ २० ॥

भा०—(सर्वान् सत्यसंधान् ऋतावृधः देवान् इदं ब्रूमः) समस्त सत्यप्रतिज्ञ, सत्यव्यवहार आचरण को बढ़ाने वाले, प्रजा के भीतर रहने वाले विद्वानों से हम यह प्रार्थना करते हैं कि (ते सर्वाभिः पत्नीभिः नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे अपनी समस्त धर्मपत्नियों या पालक शक्तियों सहित हमें पाप कर्म से मुक्त करें ।

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी ।
भूतानि सर्वा संगत्य ते नों मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २१ ॥

भा०—(भूतं) सामर्थ्यवान् पुरुष, (भूतपतिम्) सामर्थ्यवान् पुरुषों के स्वामी, (उत) और (यः) जो (भूतानां वशी) समस्त प्राणियों को वश करने हारा है उनकी (ब्रूमः) हम स्तुति करते हैं । (सर्वा भूवानि संगत्य) ये सब शक्तियां मिलकर (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पाप कर्म से बचावें ।

या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः ।
संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥ २२ ॥

भा०—(याः) जो (देवीः) दिव्यगुणयुक्त (पञ्च) पांच (प्रदिशः) मुख्य दिशाओं के समान गुरु आदि पांच शिक्षक हैं और (द्वादश ऋतवः) जो बारह ऋतु मधु, माधव आदि मास हैं और (ये) जो (संवत्सरस्य दंष्ट्राः) संवत्सर की दाढ़ों के समान दिन और रात में आने वाले जीवन के भयोत्पादक अवसर हैं (ते) वे (नः) हमें (सदा) सदा (शिवाः सन्तु) कल्याणकारी हों ।

यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम् ।
तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ॥ २३ ॥ (१८)

भा०—(मातलिः) मातलि अर्थात् ज्ञान का संग्रह करने वाला, जीव (यत्) जिस (भेषजम्) भव-रोगनिवारक (रथक्रीतम्) विषयों के

इन्द्रियरसों के परित्याग के बदले में प्राप्त (अमृतम्) अपने अमृत स्वरूप को (वेद) साक्षात् जान लेता है, (तत्) उस अमृत स्वरूप आत्मा को (इन्द्रः) परमेश्वर (अप्सु प्रावेशयत्) आप्त प्रजाओं में या प्रज्ञावान् पुरुषों में प्रविष्ट कराता है। (आपः) समस्त आप्त पुरुष (तत् भेषजम् दत्त) उसी परम औषधरूप आत्मज्ञान को हमें प्रदान करें। इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम्, ऋचश्चैकोनपञ्चाशत् ।]

[७] सर्वोपरि विराजमान उच्छिष्ट ब्रह्म

अथर्वा ऋषिः ॥ अध्यात्मम् उच्छिष्टो देवता ॥ छन्दः—पुरोष्णिग् बार्हतपरा, २१ २१ स्वराड्, २२ विराट् पथ्याबृहती, ११ पथ्यापंक्तिः, १–५, ७–१०, २०. २२–२७ अनुष्टुभः । सप्तविंशर्चं सूक्तम् ॥

उच्छिष्टे नाम॑ रू॒पं चोच्छिष्टे लो॒क आहि॑तः ।
उच्छिष्ट इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ विश्व॑म॒न्तः स॒माहि॑तम् ॥ १ ॥

भा०—पूर्वोक्त ब्रह्मौदन का ही दूसरा नाम 'उच्छिष्ट' है। (उच्छिष्टे) समस्त जगत् के प्रलय हो जाने के अनन्तर जो शेष रह जाता है अथवा 'नेति', 'नेति' इस भावना से समस्त प्रपञ्चों का निषेध कर देने पर जो सबसे अतिरिक्त 'सत्' शेष रह जाता है जिसको वेद और उपनिषदादि शास्त्रों में सर्वोपरि उपदेश किया है वह 'पर-ब्रह्म' 'उच्छिष्ट' है। उसमें (नाम रूपं च) नाम अर्थात् शब्द से कहे जाने योग्य और 'रूप' अर्थात् चक्षु से देखे जाने योग्य दोनों प्रकार का जगत् (आहितम्) स्थिर है। (उच्छिष्टे लोकः आहितः) यह सर्वद्रष्टा आत्मा अथवा वह सूर्यादि समस्त लोक उस उच्छिष्ट में स्थित हैं। (उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च) उस 'उच्छिष्ट' में वायु और अग्नि स्थित हैं और (विश्वम्) यह समस्त विश्व उसके (अन्तः) भीतर (सम् आहितम्) भली प्रकार विराजमान है।

उच्छिष्टे द्यावा॑पृथि॒वी विश्वं॑ भू॒तं स॒माहि॑तम् ।
आप॑ः समु॒द्र उच्छिष्टे च॒न्द्रमा॒ वात॒ आहि॑तः ॥ २ ॥

भा०—(उच्छिष्टे द्यावापृथिवी) उस पूर्वोक्त 'उच्छिष्ट' नाम परब्रह्म में आकाश और पृथिवी और (विश्वं भूतं समाहितम्) समस्त उत्पन्न कार्य-जगत् भी स्थित है (आपः समुद्रः उच्छिष्टे) जल और समुद्र उसी 'उच्छिष्ट' में हैं और (वातः चन्द्रमाः आहितः) उसी 'उच्छिष्ट' में चन्द्रमा और वायु भी स्थित हैं।

सन्नुच्छिष्टे अस॑श्चो॒भौ मृ॒त्युर्वाज॑: प्र॒जाप॑तिः ।
लौक्या उच्छि॑ष्ट॒ आय॑त्ता॒ व्रश्च॒ द्रश्चापि॒ श्रीर्मयि॑ ॥ ३ ॥

भा०—(उच्छिष्टे) 'उच्छिष्ट' नाम उस परब्रह्म में (सत्) 'सत्' या सत्ता के अन्तर्गत समस्त भाव रूप जगत और (असत्) अभाव रूप या अव्यक्त रूप प्रकृति, (उभौ) वे दोनों और (मृत्युः) मृत्यु जो सब प्राणियों को जीवित दशा से शरीर रहित करता है, (वाजः) अन्न और जल (प्रजापतिः) प्रजा का पालक मेघ सब उसी में विद्यमान हैं। (उच्छिष्टे) उस पर ब्रह्म में (लौक्याः) समस्त लोकों में विद्यमान प्रजाएं, (व्रः च) सबका आवरण करने वाला यह महान् आकाश, (द्रः च) और सबका 'द्र' अर्थात् द्रावक या गति देने वाला काल भी (उच्छिष्टे आयत्ताः) बंधे हैं। इसी प्रकार (मयि) मुझ आत्मा में विद्यमान (श्रीः) जो कर्म करने और अनेक उत्तम फलैश्वर्य प्राप्त करने का सामर्थ्य है वह भी उसी की है।

दृढो दृंहस्थि॒रो न्यो॒ ब्रह्म॑ वि॒श्वसृजो॒ दश॑ ।
नाभि॑मिव स॒र्वत॑श्च॒क्रमुच्छि॑ष्टे दे॒वता॑: श्रि॒ताः ॥ ४ ॥

भा०—(दृढः) सबसे अधिक बलवान्, सबसे बड़ा (दृंहस्थिरः) कठोर तथा स्थिर यह पृथिवी, (न्यः) उसके भीतर गति देने वाला (ब्रह्म) वेद और (विश्वसृजः) समस्त संसार के बनाने वाले (दश) दशों प्राण और पंचभूत आदि तत्त्व, स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व, और समस्त (देवताः) सूर्यादि लोक (नाभिम् सर्वतः चक्रम् इव) नाभि के चारों ओर चक्र के समान (उच्छिष्टे श्रिताः) उस 'उच्छिष्ट' में ही आश्रित हैं।

'न्य' का स्वरूप छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है ।

ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥ ५ ॥

भा०—(ऋक्) ऋग्वेद, (साम) सामवेद, (यजुः) यजुर्वेद ये (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में ही विराजमान हैं। इसी प्रकार (साम्नः) साम सम्बन्धी (उद्गीथः) उद्गीथ अर्थात् उद्गाता से गाया गया सामभाग, (प्रस्तुतम्) प्रस्तोता से स्तुति किया गया सामभाग और (स्तुतम्) स्तवन द्वारा उपस्थित साम भाग, (हिङ्कारः) 'हिं' रूप से साम के प्रारम्भ में उद्गाता आदि द्वारा किया गया सामभाग, (स्वरः) स्वर अर्थात् क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अति मन्द्र सात स्वर, अथवा अ, आ, इ, ई इत्यादि स्वर, (मेडिः च) और ऋचा के अक्षरों को परस्पर मिलाने वाला 'स्तोम', या साम सम्बन्धी स्वर मेलन रूप वाक्, ये सब (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में आश्रित हैं। (तत् मयि) वह परम सूक्ष्म उच्छिष्ट ब्रह्म मुक्त आत्मा में समृद्ध हो।

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् ।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥ ६ ॥

भा०—(मातरि) माता के (अन्तर्गर्भः इव) गर्भ के भीतर जिस प्रकार बालक के अङ्ग पुष्ट होते हैं और बनते हैं उसी प्रकार (उच्छिष्टे) 'उच्छिष्ट' में (ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि सम्बन्धी सामवेद के भाग, (पावमानम्) पवमान सम्बन्धी सामवेद के भाग, (महानाम्नीः) महानाम्नी नाम ऋचाएं, (महाव्रतम्) साम का 'महाव्रत' नामक प्रकरण ये सब (यज्ञस्य अङ्गानि) यज्ञ के अङ्ग हैं, वे सब उसी परमात्मा के भीतर उत्पन्न होते और पुष्ट होते हैं।

ऐन्द्र काण्ड, आग्नेय काण्ड, पावमान काण्ड और महानाम्नी आर्चिक महाव्रत नामक उत्तरार्चिक ये सामवेद के भाग हैं। वे सब 'उच्छिष्ट' नामक सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के भीतर हैं अर्थात् ये सब उसी की महिमा का वर्णन करते हैं।

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ ७ ॥

भा०—(राजसूयं) राजसूय यज्ञ, (वाजपेयं) वाजपेय यज्ञ, (अग्निष्टोम:) अग्निष्टोम यज्ञ और (तत् अध्वरः) वह नाना प्रकार के हिंसा रहित ज्ञानमय यज्ञ और (अर्काश्वमेधौ) विराट् रूप से उपासना करने योग्य चितियाग और अश्वमेध यज्ञ और (मदन्तिमः) सबसे अधिक आनन्दप्रद (जीवबर्हिः) जीव की शक्तियों को बढ़ाने वाला ब्रह्मोपासनामय यज्ञ सब (उच्छिष्टे) उस उत्कृष्टतम परब्रह्म में संगत होता है। ये सब यज्ञ और उपासना और साधनाएं उस परमेश्वर का ही वर्णन करती हैं।

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्त्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ८ ॥

भा०—(अग्न्याधेयम्) अग्नि आधान करने योग्य यज्ञकर्म, (अथो) और (दीक्षा) दीक्षा, (कामप्रः) सर्व कामना के पूर्ण करने वाले काम्य कर्म, (छन्दसा सह) 'छन्दस्' गायत्री आदि अथवा अथर्ववेद सहित (उत्सन्नाः यज्ञाः) वे ब्रह्म-यज्ञ जिनसे जीव मुक्त होकर उत्तम लोक, मोक्ष में निर्बन्ध होकर गति करते हैं, अथवा वे यज्ञकर्म या प्रजापति के रूप जो काल कम से लुप्त हो जाते हैं और (सत्राणि) सोम याग आदिक बृहद् याग नामक सत्र ये सब (उच्छिष्टे अधि) सर्वोत्कृष्ट परम मोक्षमय ब्रह्म में ही (समाहिताः) आश्रित हैं।

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ९ ॥

भा०—(अग्निहोत्र च) अग्निहोत्र, (श्रद्धा च) और श्रद्धा और (वषट्कारः) वषट्कार, स्वाहाकार, (व्रतं, तपः) व्रत और तप (दक्षिणा इष्टापूर्तं च) दक्षिणा यज्ञ और कूप तालाब बनवाने आदि सब परोपकार के पुण्य कार्य (उच्छिष्टे अधि समाहिताः) उत्कृष्टतम सर्वोपरि प्रतिपाद्य परब्रह्म में ही आश्रित हैं अर्थात् वह ईश्वर न हो तो ये सब भी न हों।

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः ।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥ (१९)

भा०—(एकरात्रः द्विरात्रः) एक दिन में समाप्त होने योग्य और दो दिन में समाप्त होने योग्य सोमयाग विशेष और (सद्यः क्रीः प्रक्रीः) सद्यस्क्री और प्रक्री नामक विशेष प्रकार के सोमयाग, (उक्थ्यः) अग्निष्टोम के बाद के स्तुतिमन्त्रों के उच्चारण रूप 'उक्थ्य' ये सब (उच्छिष्टे) उत्कृष्टतम परम परमेश्वर में (ओतम्) गुंथे हुए हैं और उसी में (निहितम्) आश्रित हैं और (यज्ञस्य) यज्ञ के (अणूनि) छोटे २ भाग भी (विद्यया) अपने ज्ञानतत्त्व के रूप से उसी 'उच्छिष्ट' परमात्मा में आश्रित हैं।

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ ११ ॥

भा०—(चतुरात्रः पञ्चरात्रः, षड्रात्रः) चार दिनों, पांच दिनों, और छः दिनों में होने वाले नाना प्रकार के सोमयाग और इसी प्रकार (उभयः सह) इनके साथ इनके द्विगुणित अष्टरात्र, दशरात्र, द्वादशरात्र, (सप्तरात्रः) सप्तरात्र और चतुर्दशारात्र नामक सोमयाग और (षोडशी) 'षोडश' नाम स्तोत्र वाला षोडशी-याग, (ये यज्ञाः) तथा जो भी यज्ञ (अमृते हिताः) अमर आत्मा या मोक्षधाम में आश्रित हैं, (सर्वे) वे सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) 'उच्छिष्ट' सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से उत्पन्न होते हैं।

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥ १२ ॥

भा०—(प्रतिहारः निधनं) सामगान के भाग 'प्रतीहार' और 'निधन', (विश्वजित् च अभिजित् च यः) और जो विश्वजित् याग और अभिजित् याग हैं और (साह्नातिरात्रौ) साह्न और अतिरात्र नामक याग और (द्वादशाहः) द्वादशाह नामक याग भी (उच्छिष्टे) उस उत्कृष्ट परमात्मा में ही आश्रित हैं। वे भी उसी के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

(तत्) वह प्रभु (मयि) मुझमें, मेरी आत्मा में सम्पन्न हो, मेरी शक्ति और श्री की वृद्धि करे।

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥ १३ ॥

भा०—(सूनृता) उत्तम शुभ, सत्य वाणी, (संनतिः) उत्तम भक्ति भाव अथवा उत्तम फल की प्राप्ति, (क्षेमः) कल्याणमय वृद्धि, (स्वधा) अन्न, (ऊर्जा) बलकारी विशेष शक्ति, (अमृतम्) परम आनन्द रूप अमृत और (सहः) बल और (सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः) सब आत्मा में साक्षात् अनुभव होने वाली अभिलाषाएं जो (कामेन) काम्य फल से अथवा पूर्ण काम या पूर्वोक्त कामसूक्त में प्रतिपादित सर्व काम परमात्मा के दर्शन से तृप्त हो जाती हैं, वे सब (उच्छिष्टे) उस परमोत्कृष्ट परमात्मा में आश्रित हैं।

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ १४ ॥

भा०—(नव भूमीः) नव भूमियां, (समुद्राः) समस्त समुद्र और (दिवः) आकाश के सब भाग भी (उच्छिष्टे अधि श्रिताः) उस उत्कृष्ट परमात्मा में आश्रित हैं। (उच्छिष्टे) उस परमात्मा के आश्रय में (सूर्यः आभाति) सूर्य प्रकाशमान हो रहा है, (अहोरात्रे अपि) दिन रात भी उसी पर आश्रित हैं। (तत् मयि) वह परमात्मा मुझमें, मेरे अन्तरात्मा में प्रकाशित हो।

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥

भा०—(उपहव्यं) 'उपहव्य' नामक सोमयाग और (विषूवन्तं) 'विषुवान्' नामक अर्थात् 'गवाम्-अयन' नामक संवत्सर के छः २ मासों के दोनों पूर्व और उत्तर पक्षों के बीच में 'एकविंशस्तोम' नामक सोमयाग,

(ये च) और भी जो (यज्ञाः) यज्ञ, उस परमात्मा के उपासना के नाना प्रकार हैं, जो (गुहा हिताः) विद्वानों के हृदय में और ब्रह्माण्ड की रचना कौशल में अज्ञात रूप से वर्त्तमान हैं, उन सबको, (विश्वस्य भर्त्ता) विश्व का भरण पोषण करने वाला, (जनितुः पिता) उत्पादक कारण का पालक, परम कारण, परमपिता (उच्छिष्टः) सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर ही (बिभर्ति) स्वयं धारण करता है।

यज्ञ में 'उपहव्य' और 'विषूवत्' आदि विशेष भाग हैं जो कालात्मक संवत्सर प्रजापति के अङ्ग, यज्ञ प्रजापति के शरीर में विशेष भागों के उपलक्षक हैं।

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥

भा०—वह (उच्छिष्टः) सबसे उत्कृष्ट और दृश्य जगत् से भी परे विद्यमान परमात्मा, (जनितुः) समस्त उत्पादक प्राणियों और लोकों का भी (पिता) स्वयं पालक है और (असोः) प्राण शक्ति का स्वयं (पौत्रः) पुत्र का भी पुत्र, मानो स्वयं व्यक्त देहों में प्रकट होने वाला है और स्वयं इस महान् विराट्-देहों का निर्माता होने से (पितामहः) उसका पितामह है। (सः) वह (विश्वस्य ईशानः) समस्त संसार का स्वामी, (वृषा) समस्त सुखों और जीवनों की वर्षा करने हारा होकर (भूम्याम्) इस भूमि पर (अतिघ्न्यः) सबको अतिक्रमण करके सबसे ऊंचा होकर (क्षियति) विराजमान है।

'असु' का पुत्र मन है उनमें ज्योति रूप से प्रकट होने से उसका वह "पौत्र' है और जीव के उत्पादकों का उत्पादक होने से 'पितामह' है।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥

भा०—(ऋतं) ऋत, (सत्यं) सत्य, (तपः) तप, (राष्ट्रं) राष्ट्र, (धर्मः

च) धर्म और (कर्म च) कर्म, (भूतं भविष्यत्) भूत और भविष्यत् (वीर्यं) वीर्य, (लक्ष्मीः) लक्ष्मी और (बलं) बल ये सब उस (बले) बलशाली (उच्छिष्टे) सर्वोत्कृष्ट परमात्मा में विराजमान हैं।

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः ।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥

भा०—(समृद्धिः) समस्त सम्पत्तियां, (ओजः) तेज, (आकूतिः) संकल्प, (क्षत्रं) क्षात्रबल, (राष्ट्रं) राष्ट्र, (षड् उर्व्यः) छहों महान् पदार्थ द्यौः, पृथिवी, दिन, रात्रि, आपः, ओषधि ये छहों, (संवत्सरः) वर्ष, (इडा) अन्न, (प्रैषाः) मन्त्र या मानस संकल्प, (ग्रहाः) यज्ञ के देवताओं के नाम पर दिये सोमांश अथवा इन्द्रियगण, (हविः) चरु पुरोडाश आदि अथवा अन्न, ये सब (अधि उच्छिष्टे) उसी ईश्वर में आश्रित, उसी के बल पर और उसी के द्वारा उत्पन्न और प्राप्त हैं।

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः ।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥

भा०—(चतुर्होतारः) चतुर्होतृनामक अनुवाक, (आप्रियः) पशुयाग सम्बन्धी प्रयोगों के आप्री देवता की याज्या ऋचाएं, (चतुर्मास्यानि) चातुर्मास्य में किये जाने योग्य वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय आदि पर्व और (नीविदः) स्तुति करने योग्य इष्ट देव के विशेष गुणप्रदर्शक वेद की ऋचाएं, (यज्ञाः) यज्ञ, (होत्राः) होता आदि सात ऋत्विक्, (पशुबन्धाः) पशुबन्ध अर्थात् द्रष्टा परमात्मा को हृदय में बांधने द्वारा किये जाने वाले सोमयाग के अंगभूत यज्ञ और (तदिष्टयः) उनके बीच की अङ्ग रूप इष्टियें, ये सब (उच्छिष्टे) उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म में आश्रित हैं, उन सबका तात्पर्य परब्रह्म परक है।

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥ (२०)

भा०—(अर्धमासाः च) अर्धमास = पक्ष, (मासाः च) मास, (ऋतुभिः सह आर्तवाः) ऋतुओं सहित ऋतुओं में उत्पन्न नाना पदार्थ, (घोषिणीः आपः) गर्जना करने वाली जलधाराएं, (स्तनयित्नुः) गर्जने हारा मेघ या बिजुली और (मही) बड़ी भारी यह पृथिवी और (श्रुतिः) परम ज्ञानमय वेद वाणी, अथवा (मही श्रुतिः) बड़ी पूजनीय श्रुति, वेद वाणी ये सब (उच्छिष्टे) उत्कृष्ट परब्रह्म में ही आश्रित हैं। ये सब उसी की शक्ति के चमत्कार हैं।

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥

भा०—(शर्कराः) बजरी, (सिकताः) बालू, (अश्मानः) पत्थर, (ओषधयः) ओषधियां, (वीरुधः) लताएं (तृणा) घास, (अभ्राणि) मेघ (विद्युतः) बिजुलियां (वर्षम्) वर्षा ये सब (उच्छिष्टे) उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में (सं श्रिताः) भली प्रकार आश्रय लेकर (श्रिता) अपनी सत्ता बनाये हुए हुए हैं, टिके हुए हैं।

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥

भा०—(राद्धिः) फल की सिद्धि या आराधना, (प्राप्तिः) परम फल की प्राप्ति, (समाप्तिः) सर्वकर्म की समाप्ति, (व्याप्तिः) नाना मनोरथानुरूप फलों को प्राप्त करना, (महः) तेज और आनन्द उत्सव करना, (एधतुः) वृद्धि (अत्याप्तिः) आशा से अधिक फल पाना, (भूतिः) नाना समृद्धि, ये सब (उच्छिष्टे) उत्कृष्टतम परमेश्वर में (आहिता) स्थित होकर (निहिता) सुरक्षित हैं और इसीलिये (हिता) जीव लोक के हितकर भी हैं।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

भा०—(यत् च) जो भी प्राणवर्ग (प्राणेन प्राणति) प्राण द्वारा प्राण

लेता है, (यत् च चक्षुषा पश्यति) और जो भी आंख से देखता है और (सर्वे) समस्त (दिवि श्रितः) आकाश में आश्रित सूर्य चन्द्र आदि (देवाः) प्रकाशमान पदार्थ, या (दिविश्रिताः देवाः) प्रकाशमय मोक्षपद में आश्रित विद्वान् लोग, सभी (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं ।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे० ॥ २४ ॥

भा०—(ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र, (सामानि) सामवेद और उसके सहस्रों सामगान के भेद, (छन्दांसि) गायत्री आदि छन्द अथवा अथर्व के मन्त्र, (यजुषा सह पुराणं) यजुर्वेद अर्थात् कर्मप्रवर्त्तक मन्त्रों के साथ २ सृष्टि उत्पत्ति प्रलय आदि के वर्णन करने हारे मन्त्र, ब्राह्मण भाग और (सर्वे देवा दिविश्रितः) आकाशस्थ सूर्यादि समस्त दिव्य लोक (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं ।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
उच्छिष्टा० ॥ २५ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० ११ । ८ । ४ (प्र० द्वि०) २६ (प्र द्वि०) ।

भा०—(प्राणपानौ) प्राण और अपान, (चक्षुः) यह दर्शनशक्ति, (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति, (क्षितिः च) पृथिवी, अथवा पदार्थों का क्षीण होना अथवा नाशवान् देहादि पदार्थ और (अक्षितिः) पृथिवी से अतिरिक्त वायु अग्नि, आकाश, जल, आत्मा और मन आदि, अथवा अविनश्वर पदार्थ आत्मा, आकाश, काल आदि, अथवा पदार्थों का नित्यभाव और (दिवि-श्रितः सर्वे देवाः) द्यौलोक में गगनचारी सूर्यादि प्रकाशमान लोक, सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उस सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से उत्पन्न होते हैं ।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
उच्छिष्टा० ॥ २६ ॥

देवाः पितरो मनुष्यागन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥ (५१)

भा०—(२६) (आनन्दाः) सब प्रकार के आनन्द, (मोदाः) सब प्रकार के विनोद और हर्ष, (प्रमुदः) विशेष हर्ष, (अभीमोदमुदः) साक्षात् प्राप्य सुखों से उत्पन्न होने वाले आनन्द और (२) (देवाः) विद्वान् गण, (पितरः) पालक लोग, माता, पिता, पितामह, गुरु आदि, (मनुष्याः) मनुष्य, (गन्धर्वाप्सरसः च ये) और जो गन्धर्व = युवा पुरुष और अप्सराएं = युवतियें हैं, (सर्वे देवा दिविश्रितः) तथा समस्त आकाश में वर्त्तमान प्रकाशमान सूर्यादि पदार्थ सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उस सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं ।

[८] मन्यु रूप परमेश्वर का वर्णन

कौरुपथिर्ऋषिः ॥ अध्यात्मं मन्युर्देवता ॥ छन्दः—१-३२, ३४ अनुष्टुभः, ३३ पथ्यापंक्तिः । चतुश्चत्वारिंशद्दृचं सूक्तम् ॥

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि ।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जब (मन्युः) मननशील, ज्ञानसम्पन्न आत्मा ने (संकल्पस्य गृहात्) संकल्प के घर से (जायाम्) अपनी स्त्री रूप बुद्धि को विवाह किया तब (के जन्याः) कन्या पक्ष के कौन घराती और (के वराः) कौन बराती (आसन्) थे और (क उ) कौन सा (ज्येष्ठवरः अभवत्) सबसे श्रेष्ठ वर रहा ? इसी प्रकार परमात्मा के पक्ष में जब (मन्युः) ज्ञानमय परमेश्वर, (संकल्पस्य गृहात् अधि) संकल्प के ग्रहणसामर्थ्य से, अपनी (जायाम्) संसार को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को (अवहत्) धारण करता है, (के जन्याः आसन्) तथा प्रकृति के साथ २ और कौन २ से सृष्टि-उत्पत्ति में विशेष कारण थे और (के वराः आसन्) कौन २ से 'वर' अर्थात् वरण करने योग्य, प्रवर्त्तक कारण थे और उनमें से (कः उ ज्येष्ठवरः अभवत्) सबसे अधिक श्रेष्ठ प्रवर्त्तक कारण कौन सा था ?

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ २ ॥

भा०—(महति अर्णवे अन्तः) उस प्रकृति के परमाणुओं से बने बड़े भारी अव्यक्त कारण रूप समुद्र में, या इस महान् आकाश के बीच, (तपः च एव कर्म च आस्ताम्) तप और कर्म ये दो ही थे। (ते आसन् जन्याः) वे घराती थे और (ते वराः) वे ही बराती थे। वे ही 'जन्य' अर्थात् सृष्टि के उत्पादक मूलकारण और वे ही 'वर' अर्थात् प्रवर्त्तक कारण थे। उनमें से (ब्रह्म) ब्रह्म ही (ज्येष्ठवरः अभवत्) ज्येष्ठ वर सर्वश्रेष्ठ प्रवर्त्तक था।

स तपोऽतप्यत् तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्। (तै० आ० ८। ६ ॥)

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥ ३ ॥

भा०—(देवेभ्यः पुरा) अग्नि आदि देवों से भी पूर्व (दश देवाः) दस देव (साकम् अजायन्त) एक साथ प्रादुर्भूत हुए। (यः वै) जो पुरुष (तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) उनका साक्षात् ज्ञान कर लेता है (सः वा अद्य) वह पुरुष ही (महद् वदेत्) उस 'महत्' ब्रह्म का उपदेश कर सकता है।

'दश देवाः'—'ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि' इति सायणः। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। अथवा वेद स्वयं अगले मन्त्र में कहेगा। देवेभ्यः पुरा देवाः। देवों से पूर्व उत्पन्न देव प्राण, अपान आदि हैं। इनकी उत्पत्ति का प्रकरण ऐतरेयोपनिषत् १म, २य खण्ड में देखो।

तमभ्यतपत्। तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत। यथाण्डम्। मुखाद् वाग्, वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः। इत्यादि। अर्थात् अग्नि आदि के पूर्व वाक्, प्राण आदि का प्रादुर्भाव हुआ।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥ ४ ॥

पूर्वार्धः ऋ० ११ । ७ । २५ (प्र० द्वि०) ॥

भा०—(प्राणापानौ) प्राण और अपान (चक्षुः श्रोत्रम्) आंख और कान (अक्षिति च क्षितिः च या) अक्षिति अर्थात् अविनाशिनी ज्ञानशक्ति और 'क्षिति' क्षयशील क्रियाशक्ति और (व्यानोदानौ) व्यान तथा उदान, (वाक् मनः) वाणी और मन (ते वा) उन्होंने भी (आकूतिम्) आकूति नाम बुद्धिरूप 'जाया' को (आवहन्) धारण किया ।

अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः ।
इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ५ ॥

भा०—सृष्टि के प्रारम्भ में जब कि (ऋतवः अथो धाता बृहस्पतिः) ऋतुएं, सूर्य और वायु (इन्द्राग्नी अश्विना) विद्युत् और अग्नि, दिन और रात्रि ये सब भी (अजाताः आसन्) अभी प्रकट नहीं हुए थे तब (ते) वे (कं ज्येष्ठम् उप आसत) अपने से भी महान् किस ज्येष्ठ प्रभु की उपासना करते थे ?

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ६ ॥

भा०—(महति अर्णवे अन्तः) उस महान् अर्णव अर्थात् समुद्र रूप परमेश्वर में (तपः च एवं) केवल तप और (कर्म च) कर्म अर्थात् क्रिया-शक्ति ये दो ही पदार्थ (आस्ताम्) विद्यमान थे और (तपः ह) वह तप भी (कर्मणः जज्ञे) कर्म अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हुआ था । (ते) वे पूर्वोक्त ऋतु आदि अनुत्पन्न पदार्थ, अपनी उत्पत्ति के पूर्व (ज्येष्ठम् उपासत) उस प्रभु को ही सर्वश्रेष्ठ मान कर उस परम शक्तिमान् की उपासना करते थे, उसमें आश्रित थे उसी में लीन थे ।

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥ ७ ॥

भा०—(या) जो (इतः) इस प्रत्यक्ष जगत् से (पूर्वा भूमिः) पूर्व की भूमि थी, अर्थात् सृष्टि की पूर्वभाविनी कारणरूप दशा (आसीत्) थी, (याम्) जिसको (श्रद्धातयः) सत्य का साक्षात् ज्ञान करने वाले तत्त्वज्ञानी वैज्ञानिक लोग ही (विदुः) जानते हैं, (यः वै) जो (तां नामथा विद्यात्) उस कारणरूप पूर्वदिशा को ठीक २ रूप में जानता है (सः) वही पुरुष, (पुराणवित्) पुराण अर्थात् सृष्टि के पूर्व के पदार्थों के यथार्थज्ञान का जानने हारा विद्वान् (मन्येत) मानने योग्य है।

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्रः कुतः अजायत) इन्द्र किससे उत्पन्न हुआ ? इसका पूर्व रूप क्या था ?, (सोमः कुतः) सोम किससे उत्पन्न हुआ ?, (अग्निः कुतः अजायत) अग्नि किससे पैदा हुआ, (त्वष्टा कुतः) त्वष्टा अर्थात् विद्युत् किससे (सम् अभवत्) उत्पन्न हुआ ?, (धाता कुतः अजायत) और 'धाता' किससे उत्पन्न हुआ ?

इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥ ९ ॥

भा०—(इन्द्रात् इन्द्रः) इन्द्र से इन्द्र उत्पन्न हुआ, (सोमात् सोमः) सोम से सोम उत्पन्न हुआ, (अग्नेः अग्निः अजायत) अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुआ, (त्वष्टा ह त्वष्टुः जज्ञे) त्वष्टा से त्वष्टा उत्पन्न हुआ, (धातुः धाता अजायत) धाता से धाता उत्पन्न हुआ। इन्द्रादि देवों का पूर्व रूप भी इन्द्र आदि ही थे, अर्थात् उनका उत्पादक मूलकारण भी इन्द्र आदि शक्ति से सम्पन्न था, इसलिये उससे वे उत्पन्न हुए।

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥ (२२)

भा०—(ये दश देवाः) जो दश प्राण आदि, (देवेभ्यः पुरः जाताः

आसन्) अग्नि आदि से भी पूर्व उत्पन्न हुए थे, (पुत्रेभ्यः लोकं दत्वा) वे अपने अनन्तर उत्पन्न होने वाले अग्नि आदि को यह उत्पन्न लोक देकर स्वयं (कस्मिन् लोके आसते) फिर किस लोक या आश्रय में जा विराजे ? अर्थात् प्राण आदि से उत्पन्न होकर अग्नि आदि ने जब इस जगत् को व्याप लिया तब प्राण आदि किस आश्रय पर रहने लगे या किस स्वरूप में विद्यमान रहे ?

यदा केशानस्थि स्नावं मांसं मज्जानमाभरत् ।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥ ११ ॥

भा०—(यदा) जब (केशान्) केशों, (अस्थि) हड्डियों, (स्नाव) स्नायुओं, (मांसम्) मांस और (मज्जानम् आभरत्) मज्जा को एक देह में एकत्र किया और फिर इस (शरीरम्) शरीर को (पादवत् कृत्वा) चरण आदि अंगों सहित बनाया। फिर वह आत्मा (कं लोकम्) किस लोक या स्थान में (प्राविशत्) प्रविष्ट हो गया, कहां जाकर रहने लगा ?

कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत् ।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥ १२ ॥

भा०—(कः) प्रजापति ने (केशान् कुतः) केशों को कहां से (आभरत्) अर्थात् किस मूल उपादन से बना कर रखा ?, (स्नाव कुतः) स्नायुओं को किस पदार्थ से बनाया और (अस्थीनि कुतः आभरत्) हड्डियों को किस उपादान से बनाया ? फिर (अंगा) अन्य अंगों को, (पर्वा) पोरुओं को और (मांसम्) मांस को (कुतः आभरत्) किस उपादान से बना कर इस शरीर में ला कर रखा है ?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥

भा०—(ते देवाः) वे दिव्य गुण वाले सूक्ष्म तत्त्व (संसिचः) 'संसिच' नाम के हैं, (ये) जो (संभारान्) शरीर-रचना के योग्य समस्त पदार्थों

को (सम् अभरन्) एकत्र करते हैं, वे दिव्य सूक्ष्म तेजोमय पदार्थ ही (सर्वं मर्त्यम्) समस्त इस मरणधर्मा शरीर का (संसिच्य) भली प्रकार सेचन करके पुनः (पुरुषम् आविशन्) इस देह से युक्त आत्मा में प्रविष्ट होकर रहते हैं।

ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम्।
पृष्ठीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः ॥ १४ ॥

भा०—(कः ऋषिः) वह कौन सर्वद्रष्टा विवेकी है जो (ऊरू) जांघों को, (अष्ठीवन्तौ पादौ) जानुओं वाले चरणों को (शिरः हस्तौ) सिर और हाथों को, (अथो मुखम्) और मुख को (पृष्ठीः) पीठ की मोहरों और (बर्जह्ये) हंसली की हड्डियों और (पार्श्वे) छाती की पसुलियों के दोनों भागों को, (तत्) उन सब अङ्गों को (सम् अदधात) भली प्रकार परस्पर जोड़ता है ?

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही ॥ १५ ॥

भा०—(संधा) समस्त अंगों को जोड़ने वाली शक्ति का नाम 'संधा' है। (मही) वह बड़ी भारी 'संधा' शक्ति है जिसने (शिरः हस्तौ मुखम् जिह्वां ग्रीवाश्च अथो कीकसाः) शिर, दो हाथ, मुख, जीभ, गर्दन के मोहरे और कीकस = पीठ के मोहरे, (तत् सर्वं) शरीर के इन सब अंगों को (त्वचा प्रावृत्य) चमड़े से मढ़कर (सम् अदधात्) एकत्र जोड़कर रखता है। वह (मही संधाः) बड़ी भारी 'संधा' नाम की ईश्वरी शक्ति है।

यत्तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत्।
येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥ १६ ॥

भा०—(यत् तत्) जब वह (महत्) बड़ा (शरीरम्) शरीर अर्थात् ब्रह्माण्ड या व्यक्त-शरीर, (संधया संहितम्) 'संधा' नामक पूर्वोक्त शक्ति द्वारा जोड़ दिया गया, तब (इदम्) यह (येन) जिस कारण से

(अद्य) सदा (रोचते) चमकता है। (अस्मिन्) इस ब्रह्माण्ड या शरीर में (कः) कौन (वर्णम् आ अभरत्) कान्ति ला देता है, उस वर्ण को कौन उत्पन्न करता है ?

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती ।

ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥ १७ ॥

भा०—(सर्वे देवाः) समस्त प्राणादि ने (उप अशिक्षन् उपाशिक्षन्) उसमें अपना वीर्य आधान किया, (तत्) उसे (सती) सत्स्वरूपा (वधूः) चेतना ने (अजानात्) जान लिया। (या) जो (वशस्य) सबके वशयिता आत्मा की (जाया) स्त्री के समान सर्वोत्पादिका (ईशा) ईश्वरी, वशकारिणी, सामर्थ्यवती शक्ति है (सा) वह (अस्मिन्) इस देह और विराट्-देह में (वर्णम्) वर्ण, कान्ति वा तेज को (आभरत्) प्राप्त कराती है।

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥

भा०—(त्वष्टुः) शिल्पियों का भी (यः) जो (उत्तरः) बढ़कर (पिता) उत्कृष्ठ पिता परमेश्वर है वह स्वयं (त्वष्टा) सब जीवों का बनाने वाला महाशिल्पी है, (यदा) वह जब (व्यतृणत्) उस महान् विराड्-देह में और इस व्यष्टि देह में प्राणों के नाना छिद्र कर देता है, तब (देवाः) प्राण आदि देवगण (मर्त्यं पुरुषम्) मर्त्य पुरुषदेह को (गृहं कृत्वा) अपना घर बना कर उसमें (आविशन्) प्रवेश करते हैं।

स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः ।

जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥ १९ ॥

भा०—प्राण, अपान आदि देव जब उस शरीर में प्रवेश कर चुकते हैं तब (शरीरम्) शरीर में (स्वप्न) निद्रा, (तन्द्रीः) आलस्य, (निर्ऋतिः) मृत्यु, पाप प्रकृति, (पाप्मानः) नाना पाप के भाव और (देवताः) देवभाव

अर्थात् सात्विक गुण, (जरा) वृद्धावस्था, (खालत्यं) गंजापन, (पालित्यं) केश पकना आदि विकार भी (अनु प्राविशन्) प्रविष्ट हो जाते हैं।

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २० ॥ (२३)

भा०—इसी प्राणादि के प्रवेश के बाद ही (स्तेयं) चोरी का भाव, (दुष्कृतं) दुष्टाचार की प्रवृत्ति, (वृजिनं) पाप कर्म और (सत्यं यज्ञः यशः बृहत्) सत्य, यज्ञ और बड़ा यश और (बलं च क्षत्रम् ओजः च) बल, क्षत्र, वीर्य और तेज भी (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट होते हैं।

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २१ ॥

भा०—(भूतं च) समृद्धि (वा) या (अभूतिः च) असमृद्धि, (रातयः) दान के भाव (याः च अरातयः) और जो कंजूसी या कृपणता के भाव हैं, (क्षुधः च) भूखें, (सर्वाः तृष्णाः च) तथा सब प्रकार की तृष्णाएं (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं।

निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् ॥ २२ ॥

भा०—(निन्दाः च वा अनिन्दाः च) समस्त निन्दाओं और अनिन्दाओं के भाव. (यत् च हन्त इति, न इति च) और जो 'हां' या 'न' इस प्रकार के इच्छा और अनिच्छा के भाव हैं, (श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च) धर्मकार्यों में श्रद्धा, दक्षिणा, उनके लिये पुरस्कार देने के विचार और उनके प्रति अश्रद्धा ये भी (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट होते हैं।

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥ २३ ॥

भा०—(विद्याः च) समस्त विद्याएं (वा) और (अविद्याः च) समस्त अविद्याएं अर्थात् कर्मजाल और (यत् च) जो कुछ भी (उपदेश्यम्)

उपदेश करने योग्य है और (ऋचः) ऋग्वेद (साम अथो यजुः) सामवेद और यजुर्वेद और (ब्रह्म) ब्रह्म वेद अर्थात् अथर्ववेद ये सब (शरीरं प्राविशन्) इस पुरुष शरीर में प्रविष्ट हुए।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥ २४ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० ११। ०। २६॥

भा०—(आनन्दाः) समस्त आनन्द, (मोदाः) समस्त हर्ष, (प्रमुदः) समस्त विनोद और (अभीमोदमुदः च ये) जो भी साक्षात् सुखों से उत्पन्न होने वाली खुशियां हैं, वे और (हसः) सब हंसियें, (नरिष्टाः) स्वच्छन्द चेष्टाएं, (नृत्तानि) नृत्य विलास, ये सभी (शरीरम् अनु प्राविशन्) इस पुरुष शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये।
शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥ २५ ॥

भा०—(आलापाः च) समस्त परस्पर के वार्तालाप, (प्रलापाः च) समस्त व्यर्थ बकवाद और (अभीलापलपः च ये) जो प्रत्यक्ष में दूसरे की बातें सुनकर प्रत्युत्तर में या देखादेखी जो बातें कही जाती हैं और (आयुजः) समस्त आयोजनायें, (प्रयुजः) समस्त प्रयोग और प्रयोजन और (युजः) समस्त योजनाएं विधान या परस्पर मेलजोल या योग क्रियाएं ये (सर्वे) सब (शरीरं प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥ २६ ॥

पूर्व पादत्रयम् अथर्व० ११। ८। ४॥

भा०—(प्राणपानौ) प्राण और अपान (चक्षुः श्रोत्रम्) चक्षु और श्रोत्र (अक्षितिः च क्षितिः च या) और शरीर का क्षय होना और स्थिर रहना, (व्यान उदानौ) व्यान और उदान (वाङ्मनः) वाणी और मन (ते) वे सब (शरीरेण) शरीर के साथ २ (ईयन्ते) कार्य करते हैं।

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः ।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥ २७ ॥

भा०—(आशिषः च) समस्त आशीर्वाद, अभिलषित फलों की आशाएं और (प्रशिषः च) समस्त प्रशासन, अपने से छोटे और निम्न पुरुषों के प्रति आज्ञाएं, (संशिषः) समान पुरुषों के प्रति अनुज्ञाएं और सम्मति और (याः विशिषश्च) अन्य नाना प्रकार की जो विशेष रूप से कही गई आज्ञाएं या मनोरथ हैं, (चित्तानि) समस्त चित्त अर्थात् विचार और (सर्वे संकल्पाः) समस्त संकल्प विकल्प (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीर के भीतर प्रविष्ट होते हैं ।

आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः ।
गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् ॥ २८ ॥

भा०—(आस्तेयीः च) 'अस्ति' हृदय या मुख में विद्यमान रुधिर या थूक और (वास्तेयीः च) 'वस्ति' मूत्राशय में जमा होने वाले मूत्र के जल, (त्वरणाः) शरीर में वेग से चलने वाले अथवा प्रवाह से बहने वाले और (याः कृपणाः च) जो मन्दगति अथवा तुच्छ स्वरूप से विद्यमान, (गुह्याः) गुप्त रूप से अंगों में विद्यमान, (शुक्राः) वीर्य रूप में विद्यमान, (स्थूलाः) अन्न रूप में (अपः) पान करने योग्य समस्त प्रकार के जल (याः) वे सब (बीभत्सौ) इस सुबद्ध, सुघटित शरीर में (असादयन्) रखे हुए हैं ।

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥

भा०—(अष्ट आपः) आठों प्रकार के रस, 'आस्तेयी' आदि (तत्) इस शरीर में (अस्थि समिधं कृत्वा) हड्डियों की समिधा बनाकर (असादयन्) प्राप्त होते हैं और (रेतः आज्यं कृत्वा) इस शरीर में रेतस् = वीर्य को 'आज्य' घृत बनाकर (देवाः) प्राण आदि देव (पुरुषम्

आविशन्) इस पुरुष देह में प्रविष्ट हो गये । वे इस पुरुष देह रूप वेदि में प्रविष्ट होकर जरामर्त्य 'प्राणाग्निहोत्र' करते हैं। जिसकी व्याख्या अथर्ववेदीय 'प्राणाग्निहोत्रोपनिषत्' में देखिये ।

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥

भा०—(याः आपः) जो 'आपः' और (याः च देवताः) जो अन्य देवता प्राण आदि, (या विराट्) जो आत्मा की विशेष शक्ति (ब्रह्मणा सह) ब्रह्म के साथ है, तथा (ब्रह्म) वह ब्रह्म (शरीरं प्राशिवत्) शरीर में प्रविष्ट होते हैं। (शरीरे अधि प्रजापतिः) उसी शरीर में प्रजापति अर्थात् जीवात्मा अधिष्ठाता रूप से विद्यमान रहता है ।

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥

भा०—(सूर्यः पुरुषस्य चक्षुः वि भेजे) सूर्य उस पुरुष का चक्षुः स्वरूप होकर उसका अंग बन गया। (वातः प्राणं वि भेजे) और वायु प्राण होकर उसका एक अंग हो गया। इस प्रकार सभी देवगण उस (पुरुषस्य आत्मानं वि भेजिरे) पुरुष के देह को बांट कर बैठ गये। (अथ) उसके बाद (अस्य) इसके (इतरम् आत्मानम्) दूसरे शेष देह को (देवाः) देवगण ने (अग्नये) जाठराग्नि के अधीन (प्रायच्छन्) सौंप दिया।

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

भा०—(तस्मात्) इसी कारण (वै) ही (विद्वान्) अध्यात्म तत्त्व का ज्ञानी पुरुष (पुरुषम्) इस पुरुष को (इदं ब्रह्म इति मन्यते) ब्रह्म करके भी जानता है। क्योंकि (सर्वाः हि देवताः) समस्त देवगण, समस्त दिव्य शक्तियां, पृथिवी आदि तत्त्व (अस्मिन्) इस पुरुष देह में उसी प्रकार (आसते) आ विराजे हैं (गावः गोष्ठे इव) जिस प्रकार बाड़े में गौवें आ बैठती हैं ।

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥ ३३ ॥

भा०—(प्रथमेन प्रमारेण) प्रथम प्राण के छूट जाने पर पुरुष का सूक्ष्म लिङ्गशरीरवान् आत्मा (त्रेधा) तीन प्रकारों से (विश्वङ् वि गच्छति) नाना योनियों में जाता है। (अदः) उस उत्तम लोक को (एकेन) एक प्रकार के उत्तम कर्म से (गच्छति) प्राप्त होता है। (अदः एकेन) उस नरक, तिर्यक् लोक को भी एक विशेष प्रकार के पाप कर्म से (गच्छति) प्राप्त होता है और (इह) इस मनुष्य लोक में (एकेन) एक विशेष प्रकार के कर्म से (निषेवते) अपने कर्म फल भोगता है।

'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।' [छान्दोग्य उप०]। अथवा देवयान, पितृयाण और जायस्वम्रियस्व ये तीन गतियां बतलाई हैं। देखो [छान्दोग्य उप० ५। १०]

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् ।
तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥३४॥ (२४)

भा०—(अप्सु स्तीमासु वृद्धासु) उन बढ़े हुए, आर्द्र अर्थात् गीला कर देने या सदा तरो ताज़ा रखने वाले (अप्सु) जलों, रुधिरों के (अन्तरा) भीतर यह (शरीरम् हितम्) शरीर स्थित है। अर्थात् जलों व रुधिर पर शरीरों का सदा बहार जीवन स्थिर है। (तस्मिन् अधि अन्तरा शवः) उसके भीतर बलस्वरूप आत्मा अधिष्ठाता रूप से रहता है। (तस्मात्) उसी कारण से (शवः अधि उच्यते) वह महान् आत्मा को भी 'शवः' बलस्वरूप कहा जाता है। इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम्, एकषष्टिश्च ऋचः ।]

[९] महासेना संचालन और युद्ध

कांकायन ऋषिः ॥ मन्त्रोक्ता अर्बुदिर्देवता ॥ छन्दः—१ सप्तपदा विराट् शक्करी त्र्यवसाना, ३ परोष्णिक्, ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परा त्रिष्टुप् षट्पदाति-

जगती, ९, ११, १४, २३, २६ पथ्यापंक्तिः, १५, २२, २४, २५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी, १६ त्र्यवसाना पंचपदा विराडुपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १७ त्रिपदा गायत्री, २, ५-८, १०, १२, १३, १७-२१ अनुष्टुभः । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च ।
असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ १ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) मेघ के समान शत्रुओं पर अस्त्रों के वर्षण करने वाले और लक्षों पुरुषों से बनी हुई सेना के अध्यक्ष ! तेरी (ये बाहवः) जो शत्रुओं को रोकने वाली बाहुएं, (याः इषवः) जो बाण, (धन्वनां वीर्याणि च) और जो धनुर्धारियों के बल हैं उनको और (असीन्) तलवारों, (परशून्) फरसों, (आयुधं) नाना हथियारों को, (यद् हृदि चिताकूतं च) और हृदय में जो चित्त के संकल्प हैं (तत् सर्वम्) उस सबको, (त्वं) तू (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं को (दृशे) दिखलाने के लिए (उदारान् च) विशाल २ यन्त्रों या महास्त्रों को (कुरु) तय्यार कर और (प्र दर्शय) दिखला।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ २ ॥

भा०—हे (मित्राः) मित्र राष्ट्र के नृपतियो ! और हे (देवजनाः) विद्वान् राजा लोगो ! (यूयम्) तुम सब लोग (उत्तिष्ठत) उठ खड़े होओ, (सं नह्यध्वम्) एक साथ बंध जावो, संगठित हो जाओ । हे (अर्बुदे) हे लक्षों सेनापति के पति ! (या नः मित्राणि) जो हमारे मित्र लोग हैं (वः) और जो तुम्हारे मित्र लोग हैं, वे सब (संदृष्टाः) भली प्रकार दृष्टिगोचर रहते हुए भी (गुप्ताः सन्तु) खूब सुरक्षित होकर रहें ।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् ।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ ३ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) अर्बुदे ! लक्ष सेनापते ! और हे न्यर्बुदे ! दश लक्षसेनापते ! तुम दोनों (उत्तिष्ठतम्) उठो । (आदान-संदानाभ्याम्) आदान और संदान अर्थात् धर और पकड़ द्वारा (आरभेथाम्) अपना कार्य शुरु करो, शत्रुओं को पकड़ो और इस प्रकार (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनाः) सेनाओं को (अभि धत्तम्) बांध लो ।

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः ।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥ ४ ॥

भा०—(अर्बुदिः नाम यः देवः) जो देव 'अर्बुदि' नाम वाला है वह मेघ के समान शत्रु पर शरों की वर्षा करता है और दूसरा (न्यर्बुदिः ईशानः च) जो न्यर्बुदि है वह 'ईशान' अर्थात् विद्युत् के समान तीव्र प्रहार करने वाला है। (याभ्याम्) जिन दोनों ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और (इयं मही पृथिवी च) यह विशाल पृथिवी भी (आवृतम्) घेर रक्खी है। (इन्द्रमेदिभ्यां) राजा के स्नेही (ताभ्याम्) उन दोनों के साथ (अहम्) मैं (जितम्) विजय से प्राप्त किये देश को (सेनया) सेना के बल से (अन्वेमि) वश करता हूँ ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥ ५ ॥

भा०—हे (देवजन अर्बुदे) विजिगीषो ! अर्बुदे सेनानायक ! (त्वं) तू (सेनया सह) सेना के साथ (उत्तिष्ठ) उठ । (अमित्राणां सेनाम्) शत्रुओं की सेना को (भञ्जन्) तोड़ता फोड़ता हुआ (भोगेभिः परिवारय) सांप जिस प्रकार अपने फणों से घेर लेता है उसी प्रकार तू अपने सेनाव्यूहों से उनको घेर ले ।

सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् ।
तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥ ६ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) महासेनापते ! तू अपने (उदाराणाम्) विशाल, ऊपर उठने वाले या ऊपर से प्रहार करने वाले महायन्त्रों में से (सप्त) सात प्रकार के (जातान्) उत्पातों को (समीक्षयन्) दिखाता हुआ, (आज्ये हुते) अग्नि में घी पड़ चुकने पर जैसे अग्नि प्रचण्ड हो जाती है उसी प्रकार युद्ध की अग्नि के प्रचण्ड हो जाने पर (तेभिः सर्वैः) उन सब महास्त्रों सहित (सेनया) अपनी सेना से (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो ।

अपनी सेना की आगे की दिशा में शत्रु है, उस दिशा को छोड़ शेष सातों दिशाओं में सात महास्त्रों की योजना करे और युद्ध छिड़ जाने पर सेना सहित महास्त्रों से लड़े ।

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ ७ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनानायक ! सांप जिस प्रकार थोड़ा सा दांत लगाकर ही पुरुष को मार देता है उसी प्रकार (तव) तेरे (रदिते) थोड़ा सा भी प्रहार करके शरीर के क्षत विक्षत करने पर (हते पुरुषे) पुरुष के मर जाने पर, उसकी स्त्री (प्रतिघ्नाना) अपनी छाती पीटती हुई, (अश्रुमुखी) आंसुओं से मुंह धोती हुई, (कृधुकर्णी) खुले कानों को लिये, (विकेशी) अपने बाल खोले (क्रोशतु) रोए, चिल्लाए ।

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती ।
पतिं भ्रातरमात्स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥ ८ ॥

भा०—हे (अर्बुदे तव रदिते) सेनानायक ! सांप के समान तेरे डस लेने पर शत्रु की स्त्री, (करूकरं संकर्षन्ती) अपने हाथ पैर की हड्डियों को मचकाती हुई, (मनसा पुत्रम् इच्छन्ती) अपने मन से पुत्र को चाहती हुई, (पतिं भ्रातरम्) पति भाई और (आत् स्वान्) अपने अन्य बन्धुओं को भी चाहती हुई अर्थात् उनके नाम ले २ कर उनको याद करती हुई (क्रोशतु) विलाप करे ।

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ९

भा०—हे (अर्बुदे तव रदिते) अर्बुदे ! महानाग के समान तेरे डस लेने पर, (अलिक्लवाः) भयानक बड़े २ पक्षी, (जाष्कमदाः) जाष्कमद बाज़ आदि शिकारी जानवर, (गृध्राः) गीध, (श्येनाः) उकाब आदि (पतत्रिणः) बड़े बड़े पंखों वाले पक्षी और (ध्वांक्षाः) कौवे और (शकुनयः) शक्तिशाली पक्षी (अमित्रेषु) शत्रुओं के मांसों पर (तृप्यन्तु) तृप्त हों और तू (समीक्षयन्) अपना बल दिखलाता रहे ।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः ।
पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥ १० ॥ (२५)

भा०—हे (अर्बुदे) महातीक्ष्ण सेनानायक ! नाग के समान (तव रदिते) तेरे डस लेने पर, (अथो) और (सर्वम्) सब प्रकार के (श्वापदम्) कुत्तों के समान पञ्जों वाले शेर, चीते, बघेरे आदि जंगली जानवर, (मक्षिकाः) मक्खियां और (क्रिमिः) कीड़े मकोड़े भी (पौरुषेये कुणपे अधि) मानुष मुर्दार पर (तृप्यतु) अपना पेट भरकर तृप्त हों ।

आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥११॥

भा०—हे (अर्बुदे तव रदिते) प्रबल सेनानायक ! महानाग के समान तेरे डस लेने पर और (समीक्षयन्) जब तू भय प्रदर्शन करता हो तब, (अमित्रेषु) शत्रुओं में (निवाशाः घोषाः) चीखें और कोलाहल के शब्द (संयन्तु) होने लग जायं । हे अर्बुदे ! हे न्यर्बुदे ! तुम दोनों (प्राणापानान्) प्राणों और अपानों को (आ गृह्णीतं) पकड़ लो और (सं बृहतम्) उनके शरीरों से निकाल लो ।

उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज ।
उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥ १२ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) सेनापते ! महानाग के समान भयानक तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (उद् वेपय) कंपा दे । वे (सं विजन्ताम्) भय से मैदान छोड़ कर भाग जायं । उनको (भिया संसृज) भय से युक्त कर। और (अमित्रान्) शत्रुओं को (उरुग्राहैः) बड़ी पकड़ वाले (बाह्वङ्कैः) बाहु के समान रूप वाले शस्त्रों से (विध्य) ताड़न कर ।

'उपग्राहैर्बाहुवंकैः' इति सायणाभिमतः पाठः। अर्थात् जंघाओं को पकड़ने या जकड़ने वाले और बाहुओं को बांधने वाले प्रयोगों से शत्रुओं को मार।

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥ १३ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनापते ! महानाग के समान महाभयंकर (तव रदिते) तेरे काट लेने पर (एषां बाहवः) इनकी बाहुएं (मुह्यन्तु) जकड़ जावें, (यद् हृदि) जो हृदय में (चित्ताकूतं च) चेतना और संकल्प विकल्प हैं वे भी मूढ़ हो जायं, (एषाम्) इनका (किं चन) कुछ भी (मा उत् शेषि) न बचा रहे।

प्रतिघ्नानाः संधावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्योरुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ १४ ॥

भा०—हे (अर्बुदे तव रदिते) सेनापते ! महानाग के समान तेरे डस लेने पर (हते पुरुषे) शत्रु के मरे मुर्दे पर (उरः) छाती को (प्रतिघ्नानाः) पीटती हुई और (पटूरौ आघ्नानाः) जंघाओं को दुहत्थड़ मार मार कर रोती हुई, (अघारिणीः) अपने सम्बन्धी पुरुषों के वियोग से दुःखी हो होकर, (विकेश्यः) बाल खिलारती हुई, (रुदत्यः) रोती पीटती हुई शत्रु स्त्रियां विलाप करें ।

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे ।
अन्तः पात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ॥
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१५॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनापते ! तू (अमित्रेभ्यः दृशे) शत्रुओं को दिखाने के लिये, (रूपकाः) केवल रूप वाली, (श्वन्वतीः) कुत्तों को साथ लिये (अप्सरसः) स्त्रियां अथवा (श्वन्वतीः रूपकाः अप्सरसः) कुत्ते और गीदड़ के रूप वाली जन्तु सेनाओं को (कुरु) तैयार कर और (दुःनिहितैषिणीम्) बुरी, गन्दी गन्दी वस्तुओं को चाहने वाली (अन्तः पात्रे) पात्र के भीतर बन्द (रेरिहतीम्) चारों दिशाएं चाटने वाली (रिशाम्) मरखनी गाय के तुल्य हिंसक कृत्या को (कुरु) दर्शा। (सर्वाः ताः) इन सबने चमत्कारी मायाओं और (उदारान् च) नाना प्रकार के महायन्त्रों द्वारा किये जाने योग्य उत्पातों को भी (प्रदर्शय) दिखला। जिससे भय करके शत्रु भाग जायं। विस्फोटक पदार्थों से वर्तनों को भर कर स्थान २ पर लगावे, जिससे फूटने पर शत्रु सेना मरे। यह 'रेरिहती रिशा' नामक कृत्या है।

खड्‌रेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम्।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसंश्च ये।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥ १६ ॥
चतुर्दंष्ट्रांछ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्।
स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥ १७ ॥

भा०—(खड्‌रे) आकाश में दूर तक (चंकमाम्) जाने वाली, (खर्विकाम्) खर्व रूप वाली, छोटीसी (खर्ववासिनीम् = खर्ववाशिनीम्) विकृत शब्द करने वाली माया को भी दर्शा। (ये) जो (उदाराः) ऊपर चमत्कारकारी पदार्थ (अन्तर्हिताः) भीतर छिपे हुए हों और (ये) जो (गन्धर्वाप्सरसश्च) गन्धर्व और अप्सराएं, नवयुवक और रूपवती स्त्रियें और (सर्पाः इतरजनाः रक्षांसि) नाग इतरजन आदि नीच भयंकर लोगों और राक्षस अर्थात् क्रूर लोगों को भी समय २ पर दर्शा और माया से ही (चतुर्दंष्ट्रान्) चार दाढ़ों के समान शत्रु को चबा जाने वाले (श्याव-दतः) काले दांतों वालों के समान भयंकर (कुम्भमुखान्) घड़े के समान

बड़े बड़े आकारों वाले, अण्डकोशों वाले, (असृङ्मुखान) मुंह में लहू लिये हुए नाना भयंकर ऐसे रूपों को दिखा (ये) जो कि (स्वभ्यसाः) स्वयं भयंकर हों और (उद्भ्यसाः) दूसरे में भय उत्पन्न करने में समर्थ हों।

उद्वेपय त्वमर्बुदे मित्राणामूमूः सिचः।
जयाँश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥ १८ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) अर्बुदे! (त्वम्) तू (अमित्राणां) शत्रुओं की (अमूः) उन दूर खड़ी (सिचः) सेनापंक्तियों को (उद्वेपय) कंपा दे और इस प्रकार स्वयं (जिष्णुः) विजय करने हारा विजिगीषु राजा (अमित्रान्) शत्रुओं को (जयान्) विजय करे और (इन्द्रमेदिनौ) इन्द्र के मित्र अर्बुदि और न्यर्बुदि दोनों सेनापति भी (जयताम्) विजय करें।

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया॥ १९ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) न्यर्बुदे! (अमित्रः) शत्रु (प्रब्लीनः) चारों तरफ से घेरा जाय, (मृदितः) कुचला जाय, (हतः शयान्) और मारा जाकर भूमि पर लेट जाय। (अग्निजिह्वाः) अग्नि की लपटों वाली (धूमशिखाः) और धूएं की चोटियों (जयन्तीः यन्तु) विजय करती हुई आगे बढ़ें।

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन॥ २० ॥ (२६)

भा०—हे (अर्बुदे) सेनापते! (तया) उक्त सेना के बल से (प्रणुत्तानां) पराजित हुए (अमित्राणां) शत्रुओं में से (वरं वरं) बड़े बड़े, श्रेष्ठ पुरुष को (शचीपतिः इन्द्रः हन्तु) सेनापति मरवा डाले। (अमीषाम्) उन शत्रुओं में से (कः चन) कोई भी (मा मोचि) बच न पावे।

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु।
शौष्कास्यमनु वर्ततामभित्रान् मोत मित्रिणः॥ २१ ॥

भा०—(हृदयानि) शत्रुओं के हृदय (उत्कसन्तु) उखड़ जायं। (ऊर्ध्वः प्राणः उद् ईषतु) ऊपरी प्राण शरीर को छोड़ कर निकल जाय। (अमित्रान्) शत्रुओं का (शौष्कास्यम् अनु वर्त्तताम्) गला सूख २ कर रह जाने का कष्ट हो। परन्तु यह कष्ट (मित्रिणः) मित्रों को (मा उत) कभी न हो।

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥२२॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनापते! (ये च धीराः) जो बुद्धिमान् हैं (ये च अधीराः) और जो अधीर, भीरु या मूर्ख हैं, (पराञ्चः) जो भागने वाले और (ये बधिराः च) जो बहरे हैं (तमसा) अन्धकार से जो (तूपराः) बेसींग के भोले भाले दर्शाने वाले हैं, (अथो) और जो (बस्ताभिवासिनः) भेड़ बकरों के समान बलबलाते हैं, (तान् सर्वान्) उन सबको (त्वम् अमित्रेभ्यो दृशे कुरु) शत्रुओं को दिखाने के लिये तय्यार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) बड़े बड़े नाशक प्रयोग दिखला।

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम्।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥२३॥

भा०—(अर्बुदिः) अर्बुदि और (त्रिषन्धिः च) तीन सन्धियों वाले त्रिसन्धिनामक बाण या महास्त्र वाला सेनापति (नः अमित्रान् वि विध्यताम्) हमारे शत्रुओं पर ऐसा प्रहार करें कि जिससे हे (वृत्रहन्) घेर लेने वाले शत्रुओं के नाशक! हे (शचीपते) शक्तिपते! सेनापते! (एषां अमित्राणाम्) इन शत्रुओं को हम (सहस्रशः) हजारों की संख्या में (हनाम) मारें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥२४॥

भा०—(वनस्पतीन् वानस्पत्यान्) वृक्षों और वृक्षों के बने नाना प्रकार के हथियारों को (ओषधीः उत वीरुधः) ओषधियों और लताओं को, (गन्धर्वाप्सरसः) नवयुवकों, स्त्रियों, (सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्) सांपों या गुप्तचरों, विजिगीषुओं, पुण्यात्मा पुरुषों और पालक पितृ लोगों (तान् सर्वान्) उन सबको हे (अर्बुदे) सेनापते ! (त्वम् अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) तू अपने शत्रुओं को दिखलाने के लिये तय्यार कर और (उदारां च प्रदर्शय) बड़े २ संहारकारी उपायों को भी दिखला।

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ २५ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनानायक ! (वः) तुम्हारे (अमित्रेषु) शत्रुओं में भी (मरुतः) वायुओं के समान वेगवान् हमारे भट, (आदित्यः) सूर्य के समान प्रतापी हमारे पुरुष, (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मज्ञानी, (ईशां चक्रुः) शासन करते हैं। (इन्द्रः च अग्निः च धाता मित्रः प्रजापतिः) तुम्हारे शत्रुओं में इन्द्र रूप वाले, अग्नि के समान शत्रु तापकारी, धाता अर्थात् सर्वपालक, सबके मित्र और प्रजापालक पुरुष (ईशां चक्रुः) उन पर शासन करें। (वः अमित्रेषु ऋषयः ईशां चक्रुः) तुम्हारे शत्रुओं पर ऋषि अर्थात् मन्त्रद्रष्टा विद्वान् लोग शासन करें। (तव रदिते) तेरे आक्रमण कर लेने पर भी उनको (समीक्षयन्) भली प्रकार देखता हुआ तू शत्रु का नाश कर।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥ २६ ॥ (२७)

भा०—हे (मित्राः) मित्र राजाओ ! और हे (देवजनाः) विद्वान् योद्धा जनो ! (यूयम्) तुम सब उक्त शत्रुपक्ष के (तेषां सर्वेषाम्) उन सब बड़े २ ऐश्वर्यशाली पुरुषों पर भी (ईशानाः) अपना प्रभुत्व जमाते हुए (उत्तिष्ठत) उठ खड़े होवो, (सं नह्यध्वं) कमर कस के लड़ाई के लिये

तैयार हो जाओ। (इमं संग्रामम्) इस संग्राम को (संजित्य) भली प्रकार जीत कर (यथालोकम्) अपने २ स्थान पर (वि तिष्ठध्वम्) स्थिर हो।

[१०] शत्रुसेना का विजय

भृग्वङ्गिरा ऋषिः ॥ मन्त्रोक्तास्त्रिषन्धिर्देवता ॥ छन्दः—१ विराट् पथ्याबृहती, त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुब्गर्भातिजगती, ३ विराड् आस्तार पंक्तिः, ४ विराट्, ५ विराट्त्रिष्टुप् ९ पुरो विराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १२ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः, १३ षट्पदा जगती, १६ त्र्यवसाना षट्पदा ककुम्मती अनुष्टुब्गर्भा शक्करी, १७ पथ्यापंक्तिः, २१ त्रिपदा गायत्री २२ विराट पुरस्ताद् बृहती, २५ ककुप्, २६ अस्तारपंक्तिः, ६, ८, १०, ११, १४, १५, १८–२०, २३, २४, २७ अनुष्टुभः। सप्तविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ १ ॥

भा०—हे (उदाराः) ऊपर से शत्रुओं पर शस्त्रों की वर्षण करने हारे वीर योद्धाओ ! आप लोग (केतुभिः सह) अपने २ चिह्नों से युक्त झण्ड सहित (उत्तिष्ठत) उठ खड़े हो और (सं नह्यध्वम्) युद्ध के लिये कमर कस कर तैयार हो जाओ। हे (सर्पाः) सर्पो ! सर्प के समान विषैले शस्त्रों का प्रयोग करने वालो या शत्रु के छिद्रों में प्रवेश करने वाले पुरुषो ! हे (इतरजना) इतर लोगो ! हे (रक्षांसि) रक्षाकारी लोगो ! तुम सब लोग (अमित्रान् अनु धावत) शत्रुओं पर चढ़ाई करो।

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ २ ॥

भा०—हे (त्रिषन्धे) त्रिसन्धि नामक अस्त्र के धारण करने वाले सेनापते ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल झण्डों सहित (ईशां) शक्तिशाली (वः) तुम लोगों के (राज्यम्) राज्य को सामर्थ्य को (वेद) मैं जानता

हूँ। (अन्तरिक्षे दिवि पृथिव्यां च) अन्तरिक्ष द्यौलोक और पृथिवी में भी (ये मानवाः) जो मानव लोग हैं और (दुर्नामानः) जो दुष्ट नाम वाले, दुष्ट स्वभाव वाले पुरुष हैं, वे सब (ते त्रिसन्धेः) तुझ 'त्रिसन्धि' नामक महास्त्र के धारण करने वाले पुरुष के (चेतसि) चित्त या इच्छा में (उपासताम्) रहें; तेरे अनुकूल चलें।

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ ३ ॥

भा०—(वज्रेण) वज्र के समान तीक्ष्ण, (त्रिसन्धिना) त्रिषन्धि नामक बाण या अस्त्र के साथ, (अयोमुखाः) लोहे के समान कठोर मुख वाले, (सूचीमुखाः) सूई के समान तीक्ष्ण चोंच वाले और (अथो विकङ्कतीमुखाः) कंघी के समान मुख वाले, (क्रव्यादः) कच्चा मांस खाने वाले, (वातरंहसः) वायु के समान वेगवान् बाण (अमित्रान्) शत्रुओं को (आसजन्तु) जा जा कर लगें।

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु।
त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥ ४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वन्! अग्ने! सेनापते! हे (आदित्य) सूर्य के समान शत्रुओं का तेज अपने भीतर लेने हारे! तू (बहु कुणपं) बहुतसी लोथों को (अन्तः धेहि) युद्ध के भीतर गिरा। (त्रिषन्धे) त्रिसन्धि वज्र या तीन प्रकार के महास्त्र चलाने वालों की (इयं सेना) यह सेना (मे वशे) मेरे वश में (सुहिता अस्तु) उत्तम रीति से व्यवस्थित होकर रहे।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥ ५ ॥

भा०—(देवजन) विजिगीषु सेनापते! (त्वं सेनया सह) तू सेना के साथ (उत्तिष्ठ) उठ। (वः) तुम लोगों की (अयं बलिः आहुतः) यह बलि युद्ध रूप अग्नि में डाली जाती है। (त्रिषन्धेः) त्रिपन्धि महास्त्र की सेना को (आहुतिः) इस प्रकार की आहुति (प्रिया) अति प्रिय होती है।

शितिपदी सं द्यतु शरव्ये यं चतुष्पदी।
कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥ ६ ॥

भा०—(शितिपदी) श्वेत चरण वाली (इयम्) यह (शरव्या) बाणों की पंक्ति अर्थात् बाणधारियों की फौज, (चतुष्पदी) चार पदों वाली चतुरंगिणी सेना होकर (सं द्यतु) शत्रु का नाश करे। हे (कृत्ये) हिंसाकारिणी सेने! तू (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धिनामक अस्त्रधारी की सेना के साथ (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के नाश के लिये (भव) हो।

धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु।
त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥ ७ ॥

भा०—शत्रु की सेना (धूमाक्षी) धूएं से पीड़ित चक्षु होकर (सं पततु) भाग जाय और वह (कृधुकर्णी च) छोटे कान करके अर्थात् कान दबा कर (क्रोशतु) चीखे। (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि नामक महास्त्र के बल पर (सेनया) सेना द्वारा (जिते) शत्रु के जीत लेने पर (अरुणाः) लाल (केतवः) झण्डे (सन्तु) खड़े किये जायं।

अवायन्तां पक्षिणो ये वयाँस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति।
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम् ॥८॥

भा०—(ये) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में तथा (दिवि) और भी ऊंचे आकाश में (चरन्ति) विचरते हैं वे (वयांसि) पक्षी (अव अयन्ताम्) नीचे आ उतरें। (श्वापदः) कुत्तों के पञ्जों वाले मांसाहारी पशु, (मक्षिकाः) मक्खियां, (सं रभन्ताम्) प्रहार करें (गृध्राः) गीध (कुणपे) मुर्दों पर (रदन्ताम्) अपने नखों और चोंचों से प्रहार करें, उनको काटें फाड़ें।

यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥९॥

भा०—हे (बृहस्पते) वेद के विद्वान्! (याम् संधाम्) जिस संधा प्रतिज्ञा को (इन्द्रेण ब्रह्मणा च) राजा और ब्रह्म के ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण

के साथ (सम् अश्वत्थाः) तू कर लेता है, (तया इन्द्रसंधया) राजा के साथ की हुई उस सन्धि या प्रतिज्ञा के अनुसार (अहम्) मैं (सर्वान् देवान्) सब करप्रद राजाओं को (इहे हुवे) यहां बुलाता हूँ और आज्ञा देता हूँ कि (इतः जयत) इस इस दिशा में विजय करो और (मा अमुतः) अमुक अमुक दिशाओं में विजय मत करो।

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः।
असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन्॥ १०॥ (२८)

भा०—(आङ्गिरसः) आंगिरस अथर्ववेद का वेत्ता विद्वान्, (बृहस्पतिः) विद्वान् और (ब्रह्मसंशिताः ऋषयः) ब्रह्म अर्थात् वेद के स्वाध्याय में सुशिक्षित ऋषिगण, (असुरक्षयणं) असुरों के विनाशकारी (त्रिषन्धिम्) त्रिसन्धि नामक (वधम्) हथियार को (दिवि आश्रयन्) सूर्य या विद्युत् के आश्रय स्थापित करते हैं।

'त्रिसन्धि' नाम का अस्त्र सूर्य की किरणों से या विद्युत् से सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है।

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च॥ ११॥

भा०—(येन) जिस 'त्रिसन्धि' नामक महास्त्र से (असौ आदित्यः गुप्तः) यह आदित्य सम तेजस्वी राजा सुरक्षित है, (इन्द्रः च) इन्द्र और आदित्य तथा विद्युत् और सूर्य दोनों जिस त्रिसन्धि के तेज से अपने २ स्थान पर (तिष्ठतः) स्थिर हैं, उस (त्रिषन्धिम्) त्रिसन्धि नामक आयुध को, (ओजसे च बलाय च) तेज और बल के कार्य के लिये (देवाः अभजन्त) विद्वान् लोग भी उसे अपनाते हैं।

सर्वांल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्॥१२॥

भा०—(आङ्गिरसः बृहस्पतिः) आङ्गिरसवेद, अथर्ववेद का विद्वान्

(यम् वज्रं) जिस महाविद्युत् को (असुर क्षयणम्) असुरों के नाशकारी (वधम्) हथियार के रूप में (असिञ्चत) निर्माण करता है, (अनया आहुत्या) इस वज्र की आहुति से (देवाः सर्वान् लोकान् अजयन्) विद्वान् लोग समस्त लोकों को विजय करते हैं।

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हन्म्योजसा ॥१३॥

भा०—(आङ्गिरसः बृहस्पतिः) अथर्ववेद का विद्वान् (असुरक्षयणं वधं वज्रम् असिञ्चत) असुरों के नाशकारी जिस हथियार के रूप में महा-विद्युत् को बनाता है, (तेन) उससे, (अहम्) मैं (अमूम्) उस दूर देश में स्थित (सेनाम्) सेना को (नि लिम्पामि) विनाश करूं। हे (बृहस्पते) वेदज्ञ विद्वन्! मैं उसके (ओजसा) तेज और पराक्रम से (अमित्रान्) शत्रुओं को (हन्मि) विनाश करूं।

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट् कृतम्।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥ १४ ॥

भा०—(ये देवाः) जो विद्वान् गण (वषट् कृतम्) यज्ञ के पवित्र अन्न भाग को (अश्नन्ति) खाते हैं वे (सर्वे) सब (अति आयन्ति) शत्रुओं को अतिक्रमण करके हमारी पास आते हैं। हे देव गण ! (इमां आहुतिम् जुषध्वम्) हमारी इस आहुति का सेवन करो, (इतः जयत) इधर से विजय करो, (मा अमुतः) उस शत्रुपक्ष की तरफ से मत लड़ो।

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया।
संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥ १५ ॥

भा०—हे (देवाः) राजगण ! (सर्वे अति आयन्तु) आप सब लोग शत्रु का पक्ष त्याग कर हमारी ओर आ जाओ। (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि नाम अस्त्र को (आहुतिः प्रिया) आहुति ही प्रिय है। (यया) जिस संधा = प्रतिज्ञा से (असुरा जिताः) असुरों का विजय किया जाता है उस

(महतीं संधाम्) बड़ी भारी संधा = परस्पर की प्रतिज्ञा को (रक्षत) सुरक्षित रखो ।

वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु ।
इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् १६

भा०—(वायुः) वायु से बना अस्त्र (अमित्राणाम् इष्वग्राणि) शत्रुओं के बाणों के अग्र भागों को (आ अञ्चतु) आकर लगे । (इन्द्रः) विद्युत् से साधित अस्त्र (एषां बाहून्) उन शत्रुओं की बाहुओं को (प्रति भनक्तु) तोड़ डाले, जिससे वे (इषुम्) बाण को (प्रतिधाम्) हम पर फेंकने के लिये धनुषों में लगा भी (मा शकन्) न फेंकें । (आदित्यः) सूर्य से साधित अस्त्र (एषां अस्त्रम्) इन शत्रुओं के अस्त्र को (विनाशयतु) विनाश कर दे । (चन्द्रमाः) चन्द्रमा से साधित अस्त्र (अगतस्य) हमारे तक न पहुँचे हुए शत्रु के (पन्थाम्) मार्ग को (युताम्) भ्रष्ट कर दे; उनको पथभ्रष्ट कर दे ।

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥ १७॥

भा०—(यदि) यदि शत्रु लोग (देवपुराः) वायु आदि तत्वों के विज्ञाताओं से परिपालित होकर (प्रेयुः) हम पर आ चढ़े और (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) वेद के विज्ञान के अनुसार ही अपनी रक्षा के साधन करते हैं और (यदि) यदि (तनूपानं) अपनी शरीर की रक्षा को और (परिपाणं) सब प्रकार की रक्षा को (कृण्वानाः) करते हुए (उपोचिरे) हम तक पहुँचते हैं, तो हे राजन् ! (तत् सर्वम्) उस सबको भी तू (अरसं कृधि) निर्बल कर दे ।

क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् ।
त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥

भा०—हे (त्रिषन्धे) त्रिसन्धे ! (मृत्युना च पुरोहितम्) मृत्यु तेरे आगे २ चलती है और (क्रव्यादान्) मांसखोर पशु (अनुवर्तयन्) तेरे पीछे २ चलते हैं। (सेनया प्रेहि) सेना से शत्रु पर चढ़ाई कर, (अमित्रान्) शत्रुओं तक (पद्यस्व) पहुँच और (जय) उनको जीत।

त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परि वारय।

पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

भा०—हे (त्रिषन्धे) त्रिसन्धे ! (त्वम्) तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (तमसा) अन्धकार से (परि वारय) घेर ले। (पृषद् आज्य-प्रणुत्तानाम्) महान् पराक्रम से पराजित (अमीषाम्) उन शत्रुओं में से (कश्चन मा मोचि) कोई छूट कर भागने न पावे।

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥ (२९)

भा०—(शितिपदी) श्वेत पद, स्वरूप वाली, विद्युत् शक्ति (अमित्राणां) शत्रु के (अमूः) उन दूर स्थित (सिचः) सेना की पंक्तियों की तरफ (संपततु) वेग से जाय। हे (न्यर्बुदे) न्यर्बुदे ! (अद्य) शीघ्र ही (अमूः अमित्राणां सेनाः) उन शत्रुओं की सेनाएं (मुह्यन्तु) विमूढ़ या मूर्छित हो जायं।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम्।

अनया जहि सेनया ॥ २ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) न्यर्बुदे ! (अमित्राः) शत्रु लोग जब (मूढाः) चेतना रहित हो जायं तब (एषाम्) उनके (वरं-वरम्) श्रेष्ठ २ सेनापतियों को (जहि) मार डाल और उनका (अनया सेनया) इस सेना द्वारा (जहि) विनाश कर।

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि।

ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥ २२ ॥

भा०—(यः च अमित्रः कवची) जो शत्रु कवच पहने है (यः च)

और जो (अकवचः) कवच नहीं पहने है और (यः च अज्मनि) जो रथ पर सवार है वह भी, (ज्यापाशैः) डोरियों के फांसों और (कवचपाशैः) कवच के फांसों से और (अज्मना) रथ पाश से ही (अभिहतः) ताड़ित होकर या बंध कर (शयाम्) धरती पर लेट जाय।

ये व॒र्मिणो॒ येऽव॒र्माणो॑ अ॒मित्रा॒ ये च॑ व॒र्मिणः॑।

सर्वा॒स्ताँ अ॑र्बुदे ह॒तांश्वानो॑ऽदन्तु॒ भूम्या॑म् ॥ २३ ॥

भा०—(ये वर्मिणः) जो कवच पहने हैं और (ये अवर्माणः) जो कवच नहीं पहने हैं और (ये च अमित्राः) जो शत्रु लोग (वर्मिणः) कवच धारण किये हुये हैं (तान् सर्वान्) उन सब (हतान्) मरे हुओं को हे (अर्बुदे) सेनापते ! (भूम्याम्) पृथिवी पर (श्वानः) सियार, कुत्ते (अदन्तु) खावें।

ये र॒थिनो॒ ये अ॑र॒था अ॑सा॒दा ये च॑ सा॒दिनः॑।

सर्वा॑नदन्तु॒ तान् ह॒तान् गृध्राः॑ श्ये॒नाः प॑त॒त्रिणः॑ ॥ २४ ॥

भा०—(ये रथिनः) जो रथों पर सवार हैं (ये अरथाः) और जो रथों पर सवार नहीं हैं, (असादाः) जो घोड़ों पर सवार नहीं हैं, (सादिनः) और जो घोड़ों पर सवार हैं, (तान्) उन (सर्वान्) सब (हतान्) मरे हुओं को (गृध्राः) गीध (श्येनाः) बाज और (पतत्रिणः) अन्यान्य चील कौवे आदि पक्षी (अदन्तु) खावें।

स॒हस्र॑कुणपा शेतामामि॒त्री सेना॑ स॒मरे॑ व॒धाना॑म्।

विवि॑द्धा क॒कजाकृ॑ता ॥ २५ ॥

भा०—(वधानाम् समरे) हथियारों की लड़ाई में (अमित्री सेना) शत्रुसेना (सहस्रकुणपा) हजारों लाशों वाली होकर और (विविद्धा) नाना प्रकार से ताड़ित हो होकर (ककजाकृता) दुर्दशा से पीड़ित, बेहाल होकर (शेताम्) पृथ्वी पर बिछ जाय।

(ककजाकृता) कुत्सितजनना विलोलजनना कृतेति सायणः। खण्डशः

कृतेति क्तिनिः । कख गर्वे चापल्ये तृष्णायां च । कक: पिपासा तज्जातया पीडया हिंसिता इति क्षेमकरण: ।

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम् ।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥ २६ ॥

भा०—(यः) जो (अमित्रः) शत्रु (इमाम्) इस (नः) हमारी (प्रतीचीम्) शत्रु के अभिमुख वेग से जाती (आहुतिम्) अ-हुति युद्धाहुति के विरुद्ध (युयुत्सति) लड़ना चाहता है, (सुपर्णैः) अति वेगवान् बाणों से (मर्माविधम्) मर्म अर्थात् शरीर के कोमल मर्मस्थानों पर ताड़ित हुए, (रोरुवतम्) रोते और कराहते (दुश्चितम्) दुःख में पड़े, (मृदितम्) कुटे पिटे, (शयानम्) भूमि पर पड़े उस शत्रु को (अदन्तु) कुत्ते, सियार, कौए और चील खावें ।

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् ।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ २७ ॥

भा०—(यां) जिस यज्ञाहुति का (देवाः) ज्ञानद्रष्टा पुरुष (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं और (यस्याः) जिसका (विराधनम्) विनाश चूक या विपरीतगमन (नास्ति) नहीं होता, (तया) उससे और (त्रिषन्धिना वज्रेण) 'त्रिसन्धि' नाम वज्र से, (वृत्रहा) शत्रुनाशक (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (हन्तु) अपने शत्रु का नाश करे । तीन प्रकार के सैन्यों का 'वर्ग = त्रिसन्धि' । इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् , ऋचः त्रयःपञ्चाशत् ।]

इत्येकादशं काण्डं समाप्तम्

अथ द्वादशं काण्डम्

[१] पृथिवी सूक्त

अथर्वा ऋषिः ॥ भूमिर्देवता ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप्, २ भुरिक्, ४–६, १०, ३२ त्र्यवसानाः षट्पदा जगत्यः ७ प्रस्तारपंक्तिः ८, ११ त्र्यवसाने षट्पदे

विराडष्टी, ९ परानुष्टुप्, १२, १३ त्र्यवसने शक्वर्यौ, १५ पंचपदा शक्वरी, १४ महाबृहती, १६, २१ एकावसाने साम्नीत्रिष्टुभौ, १८ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी १९ पुरोबृहती २२ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् अतिजगती, २३ पंचपदा विराड् जगती, २४ पंचपदानुष्टुब्गर्भा जगती, २५ सप्तपदा उष्णिग् अनुष्टुब्गर्भा शक्वरी, २६—२८ अनुष्टुभः, ३० विराड् गायत्री ३२ पुरस्ताज्ज्योतिः ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५३, ५४, ५६, ५९, ६३ अनुष्टुभः, ३४ त्र्यवसासना षट्पदा त्रिष्टुप् बृहतीगर्भातिजगती, ३६ विपरीतपादलक्ष्मा पंक्तिः, ३७ पंचपदा त्र्यवसाना शक्वरी, ३८ त्र्यवसना षट्पदा जगती, ४१ सप्तपदा ककुम्मती शक्वरी, ४२ स्वराडनुष्टुप्, ४३ विराड् आस्तारपंक्तिः, ४४, ४५, ४९ जगत्यः, षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भा परा शक्वरी, ४७ षट्पदा विराड् अनुष्टुब्गर्भापरातिशक्वरी, ४८ पुरोऽनुष्टुप्, ५० अनुष्टुप्, ५१ त्र्यवसाना षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती शक्वरी, ५२ पंचपदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती, ५३ पुरोबृहती अनुष्टुप्, ५७, ५८ पुरस्ताद् बृहत्यौ, ६१ पुरोबार्हता, ६२ पराविराट् १, ३, १३, १७, १९, २०, २९, ३१, ४६, ५५, ६० त्रिष्टुभः । त्रिषष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

स॒त्यं बृ॒हदृ॒तमु॒ग्रं दी॒क्षा तपो॒ ब्रह्म॑ य॒ज्ञः पृ॑थि॒वीं धा॑रयन्ति ।
सा नो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य॒ पत्न्यु॒रुं लो॒कं पृ॑थि॒वी नः॑ कृणोतु ॥ १ ॥

भा०—(बृहत् सत्यं) महान् सत्य, (उग्रं ऋतम्) उग्र बलवान्, भयकारी, 'ऋत' = परम सत्यव्यवस्था, (दीक्षा) कार्य करने का दृढ़ संकल्प, (तपः) तपस्या, (ब्रह्म) वेद का ज्ञान और (यज्ञः) यज्ञ ये पदार्थ (पृथिवीं धारयन्ति) समस्त पृथिवी को धारण करते हैं। (सा) वह पृथिवी (नः) हमारे (भूतस्य) गुज़रे हुए कामों और (भव्यस्य) आगे होने वाले कार्यों की (पत्नी) स्वामिनी है। वह (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमारे लिये (उरुं लोकं) विशाल स्थान (कृणोतु) प्रदान करे, जिसमें हम खूब रहें और फूलें फलें।

अ॒सं॒बा॒धं ब॑ध्य॒तो मा॑न॒वा॒नां यस्या॑ उ॒द्वतः॑ प्र॒वतः॑ स॒मं ब॒हु ।
नाना॑वीर्या॒ ओष॑धी॒र्या बिभ॑र्ति पृ॒थि॒वी नः॑ प्रथतां॒ राध्य॑तां नः ॥२॥

भा०—(मानवानाम्) मनुष्यों को (असंबाधम् बध्यतः) विना एक दूसरे को पीड़ा दिये ही अर्थात् बे-आबाद पड़ी हुई (यस्याः) जिस भूमि के (उद्वतः) ऊंचे और (प्रवतः) लम्बे चौड़े या नीचे बहुत से भाग हैं और (बहु) बहुत सा भाग (समम्) समान भी है, (या पृथिवी) जो पृथिवी (नानावीर्या) नाना प्रकार के वीर्यों वाली (ओषधीः) ओषधियों को (बिभर्ति) धारण करती है, वह (नः प्रथताम्) हमारे लिये विशाल रूप में प्राप्त हो, हमारी भूमि सम्पत्ति खूब बढ़े और (नः राध्यताम्) हमें खूब अन्न, फल आदि सम्पत्ति प्राप्त करावे।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥

भा०—(यस्यां) जिस भूमि पर (समुद्रः) समुद्र (उत) और (सिन्धुः) बहने वाले नद नाले और नाना प्रकार के (आपः) जल हैं और (यस्याम्) जिस पर (अन्नम्) अन्न (कृष्टयः) और नाना खेतियां (संबभूवुः) होती हैं, (यस्याम्) जिस पर (इदम्) यह (प्राणत्, एजत्) जीता जागता, चलता फिरता संसार (जिन्वति) अन्न जल खा पीकर तृप्त होता और प्राण धारण करता है, (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (पूर्वपेये) पूर्व पुरुषों से प्राप्त करने योग्य उत्तम पद पर (दधातु) स्थापित करे।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

भा०—(यस्याः पृथिव्याः) जिस पृथिवी के चारों ओर (चतस्रः) चार (प्रदिशः) विशाल दिशाएं दूर तक फैली हैं, (यस्याम्) जिस पर (कृष्टयः) मनुष्य लोग कृषि द्वारा (अन्नं संबभूवुः) अन्न उत्पन्न करते हैं, अथवा (यस्यां अन्नम्) जिस पर अन्न और नाना (कृष्टयः) खेतियां (संबभूवुः) उत्पन्न होती हैं। (या) जो (प्राणत् एजत्) प्राण लेने हारे, जीते

जागते और चलते फिरते चराचर संसार का (बहुधा) बहुत प्रकारों से (बिभर्ति) पालन पोषण करती है, (सा) वह हमारी (भूमिः) भूमि (नः) हमें (गोषु) गउओं और (अन्ने अपि) अन्नादि सम्पत्ति में (दधातु) धारण करे। हमें बहुत से पशु और बहुतसा अन्न दे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस भूमि पर (पूर्वे) पूर्व काल के (पूर्वजनाः) श्रेष्ठ पुरुष (विचक्रिरे) नाना प्रकार के विक्रम के कार्य किया करते हैं और (यस्याम्) जिस पर (देवाः) दिव्य शक्ति सम्पन्न पराक्रमी पुरुष (असुरान्) प्रजापीड़क असुरों का (अभि अवर्तयन्) दमन करते हैं और जो पृथिवी (गवाम् अश्वानाम् वयसः च) गौओं, घोड़ों और पक्षियों का (विस्था) विशेष रूप से रहने का स्थान है, वह (पृथिवी) भूमि (नः) हमें (भगं वर्चः) सौभाग्य और तेजःसम्पत्ति को (दधातु) प्रदान करे।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

भा०—(विश्वम्भरा) समस्त विश्व का भरण पोषण करने वाली वह पृथिवी ही (वसुधानी) सब बहुमूल्य धन सम्पत्तियों का खजाना है। वह सबकी (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा, मान और यश को बढ़ाने वाली, (हिरण्य वक्षाः) सुवर्ण आदि धातुओं को अपनी कोख में धारण करने वाली और (जगतः) समस्त संसार को अपने ऊपर (निवेशनी) बसाती है। वह (भूमिः) सबको उत्पन्न करने वाली भूमि (वैश्वानरम्) समस्त प्राणियों को और उनके हितकारी (अग्निम्) अग्नि और उसके समान तापकारी राजा को (बिभ्रती) धारण करती हुई, (इन्द्र-ऋषभा) इन्द्र अर्थात् राजा को सर्वश्रेष्ठ रूप से अपने ऊपर शासक रूप से धारण करती हुई, या (इन्द्र-ऋषभा) इन्द्र अर्थात् सूर्य रूप महावृषभ के समक्ष स्वयं गौ के समान उसके तेज से

अपने में नाना चर अचर सृष्टि को उत्पन्न करने हारी वह पृथिवी (नः) हमें (द्रविणे) धन ऐश्वर्य में (दधातु) स्थापित करे।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

भा०—(यां) जिस (भूमिम्) धन अन्नादि के उत्पन्न करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी की, (अस्वप्नाः देवाः) सदा सचेत राजा लोग (अप्रमादम्) विना प्रमाद के (विश्वदानीम्) सदा, समस्त कालों में (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (सा) वह (नः) हमें (प्रियं मधु) प्रिय मधु के समान मधुर, मनोहर अन्न आदि पदार्थ (दुहाम्) उत्पन्न करे, (अथो) और (वर्चसा उक्षतु) हमें तेज और बल से पुष्ट करे।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

भा०—(या) जो पृथिवी (अग्रे) सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व (अर्णवे अधि) महान् समुद्र के भीतर (सलिलम् आसीत्) जल ही जलस्वरूप थी और (याम्) जिसको (मनीषिणः) मननशील पुरुष (मायाभिः) अपनी नाना निर्माण शक्तियों द्वारा (अनु अचरन्) भोग रहे हैं। (यस्याः) जिस (पृथिव्याः) पृथिवी का (हृदयम्) हृदय, परम गतिकारक प्रेरक बल (अमृतम्) अमृत स्वरूप सदा अमर सूर्य (परमे व्योमन्) परम आकाश में (सत्येन) सत्य बल रूप तेज से (आवृतम्) ढका है। (सा भूमिः) वह भूमि (नः उत्तमे) हमारे उत्तम राष्ट्र में (त्विषिं) तेज और (बलम्) बल (दधातु) धारण करावे।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस पृथिवी पर (आपः) जल (परिचराः) लोक सेवा

में लगे परिचारकों के समान (समानीः) समान भाव से (अहोरात्रे) दिन रात (अप्रमादम्) प्रमाद शून्य होकर (क्षरन्ति) बहते हैं, (सा भूमिः) वह भूमि (भूरिधारा) बहुतसी जल-धाराओं से युक्त (नः) हमें (पयः दुहाम्) पुष्टिकारक जल और अन्न आदि पदार्थ अधिक मात्रा में उत्पन्न करे, (अथो) और (वर्चसा उक्षतु) तेज और धन से हमें सींचे, तेजस्वी बनावे ।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥ (१)

भा०—(याम्) जिसको (अश्विनौ) दिन और रात्रि सूर्य और चन्द्र दोनों मानो (अमिमातां) मापा करते हैं और (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (यस्यां) जिसमें (विचक्रमे) नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करता है और (शचीपतिः) शक्ति और सेना का स्वामी (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (यां) जिसको (आत्मने) अपने लिये (अनमित्रां) शत्रु से रहित (चक्रे) करता है, (सा भूमिः) वह भूमि (माता) माता जिस प्रकार पुत्र के लिये स्वयं प्रेम से दूध पिलाती है उसी प्रकार (मे पुत्राय) मुझ पुत्र के लिये अपना (पयः) जल, अन्नरस आदि नाना पुष्टिकारक पदार्थ (वि सृजताम्) प्रदान करे ।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

भा०—हे (पृथिवी) पृथिवी ! (ते) तेरे (गिरयः) पहाड़ और (हिमवन्तः पर्वताः) हिमों से ढके हुए बड़े बड़े पर्वत और (ते) तेरा (अरण्यम्) जंगल (स्योनम् अस्तु) सुखकारी हो । (अहम्) मैं स्वयं (अजीतः) किसी से पराजित न होकर, (अहतः) किसी से न मारा जाकर, (अक्षतः) किसी से जखमी न होकर, स्वस्थ रहकर, (बभ्रुम्) सदा सबको भरण पोषण

करने वाली, (कृष्णाम्) किसानों से जोती गयी, (रोहिणीम्) नाना अन्न वनस्पतियों से सम्पन्न, (विश्वरूपाम्) नाना प्रकार के समस्त प्राणियों से सम्पन्न, (इन्द्रगुप्ताम्) राजा से सुरक्षित अथवा इन्द्र, मेघ से सुरक्षित, (ध्रुवाम्) स्थिर, (भूमिम्) सर्वोत्पादक (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अधि अस्थाम्) अधिष्ठाता होकर शासन करूं, उस पर सुख से रहूँ।

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (यत् ते मध्यम्) जो तेरा मध्य भाग है और (यत् च नभ्यम्) जो तेरा नाभि भाग है और (याः ऊर्जः) जो अन्न आदि बलकारक पदार्थ (ते तन्वः) तेरे शरीर से (संबभूवुः) उत्पन्न होते हैं, (नः) हमें (तासु धेहि) उनमें प्रतिष्ठित कर। (नः) हमें (अभिपवस्व) पवित्र कर। तू (भूमिः) सबकी उत्पादक होने के कारण मेरी (माता) माता है और (अहम्) मैं (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवी का पुत्र हूँ। (पर्जन्यः) समस्त रसों का प्रदान करने वाला 'पर्जन्य' मेघ (पिता) सबका पालक 'पिता' है, (सः उ) वह ही (नः) हमारा (पिपर्तु) पालन करे।

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस (भूम्याम्) भूमि पर (विश्वकर्माणः) विश्वकर्मा, शिल्पी लोग (वेदिं परिगृह्णन्ति) वेदि बनाते हैं और वे ही विद्वान् लोग (यस्यां) जिस पर (यज्ञं तन्वते) उपकारकारी यज्ञ रचते हैं और (यस्याम् पृथिव्याम्) जिस पृथ्वी पर (आहुत्याः) आहुति

के (पुरस्तात्) पूर्व ही (ऊर्ध्वाः) ऊंचे २ (शुक्राः) दीप्तिमान् (स्वरवः) स्वरु यज्ञयूप रचे जाते हैं, (सा भूमिः) वह भूमि (वर्धमाना) स्वयं बढ़ती हुई (नः वर्धयत्) हमें बढ़ावे ।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (नः) हमसे (यः) जो (द्वेषत्) द्वेष करता है, प्रेम से बर्ताव नहीं करता है और (यः पृतन्यात्) जो हम पर सेना से चढ़ाई करता है और (यः) जो (मनसा) अपने मन से या विचारों से और (वधेन) हथियारों से (अभिदासात्) हमें दास बनाता है हे (भूमे) भूमे ! (पूर्वकृत्वरि) पूर्व से ही शत्रुओं के नाश करने योग्य बनाई तू (तम्) उस पुरुष को (नः रन्धय) विनाश कर, हमारे वशीभूत कर।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (त्वत् जाताः) तुझसे उत्पन्न हुए (मर्त्याः) मरने हारे प्राणी (त्वयि चरन्ति) तुझ पर ही विचरते हैं । (त्वं) तू ही (द्विपदः चतुष्पदः) दोपायों और चौपायों को (बिभर्षि) पालती पोषती है । हे पृथिवि ! (इमे पञ्च मानवाः) ये पांचों प्रकार के मनुष्य लोग भी (तव) तेरे ही हैं, (येभ्यः) जिनके लिये (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य अपनी (रश्मिभिः) किरणों से (अमृतं ज्योतिः) अमृतमय अविनाशी, अक्षय ज्योति-प्रकाश को (आतनोति) फैलाता है ।

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा ।
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

भा०—(ता) वे (समग्राः) समस्त (प्रजाः) प्रजाएं (नः) हमें (सं दुह्रताम्) सब प्रकार से पूर्ण करें, अपने अपने परिश्रमों और शिल्पों द्वारा

बढ़ावें। हे पृथिवि ! तू (मह्यम्) मुझे (वाचः मधुः) वाणी की मधुरता (धेहि) प्रदान कर।

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

भा०—(विश्वस्वं) समस्त धनों को धारण और उत्पन्न करने वाली, (ओषधीनां मातरम्) ओषधियों को उत्पन्न करने वाली, (ध्रुवाम्) स्थिर, (धर्मणा धृताम्) धर्म द्वारा परिपालित, (शिवाम्) कल्याणकारिणी, (स्योनाम्) सुखकारिणी, (भूमिम्) सबको उत्पन्न करने हारी (पृथिवीम्) पृथिवी में हम (विश्वहा) सदा और सब प्रदेशों में सब प्रकारों से (अनुचरेम) नित्य विचरण करें।

महत् सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्। सा नो भूमे प्र रोचय
हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

भा०—हे पृथिवि ! (महत् सधस्थम्) एकत्र होने के लिये तू एक बड़ा भारी भवन है। तू (महती बभूविथ) बहुत ही बड़ी है। (ते महान् वेगः) तेरा वेग भी बहुत बड़ा है। (ते एजथुः महान्) तेरा कम्पन भी बड़ा भारी होता है, तेरा संचलन भी बहुत बड़ा है। (महान् इन्द्रः) बड़ा भारी राजाधिराज, ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्वां) तेरी (अप्रमादम्) विना प्रमाद के (रक्षति) रक्षा करता है। हे (भूमे) सर्वोत्पादक पृथिवि ! (सा) वह तू (नः) हमारे लिये (हिरण्यस्य संदृशि) सुवर्ण के रूप में (प्र रोचय) तेजस्वी प्रतीत हो। (नः) हमसे (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) द्वेष न करे।

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

भा०—(अग्निः भूम्याम्) अग्नि भूमि के ऊपर अधिष्ठाता रूप से

विद्यमान है, (ओषधीषु) वह ओषधियों में विद्यमान है। (आपः) जल (अग्निम्) अग्नि को (बिभ्रति) धारण करते हैं। (अग्निः अश्मसु) अग्नि पत्थरों के भीतर भी विद्यमान है, (पुरुषेषु अन्तः अग्निः) पुरुषों के भीतर अग्नि है, (गोषु अश्वेषु अग्नयः) नाना रूप की अग्नि गौओं बैलों और घोड़ों तक में विद्यमान है।

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥ (२)

भा०—(दिवः) आकाश से भी (अग्निः) अग्नि रूप सूर्य (आतपति) तपता है। (अग्नेः देवस्य) प्रकाशमान अग्नि के वश में ही (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष है। (मर्तासः) मनुष्य भी (हव्यवाहम्) हव्य को सर्वत्र पहुँचा देने वाले और (घृतप्रियम्) घृत आदि ज्वलनशील पदार्थों के प्रिय (अग्निम्) अग्नि को ही यज्ञों में (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं।

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥२१॥

भा०—(अग्निवासाः) अग्नि से बाहर भीतर और सर्वत्र आच्छादित (पृथिवी) पृथिवी, (असितज्ञूः) उस बन्धनरहित व्यापक परमेश्वर रूप अग्नि को जतलाने वाली है। वह (मा) मुझको (त्विषीमन्तम्) दीप्तिमान् (संशितम्) और तेजस्वी (कृणोतु) करे।

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥२२॥

भा०—मनुष्य (भूम्याम्) भूमि पर (अरंकृतम्) सुन्दर सुशोभित (हव्यम्) हव्य चरु और (यज्ञं) पूजा आदि सत्कारों को (देवेभ्यः) देव सदृश विद्वानों के प्रति (ददाति) प्रदान करते हैं। (मर्त्याः) मरणधर्मा (मनुष्याः) मनुष्य लोग (भूम्याम्) भूमि पर ही (स्वधया) स्वधारूप (अन्नेन) अन्न से (जीवन्ति) प्राण धारण करते हैं। (सा) वह (भूमिः)

भूमि (नः) हमें (प्राणम् आयुः) प्राण और आयु (दधातु) प्रदान करे। (मां) मुझे (पृथिवी) पृथिवी (जरदष्टिं) वृद्धावस्था तक दीर्घजीवी (कृणोतु) करे।

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (ते) तुझमें (यः) जो (गन्धः) गंध (सं बभूव) सर्वत्र विशेष गुण रूप से विद्यमान है, (यम्) जिसको प्रत्यक्षरूप से (ओषधयः) ओषधियां और (यम्) जिसको (आपः) नाना प्रकार के जल और द्रव पदार्थ भी (बिभ्रति) धारण करते हैं, (यम्) जिसको (गन्धर्वाः) पुरुष और (अप्सरसः च) स्त्रियां (भेजिरे) सेवन करती हैं। (तेन) उस गन्ध से (मा) मुझको (सुरभिम्) सुगन्धित (कृणु) कर और (नः) हमें (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) द्वेष न करे।

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २४ ॥

भा०—(यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध (पुष्करम्) नील कमल में (आविवेश) प्रविष्ट है, (यं) जिस (गन्धम्) गन्ध को (सूर्यायाः विवाहे) सूर्या अर्थात् वरवर्णिनी कन्या के विवाह में, या प्रातः उषा के प्राप्त होने के अवसर पर (अमर्त्याः) अमरण धर्मा, विद्वान् पुरुष या वायु आदि दिव्य पदार्थ भी (अग्रे) सबसे पूर्व (संजभ्रुः) धारण करते हैं, हे (पृथिवि) पृथिवि ! (तेन) उससे (मा) मुझे भी (सुरभिम्) सुगन्धित (कृणु) कर। (नः) हमसे (कश्चन) कोई (मा द्विक्षत) द्वेष न करे।

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।

कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

भा०—हे (भूमे) सबके उत्पत्ति स्थान ! पृथिवि ! (ते यः गन्धः) तेरा जो गन्ध (पुरुषेषु स्त्रीषु) पुरुषों और स्त्रियों में विद्यमान है और (पुंसु भगः रुचिः) जो तेरा गन्ध नरों में सौभाग्यमय मनोहर कान्तिरूप से विद्यमान है, (यः अश्वेषु) जो अश्वों में, (वीरेषु) वीर्यवान् पुरुषों में, (यः) जो (मृगेषु) मृगों में (उत) और जो (हस्तिषु) हाथियों में है, (यद् वर्चः) जो तेज (कन्यायाम्) कुमारी कन्या में विद्यमान है (तेन) उस गन्ध और कान्ति से (अस्मान् अपि) हमें भी (सं सृज) युक्त कर। (नः कश्चन मा द्विक्षत) हमसे कोई द्वेष न करे।

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

भा०—(शिला) शिला आदि पदार्थ (भूमिः) भूमि ही हैं। (अश्मा पांसुः) पत्थर और धूलि भी (सा भूमिः) वह भूमि ही है। ये सब पदार्थ उस भूमि ने (संधृता) भली प्रकार धारण किये हैं, इसीसे (धृता) ये यहां स्थिरता से पड़े हैं। (तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्यै) सुवर्णादि धातुओं कोअपने गर्भ में धारण करने वाली उस पृथिवी को (नमः अकरम्) हम नमस्कार करते हैं।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि ॥ २७ ॥

भा०—(यस्याम्) जिसमें (वृक्षाः) वृक्ष और (वानस्पत्याः) नाना प्रकार की वनस्पतियां (विश्वहा) सदा (ध्रुवाः तिष्ठन्ति) स्थिर रूप से विराजती हैं, (विश्वधायसं पृथिवीम्) समस्त पदार्थों और समस्त जगत् को धारण करने हारी, (धृताम्) उस स्थिर पृथिवी को (अच्छा वदामसि) हम स्तुति करते हैं।

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥

भा०—हम लोग (उदीराणाः) उठते हुए (उत आसीनाः) और बैठे हुए, (तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः) खड़े हुए और चलते फिरते, (दक्षिण सव्याभ्यां पद्भ्यां) दायें और बायें पैरों से (भूम्याम्) भूमि पर (मा व्यथिष्महि) कभी कष्ट अनुभव न करें, पैरों में कभी ठोकर आदि न खावें।

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥

भा०—मैं (विमृग्वरीम्) नाना प्रकार से पवित्र करने वाली, (क्षमाम्) सब कुछ सहन करने वाली (ब्रह्मणा) वेदज्ञान उसके जानने वाले ब्राह्मणों और विद्वानों से (वावृधानां) निरन्तर बढ़ने हारी, (भूमिम्) सर्वोत्पादक (पृथिवीम्) पृथिवी की (आ वदामि) सर्वत्र स्तुति करता हूँ। (उर्जम्) बलकारी, (पुष्टम्) पुष्टिकारी (अन्नभागम्) अन्न के अंश को और (घृतम्) घृत घी, दूध आदि पदार्थों को (बिभ्रतीम्) धारण करने वाली (त्वा) तुझ पर हे (भूमे) भूमि ! (अभि निषीदेम) हम निवास करें।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥ (३)

भा०—(नः तन्वे) हमारे शरीर के लिये (शुद्धाः आपः क्षरन्तु) शुद्ध जल बहें। (यः) जो (नः) हमें (सेदुः) कष्ट हैं (ते) उसको (अप्रिये) प्रिय न लगने वाले, शत्रु पर (नि दध्मः) डालें। हे (पृथिवि) पृथिवि ! (मा) मैं अपने आपको (पवित्रेण) पवित्र जल या शुद्ध आचरण से (उत् पुनामि) पवित्र करूं।

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

भा०—हे (भूमे) पृथिवि ! (याः) जो तेरे (प्रदिशः) प्रदेश (प्राचीः)

पूर्व दिशा में विद्यमान हैं, (याः उदीचीः) जो प्रदेश उत्तर दिशा में, (या ते अधरात्) जो प्रदेश तेरे नीचे हैं और (याः च पश्चात्) जो प्रदेश पीछे पश्चिम दिशा में हैं, (ताः) वे सब प्रदेश, (चरते मह्यं) विचरण करने हारे मुझे (स्योनाः भवन्तु) सुखकारी हों। मैं (भुवने) इस लोक में (शिश्रियाणः) आश्रय पाकर (मा नि पप्तम्) कभी नीचे न गिरूं। अर्थात् नीच न बनूं।

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो
वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥

भा०—हे (भूमे) भूमे ! तु (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से, (पुरस्तात्) आगे से भी (मा मा नुदिष्ठाः) कभी मत प्रहार कर। (उत्तरात्) ऊपर से और (उत् अधरात्) नीचे से भी (मा) प्रहार मत कर। (नः) हमारे लिये तु (स्वस्ति भव) कल्याणकारी हो। हमें (परिपन्थिनः) बटमार, डाकू और चोर लोग (मा विदन्) न पकड़ पावें। (वरीयः वधम् यावय) बड़े हत्याकारी हथियारों को भी दूर कर।

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

भा०—हे (भूमे) पृथिवि ! (मेदिना) मित्रभूत (सूर्येण) सूर्य की सहायता से (ते) तुझे (यावत्) जितना भी जहां तक भी (अभि विपश्यामि) साक्षात् देखूं (तावत्) उतना, वहां तक (मे चक्षुः) मेरी आंखें (उत्तराम् समाम्) ज्यों ज्यों वर्ष गुज़रते जायं, त्यों त्यों (मा मेष्ट) कभी विनष्ट न हों। मैं तेरे दृश्य बराबर देखता रहूँ और मेरी चक्षु की शक्ति बढ़े।

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

भा०—हे भूमे ! (यत्) जब मैं (शयानः) सोता हुआ (दक्षिणं-

सव्यम् अभि, सव्यं दक्षिणम् अभि) दायें से बायें और बायें से दायें (पार्श्वम्) पासे (परि आवर्ते) करवट लूं और (यत्) जब हम (त्वा) तुझको अपने नीचे किये हुये (उत्तानाः) स्वयं उत्तान हुए (पृष्टीभिः) पीठ के मोहरों के बल पर सोते हैं तब हे (सर्वस्य प्रतिशीवरि) सबको अपने ऊपर सुलाने वाली ! माता के समान जननी ! (नः) हमें तू (मा हिंसीः) कभी मत मार।

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

भा०—हे (भूमे) भूमि ! (ते) तुझसे जो ओषधि आदि पदार्थ मैं (विखनामि) नाना प्रकार से खोद लूं (तत् अपि) वह भी (क्षिप्रम्) शीघ्र ही (रोहतु) पुनः उग आवे। हे (विमृग्वरि) विशेष रूप से शुद्ध पवित्र करनेहारी ! मैं (ते) तेरे (मर्म) मर्मस्थानों को और (हृदयम्) हृदय को (मा अर्पिपम्) कभी पीड़ित और विनाश न करूं। ओषधि आदि खोदते समय सदा ध्यान रखें कि पृथ्वी के मर्म अर्थात् जिनमें पृथ्वी के ओषधि पोषक अंश हों और हृदय जिनमें उनके रसप्रद अंश हों उनको नष्ट न करें, नहीं तो भूमि अनुपजाऊ और बंजर हो जाती है।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥३६॥

भा०—हे (भूमे) भूमे ! (ते) तेरे निमित्त या तेरे द्वारा ही (ग्रीष्मः) ऋतु (वर्षाणि) वर्षाएं, (शरत् हेमन्तः शिशिरः वसन्तः) शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त (ऋतवः विहिताः) ये ऋतुएं परमात्मा ने बनाई हैं। इसी प्रकार (ते हायनीः) तेरे द्वारा या तेरे निमित्त वर्ष तथा (अहोरात्रे) दिन और रात बने हैं। वे सब (नः दुहाताम्) हमें अभिलषित सुख और सुखकारी पदार्थ प्रदान करें।

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

भा०—(या सर्प अप विजमाना) जो सर्प के समान कुटिल पुरुष से भय खाती हुई (विमृग्वरी) शुद्ध पवित्र करनेहारी पृथिवी है, (यस्याम्) जिसमें (अग्नयः) ज्ञानज्योति से चमकने वाले तेजस्वी विद्वान्, (ये अप्सु अन्तः) जो जलों के भीतर रहने वाले और्वानलों के समान (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान हैं, वह पृथ्वी (देवपीयून् दस्यून्) श्रेष्ठ पुरुषों के नाशक दस्यु चोर डाकू पुरुषों को (परा ददती) दूर करती, उनका परित्याग करती हुई, (इन्द्रं वृणाना) सूर्य के समान ऐश्वर्यशाली राजा को अपने पति रूप से वरण करती है और (न वृत्रम्) मेघ के समान केवल माया से आवरण करने वाले दुष्ट पुरुष को अपना पति नहीं वरती । वह अपने आपको (शक्राय) शक्ति-शाली, (वृष्णे) वीर्यवान् (वृषभाय) और प्रजा के प्रति सुखों के वर्षक राजा के लिये (दध्रे) धारण करती है, अपने को उसके प्रति सौंप देती है ।

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस पृथिवी पर यज्ञ में (सदोहविर्धाने) 'सद' नामक मण्डप और 'हविर्धान' नामक सोमशकट या सोमपात्र बनाये जाते हैं । (यस्यां) जिसमें (यूपः निमीयते) यज्ञ का स्तम्भ 'यूप' गाड़ा है । (यस्याम्) जिसमें (यजुर्विदः) यजुर्वेद के वेत्ता यजुर्मन्त्रों से (ब्रह्माणः) अथर्ववेद के वेत्ता अथर्ववेद के मन्त्रों से, (ऋग्भिः) तथा ऋग्वेद के वेत्ता ऋचाओं से और (साम्ना) सामवेद के वेत्ता साम गानों से (अर्चन्ति) इष्टदेव की स्तुति करते हैं । (यस्याम्) जिस पृथ्वी पर (ऋत्विजः) ऋतु-

अनुकूल यज्ञ करने हारे ऋत्विग् लोग (इन्द्राय) राजा, यजमान एवं आत्मा को (सोमम् पातवे) सोम पान कराने के लिये (युज्यन्ते) एकत्र होते और समाहित होकर आध्यात्म यज्ञ करते हैं।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

भा०—(यस्यां) जिस भूमि पर (पूर्वे) पूर्व कल्पों के (भूतकृतः) प्राणियों के उत्पादक अथवा भूत अर्थात् समस्त तत्वों के साक्षात्कार करने वाले (सप्त) सात (वेधसः) विधाता अर्थात् विधि का निर्माण करने वाले (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण (यज्ञेन) यज्ञ, (सत्रेण) सत्र और (तपसा) तप के साथ सम्पन्न होकर (गाः उदानृचुः) वेद-वाणियों को उच्चारण करते हैं।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥ (४०)

भा०—(यत्) जिस (धनम्) धन की हम (कामयामहे) कामना करें (सा) वह पूज्य, सर्वोत्पापक (भूमिः) भूमि (नः) हमें (आदिशतु) प्रदान करे। (भगः) ऐश्वर्यवान्, परमात्मा हमें (अनुप्रयुङ्क्ताम्) सदा सहायता करें और (इन्द्रः पुरोगवः एतु) परमेश्वर ही हमारे सब कार्यों में अग्रगामी होकर रहे।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

भा०—(यस्यां) जिस (भूम्यां) भूमि पर (मर्त्याः) मरणधर्मा मनुष्य (व्यैलबाः) नाना प्रकार के शब्द करते हुए (गायन्ति) गाते (नृत्यन्ति) नाचते और (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और (यस्यां) जिस पर (आक्रन्दः) अति शब्द-कारी (दुन्दुभिः वदति) नगाड़ा बजता है, (सा

भूमिः) वह भूमि (नः सपत्नान्) हमारे शत्रुओं को (प्र नुदताम्) परे करे और (पृथिवी) पृथिवी (मा असपत्नं) मुझको शत्रु रहित (कृणोतु) करे।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस पर (अन्नं) अन्न, (व्रीहियवौ) धान्य और जौ जाति के अन्न उत्पन्न होते हैं और (यस्याः) जिससे (इमाः) ये (पञ्च) पांच प्रकार के (कृष्टयः) मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पांचवें निषाद = जंगली लोग उत्पन्न होते हैं, (पर्जन्यपत्न्यै) पर्जन्य द्वारा सींची जाने वाली (वर्षमेदसे) तथा वर्षा के जल से परिपूर्ण उस (भूम्यै) भूमि को (नमः अस्तु) सदा हमारा नमस्कार हो ।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

भा०—(यस्याः) जिसकी पीठ पर (देवकृताः) शिल्पी या राजाओं के बनवाए (पुरः) बड़े बड़े नगर और कोट खड़े हैं और (यस्याः क्षेत्रे) जिसके खेतों में लोग (विकुर्वते) परस्पर एक दूसरे से बिगड़ कर नाना युद्ध करते हैं, या नाना प्रकार की खेतियां करते हैं, (विश्वगर्भाम्) समस्त विश्व को अपने गर्भ में धारण करने वाली इस (पृथिवीम्) पृथ्वी को, (नः) हमारे लिये, (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमात्मा (आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा में (रण्याम्) रमणीय (कृणोतु) बनावे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

भा०—(गुहा) छिपी खानों के भीतर (बहुधा) बहुत प्रकार के (निधिम्) बहुमूल्य पदार्थों के खजाने को (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) पृथिवी (मे) मुझे (मणिं) मणि, वैदूर्य, वैक्रान्त आदि और (हिरण्यम्) सुवर्ण आदि बहुमूल्य धातु रूप (वसु) धन (ददातु) प्रदान

करे। वह (वसुदा) धनों को देने वाली (देवी) पृथिवी (वसूनि) नाना प्रकार के धन ऐश्वर्यों को (रासमाना) प्रदान करती हुई (सुमनस्यमाना) शुभ चित्त होकर (नः) हमें (दधातु) पुष्ट करे।

जनं॒ बिभ्र॑ती बहु॒धा विवा॑चसं॒ नाना॑धर्माणं पृथि॒वी य॑थौक॒सम्।
स॒हस्रं॒ धारा॒ द्रवि॑णस्य मे दुहां ध्रु॒वेव॑ धे॒नुरन॑पस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

भा०—(विवाचसम्) विविध वाणियें या विविध भाषाएं बोलने वाले (नानाधर्माणम्) नाना धर्म के पालक (जनम्) जनसमूह को (यथौकसम्) उनके देश या निवासस्थान के अनुसार (बहुधा) बहुत से भिन्न भिन्न प्रकारों से (बिभ्रती) पालन करती हुई (पृथिवी) पृथिवी, (धेनुः इव) गौ के समान (ध्रुवा) निश्चल (अनपस्फुरन्ती) विना छटपटाहट किये (मे) मुझे (द्रविणस्य) धन एश्वर्य की (सहस्रम्) हजारों (धाराः) धाराएं (दुहाम्) प्रदान करे।

यस्ते॑ स॒र्पो वृश्चि॑कस्तृ॒ष्टद॑ंश्मा हेम॒न्तज॑ब्धो भृम॒लो गुहा॒ शये॑।
क्रिमि॒र्जिन्व॑त् पृथिवि॒ यद्य॒देज॑ति प्रा॒वृषि॒ तन्नः॒ सर्प॒-
न्मोप॑ सृप॒द् यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४६ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (यः) जो (ते) तेरा (वृश्चिकः) बिच्छू, (सर्पः) सांप जाति के जीव, (तृष्टदंश्मा) तीखे काटने वाले और जो (हेमन्तजब्धः) हेमन्त काल के शीत से पीड़ित होकर (भृमलः) भौंरे जाति के जीव, (गुहा शये) गुहा भीतर छिपी खोहों में सोया करते हैं और (क्रिमिः) कीड़े मकौड़े आदि (यत् यत्) जो जो भी (प्रावृषि) वर्षा काल में (जिन्वत्) पुनः वर्षा जल से तृप्त या प्राणित होकर (एजति) चलते हैं (तत् सर्पत्) वे सब रेंगते हुए (नः मा उपसृपत्) हम तक न रेंग आवें। (यत् शिवं) जो सुखकारी पदार्थ हों (तेन) उनसे (नः) हमें (मृड) सुखी कर।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं
यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

भा०—हे पृथिवि ! (ये) जो (ते) तेरे (बहवः) बहुत सारे (जनायनाः) मनुष्यों के जाने के (पन्थानः) रास्ते हैं और (रथस्य) रथों के और (अनसः च यातवे) गाड़ों के जाने के लिये (वर्त्म) रास्ते हैं, (यैः) जिनसे (भद्रपापाः) भले और बुरे (उभये) दोनों प्रकार के लोग (संचरन्ति) बराबर चला करते हैं, (तं पन्थानं) उस मार्ग को हम लोग (जयेम) विजय करें, जिससे वह (अनमित्रे) शत्रु रहित और (अतस्करम्) तस्कर, चोर डाकू रहित हो जाय । हे पृथिवि ! (यत् शिवम्) जो मङ्गल हो (तेन नः मृड) उससे हमें सुखी कर ।

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥

भा०—(मल्वं) मल युक्त या कृपणं या मूर्ख पुरुष को (बिभ्रती) पालती पोषती हुई और (गुरुभृत्) भारी उपदेशप्रद आचार्यों को भी धारण करने हारी अथवा (मल्वं) तुच्छ पदार्थ को जैसे (बिभ्रती) धारण करती है उसी प्रकार (गुरुभृत्) भारी पदार्थ पर्वत आदि को भी उठाती हुई यह (पृथिवी) पृथिवी, (भद्रपापस्य निधनं) भले और बुरे सबके निधन = देह को या मृत मुर्दे को (तितिक्षुः) स्वयं सहन करती है । (वराहेण संविदाना) मानों वराह, महाशूकर से मन्त्रणा करती हुई (मृगाय सूकराय) जंगली जानवर सूअर के लिये भी (वि जिहीते) अपने को विशेष रूप से उसके लिये त्याग देती है । अर्थात् जो पृथ्वी भले बुरे मूर्ख पण्डित सबको धारती है, वह अपने ऊपर पशु, सूअर आदि पशुओं को भी स्वच्छन्द विचरने देती है ।

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ।४९

भा०—हे पृथिवि ! (ते ये आरण्याः पशवः) तेरे जो जंगली पशु और (वने हिताः) वन में पालित पोषित (मृगाः) मृग, हाथी आदि और (पुरुषादः) मनुष्य को भी खा जाने वाले (सिंहाः) सिंह, (व्याघ्राः) बाघ आदि (चरन्ति) विचरते हैं उनको और (उलम्) सियार, (वृकम्) भेड़िये, (दुच्छुनाम्) दुःखदायी (ऋक्षीकां) ऋच्छ जाति और अन्य (रक्षः) कष्टदायी राक्षस स्वभाव के जन्तुओं को (इतः) यहां से (अस्मत्) और हमसे (अप बाधय) दूर रख।

ये ग॑न्धर्वा अ॑प्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ ५० ॥ (५)

भा०—(ये) जो (गन्धर्वाः) गन्ध के पीछे चलने वाले विलासी लोग और (अप्सरसः) विलासिनी स्त्रियां और (ये च) जो (अरायाः) निर्धन, (किमीदिनः) निकम्मे या दूसरे के जान माल को तुच्छ समझने वाले हैं (तान्) उनको और (पिशाचान्) मांसभक्षी लोगों और (रक्षांसि) राक्षस वृत्ति वाले (सर्वान्) सब लोगों को हे (भूमे) भूमे ! (अस्मद् यावय) हमसे दूर कर।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

भा०—(याम्) जिस पृथिवी पर (द्विपादः) दो पैर वाले (सुपर्णाः) हंस, सुन्दर पंखों से युक्त (शकुनाः) शक्तिशाली गरुड़ आदि (वयांसि) पक्षी (संपतन्ति) उड़ते हैं और (यस्यां) जिसमें (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में बड़े वेग से चलने वाला (वातः) प्रचण्ड वायु (रजांसि कृण्वत्) धूलियां उड़ाता हुआ और (वृक्षान्) बड़े बड़े वृक्षों को (च्यावयन्) गिराता हुए (ईयते) चलता है और जहां (वातस्य प्रवाम्) प्रचण्ड वायु के (उपवाम् अनु) निरन्तर बहने के साथ साथ (अर्चिः) आग की ज्वाला या लू भी (वाति) बहा करती हैं।

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया
प्रिये धामनि धामनि ॥ ५२ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस (भूम्याम् अधि) भूमि पर (कृष्णं अरुणं च) काली रात्रि का अन्धकार और लाल सूर्य का प्रकाश और (अहोरात्रे) दिन तथा रात दोनों (संहिते) परस्पर मिले हुए, सदा एक दूसरे के पीछे लगे हुए, सुसम्बद्ध (विहिते) रहते हैं। (सा पृथिवी) वह विशाल पृथिवी (वर्षेण वृता) वर्षा के जल से ढकी हुई, (भद्रया) कल्याण और सुख-कारिणी लक्ष्मी से (आवृता) सम्पन्न या घिरी हुई, (प्रिये) प्रिय मनोहर (धामनि धामनि) प्रत्येक देश में (नः दधातु) हमें सब प्रकार से धारण पोषण कर।

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥ ५३ ॥

भा०—(द्यौः च) द्युलोक, (पृथिवी च) पृथिवी और (अन्तरिक्षं च) अन्तरिक्ष (इदं व्यचः) ये तीनों विशाल विस्तृत प्रदेश (मे) मेरे ही फलने फूलने और समृद्ध होने के लिये हैं। (अग्निः) अग्नि, (सूर्यः) सूर्य, (आपः) जल और (विश्वे देवाः) जगत् की समस्त दिव्य शक्तियां मुझे उक्त तीनों विशाल प्रदेशों को वश करने के लिये (मेधाम्) बुद्धि (सं ददुः) प्रदान करें।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

भा०—(अहम्) मैं ही (भूम्याम्) भूमि पर (सहमानः) सब पदार्थों को वश करने वाला, (उत्तरः नाम) इन सब तिर्यग् पशुओं से ऊंचा, सबको नमाने में समर्थ (अस्मि) हूँ। (अभीषाट् अस्मि) मैं चारों ओर विजय करने वाला हूँ और मैं (विश्वषाड्) सर्व विजयी (आशाम्-आशाम्) प्रत्येक अपने मनोरथ या प्रत्येक दिशा को (वि-सासहि) विशेष रूप से विजय कर अपने वश करूं।

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

भा०—हे (देवि) पृथिवि ! (यत्) जब तूने (अदः) इस प्रकार का अवर्णनीय (महित्वम्) अपना विशाल स्वरूप (वि असर्पः) विविध प्रकार से विस्तृत किया तब, (पुरस्तात्) सबसे पूर्व (देवैः) विद्वान् लोगों ने तुझ (प्रथमाना) विस्तृत पृथिवी का (उक्ता) वर्णन किया । (त्वा) तुझमें (सुभूतम्) उत्पन्न होने हारे उत्तम पदार्थ (आ अविशत्) सब ओर से प्रविष्ट हैं । (तदानीम्) उसी समय तू (चतस्रः प्र दिशः) चारों महा-दिशाओं में वर्तमान प्रदेशों को भी (अकल्पयथाः) सुन्दर सुन्दर रूप में रचती है ।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

पूर्वार्धः यजु० ३ । ४५ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे पृथिवि ! (ये ग्रामाः) जो ग्राम हैं, (यद् अरण्यम्) जो जंगल हैं, (अधि भूम्याम् या सभाः) और भूमि पर जो सभाएं और (ये संग्रामाः समितयः) जो संग्राम, युद्धस्थान और समितियें हैं (तेषु) उनमें हम (ते चारु वदेम) तेरा उत्तम यशोगान करें ।

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

भा०—(अश्वः इव) अश्व जिस प्रकार (रजः दुधुवे) अपने शरीरों को कंपाकर धूल को झाड़ फेंकता है उसी प्रकार (ये) जो लोग (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अक्षियन्) आकर उसे (यात् अजायत) जब से उत्पन्न हुई तब से अब तक (तान् जनान्) उन सब मनुष्यों को इस पृथिवी ने (विदुधुवे) झाड़ फेंका है । यह पृथिवी सदा (भद्रा) सुप्रसन्न और औरों को प्रसन्न करने हारी, (अग्रेत्वरी) आगे आगे शीघ्रता से चलने वाली, (भुवनस्य गोपा) समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थों की रक्षा करने

हारी, (वनस्पतीनाम् ओषधीनाम्) वनस्पतियों और ओषधियों को (गृभिः) अपने भीतर ग्रहण धारण करने वाली है।

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥

भा०—(यद्) जब (वदामि) बोलूं (तत्) तब (मधुमत्) मधु से भरा वचन (वदामि) बोलूं। (यद् ईक्षे) जब देखूं (तत्) तब (मा) मुझे लोग (वनन्ति) प्रेम से देखें। मैं स्वयं (त्विषीमान्) तेजस्वी और (जूतिमान्) उत्साही (अस्मि) रहूँ और (दोधतः) मेरे प्रति द्रोह करने हारे (अन्यान्) अन्य शत्रुओं को मैं (अव हन्मि) नीचे गिरा मारूं।

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥

भा०—(शन्तिवा) शांतिसम्पन्न, (सुरभिः) उत्तम गन्ध से युक्त, (स्योना) सुखकारिणी, (कीलालोध्नी) अमृतमय रस को गाय की तरह से अपने थानों में बराबर धारण करने वाली, (पयस्वती) क्षीर, अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों से सम्पन्न, (पृथिवि) पृथिवी (पयसा सह) अपने समस्त पुष्टिकारक पदार्थों सहित (मे) मुझे (अधि ब्रवीतु) आशीर्वाद करे।

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥६०॥

भा०—(अन्तः अर्णवे) महान् समुद्र में और (रजसि प्रविष्टाम्) धूलि या मट्टी से बनी (याम्) जिस पृथिवी को (विश्वकर्मा) समस्त जगत् को बनाने वाला परमेश्वर सृष्टि के निमित्त (ऐच्छत्) अपने सृष्टि उत्पन्न करने के लिये उपयुक्त जानकर उसे सृष्टि के लिये चुनता है। वह भूमि (गुहा) इस महान् आकाश में वस्तुतः (भुजिष्यम्) भोग करने योग्य अन्नादि से सुसज्जित (पात्रम्) पात्र के समान (निहितम्) रक्खी है, (यत्) जो (मातृमद्भ्यः) पृथिवी को अपनी माता के समान मानने वाले उसके पुत्रों

के लिये (भोगे) उन पदार्थों के भोग के अवसर पर (आविः अभवत्) साक्षात् रूप से प्रकट होती है।

त्वम॑स्याव॒पनी॒ जना॑ना॒मदि॑तिः काम॒दुघा॑ पप्रथा॒ना।
यत् त॑ ऊ॒नं तत् त॒ आ पू॑रयाति प्र॒जाप॑तिः प्रथम॒जा ऋ॒तस्य॑ ॥६१

भा०—हे पृथिवी ! (त्वम्) तू (जनानाम्) मनुष्यों और प्राणियों के (आवपनी) सब ओर बीज वपन करने और उनको उत्पन्न करने के लिये क्षेत्र के समान है। तू (अदितिः) अक्षय और (पप्रथाना) विशाल है (कामदुघा) प्राणियों की समस्त कामनाओं को पूरने वाली है। (ऋतस्य) उस वर्त्तमान संसार के भी (प्रथमजाः) पूर्व विद्यमान (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर (यत् ते ऊनम्) जो तेरे में कमी आ जाती है (ते तत्) तेरी उस कमी को भी (आ पूरयति) सब प्रकार से पूर्ण कर देता है।

'आवपनी' ब्रह्मोदन प्रकरण में 'भूमिरावपनं महत्' भूमि बीज बोने का बड़ा भारी खेत है।

उ॒प॒स्थास्ते॑ अनमी॒वा अ॑य॒क्ष्मा अ॒स्मभ्यं॑ सन्तु पृथिवि॒ प्रसू॑ताः।
दी॒र्घं न॒ आयु॑: प्रति॒बुध्य॑माना व॒यं तुभ्यं॑ बलि॒हृत॑: स्याम ॥६२॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (अस्मभ्यम्) हमारी (प्रसूताः) उत्पन्न सन्तानें (ते उपस्थाः) तेरी गोद में रहकर सदा (अनमीवाः) रोग रहित, (अयक्ष्माः) तपेदिक आदि से रहित सुखी हृष्ट पुष्ट होकर (सन्तु) रहें। (नः आयुः) हमारी आयु (दीर्घम्) बड़ी लम्बी ऐसे (प्रतिबुध्यमानाः) समझते हुए (वयं) हम (तुभ्यम्) तेरी रक्षा के लिये (बलिहृतः स्याम) भेट पूजा या कर देने वाले रहें।

भूमे॑ मात॒र्नि धे॑हि मा भ॒द्रया॑ सुप्रति॑ष्ठितम्।
सं॒वि॒दा॒ना दि॒वा क॑वे श्रि॒यां मा॑ धेहि॒ भूत्या॑म् ॥ ६३ ॥ (६)

भा०—हे (भूमे मातः) हे भूमि मातः ! (मा) मुझे (भद्रया) कल्याण और सुखकारिणी लक्ष्मी से (सुप्रतिष्ठितं धेहि) उत्तम रीति से प्रतिष्ठित कर। हे (कवे) क्रान्तदर्शिनि ! देवि ! तू (दिवा) द्यौलोक या

प्रकाशमान सूर्य से (संविदाना) सुसंगत होकर (मा) मुझे (श्रियां) श्री, लक्ष्मी और (भूत्याम्) धन सम्पत्ति, विभूति में (धेहि) स्थापित कर ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तं, ऋचश्च त्रिषष्ठिः]

[२] क्रव्यात् अग्नि का वर्णन, दुष्टों का दमन और राजा के कर्त्तव्य

भृगुर्ऋषिः ॥ अग्निरुत मन्त्रोक्ताः देवताः । २१–३३ मृत्युः ॥ छन्दः—२, ५, १२–२०, ३४–३६, ३८–४१, ४३, ५१, ५४ अनुष्टुभः [१६ ककुम्मती पराबृहती अनुष्टुप्, १८ निचृद् अनुष्टुप्, ४० पुरस्तात् ककुम्मती] ३ आस्तारः पंक्तिः, ६ भुरिग् आर्षी पंक्तिः, ७, ४५ जगती, ८, ४८, ४९ भुरिग्, अनुष्टुब्गर्भा विपरीत पादलक्ष्मा पंक्तिः, ३७ पुरस्ताद् बृहती, ४२ त्रिपदा एकावसाना भुरिगार्ची गायत्री, ४४ एकावसाना द्विपदा आर्ची बृहती, ४६ एकावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्, ४७ पञ्चपदा बार्हतवैराजगर्भा जगती, ५० उपरिष्टाद् विराड् बृहती, ५२ पुरस्ताद् विराड्बृहती, ५५ बृहतीगर्भा विराट्, १, ४, १०, ११, २१, ३३, ५३, त्रिष्टुभः । पञ्चपञ्चाशदृचं सूक्तम् ॥

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥१॥

भा०—हे क्रव्याद् = कच्चा मांस खाने वाले अग्ने ! या संतापकारी जन्तु ! तू (नडम् आरोह) नड़ पर या नड़ के समान छेद वाले नल पर चढ़ या नड़ के बने बाण का शिकार हो। (अत्र) इस जीवलोक में (ते) तेरे (लोकः न) रहने की जगह नहीं है। (इदं सीसम्) यह सीसे की बनी घातक गोली आदि (ते) तेरा (भागधेयम्) भाग है। (एहि) तू आ, तुझे मारूं। (यः) जो (गोषु) गौओं पर (यक्ष्मः) पीड़ाकारी और (पुरुषेषु) पुरुषों पर (यक्ष्मः) रोग के समान आक्रमण करने वाला है (तेन) उसके (साकम्) साथ ही (त्वम्) तू भी (अधराङ्) नीचे गिर कर (परा इहि) दूर भाग जा।

कच्चा मांस खाने वाले, गौओं और पुरुषों पर आक्रमण करने वाले शेर आदि हिंसक और दुष्ट जन्तुओं को बाण या नलकास्त्र द्वारा सीसे की गोली से मारना चाहिये ।

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च ।
यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥ २ ॥

भा०—(अघशंस-दुशंसाभ्यां) पापी या हत्याकारी और दुष्टकार्य करने वालों के (करेण) साक्षात् कर्त्ता को और (अनुकरेण च) उसके सहायक लोगों के (सर्वं च यक्ष्मम्) तथा उनके द्वारा उत्पन्न समस्त प्रजा-पीड़न के कारणों को, (तेन) पूर्व मन्त्र में उक्त उपाय से दूर करें और उसी उपाय से, (मृत्युं च) मृत्यु को भी (इतः) अपने राष्ट्र से (निर् अजामसि) हम निकाल दें ।

'अघशंस' वे लोग हैं जो दूसरों की हत्या करने के लिये लोगों को प्रेरणा करते हैं । 'दुःशंस' वे हैं जो दूसरों को बुरे बुरे नीच दुःखदायी काम करने की उत्तेजना दें । जो उनको सहायता देते हैं वे उनके 'कर' हाथ और 'अनुकर' या नौकर हैं । इनके सहित प्रजा में से राजपुरुष लोग रोग और अन्य 'सूक्ष्म' अर्थात् राष्ट्र के बीच में लगे प्रजापीड़क रोगों और मृत्युभय को भी दूर करें ।

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि ।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद्
यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥ ३ ॥

भा०—(इतः) इस राष्ट्र से (मृत्युम्) मृत्युभय को (निर् अजामसि) हम सर्वथा दूर कर दें और (ऋतिम् निर्) प्रजा की पीड़ा और भय को भी सर्वथा दूर करें । (अरातिम्) प्रजा के शत्रु, जो प्रजा को सुख चैन नहीं लेने देते उनको भी हम (निर् अजामसि) सर्वथा राष्ट्र से दूर करें । (अक्रव्यात् अग्ने) मनुष्यों का कच्चा मांस खाने वाली चिता-अग्नि

के अतिरिक्त आहवनीयाग्नि और गृह्याग्नि के समान पवित्र हे अग्ने ! राजन् ! (यः नः) जो हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है तू (तम्) उसको (ते) तेरे आगे (प्र सुवामः) लाकर खड़ा कर दें। उनका यथोचित अपराध जांच कर दण्ड दे।

यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन् ॥४॥

भा०—(यदि) यदि (क्रव्याद् अग्निः) कच्चा मांस खाने वाला, अग्नि के समान पीड़ाकारी जन, (यदि वा व्याघ्रः) और यदि हिंसक पशु बाघ या बाघ के समान हिंसक और चोर डाकू पुरुष, (अ-नि-ओकः) बिना घरबार का, जंगली या आवारागर्द, (इमं गोष्ठम्) इस गोशाला वा प्रजानिवेश में (प्रविवेश) आ घुसे, तो (तम्) उसको (माषाज्यं कृत्वा) 'माषाज्य' मारने योग्य अस्त्र (कृत्वा) तैयार करके (दूरं प्र हिणोमि) हम दूर निकाल देवें। (सः) वह (अप्सुषदः) प्रजाओं में अधिकारी रूप से विराजमान शासक (अग्नीन्) अग्नि के समान, अपराधी को दण्डित करने वालों के समक्ष (अपि) भी (गच्छतु) जावे और अपना दण्ड पावे।

'माष--आज्यम्'—'मष हिंसार्थः (भ्वादिः) माषः = हिंसा, आज्यं—आजि साधनं आज्यं। युद्ध के साधन शस्त्र का नाम 'आज्य' है अतः 'माष–आज्य' = हिंसाकारी शस्त्र।

तेजो वा आज्यम्। (ता० । १२ । १० । १८) वज्रो हि आज्यम् श० १ । ३ । २ । १७ ॥ आज्येन वै देवा सर्वान् कामान् अजयन्। कौ० १४ । १ ॥ यदाज्यै देवा जयन्त आयन् तदाज्यानमाज्यत्वम्। ऐ० २। ३६ ॥ यदाजिमायन् तदाज्यानामाज्यत्वम्। (आज्यानि शस्त्राणि स्तोत्राणि) ता० ७ । २ । १ ॥

यत् त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते ।
सुकल्पमग्ने तत् त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि ॥ ५ ॥

भा०—(पुरुषे मृते) मनुष्य के मर जाने पर हे (क्रव्याद्) अग्ने ! मांसाहारी हिंसक जीव ! (यत्) यदि (क्रुद्धा) क्रोध में आये पुरुषों ने (मन्युना) क्रोध से (त्वा प्रचक्रुः) तुझे बहुत तड़पाया या तुझे मारा है, (तत्) तो भी हे (अग्ने) अग्नि के समान सन्तापकारी जन ! (त्वया) तुझे (तत्) वह (सुकल्पम्) सुख से सहना चाहिये। हम तो (त्वा) तुझे (पुनः) फिर भी (उत् दीपयामसि) उत्तेजित करते हैं और भी दण्ड देते हैं।

जब पुरुष मर जाता है उस समय जिस प्रकार शवाग्नि को लोग प्रचण्डता से जलाते हैं उसी प्रकार पुनः उस हिंसाकारी पुरुष को खूब उद्विग्न करना चाहिये।

पुन॑स्त्वादि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः॒ पुन॑र्ब्र॒ह्मा वसु॑नीतिरग्ने।
पुन॑स्त्वा॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॒राधा॑द् दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥६॥

पूर्वार्धः यजु० १२ । ४४ प्र० द्वि०

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान दुष्टों के सन्तापकारक राजन् ! (आदित्याः) सूर्य के समान तेजस्वी लोग, (रुद्राः) नैष्ठिक विद्वान्, (वसवः) वसु नामक ब्रह्मचारी गण, अथवा (आदित्याः) दुष्टों को पकड़ कर लाने वाले शासक, (रुद्राः) दुष्टों को दण्ड करके रुलाने वाले दण्डकारी शासक और (वसवः) राष्ट्र के वासी प्रजागण और (वसुनीतिः) प्रजाओं का नेता, (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का विद्वान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा (त्वा) तुझे (शत-शारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ बरस तक के लम्बे जीवन के लिये (आधात्) पुनः स्थापित करता है।

इसी प्रकार पुरुष के मर जाने पर यह जीव भी 'अग्नि' है। उसको आदित्य = १२ मास, रुद्र = प्राण, वसु = प्राण, वा समस्त जीवों का प्रणेता परमात्मा प्रजापति पुनः तुझको दूसरा जन्म सौ वर्ष की आयु भोगने के लिये प्रदान करे।

६—'वसवः समिन्धताम् पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथयज्ञैः' इति यजु० ॥

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे ॥ ७ ॥
ऋ० १० । १६ । १० ॥

भा०—(यः) जो (क्रव्यात् अग्निः) कच्चा मांस खाने वाली अग्नि या प्रजापीड़क डाकू आदि, (इतरम्) अपने से विपरीत दूसरी (जातवेदसम्) जातवेदा अग्नि या दुष्टों के सन्तापकारी राजा को (पश्यन्) देखता हुआ भी (नः गृहं प्रविवेश) हमारे घर में घुस जाय, तो (तम्) उसको, (पितृयज्ञाय) राष्ट्र के पालक शासकों के कर्त्तव्य पालन के निमित्त, (दूरं हरामि) दूर खेंच ले जाऊं, जिससे (सः) वह (परमे सधस्थे) परम स्थान, राजकीय स्थान में (धर्मम् इन्धाम्) सन्ताप प्राप्त करे।

अग्नियों के पक्ष में—गृह में गृहाग्नि और आहवनीयाग्नि के होते हुए जो 'क्रव्यात्'--अर्थात् शवाग्नि मृत्यु घर में आ जाय तो उसको 'पितृयज्ञ' = शवदाह के निमित्त श्मशान में ले जाय। वह वहां परम दूर श्ममान स्थान में नरमेध यज्ञ करे। अर्थात् प्रतिनिधिवाद से इतर जातवेदा = नये नवयुवक गृहपति को देखकर यदि मृत्यु घर में आ जाय तो उसको दूर श्मशान में ले जाकर अग्नि में भस्म कर दे। शवाग्नि वहां ही तप करे।

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥८॥
ऋ० १० । १६ । ९ ॥ यजु० ३५ । १९ ॥

भा०—(क्रव्यादम् अग्निं) मांस खाने वाली मत्यु रूप अग्नि को (दूरं प्रहिणोमि) दूर करता हूँ। (रिप्रवाहः) पाप को वहन करने वाला या यमयातना को अनुभव करने वाला पुरुष (यमराज्ञः) सबके नियन्ता राजा के पास (गच्छतु) जाय। (इह) यहां (अयम्) यह (इतरः) दूसरा

७—(प्र०) 'वो गृह' (च०) 'सधर्ममिन्वात्' इति ऋ० ।

निष्पाप (जातवेदाः) विद्वान् गृहपति, (देवः) दानशील होकर, पुत्रों को अन्न वस्त्रादि देने में समर्थ और (प्रजानन्) प्रकृष्ट ज्ञानवान् होकर, (देवेभ्यः) अतिथियों को (हव्यम्) अन्न आदि (वहतु) प्रदान करे।

क्रव्यादम॒ग्निमि॑षि॒तो ह॑रामि॒ जना॑न् दृंहन्तं॒ वज्रे॑ण मृ॒त्युम्।
नि तं शा॑स्मि॒ गार्ह॑पत्येन वि॒द्वान् पि॒तॄणां॑ लो॒केऽपि॑ भा॒गो अ॑स्तु ॥९

भा०—मैं (इषितः) दृढ़ इच्छा शक्ति से सम्पन्न पुरुष, (जनाम्) मनुष्यों का (वज्रेण) वज्र द्वारा (दंहन्तं) विनाश करते हुए (क्रव्यादम्) मांसभक्षी (अग्निम्) सन्तापजनक जन को (हरामि) दूर करता हूँ। मैं (विद्वान्) ज्ञानी (तं) उस मृत्युकारक क्रव्याद् अग्नि का, (गार्हपत्येन) गार्हपत्य अग्नि प्रतिनिधिभूत राजा के कर्त्तव्य से (शास्मि) शासन करता हूँ, दमन करता हूँ। इसका (भागः) भाग, अंश (पितृणां) पालक पुरुषों, लोगों के (लोके) लोक में ही (अस्तु) हो।

क्र॒व्याद॑म॒ग्निं श॑शमा॒नमु॒क्थ्यं॑ प्र हि॑णोमि प॒थिभिः॑ पितृ॒याणैः॑।
मा दे॑व॒यानैः॒ पुन॒रा गा॒ अत्रै॒वैधि॑ पि॒तृषु॑ जागृहि॒ त्वम् ॥१०॥ (७)

भा०—(क्रव्यादम्) नर मांस को खाने वाले (शशमानम्) अति चञ्चल, व्यापक (अग्निम्) अग्नि को (उक्थ्यम्) उक्थ = वेद के अनुसार (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गों से (प्र हिणोमि) दूर करता हूँ। हे क्रव्याद् अग्ने! (देवयानैः) देवयान, विद्वानों और राजा के चलने योग्य मार्गों से (पुनः) फिर (मा आ गाः) कभी मत आ। तू (अत्रैव एधि) यहां ही, श्मशान में ही रह और (पितृषु) बूढ़े और मृत पुरुषों में ही (त्वम्) तू (जागृहि) जागृत रह।

गृहस्थ-पक्ष में—क्रव्याद् अग्नि, मृत्यु, पितृयाण मार्गों में ही रहे। देवयान मार्गों में न आवे और मृत्यु बूढ़ों पर ही अपना घात करे, छोटी उमर वालों पर न आवे।

समि॑न्धते सं॒कसु॑कं स्व॒स्तये॑ शु॒द्धा भव॑न्तः॒ शुच॑यः पाव॒काः।
जहा॑ति रि॒प्रमत्येन॑ एति॒ समि॑द्धो अ॒ग्निः सु॒पुना॑ पुनाति ॥ ११ ॥

भा०—(शुचयः) शुद्ध चित्त वाले (पावकाः) अन्यों को भी पाप से शुद्ध करने वाले, (शुद्धाः भवन्तः) स्वयं शुद्ध रहते हुए विद्वान् लोग, (स्वस्तये) संसार के कल्याण के लिये, (संकसुकम्) उत्तम शासक को उज्ज्वल अग्नि के समान (सम् इन्धते) खूब प्रदीप्त करते हैं। उसमें पड़कर अपराधी अपने (रिप्रम्) पाप कर्म को (जहाति) छोड़ देता है और (एनः अति एति) अपने दुष्ट पाप से ऊपर उठ जाता है और (समिद्धः) खूब प्रदीप्त (अग्निः) अग्नि के समान दुष्टों का संतापकारक राजा (सु-पुना) उत्तम रीति से पवित्र करने वाला होकर पापी को (पुनाति) पवित्र कर देता है। प्रेतपक्ष में—(शुचयः पावकाः) शुद्ध आहवनीय आदि पवित्र अग्निये ही स्वयं शुद्ध होते हुए 'संकसुक' क्रव्याद् अग्नि को कल्याण के लिये उत्पन्न करते हैं। इसमें शव के डाल देने से भी मृत आत्मा का संस्कार होता है, वह पाप छोड़ देता है और ऊंचा हो जाता है। वह नरमेध की पवित्र अग्नि एवं उसके समान पवित्र सुपुना = परमात्मा ही उसको पवित्र करता है।

देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत्।
मुच्यमानो निरेणसोऽमोगस्माँ अशस्त्याः ॥ १२ ॥

भा०—(संकसुकः) अच्छी प्रकार प्रदीप्त या शासन करने हारा परमात्मा (देवः अग्निः) अग्नि के समान दुष्टों का सन्तापक (दिवः पृष्ठानि) द्यौलोक में स्थित समस्त लोकों में (आरुहत्) व्यापक है। वही (अस्मान्) हम सबको (एनसः) पापों से (निः मुच्यमानः) सर्वथा मुक्त करता हुआ (अशस्त्याः) निन्दा योग्य बुरी प्रवृत्ति से (अमोक्) मुक्त करे।

अस्मिन् वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ १३ ॥

भा०—(संकसुके) अति प्रदीप्त, सर्वोपरि शासक (अस्मिन् अग्नौ) इस महान्, कालाग्नि रूप परमात्मा में ही (वयम्) हम अपने (रिप्राणि)

पापों, मलों को (मृज्महे) जला कर शुद्ध करते हैं। और हे परमात्मन्! आप के संसर्ग से हम जीव बन्धनमुक्त होकर (यज्ञियाः) पूजनीय देव की पूजा और संग लाभ करने के योग्य (शुद्धाः) शुद्ध पवित्र (अभूम) हो जाते हैं। (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) आप तराओ, सफल करो।

संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निःस्वरः।

ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद् दूरमनीनशन् ॥ १४ ॥

भा०—(संकसुकः) 'संकसुक' अतिदीप्त सम्राट्, (विकसुकः) विशेष रूप से प्रकाशमान विराट् और (निर्ऋथः) पीड़ा को सर्वथा नाश करने वाला और (निःस्वरः) अन्यों को उपताप या पीड़ा न देने वाला (ते ते) वे वे चारों तेजस्वी पुरुष, (सवेदसः) समान ज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर, (यक्ष्मम्) प्रजा के पीड़क यक्ष्मा आदि रोगों को (दूराद् दूरम्) दूर से दूर ही (अनीनशन्) नाश करें।

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु।

क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥ १५ ॥

भा०—(यः) जो (नः) हमारे (अश्वेषु) घोड़ों में, (वीरेषु) पुत्रों और वीर सैनिकों में और (यः नः) जो हमारे (गोषु अजाविषु) गौओं, बकरियों और भेड़ों में, (जनयोपनः) जन्तुओं का नाशक (अग्निः) अग्नि के समान तापकारी जन्तु या रोग है, उस (क्रव्यादम्) कच्चा मांस खाने वाले को सदा हम (निर् नुदामसि) दूर करें।

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा।

निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥ १६ ॥

भा०—हे मांस खाने वाले! तू (यः) जो (अग्निः) अग्नि के समान तापकारी होकर (जीवित योपनः) जीवन का नाशकारी है, (क्रव्याद्) जीवों के कच्चा मांस को खाने वाले (त्वा) तुझको, (अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः) अन्य

दूसरे पुरुषों और (गोभ्यः अश्वेभ्यः) गौओं और घोड़ों की रक्षा के लिये, (निः नुदामः) इस राष्ट्र से परे हम निकालते हैं। अथवा—अपने से अतिरिक्त पुरुषों गौओं और घोड़ों से भी तुझको परे करें।

ईश्वर अग्नि का वर्णन

यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत।
तस्मिन् घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥ १७ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिसमें आश्रय पाकर (देवाः) विद्वान् आत्म-ज्ञानी पुरुष (अमृजत) शुद्ध हो जाते हैं और (यस्मिन्) जिसके आश्रय में आकर (मनुष्याः उत) मनुष्य भी पवित्र हो जाते हैं, (तस्मिन्) उस परमपद में (घृतस्तावः) उस प्रकाशस्वरूप 'घृत'—अमृतरूप परमात्मा की स्तुति करता हुआ तू (मृष्ट्वा) अपने पापों से पवित्र होकर, (अग्ने) ज्ञानवान् जीव! (दिवम्) उस प्रकाशमय मोक्षलोक में (रुह) चढ़ जा।

समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः।
अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ १८ ॥

भा०—हे (आहुत अग्ने) आहवनीय अग्ने! परम पूजनीय परमात्मन्! तू (सः) वह परम स्वरूप, (समिद्धः) अत्यन्त दीप्त तेजोमय है। (नः) तू हमें (मा) मत (अभि अपक्रमीः) छोड़कर जा। तू (अत्र एव) हमारे घर में प्रकाशमान यज्ञाग्नि के समान हमारे इस अंतःकरण में (दीदिहि) प्रकाशित हो, जिससे (ज्योक् च) हम भी चिरकाल तक, (द्यवि) आकाश में (सूर्यं) सर्वप्रकाशक सूर्य के समान प्रकाशमान हे सूर्य! (दृशे) अपने अन्तःकरण में दर्शन करते रहें।

सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत्।
अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥ १९ ॥

भा०—(सीसे) सीसे में (यत्) जिस प्रकार चांदी आदि धातु का मल रह जाता है और धातु निखर आती है उसी प्रकार अपनी आत्मा

को उस ब्रह्ममय अग्नि में (मृड्ढ्वं) तपाओ और शुद्ध करो, मल छूट जायगा और आत्मा शुद्ध हो जायगा। (नडे मृड्ढ्वम्) जिस प्रकार नड़ों या सरकण्डों की बनाई चालनी में से जल निकालने से मल ऊपर अटक जाता है उसी प्रकार उस परमेश्वर की बनी छाननी में से गुजार कर अपने को शुद्ध करो। (संकसुके) सर्वनाशक (अग्नौ च मृड्ढ्वम्) सर्व भस्म-कारी अग्नि में मल फेंकने से सब जल जाता है और स्थान शुद्ध हो जाता है, या सर्व प्रकाशक राजा के हाथ में अपराधी को देने से उसके अपराध दूर हो जाते हैं, या क्रव्याद्-अग्नि में शव को डालने से जैसे मलिन भाग जल जाता है और शुद्ध अस्थि रह जाती है या तत्व तत्वों में मिल जाते हैं उसी प्रकार सर्व प्रकाशक परमात्मा में आपको शुद्ध करो। (अथो) और जिस प्रकार (रामायाम्) काले रंग की (अव्यां) भेड़ में क्रव्याद् = मांस-भक्षी जन्तु को प्रलोभित कर मनुष्य स्वयं बच जाता है और जिस प्रकार शिर की पीड़ा होने पर (शीर्षक्तिम् उपबर्हणे) शिर को सिरहाने पर आराम से रख देने पर रोगी शिरोरोग से मुक्त होकर सुख से सोता है उसी प्रकार तुम (अव्यां रामायाम्) सर्व रमणकारिणी 'परम दिव्या' सबकी रक्षा करनेहारी उस परमात्मशक्ति पर अपने को अर्पित करो और सबके (उपबर्हणे) बढ़ानेहारे उस ब्रह्म में आश्रय लेकर अपने सब कष्टों को वहीं धर कर सुखी हो जाओ।

इस मन्त्र में केवल उपमेयों का संग्रह करके वाचक शब्द और उपमानों का लोप करके उपमा का प्रयोग किया है और उपमेय पद श्लेष से उपमान को दर्शाते हैं। जैसे 'सीसम्'—सर्व बन्धनों का काटने वाला, 'नडः'—सर्वोपदेष्टा, इत्यादि।

मानवधर्म सूत्र में—सीसेन मलिम्लुचामहे शिरोर्त्तिमुपबर्हणे।

क्रव्यादं रामया मृष्ट्वा भस्तं प्रेत सुदानवः॥

अर्थ—जिस प्रकार सीसे से धातु के मल को दूर करते हैं, सिरहाने पर सिर के दर्द को अच्छा करते हैं और जिस प्रकार भेड़ देकर हम

'क्रव्याद्' भेड़िये आदि को अपने से दूर करते हैं, उसी प्रकार क्रव्यात् अग्नि को नगर से बाहर छोड़कर अपने २ घर जाओ।

सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे।
अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥ (८)

भा०—हे (यज्ञियाः) यज्ञमय परमात्मा की उपासना करने हारे विद्वान् पुरुषो! (सीसे) जिस प्रकार न्यारिया सीसा में (मलं) धातु के मल को (सादयित्वा) गाल कर शुद्ध कर देता है और जिस प्रकार शिर-रोगी (शीर्षक्तिम्) शिर के भारीपन के रोग को (उपबर्हणे) सिरहाने पर रखकर सुखी हो जाता है और जिस प्रकार शिकारी अपने ऊपर झपटते भेड़िये को (असिक्न्यां अव्याम्) काली भेड़ के लालच में फांस कर स्वयं सुरक्षित रहता है उसी प्रकार आप लोग (मृष्ट्वा) अपने सब पापादि मल, उस सीस अर्थात् पापों के अन्त करने वाले परमात्मा में त्याग करे स्वयं (शुद्धाः) मलरहित, निष्पाप, भवरोग या दुःख से रहित अभय हो जाओ।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

ऋ० १०। १८। १ ॥ यजु० ३५। ७ ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो! (देवयानात्) देवयान अर्थात् मुमुक्षुओं के ब्रह्मज्ञानमार्ग से (इतरः) अतिरिक्त (यः ते) जो तेरा (एषः) वह 'पितृयाण' का मार्ग है उस (परं पन्थां) दूसरे उत्तम मार्ग को (अनुपरा इहि) दूर से चला जा। (चक्षुष्मते) आंख वाले और (शृण्वते) सुनने हारे तुझको (ब्रवीमि) मैं कहता हूँ कि (इमे) ये सब (वीराः) वीर्यवान्, सामर्थ्यवान् और बलवान् पुरुष (बहवः भवन्तु) बहुत से हो जायं।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २२ ॥

ऋ० १०। १८। ३ ॥

भा०—(इमे जीवाः) ये जीव (मृतैः) मृत्यु के कारणों से (आ ववृत्रन्) विविध रूप से घिरे हुए हैं। (नः) हम मुमुक्षु मार्ग से जानेहारों को (अद्य) अब (भद्रा) अति कल्याणकारिणी (देवहूतिः) अध्यात्म-ज्ञानी विद्वानों की आज्ञा या बुलाहट (अभूत्) हो गयी है। हम (सुवीरासः) उत्तम वीर्यसम्पन्न होकर (नृतये, हसाय) नृत्य और हास, आनन्द और प्रमोद के लिये (प्राञ्चः) और भी आगे पूर्व की ओर अर्थात् ज्ञानमय सूर्य की तरफ (अगाम) बढ़े जायं और (विदथम्) ज्ञानकथा की (आ वदेम) चर्चा करें।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ २३ ॥
ऋ० १० । १८ । ४ ॥ यजु० ३५ । १५ ॥

भा०—मैं परमात्मा (जीवेभ्यः) जीवन धारण करने वाले प्राणियों को (इमम्) यह (परिधिं) परकोट के समान जीवन की मर्यादा या रक्षा (दधामि) करता हूँ। (एषाम् अपरः) इनमें से कोई भी (एतम् अर्थम्) इस मृत्यु रूप प्रयोजन के लिये इस रक्षाविधि के पार (मा नुगात्) कभी न जाय। प्रत्युत् हे मनुष्यो! आप लोग (शतं शरदः) सौ बरस (पुरूचीः) और उससे भी अधिक (जीवन्तः) जीते हुए, (पर्वतेन) जिस प्रकार पर्वत या पर्वत के समान ऊंचे परकोट से बाहर के पदार्थ छिप जाते हैं उसी प्रकार मेरी बनाई इस रक्षा के उपाय से (मृत्युम्) मृत्यु को (तिरो दधताम्) अपने आंखों से परे रखो।

इस मन्त्र से नगर और श्मशान के बीच में एक ऊंचे टीले या दीवार या आड़ रखने का विधान कर्मकाण्ड में माना गया है।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥२४॥
ऋ० १० । १८५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! आपलोग (जरसम्) वृद्धावस्था को (वृणानाः) दूर करते हुए (आयुः) दीर्घजीवन (आरोहत) प्राप्त करें और (अनुपूर्वम्) पहले के समान नियमपूर्वक (यतमानाः) यत्न करते हुए (यति) संयम या ब्रह्मचर्य के जीवन में (स्थ) रहो । (त्वष्टा) तुम्हारा उत्पादक परमात्मा (सजोषाः) आप लोगों के साथ प्रेम का व्यवहार करनेहारा, (तान् वः) उन आप साधनासम्पन्न पुरुषों को (जीवनाय) जीवन के लिये (सुजनिम्) उत्तम जन्म और (सर्वम्) समस्त पूर्ण (आयुः) जीवन (आ नयतु) प्राप्त करावे ।

यथाहा॑न्यनुपू॒र्वं भव॑न्ति यथ॒र्तव॑ ऋ॒तुभि॒र्यन्ति॑ सा॒कम् ।
था न पूर्व॒मप॑रो॒ जहा॑त्ये॒वा धा॑त॒रायूं॑षि कल्पयै॒षाम् ॥ २५ ॥

ऋ० १० । १८ । ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अहानि) दिन (अनुपूर्वम्) एक दूसरे के बाद क्रम से (भवन्ति) हुआ करते हैं और (यथा) जिस प्रकार (ऋतवः) ऋतुएं (ऋतुभिः साकम्) ऋतुओं के साथ एक दूसरे के पीछे बराबर जुड़ी जुड़ी (यन्ति) आया और जाया करती हैं और (यथा) जिस प्रकार (पूर्वम्) अपने से पहले को (अपरः) आगे आने वाला दूसरा, नवयुवक सन्तान (न जहाति) नहीं त्यागता, (एवा) इसी प्रकार हे (धातः) सबके धारक पोषक परमेश्वर ! आप (एषाम्) इन जीवों के (आयूंषि) जीवनों की (कल्पय) व्यवस्था करते हो ।

अश्म॑न्वती रीयते॒ सं र॑भध्वं वी॒रय॑ध्वं॒ प्र त॑रता सखायः ।
अत्रा॑ जहीत॒ ये अस॑न् दु॒रेवा॑ अनमी॒वानु॒त्तरे॑मा॒भि वाजा॑न् ॥२६॥

ऋ० १० । ५३ । ८ ॥ यजु० ३५ । १० ॥

भा०—(अश्मन्वती) पत्थरों और शिलाओं से भरी नदी जिस प्रकार बड़े वेग से (रीयते) जाती है उसी प्रकार यह जीवन की या संसार की नदी बह रही है। इसलिये हे पुरुषो ! (सं रभध्वम्) सब मिलकर अपने

कार्य उत्तमता से प्रारम्भ करो। (वीरयध्वम्) वीर के समान पराक्रमशील होकर कार्य करो। यह गम्भीर नदी को (प्र तरता) उत्तम रीति से तरने का यत्न करो। (ये) जो (दुरेवाः असन्) दुष्ट कामनाओं और आचारों वाले नीच पुरुष हैं उनको (अत्र जहीत) यहीं त्याग दो और हम (अनमीवान्) रोग और दुःखों से रहित (वाजान्) उत्तम सुखमय लोकों को (उत् तरेम) प्राप्त हों।

'वाजो वै स्वर्गो लोकः'। ता० १८।७।१२॥ गो० उ० ५। उ० ५।८

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्॥२७

ऋ० १०।५३।८॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो! (इयम्) यह संसाररूप साक्षात् (अश्मन्वती) पत्थरों और शिलाओं से भरी (नदी) नदी (स्यन्दते) बह रही है। (उत्तिष्ठत) उठो और (प्र-भरत) अच्छी प्रकार तरो और पार करो। (ये) जो (अशिवाः) अमङ्गलकारी बुरे लोग (असन्) हैं उनको (अत्र) यहां ही (जहीत) छोड़ दो। (शिवाम्) मंगलकारी (वाजान्) सुखमय लोकों को (उत्तरेम) प्राप्त होओ।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥२८॥

पूर्वार्धः—अथर्व० ६।६२।३ प्र० द्वि०॥

भा०—हे पुरुषो! आप लोग (शुचयः) शुद्ध चित्त, (पावकाः) अग्नि के समान परम पवित्र और (शुद्धाः) मलरहित (भवन्तः) होते हुए (वर्चसे) ब्रह्मवर्चस तेज को प्राप्त करने के लिये, (वैश्वदेवीम्) विश्वेदेव अर्थात् प्रजापति परमात्मा की ज्ञानकथा और उपासना (आरभध्वम्) किया करो और हम सब (सर्ववीराः) समस्त सामर्थ्यवान् प्राणों से सम्पन्न और पुत्रों से और वीरों से और वीर्यवान् पुरुषों से युक्त

होकर, या स्वयं सब वीर्यवान् होकर (दुरिता पदानि) दुःख से पार करने योग्य, दुर्गम स्थानों और अवसरों को (अतिक्रामन्तः) पार करते हुए (शतं हिमाः मदेम) सौ वर्षों तक आनन्द से जीवन व्यतीत करें।

यद्विश्वेदेवा सम् अयजन्त तद्वैश्वदेवस्य विश्वेदेवत्वम्। तै० १।४।१०।५॥ प्रजापतिर्वैश्वदेवम्। कौ० ५।१॥ समस्त विद्वानों का मिलकर देवोपासना करना यह 'वैश्वदेव' कार्य है। प्रजापति 'वैश्वदेव' कहाता है।

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोवरान् परेभिः।
त्रिःसप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन ॥ २९ ॥

भा०—(ऋषयः) मन्त्रदृष्टा ऋषि लोग (उदीचीनैः) ऊर्ध्वगामी अर्थात् परब्रह्म तक ले जाने वाले, (वायुमद्भिः) प्राणमय रूप (परेभिः) उत्कृष्ट (पथिभिः) मार्गों अर्थात् साधनों से, (अवरान्) नीचे के तुच्छ मार्गों को (अतिक्रामन्तः) पार करते हुए, (परेताः) परम पद तक पहुँचे हैं। (पदयोपनेन) पदों या देहों के योपन अर्थात् विलोपन द्वारा या मृत्यु के आने के कारणों को दूर करके (मृत्युम्) मृत्यु को (त्रिः सप्तकृत्वः) २१ वार या स्थानों से (प्रति औहन्) पराजित करते हैं। अर्थात् ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ सूक्ष्मभूत, ५ स्थूलभूत, १ मनस्तत्त्व इन २१ की मृत्यु पर विजय पा जाते हैं।

'आत्मा वै पदम्'। कौ० २३। ६ ॥ पद्यते अनेनेति पदम् निमित्तम्। इसी मन्त्र के आधार पर गृह्यसूत्रोक्त मृत्यु के 'पदलोपन' की विधि रची गई है। नलैर्वेतसशाखया वा पदानि लोपयन्ते। मानव गृ० सू० २।१३॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ३० (९)

भा०—(मृत्योः) मृत्यु के (पदं) जाने के कारणों को (योपयन्तः) मिटाते हुए, (एतत्) इस ही (आयुः) जीवन को (द्राघीयः) अति दीर्घ और (प्रतरं) सब कष्टों से पार तराने योग्य (दधानाः) बनाते हुए,

(आसीनाः) व्रत, उपवास, यम, नियम आदि से स्थिर होकर बैठते हुए, (मृत्युः) मृत्यु की घटना को (नुदत) दूर भगा दो। (अथ) और हे (जीवासः) जीवो! (सधस्थे) एक ही स्थान पर एकत्र होकर हम सब लोग (विदथम्) ज्ञान-कथा या ज्ञान-यज्ञ की (आ वदेम) चर्चा करें।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥३१॥

अथर्व० १८।३।५७॥ ऋ० १०।१८।७॥

भा०—(इमाः) ये (नारीः) नारियें (अविधवाः) कभी विधवाएं न हों, बल्कि (सुपत्नीः) उत्तम गृहपत्नियें रहकर (आञ्जनेन) शरीर पर मलने योग्य (घृतेन) घृत को (संस्पृशन्ताम्) अपने शरीरों पर लगावें और (अनमीवाः) निरोग रहें। (अनश्रवः) कभी आंसू न बहाया करें। (सुरत्नाः) सुन्दर रत्न, भूषण धारण करें और (जनयः) पुत्रोत्पादन में समर्थ वधू होकर (अग्रे) सबसे प्रथम (योनिम्) घर में, पलंग पर, रथ या एकत्र होने की सभा आदि स्थानों पर (आरोहन्तु) ऊंचे आदर योग्य स्थान पर आदरपूर्वक विराजें।

इसी प्रकार की ऋचा पुरुषों के लिये भी पैप्पलाद शाखा और कौशिक सूत्र में भी ऊहना की गई है।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ।३२

भा०—(अहम्) मैं (एतौ) इन स्त्री और पुरुष दोनों को (हविषा) हव्य से और अन्न से (वि-आकरोमि) विविध रूप से पुष्ट करता हूँ और (तौ) उन दोनों को (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहं) मैं (वि कल्पयामि) नाना प्रकार से समर्थ करता हूँ और (पितृभ्यः) परिपालक बूढ़े लोगों के लिये (अजराम्) अजर, अविनाशी (स्वधाम्) स्वयं धारण वा ग्रहण करने योग्य स्वशरीर के पोषक अन्न को (कृणोमि) प्रदान करता हूँ और

(इमान्) इन समस्त जीवों को (दीर्घेण) दीर्घ (आयुषा) जीवन से (सं सृजामि) युक्त करता हूँ।

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व न्तरा विवेशामृतो मर्त्येषु ।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ३३

भा०—हे (पितरः) आत्मा की शक्तियों के पालक एवं ज्ञानपालक पुरुषो ! (यः) जो (अग्निः) प्रकाशमय अमर आत्मा (मर्त्येषु) मनुष्यों के (हृत्सु) हृदयों में (अन्तः) भीतर (आ विवेश) प्रविष्ट है, (तं) उस (देवम्) प्रकाशमान उपास्य, परम आत्मदेव को (अहम्) मैं ज्ञानी साधक पुरुष (मयि) अपने भीतर (परिगृह्णामि) धारण करूं। (सः) वह (अस्मान्) हमारे से (मा द्विक्षत) कभी द्वेष न करे और (तम्) उससे (मा वयम्) हम भी कभी द्वेष न करें। परमात्मा हमसे प्रेम करे और हम उससे प्रेम करें। इस मन्त्र से पुत्रादि पिताओं का हृदय स्पर्श करते हैं।

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥ ३४ ॥

भा०—(गार्हपत्यात्) 'गार्हपत्य' अग्नि से (अपावृत्य) हटकर (दक्षिणा) दक्षिण दिशा में (क्रव्यादा प्रेत) शवाग्नि के प्रति आओ और (पितृभ्यः) तुम्हारे बूढ़े या मृत पिता पितामह आदि को जो (प्रियम्) प्रिय अभिलषित कार्य हो वह और जो (आत्मने) तुम्हारे अपने आत्मा को (प्रियम्) अच्छा प्रतीत हो वह और जो (ब्रह्मभ्यः) वेद के विद्वान् ब्राह्मण लोगों को (प्रियम्) अभिलषित कार्य हो वह (कृणुत) करो। अर्थात् पितादि के मर जाने पर 'गार्हपत्य' अग्नि से पृथक् होकर शवाग्नि को ग्राम या निवास से दक्षिण दिशा में चिता में आधान करो और बाद में अपने बूढ़ों की, अपनी और विद्वान् ब्राह्मण की अभिलाषा के अनुकूल कार्य करो।

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या ।
अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ ३५ ॥

भा०—(यः) जो (क्रव्याद्) शव को खाने वाला (अग्निः) अग्नि, (अ-निर्-आहिताः) गार्हपत्य अग्नि से पृथक् न किया जाय, तो वह (ज्येष्ठस्य) जेठे (पुत्रस्य) पुत्र का (द्विभागं धनम्) दो भाग, दुगुना धन (आदाय) लेकर, (अवर्त्या) उपद्रव और विनाश से (प्र क्षिणाति) विनाश कर देता है। अर्थात् पिता आदि का और्ध्वदैहिक कार्य भी घर के सामान्य धन में से किया जाय, नहीं तो बाद में परस्पर भाई भाई फूटकर लोग परस्पर उपद्रव से नष्ट हो जाते हैं।

यत् कृषते यद् वनुते यच्च वस्नेन विन्दते।
सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥ ३६ ॥

भा०—(क्रव्यात् चेत्) यदि शवभक्षक अग्नि (अ-निर्-आहितः) पृथक् न किया जाय तो (यत् कृषते) मनुष्य जो खेती बाड़ी से उत्पन्न करता है, (यत् वनुते) और जो पितृधन में से हिस्सा प्राप्त करता है और (यत् च) जो कुछ (वस्नेन[1]) व्यापार से या वेतन से (विन्दते) प्राप्त करता है, (मर्त्यस्य) मनुष्य का (तत् सर्वम्) वह सब कुछ (नास्ति) सफल नहीं होता। अर्थात् शवाग्नि को सदा गार्हपत्य अग्नि से पृथक् आधान करना ही चाहिये और मुर्दों का यथोचित दाह करना चाहिये। क्रव्यात् अग्नि, मृत-पुरुष के आत्मा के समान है।

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्त्तते ॥ ३७ ॥

भा०—(यं) जिसके पीछे (क्रव्यात्) शवाग्नि लोक रूप में (अनुवर्त्तते) बाघ के समान लग जाता है वह पुरुष (अयज्ञियः) यज्ञ के अयोग्य और (हतवर्चाः) निस्तेज (भवति) हो जाता है। (एनेन) इसके हाथ से (हविः) वह यज्ञ का हवि (न अत्तवे) खाने योग्य नहीं रहता। वह (कृष्याः) खेती बाड़ी, (गोः) गौ आदि पशुओं और (धनात्) धन

१. वसति येन सः वस्नः, मूल्यं वेतनं वेति दयानन्द उणादौ।

सम्पत्ति से भी (छिनत्ति) वञ्चित हो जाता है। उनको वह खो बैठता है। फलतः मृतकों का दाह भली प्रकार करके पुनः शुद्ध होकर घर में प्रवेश करना चाहिये।

मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य।

क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥ ३८ ॥

भा०—(यान्) जिनके (अन्तकात्) समीप शव को खाने वाला (अग्निः) अग्नि रहता है, वह पुरुष (गृध्यै) अपनी अभिलाषा के पात्र प्रिय मृतों से मानों (मुहुः) वार २ (प्र वदति) बातचीत करता और वह (मर्त्यः) मनुष्य (आर्तिम्) पीड़ा को (नि इत्य) प्राप्त होकर, (अनु विद्वान्) पीछे से भी वेदना या दुःख को प्राप्त होकर, (वि तावति) विविध प्रकार से कष्ट पाता है।

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।

ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥ ३९ ॥

भा०—(यत्) जब (स्त्रियाः) स्त्री का (पति) पति (म्रियते) मर जाता है तब (गृहाः) घर के जन स्त्री आदि (ग्राह्या) जकड़ने वाले मोह ममता से (संसृज्यन्ते) युक्त हो जाते हैं। इसलिये (ब्रह्मा एव) ऐसा वेदज्ञ (विद्वान्) ज्ञानी ही (एष्यः) आवश्यक है (यः) जो (क्रव्यादम्) शवाग्नि को (निर् आदधत्) पृथक् करने में समर्थ हो। वह गार्हपत्य से पृथक् क्रव्याद अग्नि को आधान करे।

यद् रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम्।

आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत् ॥४०॥ (१०)

भा०—(यत्) जो (रिप्रम्) पाप, (शमलम्) मलिन और (दुष्कृतम्) बुरे काम हम (चकृम) करते हैं, (आपः) जलों के समान पवित्र आप्त पुरुष, (मा) हमें (तस्मात्) उन पापादि से और (संकसुकात् अग्नेः च) संकसुक शव भक्षी अग्नि से (शुम्भन्तु) पवित्र करें।

ता अ॑धरादुदी॑चीराव॑वृत्रन् प्रजान॒तीः प॒थिभि॑र्दे॒वयानैः ।
पर्व॑तस्य वृ॒ष॒भस्याधि॑ पृ॒ष्ठे नवा॑श्चरन्ति स॒रितः पु॒राणीः ॥ ४१ ॥

भा०—(ताः) वे पूर्वोक्त आप्त जनों की श्रेणियां, स्वच्छ जल-धाराओं के समान (अधरान्) नीचे से (उदीचीः) ऊपर की तरफ जाती हुईं, (प्रजानतीः) उत्कृष्ट ज्ञान सम्पन्न होकर, (देवयानैः) विद्वानों से गमन करने योग्य मोक्ष के (पथिभिः) मार्गों और साधनों से (आ अववृत्रन्) वृत्ति आचरण करती हैं। (पर्वतस्य अधि पृष्ठे सरितः) पर्वत के पीठ पर जैसे सदा नयी जल-धाराएं अति प्राचीन काल से बहा करती हैं उसी प्रकार (वृषभस्य) समस्त सुखों की वर्षा करने हारे परमेश्वर के (अधि पृष्ठे) आश्रय में (पुराणीः नवाः चरन्ति) अति पुरातन काल के और नये भी आप्तजन विचरते हैं ।

अग्ने॑ अक्र॒व्यान्निः क्र॒व्यादं॑ नु॒दा दे॑व॒यज॑नं वह ॥ ४२ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! तू (अक्रव्याद्) मांसाहारी व्याघ्र या हिंसक जन के समान नहीं होकर (क्रव्यादं) मांसभक्षी जनों को (निःनुद) परे कर और (देव-यजनम्) देवों की उपासना करने वाले सत्पुरुष को (वह) हमें प्राप्त करा। अथवा—हे परमात्मन् ! (क्रव्यादं निः नुद) देह के मांस को खाने वाले मृत्यु को दूर कर और (देवयजनं वह) देव, परमेश्वर की संगति प्राप्त कराने वाले आत्म-स्वरूप को प्राप्त करा ।

इ॒मं क्र॒व्यादा वि॑वेशा॒यं क्र॒व्याद॒मन्व॑गात् ।
व्या॒घ्रौ कृ॒त्वा ना॑ना॒नं तं ह॑रामि शिवाप॒रम् ॥ ४३ ॥

भा०—(इमम्) जिस पुरुष में (क्रव्याद्) मांस खाने का स्वभाव (आविवेश) प्रविष्ट हो जाय, या (अयम्) जो पुरुष स्वयं (क्रव्यादम्) मांसभक्षी के (अनु अगात्) अनुकरण में उसका संगी हो जाय, तो उन (व्याघ्रौ कृत्वा) व्याघ्र, भेड़िया, शेर के समान जानकर अथवा दोनों

व्याघ्र स्वभाव के पुरुषों को (नानानं) दोनों को पृथक् २ करके (तम्) उसको (शिवापरम्) शिव = मंगल से अतिरिक्त अमंगल स्थान पर (हरामि) ले जाऊं ।

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणाम् ।
अग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

भा०—(गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (देवानाम्) देवों के लिये (अन्तर्धि) रक्षास्थान है और (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के लिये (परिधिः) नगर के कोट के समान है । वह (उभयान्) देव और मनुष्य दोनों के (अन्तरा) बीच में (श्रितः) विराजमान है ।

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ ४५ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् या परमेश्वर ! (त्वम्) तू (जीवानाम्) जीवों को (आयुः) दीर्घ जीवन (प्र तिर) प्रदान कर और (ये मृताः) जो लोग मर जायं वे (अपि) भी (पितृनाम् लोकम्) परिपालक वायु, चन्द्र, सूर्य आदि तत्वों में, या वृद्ध पितृजनों के यश या पद को (गच्छन्तु) प्राप्त हों । तू (सु गार्हपत्यः) उत्तम "गार्हपत्य" नामक अग्नि या राजा (अरातिम्) शत्रु को (वितपन्) विविध प्रकार से संतप्त करता हुआ, (उषाम्-उषाम्) प्रतिदिन (अस्मै) इस प्रजा को (श्रेयसीम्) सर्वोत्तम लक्ष्मी (धेहि) प्रदान कर । एष वै गार्हपत्यो यमो राजा । श० २ । ३ । २२ ॥

सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥४६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान दुष्टों को संताप देने हारे राजन् ! तू (सर्वान् सपत्नान्) समस्त शत्रुओं को (सहमानः) पराजित करता हुआ, (एषाम्) उनके (रयिम्) धन को और (ऊर्जम्) अन्न आदि पुष्टिकारी पदार्थों को (अस्मासु) हमें (धेहि) प्रदान कर ।

इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥ ४७ ॥

भा०—(इमम्) इस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील (वह्निम्) राज-कार्य के भार को उठाने में समर्थ नरपुङ्गव और (पप्रिम्) सबके पालक राजा को (अनु आ-रभध्वम्) उसके अनुकूल होकर उसके समीप जाकर सब प्रकार से उसे प्राप्त करो, उसे अपनाओ। (सः) वह राजा (अवद्यात्) निन्दनीय, (दुरितात्) दुखदायी पापाचरण से (निर् वक्षत्) पृथक् रखे। हे प्रजाजनो ! (तेन) उस राजा के बल से (शरुम्) हिंसक पुरुष को (अप हत) मारो और (तेन) उसी के बल पर (रुद्रस्य) प्रजा को रुलाने वाले उग्र चोर डाकू के (अस्ताम्) फेंके हुए शस्त्रास्त्र से (परि पात) प्रजा की सब प्रकार से रक्षा करो।

अनुड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात्।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥ ४८ ॥

भा०—(अनड्वाहम्) अनस् = शकट को जिस प्रकार बैल उठाता है राष्ट्ररूप शकट को उठाने वाले राजा और ब्रह्माण्ड रूप शकट को ले चलने वाले सर्व-प्रवर्तक परमेश्वर स्वरूप (प्लवम्) जहाज को आप लोग (अनु-आरभध्वम्) प्राप्त करो। (सः) वह (वः) आप सबको (अवद्यात्) निन्दनीय, (दुरितात्) बुरे कामों से (निर्-वक्षत्) मुक्त करे। हे सज्जनो ! (सवितुः) सबके उत्पादक और प्रेरक परमेश्वर और उत्तम राजा की बनायी (एताम्) इस (नावम्) नाव के समान सबको भवसागर से पार उतारने वाली और सबको अपने बीच में सुरक्षा से रखने वाली राजव्यवस्था रूप नाव में (आ रोहत) चढ़ो, उसमें शरण लो और (षड्भिः) छहों (उर्वीभिः) उर्वी, विशाल शक्तियों से हम (अमतिम्) अज्ञान और कुमति को (तरेम) पार करें।

'षड् ऊर्वयः' = छः बड़ी शक्तियां, पांच ज्ञान इन्द्रिय और छठा मन। ये आत्मा की छः बड़ी शक्तियां हैं जिनसे वह भारी अमति = अविद्या को तरता और ज्ञान प्राप्त करता है।

अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः ।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥४९॥

भा०—हे (तल्प) सबके प्रतिष्ठापक ! पलंग के समान सबका सुख से अपने में विश्राम देने हारे परमेश्वर ! एवं राजन् ! तू (अहोरात्रे) दिन और रात (बिभ्रत्) हमें धारण पोषण करता हुआ, (क्षेम्यः) सबका कुशल मंगल करने हारा, (सुवीरः) उत्तम वीर्यवान् या उत्तम वीर पुरुषों से युक्त, (प्रतरणः) नौका के समान सबको पार तारने वाला, (तिष्ठन्) स्थिर रूप से विराजमान होकर, (अनु एषि) सबके अनुकूल होकर प्राप्त है। तू (सुमनसः) शुभ चित्त वाले, (अनातुरान्) काम क्रोधादि से अनातुर, शान्त, तृष्णारहित, स्वस्थ पुरुषों को अपने में (बिभ्रत्) धारण करता हुआ भी, हे (तल्प) पलंग के समान सबको विश्राम देने हारे ! (ज्योक् पुरुषगन्धिः) चिरकाल से पुरुषों को उनके पापकर्मों का दण्ड देने वाला 'जनार्दन' होकर (एधि) विराजमान है ।

४८, ४९ दोनों मन्त्रों में 'जनार्दन' का मत्स्यावतार और मनु की वेदमयी नौका की कल्पना का मूलमात्र प्राप्त होता है ।

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा ।
क्रव्याद् याननिरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥५०॥ (११)

भा०—जो लोग (सर्वदा) सदा (पापम्) पापमय (जीवन्ति) जीवन बिताते हैं (ते) वे (देवेभ्यः) साधु पुरुषों से सदा के लिये (आ वृश्चन्ते) कट जाते हैं, उनको सज्जनों का संग प्राप्त नहीं होता । (अश्व इव नडम्) जिस प्रकार सूखे नड़ को घोड़ा पैरों से रौंद रौंद कर तोड़ फोड़ देता है उसी प्रकार (यान् अन्तिकात्) जिनके समीप, (क्रव्यात् अग्निः) मांस खाने वाला, अग्नि के समान सन्ताप-कारी निर्दय स्वभाव वाला व्यक्ति होता है, वह उनके (नडम्) नड = नरस्वभाव या मानुष स्वभाव को या मनुष्यता को (अनु वपते) निरन्तर नाश कर देता है ।

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते ।
ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥ ५१ ॥

भा०—(ये) जो लोग (अश्रद्धाः) श्रद्धा अर्थात् सत्य धारणा से रहित, नास्तिक, उच्छृंखल होकर, (धनकाम्याः) धन के लोभी (क्रव्यादा) मांसभक्षी जन (सम् आसते) संग बैठते और उनका सा पेशा करते हैं, (ते वा) वे भी (सर्वदा) सदा (अन्येषाम्) औरों की (कुम्भीम्) हांडी पर ही (परि आदधति) अपनी आशा बांधे रहते हैं। वे भी सदा के लिये दूसरों के आश्रित रहते हैं।

प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः ।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥ ५२ ॥

भा०—(यान् अन्तिकात्) जिनको अति समीप से (क्रव्याद् अग्निः) मृत्यु का भय (अनुविद्वान्) पीछे लग कर (वितावति) नाना प्रकार से सताता है वह पुरुष, जब भी (मनसा) अपने मन से (प्र पिपतिषति इव) आगे को जाना चाहता है (पुनः मुहुः) फिर भी बार बार (आ वर्तते) लौट ही आता है।

अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः ।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥५३॥

भा०—हे (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाली अग्नि! (पशूनाम्) पशुओं में से (कृष्णा अविः) काली भेड़ (ते भागधेयम्) तेरा भागधेय, भाग है और (सीसं) सीसे को (ते) तेरा (चन्द्रं) धन (आहुः) कहते हैं और (पिष्टाः माषाः) पीसे हुए 'माष' उड़द की दालें (ते भागधेयं) तेरे भाग के (हव्यम्) पदार्थ हैं। तू (अरण्यान्याः) बड़े जंगल के (गह्वरं) गहरे भाग को (सचस्व) चली जा। इसका अभिप्राय यह है मांसाहारी सीसे की गोली से मारा जाय और माष की दाल के समान दल दिया जाय।

शव के श्मशान में ले जाते समय लोहे का टुकड़ा पात्र में रखने और उड़द की दाल घटिया को देने और अनुस्तरणी पशु को बलि करने आदि का गृह्योक्त कर्म का आधार यह मन्त्र मान रखा है।

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥ ५४ ॥

भा०—(जरतीम्) जीर्ण हुई (इषीकाम्) सींक, (तिल्पिञ्जं) तिल के डंठल और (दण्डनं) बांस तथा (नडम्) नड इनको (इष्ट्वा) यज्ञ अर्थात् इनके समान जीर्ण देह की अग्नि में आहुति करके, (इन्द्रः) ज्ञानैश्वर्यवान् पुरुष (तम्) उस अपनी आत्मा को (इध्मम्) ईंधन बना कर या प्रदीप्त करके, (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के (अग्निम्) ज्ञानमय-अग्नि के समान स्वरूप को (निर् आदधौ) अपने भीतर धारण करे।

सींक, तिलपिञ्ज, दण्डन-बांस और नले ये चारों पदार्थ जीर्ण हो जाने पर जला दिये जाते हैं और फिर ऋतु पर नये उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यह पुरुष भी अपने जीर्ण देह को अग्नि में जला दे और स्वयं ईश्वर के तेजोमय स्वरूप को धारण करे, उसका ध्यान चिंतन करे।

प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान् पन्थां वि ह्याविवेश।
परामीषामसून् दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥५५॥ (१२)

भा०—(प्रत्यञ्चम्) 'प्रत्यक्' प्रत्येक के हृदय में प्रकाशमान, (अर्कं) सूर्य के समान प्रदीप्त परमेश्वर को (प्रति अर्पयित्वा) अपने आपको सौंप कर, (प्रविद्वान्) अति उत्कृष्ट ज्ञानी, (पन्थाम्) उस परम मोक्ष मार्ग में (हि) निश्चय से (वि आविवेश) चला जावे। (अमीषाम्) तब उन मोक्षगत मुक्तात्माओं के (असून्) सूक्ष्म प्राणों को (परा दिदेश) पुनः ले ले और (इमान्) इन जीवों को (दीर्घेण आयुषा) दीर्घ जीवन से (संसृजामि) मैं युक्त करूं। इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकमेव सूक्तमृचश्च पञ्चपञ्चाशत्]

[३] स्वर्गौदन की साधना या गृहस्थधर्म का उपदेश

ऋषिः—यमः ॥ देवता—मन्त्रोक्तः स्वर्गौदनोऽग्निः ॥ छन्दः—१,४२,४३,४७ भुरिजः, ८,१२,२१,२२,२४ जगत्यः १३ [?] त्रिष्टुप्, १७ स्वराड् आर्षी पंक्तिः, ३४ विराड्गर्भा पंक्तिः, ३९ अनुष्टुब्गर्भा पंक्तिः, ४४ पराबृहती, ५५–६० त्र्यवसाना सप्तपदाऽतिजागतशाक्करातिशाक्करधार्त्यगर्भातिधृतयः [५५, ५७–६० कृतयः, ५६ विराट् कृतिः] षष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

पुमा॑न् पुं॒सोऽधि॑ तिष्ठ॒ चर्मे॑हि॒ तत्र॑ ह्वयस्व यत॒मा प्रि॒या ते॑ ।
याव॑न्ता॒वग्रे॑ प्रथ॒मं स॑मे॒यथु॒स्तद् वां॒ वयो॑ यम॒राज्ये॑ सम॒नम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! तू (पुमान्) वीर्यवान् मर्द होकर (पुंसः) अन्य पुरुषों पर (अधितिष्ठ) अध्यक्ष रूप से विराजमान हो । तू (चर्म) आसन पर (इहि) आ विराज । (तत्र) उसी आसन पर (यतमा) सब स्त्रियों में से एक (ते) तुझे जो सबसे अधिक (प्रिया) प्रिय स्त्री है उसको (ह्वयस्व) बुलाकर पत्नीस्वरूप में ग्रहण कर । हे पति पत्नी ! (अग्रे) सबसे प्रथम (यावन्तौ) जितनी शक्ति और सामर्थ्य से युक्त होकर तुम दोनों (प्रथमम्) प्रथम (सम ईयथुः) परस्पर संगत होओगे (तत्) वह सब कुछ (वाम्) तुम दोनों का (वयः) जीवन सामर्थ्य (यमराज्ये) सर्व नियन्ता परमेश्वर के या गृहस्थ के राज्य में (समानम्) समान रहे ।

ताव॑द् वां॒ चक्षु॒स्तति॑ वी॒र्या॒णि॒ ताव॒त् तेज॑स्तति॒धा वाजि॑नानि ।
अ॒ग्निः शरी॑रं सचते य॒दैधोऽधा॑ प॒क्वान्मि॑थु॒ना सं भ॑वाथः ॥ २ ॥

भा०—हे पति और पत्नि ! (वाम्) तुम दोनों की (तावत्) उतने सामर्थ्य वाली (चक्षुः) प्रेम से युक्त आंख है और (तति वीर्याणि) तुम दोनों के उतने सामर्थ्य हैं कि कहा नहीं जा सकता और इसी प्रकार तुम दोनों का (तावत् तेजः) उतना अधिक तेज है और (ततिधा) नाना प्रकार के (वाजिनानि) बलयुक्त कार्य हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता । (यदा) जब (अग्निः) कामरूप अग्नि या वीर्यरूप या ब्रह्मचर्य रूप

तप, (एधः) काष्ठ को अग्नि के समान, (शरीरम्) शरीर को (सचते) कांतिमान् करे, (अधा) तब (पक्वात्) परिपक्व वीर्य से (मिथुना) तुम दोनों पति पत्नी (संभवाथः) परस्पर मैथुन करके पुत्रोत्पन्न करो।

मैथुन करने को वेद 'सम्-भवति' धातु से प्रकट करता है।

समस्मिल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु ।
पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद्यद् रेतो अधि वां संबभूव ॥ ३ ॥

भा०—हे पति पत्नि ! तुम दोनों (अस्मिन् लोके) इस गृहस्थ लोक में (सम-एतम्) सदा एक साथ समान भाव से रहो। (देवयाने) देव अर्थात् परमेश्वर की उपासना या मोक्ष मार्ग की साधना में भी (सम् उ) सदा दोनों एकत्र ही रहो और (सम् स्म) सदा साथ रहते हुए (यम-राज्येषु) यम, नियन्ता राजा के राज्य के कार्यों में अथवा (यमराज्येषु) गृहस्थ के समस्त कार्यों में (सम एतम्) तुम दोनों समान भाव से एकत्र होकर रहो और जब जब भी (वां) तुम दोनों का (रेतः) वीर्य (अधि-संबभूव) गर्भ में एकत्र होकर पुत्र रूप से स्थिर हो जाय, तब २ (पवित्रैः) पवित्र आचरणों और पवित्र कार्यों से (पूतौ) तुम दोनों शुद्ध पवित्र होकर, (तत्) गर्भ में स्थित उस वीर्यांश को (उप ह्वयेथाम्) शुभ संस्कारों से पुष्ट करो, उस पर उत्तम २ संस्कार डालो।

आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ।
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री ॥ ४ ॥

भा०—हे (पुत्रासः) युवक पुत्रो ! तुम भी (आपः) अपने समीप प्राप्त अपनी पत्नियों के साथ (अभि सं विशध्वम्) गृहस्थधर्म का पालन करो। हे (जीवधन्याः) जीवन के श्रेष्ठ धन से सम्पन्न पुरुषो ! आप लोग (इमम्) इस (जीवं) पुत्र को (समेत्य) प्राप्त होकर (तासाम्) अपनी गृहपत्नियों के या वीर्यरक्षा रूप उस (अमृतम्) अमृतमय परम गृहस्थ सुख को (भजध्वम्) प्राप्त करो। (यम्) जिस (ओदनम्) ओदन के समान

पुष्टिकारक वीर्य को (वाम्) तुम दोनों को (जनित्री) माता (पचति) ब्रह्मचर्य पालनादि द्वारा पकाती या परिपक्व करती रही है।

देव्यो हि आपः । श० १ । १ । ३ । ७ ॥ रेतो वा आपः । ऐ० १ । ३ ॥ अग्निना वा आपः सुपत्न्यः । श० ६ । ८ । २ । ३ ॥

यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः ।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा ॥ ५ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (यं) जिस 'ओदन' अर्थात् वीर्य को (वां पिता) तुम दोनों के पिता (माता च) और माता (रिप्रात्) पितृऋण से ऋणी रहने रूप पाप से और (वाचः) वाणी के (शमलात् च) पाप से (निर्मुक्त्यै) सर्वथा मुक्त होने के लिये (पचति) परिपक्व करते हैं, (सः) वह वीर्य, ब्रह्मचर्य आदि का पवित्र व्रत ही (शतधारः स्वर्गः) शतवर्ष की आयु को धारण करने वाला स्वर्ग अर्थात सुखकारी आनन्द को प्राप्त करने का श्रेष्ठ उपाय है। वह (महित्वा) अपनी महिमा से (नभसी) दोनों लोकों को, द्यौ और पृथ्वी को या (उभे) ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दोनों आश्रमों को (व्याप) व्याप्त करता है।

उभे नभसी उभयाँश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः ।
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम् ॥ ६ ॥

भा०—(उभे नभसी) दोनों लोक द्यौ और पृथिवी और (उभयान् च लोकान्) दोनों प्रकार के लोक (ये) जो (यज्वनाम्) यज्ञशील पुरुषों द्वारा (अभिजिताः) प्राप्त करने योग्य (स्वर्गाः) सुखमय लोक हैं (तेषाम्) उनमें से (यः) जो लोक कि (मधुमान्) मधु के समान आनन्दरस से पूर्ण और (ज्योतिष्मान्) प्रकाशमय ज्ञानमय लोक है (तस्मिन्) उस (अग्रे) सर्वश्रेष्ठ लोक में, (पुत्रैः) अपने पुत्रों सहित (जरसि) अपने ढलते जीवन में (सं श्रयेथाम्) अच्छी प्रकार से रहो।

प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती सं श्रयेथाम् ॥ ७ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! आप लोग (प्राचीम् प्राचीम्) पूर्व दिशा के समान सूर्य के द्वारा प्रकाशमान (प्रदिशम्) प्रदेश या लोक को ही (आरभेथाम्) प्राप्त करो । (एतं लोकं) इस लोक वा आश्रम को (श्रद्-दधानाः) सत्य को धारण करने वाले लोग ही (सचन्ते) प्राप्त होते हैं । हे (दम्पती) पति पत्नी लोगो ! (यत्) जो (वां) तुम दोनों का (पक्वम्) परिपक्व वीर्य (अग्नौ) अग्नि अर्थात् प्रजनन कार्य में (परिविष्टम्) पड़ गया है, गर्भ में स्थिर हो गया है, (तस्य) उसकी (गुप्तये) रक्षा के लिये, तुम दोनों (सं श्रयेथाम्) एक दूसरे पर आश्रित होकर रहो ।

प्रजननं वा अग्निः । वै० १ । ३ । १ । ४ ॥ यज्ञाग्नि में पक्व चरु का डालना प्रतिनिधिवाद से अग्नि में आहुति और स्त्री में वीर्याधान का प्रतिनिधि है । 'योषा वाव गोतमाग्निः । तस्या उपस्थ एव समित् । यदुपमन्त्रयते स धूमः । यदन्तः करोति त अङ्गाराः । अभिनन्दाः विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्य आहुतेर्गर्भः सम्पद्यते ।' छा० उप० ५ । ८ ॥ स्त्री स्वयं अग्नि है । कामांग काष्ठ हैं, स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम धूम है, भोग ज्वाला है, सुख विस्फुलिङ्ग हैं, उस अग्नि में विद्वान् लोग वीर्य की आहुति देते हैं, वह गर्भ रूप से उत्पन्न होते हैं । इसी के लिये वेद योषा अग्नि में पक्व की आहुति अर्थात् परिपक्व वीर्य की आहुति देने की आज्ञा देता है और उसकी रक्षा का उपदेश करता है ।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ।
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥ ८ ॥

भा०—हे पति और पत्नि ! तुम दोनों (दक्षिणां दिशम्) दक्षिण दिशा अर्थात् पूर्व पितरों की दिशा, गृहस्थ धर्म को (अभि नक्षमाणौ)

सब प्रकार से आचरण करते हुए, (एतत् पात्रम् अभि) इस परस्पर के पालन करने रूप गृहस्थ धर्म के प्रति ही (परि आवर्त्तेथाम्) चले आया करो। (तस्मिन्) उस परस्पर पालन करने हारे धर्म में विद्यमान (वां) तुम दोनों में से (यमः) जो यम, परम संयमी ब्रह्मचारी है वह (पितृभिः संविदानः) गुरुजनों से उत्तम ज्ञान लाभ करता हुआ (पक्वाय) परिपक्व वीर्य होने के कारण (बहुलं शर्म) बहुत अधिक सुख (नियच्छात्) प्राप्त कराने में समर्थ है।

एषा वै दक्षिणा दिक् पितॄणाम्। श० १। २। ५। १७॥ पितरो नमस्याः। श० १। ५। २। ३॥ यान् अग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरो ऽग्निष्वात्ताः। श० २। ६। १। ७॥ ये वा अयज्वानः ते गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः। श० २। ६। १। ७॥ ये वै यज्वानः ते पितरो बर्हिषदः। तै० १। ६। ७। ६॥ दक्षिण दिशा पितरों की है। नमस्कार करने योग्य लोग 'पितर' हैं। जिनको स्वयं अग्नि भोजन का आस्वाद देती हैं, वे और वे जो गृहस्थ होकर भी यज्ञ नहीं करते होते वे 'अग्निष्वात्त' पितर हैं और यज्ञशील गृहस्थी लोग 'बर्हिषद्' पितर हैं।

प्रतीचीं दिशामियमिद् वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥९॥

भा०—(इयम् प्रतीची) यह प्रतीची पश्चिम दिशा (इत्) ही (दिशाम्) समस्त दिशाओं में (वरम्) अच्छी है, (यस्यां) जिसमें (सोमः) सर्वोत्पादक परमेश्वर या उत्पादक शुक्र ही (अधिपाः) पालक, अधिष्ठाता और (मृडिता च) सब को सुख देने वाला है। (तस्याम्) उस दिशा में (श्रयेथाम्) तुम दोनों स्त्री पुरुष आश्रय प्राप्त करो और (सुकृतः) शुभ कर्मों का (सचेथाम्) पालन करो। (अधा) और वहां ही (पक्वात्) पक्व वीर्य से, पक्व वीर्य होकर (मिथुना सं भवाथः) परस्पर जोड़ा होकर सन्तान पैदा करो।

मनुष्याणां वा एषा दिग् यत् प्रतीची । श० ३ । १ ॥ प्रतीची दिक् सोमो देवता । तै० ३ । ११ । ५ । २ ॥

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ।
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥१०॥(१३

भा०—(उत्तरम् राष्ट्रम्) उत्कृष्ट राष्ट्र (प्रजया) प्रजा से ही (उत्तरावत्) 'उत्तरावत्', उत्कृष्ट होता है, जिसको कि (दिशाम् उदीची) दिशाओं में से उत्तर दिशा, अपने दृष्टान्त से, (नः) हमारे लिये (अग्रम्) श्रेष्ठ (कृणवत्) बतलाती है । उत्तम प्रजा वह है जब कि (पुरुषः) यह देहवासी पुरुष (पाङ्क्तं छन्दः) पंचाक्षरों से युक्त पंक्ति छन्द के समान पांच स्वतन्त्र प्राणों से युक्त (बभूव) रहता है । इसलिये हम लोग (विश्वैः) सबके सब (विश्वङ्गैः) समस्त अङ्गों (सह) सहित (सं भवेम) प्रजारूप से उत्पन्न हों ।

ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥११॥

भा०—(ध्रुवा) ध्रुवा-दिशा, (इयं) यह (विराट्) अन्न से पूर्ण विविध प्रकार से शोभा देने वाली 'विराट्' पृथिवी है । (अस्मै) इसको हमारा (नमः अस्तु) नमस्कार हो । यह (पुत्रेभ्यः शिवा) पुत्रों के लिये कल्याणकारिणी (उत) और (मह्यम्) मेरे लिये भी कल्याण और सुख के देने वाली (अस्तु) हो । हे (अदिते) स्थिर ! (विश्वधारे) तथा समस्त संसार से वरण करने योग्य और उनको दुःखों से बचाने वाली (देवि) देवि ! (सा) वह तू (नः) हमारे (इर्यः इव) अन्न के स्वामी के समान (गोपा) पालन करने हारी होकर (पक्वम्) हमारे परिपक्व वीर्य एवं उससे उत्पन्न प्रजा को (अभिरक्ष) सब प्रकार से सुरक्षित कर ।

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
यमोदनं पचतो देवते इह तं नस्तप उत सत्यं च वेत्तु ॥ १२ ॥

भा०—(पिता पुत्रान् इव) जिस प्रकार पिता पुत्रों को आलिंगन करता है और प्रेम करता है उसी प्रकार हे पृथिवि ! या हे परमेश्वर ! तू (नः) हम मनुष्यों को (सं स्वजस्व) भली प्रकार आलिंगन कर, प्रेम कर। (इह भूमौ) इस भूलोक में (नः) हमारे लिये (वाताः) वायुएं सदा (शिवाः) कल्याण और सुख देने हारी होकर (वान्तु) बहें। (देवते) देव-स्वभाव के स्त्री और पुरुष (इह) यहां (यम् ओदनं) जिस ओदनरूपी वीर्य को (पचतः) परिपक्व करते, परिपुष्ट करते और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, (तम्) उसको (नः) हमारा (तपः) तप और (सत्यं च) सत्य आचरण (वेत्तु) प्राप्त करे।

यद्यत् कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन् विषक्तं बिल आससाद ।
यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं शुम्भताप: ॥ १३ ॥

भा०—(यत् यत्) जब जब (कृष्णः) काला, मलिन कर्म वाला (शकुनः) शक्तिशाली पुरुष, चोर आदि या काला पक्षी काक आदि मलिन जन्तु (इह) यहां हमारे घर में (आ गत्वा) आकर (त्सरन्) कुटिल चालें चलता हुआ (वि-सक्तं) पृथक् एकान्त में छुपे छुपे (बिले) खोह या घर में (आससाद) आ जाय, (विषक्तं त्सरन् बिले आससाद) नाना प्रकार का अन्न चुराकर अपनी बिल में चला जाय तो और (यद्वा) या यदि (आर्द्र-हस्ता) गीले हाथों वाली (दासी) नौकरानी व क्षयकारिणी शक्ति (ऊलूखल मुसलं) ऊखल और मुसल या बलवान् राजा को (सम् अङ्क्त) हाथ लगाकर गीला खराब कर दे, उसको भ्रष्ट कर दे तो हे (आपः) आप्त पुरुषो ! तुम उन सबको (शुम्भत) शुद्ध करो।

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः ।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दंपती पौत्रमघं नि गाताम् ॥१४

भा०—(अयं) यह (ग्रावा) मूसल, ऊखल (पृथुबुध्नः) विशाल आधार वाला, (वयोधाः) अन्नों का धारण करने वाला, (पवित्रैः) पवित्र

करने हारे उपायों से स्वयं (पूतः) पवित्र होकर, (रक्षः) अन्न के ऊपर के रक्षा करने वाले आवरण छिलकों को (अप हन्तु) कूटकूट कर पृथक् कर दे। हे ऊखल ! तू (चर्म आ रोह) तू बिछे वस्त्र पर विराज और (महि शर्म यच्छ) बड़ा भारी सुख प्रदान कर। (दम्पती) स्त्री पुरुष (पौत्रम् अघम्) अपने पुत्रों की हत्या आदि पाप को (मा नि गाताम्) प्राप्त न हों।

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः।
स उच्छ्रयाते प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥१५॥

भा०—(वनस्पतिः) महान् वृक्ष के समान सबको अपनी छत्रच्छाया में रखने वाला चक्रवर्ती राजा, (सह देवैः) विद्वान् पुरुषों और अन्य शासकों सहित, (रक्षः पिशाचान्) राक्षसों और पिशाचों को (अप-बाधमानः) मार कर दूर भगाता हुआ (नः आगत्) हमें प्राप्त हो। (सः) वह (उत् श्रयातै) सबसे ऊंचा होकर (वाचं) वाणी को (प्र वदाति) कहे, सबको आज्ञा करे, या सबको शिक्षा प्रदान करे। (तेन) उसके बल से हम (सर्वान् लोकान्) समस्त लोकों को (अभि जयेम) अपने वश करें, उन पर विजयी हों।

सप्त मेधान् पशवः पर्यगृह्णन् य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श।
त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम् ॥१६॥

भा०—(पशवः) समस्त जीव (सप्त मेधान्) सात अन्नों को (परि अगृह्णन्) भोजन के रूप में प्राप्त करते हैं। (त्रयः त्रिंशत्) तैंतीस (देवताः) देव गण (तान्) उन जीवों या अन्नों के साथ (सचन्ते) समवाय या देह रूप से संघ बनाते हैं। (एषां) इन देवताओं में से (यः) जो (ज्योतिष्मान्) सबसे अधिक प्रकाशमान (उत) और (यः चकर्श) सबसे सूक्ष्म है (सः) वह परमात्मा (नः) हमें (स्वर्गम् लोकम्) सुखमय लोक को (अभि नेष) प्राप्त करावे। सप्त अन्नों का रहस्य देखो बृहदारण्यक उप० [१ । ५]

अन्नं मेधः । मेधायेत्यन्नायेत्येतत् ।-श० ७ । ५ । ३९ ॥ अन्न, हुत, प्रहुत, पयः, मनः, वाक्, प्राण, ये सात मेध या अन्न हैं, इनको प्रजापति ने मेधा अपनी ज्ञानशक्ति से उत्पन्न किया ।

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥१७॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप (नः) हमें (स्वर्गं लोकम्) सदा सुखकारी लोक में ही (अभि नयासि) साक्षात् प्राप्त कराते हो । हम सदा (जायया) पुत्र उत्पन्न करने हारी स्त्री और उससे उत्पन्न (पुत्रैः) पुत्रों के साथ (स्याम) रहें । जिसका भी मैं (हस्तं गृह्णामि) हाथ पकड़ूं, वह स्त्री (मा अनु एतु) मेरे पीछे पीछे मेरी धर्मपत्नी होकर चले । (निर्ऋतिः) पाप-वासना (मा) मुझे (मा तारीत्) कष्ट न दे और (मा उ अरातिः) अदानशील कृपण लोग या लोभवृत्ति भी मुझे न सतावे ।

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु ।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥१८॥

भा०—(ग्राहिम्) मन को पकड़ लेने वाली शोक रूप पिशाची को और (ताम्) उस (पाप्मानम्) पाप प्रवृत्ति को भी (अति अयाम) हम पार कर जायं । हे राजन् ! तू (तमः व्यस्य) हमारे हृदय के शोक रूप अन्धकार को दूर करके (वल्गु) अति मनोहर वचन (प्र वदासि) कह, उत्तम शिक्षा दे । हे (वानस्पत्य) वृक्ष के विकार लकड़ी के बने मूसल के समान राजकीय तेज के अंश से सम्पन्न दण्डकारी राजदण्ड ! (त्वम्) तू (उद्यतः) उठ कर (मा जिहिंसीः) हमें मत मार और जिस प्रकार मूसल आघात करता हुआ भी तुषों को दूर करता और (तण्डुलं मा) चावल को नहीं तोड़ता है उसी प्रकार हे राजदण्ड ! तू भी (देवयन्तं) देने के समान उत्तम आचरण करने-हारे पुरुष को (मा वि शरीः) विशेष रूप से दण्डित वा पीड़ित मत कर ।

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु ॥ १९ ॥

भा०—हे राजन् ! यदि तू (विश्वव्यचाः) संसार में फैला हुआ जगत् प्रसिद्ध और (घृतपृष्ठः) सूर्य के समान अति तेजस्वी (भविष्यन्) होना चाहता है तो (सयोनिः) अपने योनि, उत्पत्ति स्थान, प्रजा सहित (एतम्) इस स्वर्गमय (लोकम्) लोक को (उप याहि) प्राप्त हो और (वर्षवृद्धम्) वर्षा काल में बढ़े हुए सींकों से बने (शूर्पं) सूप के समान (वर्षवृद्धं) वर्षों में बूढ़े अनुभवी पुरुष को (उप यच्छ) अपने हाथ में ले और जिस प्रकार छाज (तुषं पलावान्) तुष और तिनकों को फटक फटक कर कर अलग २ कर देता है उसी प्रकार तू भी अनुभवी न्यायशील पुरुष के द्वारा तुच्छ हिंसक दुष्ट पुरुषों को अपने राष्ट्र रूप अन्न में से (विनक्तु) फटक २ कर निकाल डाल ।

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्य१न्तरिक्षम् ।
अंशून् गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥२०॥(१४)

भा०—(ब्राह्मणेन) वेद का विद्वान् (त्रयः लोकाः) तीनों लोकों का (संमिताः) भली प्रकार ज्ञान कर लेता है कि (द्यौः एव असौ) वह द्यौ है, (पृथिवी, अन्तरिक्षम्) वह पृथिवी है और वह अन्तरिक्ष है । हे स्त्री, पुरुषो ! जिस प्रकार तुम लोग (अंशून्) अन्न के शुद्ध दानों को (गृहीत्वा) लेकर (अनु आरभेथाम्) बराबर कृषि करते रहते हो तो वे अन्न (आप्यायन्ताम्) बहुत बढ़ जाते हैं और फिर वे (शूर्पं) छाज पर (आयन्तु) आ जाते हैं, ठीक उसी प्रकार तुम प्रजा और राजा दोनों मिल कर उक्त तीनों लोकों के (अंशून्) व्यापक गुणों को लेकर कार्य आरम्भ करो । इस प्रकार समस्त लोक फलें फूलें और (शूर्पं पुनः आ यन्तु) छाज के समान सत् असत् अर्थात् भले बुरे का विवेक करने वाले पुरुष के पास प्राप्त हों ।

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या ।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ।२१

भा०—(पशूनां) जीवों के (पृथक्) पृथक् २, जुदा २ (बहुधा) बहुत प्रकार के (रूपाणि) रूप नमूने होते हैं, तो भी हे राजन् ! या हे आत्मन् ! (त्वम्) तू (समृद्ध्या) अपनी सम्पत्ति से सब के प्रति (एकरूपः भवसि) एक रूप रहता है । (एताम्) इस (लोहिनीम्) राजस, (त्वचम्) आवरण को (नुदस्व) परे कर दे और स्वयं (ग्रावा) शुद्ध ज्ञानी होकर (मलगः वस्त्र इव) जैसे धोबी कपड़ों को धो डालता है उसी प्रकार तू भी अपने को (शुम्भाति) शुद्ध पवित्र कर और सुशोभित कर ।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि ।२२

भा०—(त्वा) तुझ (पृथिवीम्) खादरूप पृथिवी को (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (आवेशयामि) स्थापित करता हूँ । (एषा) ताकि हे पृथिवी यह (ते) तेरी (विकृता तनूः) बिगड़ी हुई देह भी (समानीः तनुः) पूर्व के समान ही हो जाय और इसमें (यत् यत्) जो २ कुछ (द्युत्तम्) जुत गया है या (अर्पणेन) हल चलाने से (लिखितम्) खुद गया है (तेन) उससे (मा सुस्रोः) अपना सारभाग नष्ट मत कर, (तत्) उसको भी मैं (ब्रह्मणा) अन्न द्वारा (वपामि) बो देता हूँ ।

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या ।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता ॥२३॥

भा०—हे पृथिवि ! तू, (जनित्री सूनुम् इव) माता जिस प्रकार पुत्र को प्यार से अपने गोद में ले लेती है उसी प्रकार तू मुझे (प्रति हर्यासि) प्रेम करती है । (त्वा) तुझ (पृथिवीम्) पृथिवी को (पृथिव्या) पृथिवी से (संदधामि) मैं जोड़ देता हूँ । हे पृथिवि ! तू (उखा) हांडी या उखा रूप में या (कुम्भी) कुम्भी, घड़े, मटके आदि के रूप में होकर (वेद्याम्) वेदी

में (मा व्यथिष्ठाः) खेद को मत प्राप्त हो, ठीक टिकी रह। वहां तू (यज्ञायुधैः) यज्ञ के द्वारा उपकरणों (आज्येन) घृत वा जल से (अतिषक्ता) युक्त होकर रह।

अग्निः पचन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान्।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात् त्वा सोमः सं ददातै ॥२४॥

भा०—हे पृथिवि! (पचन्) परिपक्व करता हुआ (अग्निः) अग्नि (पुरस्तात्) आगे से (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे। (मरुत्वान् इन्द्रः) प्राणों और विद्वान्-गणों तथा नाना दिव्य शक्तियों से सम्पन्न इन्द्र (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा से तेरी (रक्षतु) रक्षा करे। (प्रतीच्याः) पश्चिम दिशा के (धरुणे) धारण करने वाले आधार स्थान में (त्वा) तुझे (वरुणः) वरुण (दृंहात्) दृढ़ करे, सुरक्षित रखे और (उत्तरात्) उत्तर की ओर से (सोमः) सोम (त्वा) तुझे (सं ददातै = सं दधातै) भली प्रकार सुरक्षित रखे।

उखा = हंडिया को जिस प्रकार चूल्हे पर चढ़ाते हैं आगे से अग्नि होती है शेष तीनों तरफ टेक लगती है जिससे हंडिया सुरक्षित रहे। उसी प्रकार राष्ट्र की रक्षा के लिये राजा को चारों दिशाओं अर्थात् चारों प्रकारों से रक्षा के लिये उद्यत रहना चाहिये।

पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद् दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान्।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥२५॥

भा०—जिस प्रकार (अभ्राद्) मेघ से आते हुए जल (पवित्रैः) पवित्र करने वाले वायुओं द्वारा (पूताः) पवित्र होकर (दिवं यन्ति) द्यौलोक में भी ऊपर उठ जाते हैं और (पृथिवीं च लोकान्) पृथिवी लोक पर भी आते हैं। (ताः) वे जल (जीवलाः) पृथ्वी पर जीवन को प्राप्त कराने वाले (जीवधन्याः) जीवों के लिये धन होने योग्य (प्रतिष्ठाः) प्राणों की प्रतिष्ठा स्वरूप हैं और जिस प्रकार वे (पात्रे आसिक्ताः) पात्र आदि में डाले जाते हैं और उनको (अग्निः) अग्नि (परि इन्धाम्) चारों ओर से तृप्त करती है उसी

प्रकार (ताः) वे आप्त जन (पवित्रैः पूताः) पवित्र आचरणों से पवित्र होकर (अभ्रात्) गति-शील, सर्वव्यापक परमात्मा से, मेघ से जलों के समान (पवन्ते) आते हैं और (दिवं च पृथिवीम् च लोकान् च यन्ति) वे द्यौलोक, पृथिवी लोक और सूर्य आदि नाना लोकों को प्राप्त होते हैं। (ताः) वे आप्त जन (जीवलाः) अति दीर्घ जीवन धारण करने वाले (जीवधन्याः) जीवों में स्वयं धन्य अति श्रेष्ठ, (पात्रे आसिक्ताः) पात्र में रखे जलों के समान, (पात्रे आसिक्ताः) उचित स्थान में नियुक्त होकर (प्रतिष्ठाः) उत्तम रूप से, प्रतिष्ठा के पात्र होते हैं। उनको (अग्निः) ज्ञान-मय, प्रकाशक परमेश्वर (परि इन्धाम्) सब प्रकार से ज्ञान प्रदान करके प्रकाशित करता है।

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम्।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ।२६

भा०—(ताः) वे (आपः) आप्त जन (दिवं) प्रकाशमान उस परमेश्वर के पास से, मेघ से आने वाले स्वच्छ जलों के समान (पृथिवीम्) (पृथिवी) लोक पर (आ यन्ति) आते हैं, (भूम्याः) भूमि पर (सचन्ते) एकत्र होते हैं, (अधि अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में भी (सचन्ते) प्राप्त होते हैं। (ता शुद्धाः सतीः) वे सदा शुद्ध रहने के कारण से (उ) ही (शुम्भन्त एव) शोभा को प्राप्त होते हैं। (ताः) वे (नः) हमें (स्वर्गं लोकम्) सुख-मय लोक को (अभि नयन्तु) प्राप्त करावें।

उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः।
ता ओदनं दंपतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः २७

भा०—(उतः एव) और वे ही (प्रभ्वीः) उत्कृष्ट सामर्थ्य युक्त (उत) और (सं मितासः) उत्तम ज्ञानवान्, (उत शुक्राः) और दीप्तिमान्, (शुचयः) तथा पवित्र, काम, क्रोध, लोभ, मोह, छल, द्रोह आदि से रहित और (अमृतासः च) अमृतमय ज्ञान से युक्त, दीर्घायु, एवं ब्रह्मज्ञानी होते

हैं। (ताः) वे (प्रशिष्टाः) अधिक शिष्ट, सुसभ्य, सुशिक्षित, (सुनाथाः) उत्तम ऐश्वर्यवान्, एवं तपस्या युक्त, तपस्वी (आपः) शुद्ध जलों के समान स्वच्छ हृदय वाले आप्तजन, (शिक्षन्तीः) उत्तम शिक्षाएं और उपदेश आदि प्रदान करते हुए, (दम्पतीभ्यां) गृहस्थ के स्त्री पुरुषों के (ओदनम्) बल वीर्य को जलों के समान ही (पचत) परिपक्व करें। उनको दृढ़ सदाचारी बनावें।

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ।२८

भा०—(संख्याताः) संख्या में परिमित (स्तोकाः) जलबिन्दु जिस प्रकार पृथिवी पर आते हैं, उसी प्रकार (संख्याताः) उत्तम ज्ञान से युक्त (स्तोकाः) सुप्रसन्न, आप्तजन, (पृथिवीं सचन्ते) पृथिवी पर आते हैं या वे स्वयं (प्राणापानैः संमिताः) इस दुनिया के प्राण और अपानों की उपमा प्राप्त होते हैं, अर्थात् वे सबके प्राण और अपान के समान जीवन के आधार होते हैं, और वे (ओषधीभिः संमिताः) सबके भव-रोगों और मानस दुखों के हरने हारे होने के कारण ओषधियों के समान माने जाते हैं। वे (असंख्याताः) असंख्य (सुवर्णाः) उत्तम वर्ण, कान्ति से युक्त होकर (शुचयः) धर्म अर्थ और काम तीनों में शुचि, निर्लोभ, निष्कपट, तृष्णारहित, निष्काम होकर, (ओप्यमानाः) प्रजा के कार्यों में लगाये जाते हुए भी (सर्वं) सब प्रकार के (शुचित्वम्) शुद्ध, निर्दोष, निष्कपट व्यवहार को (व्यापुः) विशेष रूप से करते हैं।

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून्।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥ २९ ॥

भा०—ये प्रजाएं (तप्ताः) क्रुद्ध होकर, प्रतप्त हांडी के जलों के समान (उद्योधन्ति) खोल खोल कर परस्पर युद्ध करते हैं, (अभिवल्गन्ति) उनके समान बुद बुदाकर एक दूसरे के प्रति ललकारते हैं, (फेनम् अस्यन्ति)

खौलते हुए जल जिस प्रकार झाग ऊपर फेंकते हैं, उसी प्रकार वे एक दूसरे पर 'फेन', वज्र, तलवार एवं तोप आदि बड़े बड़े हननकारी अस्त्रों को फेंकते हैं और जल जिस प्रकार (बहुलान्) बहुत से (बिन्दून् अस्यन्ति) बिन्दुओं को उड़ाते हैं उसी प्रकार वे भी बहुत से 'बिन्दु' गोली, छर्रे आदि छोड़ते हैं। परन्तु हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! (योषा) जिस प्रकार स्त्री (पतिम् दृष्ट्वा) पति को देखकर (ऋत्वियाय) ऋतुधर्म के लिये (सम् भवति) उसके साथ मिलकर तन्मय रहती है और जिस प्रकार (आपः तण्डुलैः) जल खौलकर भी चावलों के साथ मिल भात के रूप में एक हो जाते हैं, उसी प्रकार आप लोग भी (तण्डुलैः) अपने मारने, ताड़ने, घेरने और तानने वालों के साथ भी समयानुसार कार्यवश अपने प्रेम के बल से (सम् भवत) सन्धि करके एक होकर रहो।

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम्।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ।३०।१५

भा०—हे राजन् ! (एनान्) इन (बुध्ने) नीचे हांडी के तले पर (सीदतः) ताप से तप्त हुए, तले लगे चावलों के समान नीचे भूतल पर या नीचे शोचनीय दशा में पड़े इन लोगों को (उत्थापय) ऊपर उठा और जिस प्रकार तले में लगे चावलों को कड़छी से जल द्वारा गीला करके ऊपर उठा दिया जाता है उसी प्रकार हे राजन् ! (अद्भिः) आप्त पुरुषों द्वारा ये नीचे गिरे लोग भी (आत्मानम्) अपने आपको उठावें और (यत्) जिस प्रकार (एतत्) इस (उदकम्) जल को (पात्रैः) चमस आदि पात्रों से (अमासि) माप लेता हूँ और उन पात्रों से ही (तण्डुलाः) भात के चावल भी (मिताः) माप लिये जाते हैं उसी प्रकार (यदि) मानों (इमाः) ये (प्रदिशः) नाना दिशाएं या नाना दिशाओं में रहने वाले (तण्डुलाः = वसवः) जीव भी (पात्रैः) पालन करने वाले शासकों द्वारा (मिताः) जान लिये, एवं वश कर लिये जाते हैं।

प्र य॑च्छ॒ पर्शुं॑ त्व॒रया ह॑रौ॒षमहिं॑सन्त॒ ओष॑धीर्दान्तु॒ पर्व॑न् ।
यासां॒ सोम॒: परि॑ रा॒ज्यं ब॒भूवाम॑न्युता नो वी॒रुधो॑ भवन्तु ॥३१॥

भा०—हे राजन् ! (पर्शुम्) फरसा (प्र यच्छ) मजबूती से पकड़ और (त्वरय) शीघ्रता कर, (ओषम् हर) उसे शीघ्र ले आ । लोग जिस प्रकार (ओषधीः) ओषधियों को (अहिंसन्तः) उनका मूल नाश करते हुए (पर्वन्) जोड़ पर से काट लेते हैं, उसी प्रकार तेरे वीर भी, (ओषधीः) प्रजा को संताप देने वालों के मूलों की रक्षा करते हुए, या प्रजा का (अहिंसन्तः) नाश न करते हुए, (पर्वन्) पोरु २ पर उनके मर्म को (दान्तु) काटें । (यासाम्) जिन प्रजाओं के (राज्यं परि) राज्य के ऊपर (सोमः) चन्द्र के समान आह्लादकारी राजा, (परि बभूव) राज्य करता है, वे (वीरुधः) लताओं के समान नाना प्रकार की व्यवस्थाओं से रुद्ध या व्यवस्थित प्रजाएं, (नः) हमारे प्रति (अमन्युता) क्रोध से रहित (भवन्तु) हों ।

नवं॑ ब॒र्हिरो॑द॒नाय॑ स्तृणीत प्रि॒यं हृ॒दश्चक्षु॑षो व॒ल्ग्व॑स्तु ।
तस्मि॑न् दे॒वाः स॒ह दैवी॑र्विशन्त्वि॒मं प्राश्न॑न्त्वृ॒तुभि॒र्नि॒षद्य॑ ॥ ३२ ॥

भा०—हे भद्र पुरुषो ! (नवं बर्हिः) नये दाभ को (ओदनाय) भात की हांडी रखने के लिए (स्तृणीत) विछा दो । राजपक्ष में—(नवं बर्हिः) इस नवीन प्रजा या नये विजित देश को (ओदनाय) वीर्यवान राजा के लिये (स्तृणीत) फैला दो और यह राजा और राष्ट्र (हृदः) प्रजा के हृदय को (प्रियं) प्रिय और (चक्षुषः) आंख को (वल्गुः) सुन्दर (अस्तु) लगे । (तस्मिन्) उस राष्ट्र में (देवाः) राजा और विद्वान् लोग (देवीः सह) अपनी देवीरूप रानियों या दिव्य-गुण युक्त प्रजाओं के साथ (विशन्तु) प्रवेश करें और (निषद्य) उत्तम रीति से स्थिर होकर (इमम्) इस राष्ट्र का भी (ऋतुभिः) ऋतुओं के अनुसार अथवा राजसभा के सदस्यों के साथ (प्र अश्नन्तु) उत्तम रीति से भोग करें ।

'बर्हिः'—प्रजा वै बर्हिः । कौ० ५ । ७ ॥ क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बर्हिः । श० १।३।४।१०॥ अयं वै लोको बर्हिः । श० १।४।१२४॥

वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः
त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम् ॥३३॥

भा०—हे (वनस्पते) महावृक्ष के समान सबको अपनी छाया में आश्रय देने हारे राजन् ! तू (स्तीर्णम् बर्हिः आसीद) इस आसन के समान विस्तृत प्रजाओं पर विराजमान हो और (अग्निष्टोमैः) अग्नि अर्थात् राजा के सद्गुणों के बतलाने वाले वेद के सूक्तों और (देवताभिः) विद्वानों के द्वारा (संमितः) उत्तम रीति से पूजित हो। जिस प्रकार (त्वष्टा इव) उत्तम शिल्पी अपने (स्वधित्या) बसौले से लकड़ी को घढ़ घढ़कर उसका (रूपं सुकृतम्) उत्तम रूप बना देता है उसी प्रकार इस राजा रूप वनस्पति को भी (त्वष्टा) परमात्मा ने अपने (स्व-धित्या), ऐश्वर्य के धारण सामर्थ्य से (रूपं सुकृतम्) रूप, कान्ति, तेज से उत्तम बनाया है। (एना) इसके साथ (एहाः) सहोद्योग करने वाले इसके सहोद्योगी शासक (पात्रे) अपने पालन करने वाले इस राजा में ही आश्रित होकर उसके (परि ददृश्राम्) चारों ओर विराजते दिखाई देते हैं।

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै ।
उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥ ३४ ॥

भा०—(निधिपाः) पृथ्वीरूप राष्ट्र या धन का पालन करने वाला राजा, (षष्ट्यां शरत्सु) साठवें वर्ष तक (पक्वेन) अपने परिपक्व सामर्थ्य से (स्वः) स्वर्ग के समान सुखकारी राज्य को (अश्नवातै) भोग करने की (अभि इच्छात्) इच्छा करे। अर्थात् राजा अपनी आयु के ६० वर्ष तक पृथ्वी को वश कर उसका भोग करे और (एनम्) इसका आश्रय लेकर (पितरः पुत्राः च) उसके वृद्ध मां बाप और आचार्य लोग और छोटे पुत्र लोग (उपजीवन्) अपना जीवन व्यतीत करें। (एतम्) उसको (अग्नेः)

अग्नि के समान शत्रु के सन्तापकारी राजा के, (अन्तरम्) परम, सबसे अन्तिम पद प्राप्त करने के पश्चात्, (स्वर्गम्) स्वर्ग के समान सुखमय राज्य को (गमय) प्राप्त करा।

'निधिपाः'—पृथिवी ह्येष निधिः। श० ६ । ५ । २ । ३ ॥ तं पाति इति निधिपाः पृथ्वीपालः।

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु । तं त्वा दंपती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ।३५

भा०—हे राजन्! (धर्त्ता) तू समस्त पृथ्वी या राष्ट्र का धारण करने हारा होकर (पृथिव्याः) पृथिवी के (धरुणे) धारण करने के कार्य में या प्रतिष्ठित पद पर (ध्रियस्व) स्थापित किया जाय। (अच्युतं) अपने कर्त्तव्यपथ से कभी च्युत न होने वाले (त्वा) तुझको भी (देवताः) राजसभा के सदस्यगण (च्यावयन्तु) तुझे अपने पद से च्युत करने में समर्थ हैं। (तं) ऐसे प्रमादशून्य (त्वा) तुझको (जीवपुत्रौ) अपने जीवित पुत्रों सहित (जीवन्तौ) स्वयं जीते हुए (दम्पती) गृहस्थ स्त्रीपुरुष पतिपत्नी भाव से बद्ध होकर, (अग्नि धानात् परि) अपने गृह में अग्नि--आधान करने अर्थात् ईश्वरोपासना या देवपूजा से उतर कर अन्य लौकिक सब कार्यों से ऊपर तुझे (उद् वासयातः) उत्कृष्ट पद पर स्थापित करें।

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान् । वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अध्युद्धरैनम् ॥ ३६ ॥

भा०—हे राजन्! (सर्वान् समागाः) सब मनुष्यों को तू प्राप्त हो और अपने उत्तम गुणों से (लोकान्) समस्त मनुष्यों को (अभिजित्य) वश करके (यावन्तः कामाः) उनकी जितनी अभिलाषाएं हैं (तान् सम्-अतीतृपः) उन सबको सन्तुष्ट कर। पुनः जैसे भात की हांडी में 'आयवन' नामक घी आदि मिलाने का चमस और 'दर्वि' कड़छी घुमाते हैं और फिर एक बड़े थाल में उस भात को निकाल लिया जाता है उसी प्रकार

(आयवनम्) शत्रु और राष्ट्र के हानिकारक पुरुषों के नाश करने वाला पोलीस बल और सेनाबल या दण्डबल और (दर्विः) दुष्टों के गढ़ों का विदारण करने वाला सेनाबल ये दोनों (वि गाहेथाम्) सर्वत्र विचरण करें और हे राजन् ! (एनम्) इस राष्ट्र के भार को (एकस्मिन् पात्रे) पालन करने में समर्थ एक 'महामात्य' या 'महापात्र' नामक पुरुष पर (अधि उद्धर) उत्तम रूप से स्थापित कर ।

उप॑ स्तृणीहि प्र॒थय॑ पु॒रस्ता॑द् घृ॒तेन॒ पात्र॑म॒भि घा॑रयै॒तत् ।
वा॒श्रेवो॒स्रा तरु॑णं स्तन॒स्युमि॒मं दे॑वासो अ॒भिहिङ्कृ॑णोत ॥ ३७ ॥

भा०—हे कर्त्तः ! तू ओदन को (उपस्तृणीहि) घृत से आच्छादित कर । (पुरस्तात् प्रथय) आगे को फैला और वह (घृतेन) घृत से (एतत् पात्रम् अभि धारय) इस पात्र को भर । राजपक्ष में—हे राजन् ! तू अपने वीर्य या सामर्थ्य को (उप स्तृणीहि) तेज से सम्पन्न कर । (पुरस्तात् प्रथय) आगे को विस्तृत कर । (पात्रम्) पालन करने हारे महामात्य को या पालन करने योग्य राष्ट्र को (घृतेन) अपने समान प्रदीप्त तेज से (अभि-धारय) युक्त कर । (स्तनस्युम्) दूध पान करने के इच्छुक (तरुणं) बछड़े को देखकर (वाश्रा उस्रा इव) रंभारती हुई दुधार गाय जिस प्रकार (अभि-हिंकृणोति) प्रेम से 'हुम् हुम्' करती है उसी प्रकार (इमं) इस ओदन रूप वीर्य सम्पन्न परम पद में स्थित प्रजापति रूप राजा को देखकर हे (देवासः) राजाजनो, शासको ! आप लोग (अभिहिंकृणोत) अपने प्रसन्नतासूचक शब्द करो ।

उपा॑स्तरी॒रक॑रो लो॒कमे॒तमु॒रुः प्र॑थताम॒स॑मः स्व॒र्गः ।
तस्मि॑ञ्छ्रयातै महि॒षः सु॑प॒र्णो दे॒वा ए॑नं दे॒वता॑भ्यः प्र य॑च्छान् ॥ ३८

भा०—हे राजन् ! तू (एतम्) इस (लोकम्) लोक को (अकरः) स्वयं उत्तम रूप से बनाता है और (उप अस्तरीः) स्वयं उसको फैलाता । यह लोक (असमः स्वर्गः) जिसके समान दूसर कोई नहीं ऐसा

सुखमय स्थान (उरुः प्रथताम्) खूब बड़े और फैले विस्तृत हो। (तस्मिन्) उस लोक में (सुपर्णः) उत्तम पालन करने वाला और ज्ञानसाधनों से सम्पन्न (महिषः) महान् शक्तिशाली राजा स्वयं (श्रयाते) विद्यमान है। (एनं) उस राष्ट्र को (देवाः) विद्वान् लोग (देवताभ्यः) स्वयं देवता के समान पुरुषों के हाथ (प्र यच्छान्) सौंप देते हैं।

यद्यज्जाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥३९॥

भा०—हे पुरुष ! (जाया) पत्नी (त्वत) तुझ पति से (परः परः) दूर दूर रहकर (यत् यत्) जो जो वस्तु या जिस जिस बलवीर्य को (पचति) पकाती है, वीर्य को परिपक्व करती है और हे (जाये) पत्नि ! (त्वत् तिरः) तुझसे ओझल होकर (पतिः) पति जो कुछ (पचति) पकाता है, वीर्य को परिपक्व करता है। (तत्) उसको (संसृजेथाम्) तुम दोनों पुत्रोत्पादन के कार्य में व्यय करो। हे स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (सह) एक साथ मिलकर (एकं लोकम्) एक लोक (सम्पादयन्तौ) बनाते हुये रहते हैं, अतः (तत्) वह परिपक्व वीर्य या भोग्य पदार्थ भी (वां) तुम दोनों का (सह अस्तु) एक साथ ही हो।

सह नाववतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥—तैत्तिरीय० २।१।१॥

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ४०(१६

भा०—(यावन्तः) जितने भी (अस्याः) इस हमारी धर्मपत्नी से (अस्मत्) और हमारे वीर्य से उत्पन्न (पुत्राः) पुत्र (पृथिवीं सचन्ते) पृथिवी को प्राप्त होते हैं और (ये) जो (परि सं बभूवुः) इधर उधर चारों ओर फैल कर बस गये हैं, या जो अपने योग्य जोड़े मिलकर और भी संतान उत्पन्न कर लेते हैं (तान् सर्वान्) उन सबको, वे पूर्व के मां बाप

(पात्रे) एक गृह या भोजन के पात्र में (उप ह्वयेथाम्) अपने समीप बुला लें और (शिशवः) समस्त शिशु, बालक उन मां बाप को (नाभिं) एक सूत्र में बांधने वाले या एक नाभि, उत्पत्ति स्थान (जनानाः) जानते हुए (सम् आयान्) एक स्थान पर एकत्र हुआ करें।

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ठ्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥४१

भा०—(याः) जो (मधुना) मधुर और आनन्द से (प्रपीनाः) खूब बढ़ी हुई, (घृतेन मिश्राः) घी दूध आदि पदार्थों से युक्त, (अमृतस्य नाभयः) परमानन्द या शतवर्ष के दीर्घ जीवन को उत्पन्न करने वालीं, (वसोः) देह में वास करने वाले आत्मा की (धाराः) धारणा शक्तियां एवं जीवन की सुख की धाराएं हैं, (ताः) उनको (स्वर्गः) स्वर्गमय लोक (अवरुन्धे) अपने भीतर सुरक्षित रखता है। ऐसे स्वर्ग को (निधिपाः) वीर्यरूप निधि और अक्षय सुखों के खजानों की रक्षा करने वाला ब्रह्मचारी, या गृहस्थ, या पृथ्वी का पालक राजा स्वयं (षष्ठ्यां शरत्सु) साठ वर्ष की अवस्था में (अभि इच्छात्) प्राप्त करता है।

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥४२॥

भा०—(निधिपाः) पृथ्वी को पालन परने वाला राजा (एनं) उस साम्राज्य रूपं (निधिम्) पृथ्वी के खजाने को (अभि इच्छात्) प्राप्त करे और (ये) जो (अन्ये) दूसरे (अनीश्वराः) ऐश्वर्य से हीन निर्बल पुरुष हैं वे (अभितः) उस राजा के चारों ओर उसके आश्रित होकर (सन्तु) रहें। (अस्माभिः) हम लोग स्वयं (स्वर्गः) इस स्वर्ग को (दत्तः) उस राजा को प्रदान करते और (निहिताः) स्वयं बनाते हैं। यह राजा (त्रिभिः काण्डैः) तीन प्रकार की व्यवस्थाओं से (त्रीन् स्वर्गान्) तीनों सुखमय लोकों के (अरुक्षत्) ऊपर चढ़े, उन सब पर शासन करे।

बालक, युवक और वृद्ध इन तीनों के लिये तीन प्रकार की व्यवस्थाएं हों। अथवा तीन काण्ड तीन वेद हैं। अथवा उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन अथवा त्रिवर्णों की तीन व्यवस्थाएं। धर्म, अर्थ, काम इनकी साधना की तीन व्यवस्थाएं। इसी प्रकार उनके तीन क्षेत्र तीन स्वर्ग हैं, आध्यात्मिक, गृहस्थ और राष्ट्र ये तीन स्वर्ग हैं। राजा सबका शासन अपने हाथ में रक्खे।

अ॒ग्नी रक्षस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पास्त।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥४३॥

भा०—(यत्) जो (विदेवं) विद्वानों और देवस्वभाव के उत्तम पुरुषों और राजा अर्थात् राजनियम के विपरीत आचरण करने वाला (रक्षः) दुष्ट पुरुष जीव और रोग है उसको (अग्निः) अग्नि के समान तापकारी राजा (तपतु) सन्तप्त करे। (इह) इस राष्ट्र में (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाला और (पिशाचः) मांसभक्षी पुरुष (मा प्र पास्त) कभी जलपान भी प्राप्त न कर पावे। (एनम्) उसको हम (नुदामः) परे भगा दें। (अस्मत्) हम अपने से (अप रुध्मः) परे ही रोक दें, पास न आने दें। (आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी और (अंगिरसः) शरीर के विज्ञानवेत्ता अथवा अन्य विविध विज्ञानों के वेत्ता लोग (एनम्) उसको (सचन्ताम्) पकड़ें।

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम् ॥ ४४ ॥

भा०—(आदित्येभ्यः) आदित्य के समान तेजस्वी पुरुषों और (अङ्गिरोभ्यः) ज्ञानी पुरुषों के लिये, (घृतेन) घृत से (मिश्रम्) युक्त (मधु) अर्थात् मधुपर्क जिस प्रकार अतिथियों को दिया जाता है उसी प्रकार मैं भी (घृतेन मिश्रं मधु) तेज से युक्त ज्ञान (प्रति वेदयामि) प्रदान करता हूँ। उसी प्रकार हे पत्नि पतियो ! तुम दोनों भी (शुद्धहस्तौ) शुद्ध

हाथों से (ब्राह्मणस्य) वेद के जानने वाले विद्वान् का पूर्वोक्त मधुपर्क से आदर सत्कार करो। उसको बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये (सुकृतौ) उत्तम आचारवान् हुए तुम दोनों (एतं स्वर्गम्) इस पूर्वोक्त सुखमय लोक या स्थान को (अपि इतम्) प्राप्त करो।

इ॒दं प्राप॑मुत्त॒मं काण्ड॑मस्य॒ यस्मा॑ल्लो॒कात् प॑रमे॒ष्ठी स॒माप॑ ।
आ सि॑ञ्च स॒र्पिर्घृ॒तव॒त् सम॑ङ्ग्ध्ये॒ष भा॒गो अङ्गि॑रसो नो॒ अत्र॑ ॥४५॥

भा०—मैं राजा (इदम्) इस (उत्तमम्) उत्तम (काण्डम्) स्तम्भरूप वेद को (आपम्) प्राप्त करता हूँ, (यस्मात्) जिसके (लोकात्) प्रकाश से (परमेष्ठी) परमस्थान पर स्थित परमात्मा (सम् आप) समस्त संसार को अपने वश करता है। हे पुरुष ! तू (घृतवत् सर्पिः) घृत से युक्त मधु को (सम् अङ्घि) मिश्रित कर। (अत्र) यहां (नः) हमारा (एषः) यह (आङ्गिरसः) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों का (भागः) उचित भाग है।

स॒त्याय॑ च॒ तप॑से दे॒वता॑भ्यो नि॒धिं शे॑व॒धिं परि॑ दद्म ए॒तम् ।
मा नो॑ द्यू॒तेऽव॑ गा॒न्मा समि॑त्यां॒ मा स्मा॒न्यस्मा॒ उत्सृ॑जता पु॒रा मत् ॥४६॥

भा०—हम राष्ट्रवासी लोग (निधिम्) पृथ्वी और पृथ्वी से प्राप्त अन्य नाना द्रव्य रूप (शेवधिम्) खजानों को, (सत्याय) सत्य और (तपसे) तप के कारण (देवताभ्यः) देवसदृश पुरुषों के हाथों सौंपते हैं। वे इस बात के जिम्मेदार हैं कि यह सब खजाना (द्यूते) खेल तमाशे और जूए के शौक या व्यसन में (मा अव गात्) न निकल जाय। (मा समित्याम्) आपस के मेलों और गोठों में भी यह राष्ट्र का धन नष्ट न हो और (पुरा मत्) मेरे सामने हे खजाने के रक्षक भद्र पुरुषो ! (अन्यस्मा) और किसी मेरे शत्रु के हाथों इस खजाने को (मा उत् सृजत) मत दे डालना।

अ॒हं प॑चाम्य॒हं द॑दामि॒ ममे॑दु॒ कर्म॑न् क॒रुणेऽधि॑ जा॒या ।
कौमा॑रो लो॒को अ॑जनिष्ट पु॒त्रो॒३॒ऽन्वार॑भेथां॒ वय॒ उत्त॑राव॑त् ॥४७॥

भा०—(अहम्) मैं राजा (पचामि) अपने वज्र और वीर्य को खूब परिपक्व करूं। क्योंकि (मम इत्) मेरे ही (करुणे) उत्साह से पूर्ण प्रयत्न और (कर्मन्) कार्य व्यवहार के (अधि) ऊपर (जाया) स्त्री और उसके समान पृथ्वी का आश्रय है। वीर्य के परिपक्व पर ही जिस प्रकार (कौमारः) कुमार (पुत्रः) पुत्र उत्पन्न होता है उसी प्रकार (लोकः) यह लोक राजा के पुत्र के समान (अजनिष्ट) पृथ्वी पर खूब हृष्ट पुष्ट रूप से उत्पन्न होता है। हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (उत्तरावत्) उत्कृष्ट कर्मों से युक्त (वयः) अपना जीवन (अनु आरभेथाम्) बराबर बनाये रक्खो।

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममर्मान एति।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ॥ ४८ ॥

भा०—(अत्र) इस कार्य में (न किल्बिषम्) कोई पाप नहीं और (न आधारः) और न कोई आधार ही है कि (यत्) राजा जो (मित्रैः समम्) अपने मित्रों के संग (अमानः न एति) मान रहित होकर नहीं आता, प्रत्युत बड़े भारी मान सहित आता है। इसका कारण यह है कि (नः) हमारा राजा (अनूनं पात्रम्) पालन करने में समर्थ, एवं शक्तिशाली है कि जिसमें कोई त्रुटि नहीं है इसलिये वह अन्यों की सहायता की अपेक्षा नहीं करता। (पक्वः) परिपक्व भात जिस प्रकार (पक्तारम् आविशति) पकाने वाले के उदर के भीतर ही प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार (पक्वः) परिपक्व राजा भी (पक्तारं) उसे पकाने वाली प्रजा में ही (आविशति) प्रविष्ट होकर रहता है।

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति।
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥४९॥

भा०—हे पुरुषो ! हम लोग (प्रियाणाम्) अपने प्रिय बन्धु मित्र और माता पिता, गुरु आदि को (प्रियम्) प्रिय लगने वाले हितकार्य ही (कृणवाम) करें और (यतमे) जो कोई लोग (द्विषन्ति) द्वेष करते हैं

या परस्पर प्रेम नहीं करते (ते) वे (तमः यन्तु) सदा अन्धकार में पड़ें। (धेनुः अनड्वान्) दुधार गाय और गाड़ी खैंचने में समर्थ मजबूत बैल (आयत् एव) आते हुए (वयः वयः) नाना प्रकार के अन्न और दीर्घ जीवन ही (पौरुषेयम् मृत्युम्) पुरुषों की असामयिक मृत्यु को (अप नुदन्तु) दूर करें।

समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून्।
यावन्तो देवा दिव्या३तपन्ति हिरण्यं ज्योतिःपचतो बभूव ५०(१७)

भा०—(अग्नयः) अग्नि के समान ज्ञान से प्रकाशमान विद्वान् (अन्यः अन्यम्) एक दूसरे को (संविदुः) भली प्रकार जानें उनमें से (यः) जो कोई (ओषधीः सचते) ओषधियों को एकत्र करता अर्थात् वैद्य का कार्य करता है और (यः च) जो कोई (सिन्धून) नदियों, समुद्रों को (सचते) प्राप्त करता उनपर व्यापार आदि करता है वे भी एक दूसरे को भली प्रकार जानें। (यावन्तः) जितने भी (देवाः) प्रकाशमान पिण्ड (दिवि) आकाश में (आतपन्ति) प्रकाशित होते हैं उनके समान ही जो विद्वान् ज्ञान में प्रकाशित होते हैं उनका और (पचतः) अपने वीर्य को परिपक्व करने हारे तपस्वी ब्रह्मचारी का तेज (हिरण्यं ज्योतिः) सुवर्ण के समान सुंदर उज्वल (बभूव) हो जाता है।

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥ ५१ ॥

भा०—(त्वचाम्) समस्त त्वचाओं में से (एषा) यह बिना लोम की त्वचा (पुरुषे संबभूव) इस मनुष्य पर ही लगी है। (ये अन्ये पशवः) और जो अन्य पशु हैं। (सर्वे) वे सब (अनग्ना) नंगे न रह कर बालों से ढके हैं। इसलिये हे स्त्री पुरुषो! गृहस्थ लोगो! तुम भी (क्षत्रेण) अपने देह को क्षति होने से बचाने वाले घर के बने वस्त्र से, (परिधापयाथ) ढांका करो। (ओदनस्य मुखम्) ओदन रूप वीर्य के (मुखम्) मुख्य-स्वरूप (वासः) वस्त्र को तुम दोनों स्त्री पुरुष (अमा उतम्) मिलकर करो।

यद॒क्षेषु॑ वदा॒ यत् समि॑त्यां॒ यद् वा॒ वदा॒ अनृ॑तं वित्तका॒म्या ।
स॒मा॒नं तन्तु॑म॒भि सं॒वसा॑नौ तस्मि॒न्त्सर्वं॒ शम॑लं सादयाथः ॥५२॥

भा०—(अक्षेषु) द्यूत क्रीड़ा के अवसरों पर (यत् अनृतं वदाः) जो झूठ बोलते हो, (समित्याम्) सभा में (यत् अनृतं) जो असत्य बोलते हो और (यत् वा अनृतम्) जो असत्य (वित्तकाम्या) धन की चाह से (वदाः) बोलते हो, हे स्त्री पुरुषो ! (समानं) एक समान (तन्तुम्) वस्त्र के समान राज्य तन्त्र को (संवसानौ) पहने या धारण करते हुए तुम (सर्वम् शमलम्) समस्त पाप को (तस्मिन् सादयाथः) उसे लगाते हो। अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र पहन कर जब कोई भी मैला करता है तो वह मैल जैसे वस्त्र पर आ लगती है उसी प्रकार एक ही तन्तु = तन्त्र या राज्य शासन में रहते हुए जो लोग भी असत्य व्यवहार वे खेलों सभाओं और धन के व्यापारों में बोलते हैं वह सब पाप उस राष्ट्र के आच्छादक वस्त्र रूप क्षत्र = राज्य शासन पर ही आ लगते हैं। यह राजा का दोष है कि प्रजा परस्पर असत्य बोलती, चोरी करती और पाप करती है।

व॒र्षं व॑नु॒ष्वापि॑ गच्छ दे॒वांस्त्व॒चो धू॒मं पर्यु॒त्पा॑तयासि ।
वि॒श्वव्य॑चा घृ॒तपृ॑ष्ठो भवि॒ष्यन्त्सयो॑निर्लो॒कमुप॑ या॒ह्येतम् ॥ ५३ ॥

भा०—हे राजन् ! वस्त्र से ही तू (वर्षं वनुष्व) वर्षा पर विजय प्राप्त कर अर्थात् वस्त्र का छत्र बनाले। (अपि) और (देवान् गच्छ) विद्वानों और राजाओं के पास सुन्दर वस्त्र पहन कर जा। (धूमम्) धूम जिस प्रकार अग्नि के ऊपर उठा करता है इसी प्रकार (त्वचः) वस्त्रों को झण्डे के रूप में (परि उत् पातयासि) ऊपर उड़ा, फरफरा। तू (विश्वव्यचाः) सर्वत्र प्रसिद्ध होकर (घृतपृष्ठः) तेजस्वी (भविष्यन्) होने की इच्छा करता हुआ (सयोनिः) अपने उद्भवस्थान इस राष्ट्र के प्रजाजनों सहित (एतम्) इस (लोकम्) उत्तम राष्ट्र को (उपयाहि) प्राप्त कर।

तन्वं॑ स्व॒र्गो ब॑हु॒धा वि च॑क्रे॒ यथा॑ वि॒द आ॒त्मन्न॒न्यव॑र्णाम् ।
अपा॑जैत् कृ॒ष्णां रुश॑तीं पुना॒नो या लोहि॑नी॒ तां ते॑ अ॒ग्नौ जु॑होमि ५४

भा०—(स्वर्गः) सुखमय लोक, मोक्ष में जाने वाला पुरुष (तन्वं) अपनी देह को (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि चक्रे) विकृत करता है उसको नाना प्रकार से बदल लेता है। (यथा) जब वह (आत्मन्) अपने आत्मा में उसको (अन्यवर्णाम्) अपने से भिन्न वर्ण को देखता है। तब अपनी वास्तविक (रुशतीम्) दीप्तिमती, ज्योतिष्मती प्रज्ञा को (पुनानः) और अधिक पवित्र करता हुआ (कृष्णाम्) अपनी काली, पापमयी तामसी वृत्ति को (अप अजैत्) दूर हो नष्ट कर देता है। और मैं परमात्मा हे जीव! (ते) तेरी (या) जो (लोहिनी) लाल रंग की राजसी वृत्ति है। (ताम्) उसको (अग्नौ) अग्नि, अपने ज्ञानमय तेज में (जुहोमि) स्वाहा करता हूँ।

प्राच्यै त्वा दिशे॒ऽग्नयेऽधिपतयेऽसि॒ताय॑ रक्षि॒त्र आ॑दि॒त्यायेषु॑मते
ए॒तं परि॑ दद्म॒स्तं नो॑ गोपायता॒स्माक॒मैतोः॑ ।
दि॒ष्टं नो॒ अत्र॑ ज॒रसे॒ नि नेषज्ज॒रा मृ॒त्यवे॒ परि॑ णो ददा॒त्वथ॑
प॒क्वेन॑ स॒ह सं भ॑वेम ॥ ५५ ॥

भा०—हे राजन् (प्राच्यै) प्रकृष्ट, अति उत्तम ज्ञान प्राप्त कराने वाले (दिशे) समस्त पदार्थों को और कर्मों का उपदेश करने वाले प्राची दिशा के समान प्रकाश से युक्त (त्वा) तुझे, (अग्नयेऽधिपतये) अग्नि के समान दुष्ट शत्रु के सन्तापकारी अधिपति स्वरूप तुझे, (असिताय रक्षित्रे) स्वयं बन्धन रहित और रक्षा करने हारे तुझे और (आदित्याय) सूर्य के समान चारों दिशाओं में प्रखर किरणों के समान (इषुमते) अपने तीक्ष्ण बाणों से चतुर्दिगन्त विजयी तुझे, (एतम्) हम इस राष्ट्र और इस देह का (परिदद्म) प्रदान करते हैं। (नः) हमारे (तम्) इस धरोहर की (गोपायत) आप लोग रक्षा करो। (आ अस्माकं एतोः) जब तक हम आपके पास न पहुँच जायं (अत्र) इस राष्ट्र में (नः) हमारे (दिष्टम्) निश्चित प्रारब्ध जीवन को तू (जरसे) वृद्ध अवस्था तक (निनेषत्) नियम से पहुँचा।

(जरा) वृद्ध अवस्था ही (नः) हमें (मृत्यवे) मृत्यु को (परिददातु) सौंप दे। (अथ) और उसके पश्चात् हम (पक्वेन सह) परिपक्व ब्रह्मज्ञान के साथ (सम् भवेम) पुनः अगले जीवन में उत्पन्न हों।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते। एतं०। ०॥ ५६॥

भा०—(दक्षिणायै त्वा दिशे) दक्षिण दिशा के समान बल-शाली, (इन्द्राय अधिपतिये) ऐश्वर्यवान् स्वामी, (तिरश्चिराजये रक्षित्रे) तिर्यग् जन्तुओं की नाना पंक्तियों से सुशोभित, पशुपति, स्वरूप सर्व-रक्षक और (यमस्य इषुमते) सर्व नियामक मृत्यु के समान सर्व प्रेरक या बाणधारी तुझको (एतं परि दद्मः०) हम यह राष्ट्र सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते। एतं ०। ०॥ ५७॥

भा०—(प्रतीच्यै त्वा दिशे) पश्चिम दिशा के समान सबको अपने में अस्त करने वाले, (वरुणाय अधिपतये) सबसे श्रेष्ठ, सब पापियों और पापों के निवारक, वरुणरूप अधिपति, (पृदाकवे रक्षित्रे) सेनाओं को अपनी आज्ञा में चलाने वाले रक्षक और (अन्नाय इषुमते) अन्न, भोजन और प्राण के समान सबके प्रेरक तुझको (एतं परि दद्मः० इत्यादि) हम यह राष्ट्र और हे भगवन्! यह देह सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै। एतं०। ०॥ ५८॥

भा०—(उदीच्यै दिशे) उत्तर दिशा के समान, उन्नत विशाल, (सोमाय अधिपतये) शान्तिदायक चन्द्र और सोमलता के समान शान्ति-दायक स्वामी, (स्वजाय रक्षित्रे) स्वतः उत्पन्न, स्वयंभू, स्वयं अपने अमित सामर्थ्य से बने, सबके रक्षक, (अशन्यै इषुमत्यै) विद्युत् के समान इषु बल से सम्पन्न तुझको, (एतं तं परिदद्मः०) हम यह राष्ट्र और हे भगवन्! यह देह सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कुल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः। एतं०। ०॥ ५९॥

भा०—(ध्रुवायै त्वा दिशे) ध्रुवा पृथ्वी और उसकी तरफ की सदा स्थिर रहने वाली दिशा के समान अचल, (विष्णवे अधिपतये) सर्वव्यापक अधिपति, (कल्माषग्रीवाय रक्षित्रे) हरे लाल नीले श्वेत आदि नाना वर्ण के ओषधि वृक्ष वनस्पतियों की नाना मालाओं को मानो अपने गले में धारण करने वाले रक्षक और (ओषधीभ्यः इषुमतीभ्यः) ओषधियां जिस प्रकार रोगों और रोग जन्तुओं को अपने वीर्य से दूर करती हैं उसी प्रकार सब बाधाओं को दूर करने हारे तुझको (एतं नः परि दद्मः० इत्यादि) हम अपना राष्ट्र सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥६०॥ (१८)

भा०—(ऊर्ध्वायै त्वा दिशे) ऊर्ध्व दिशा के समान अति उन्नत, (बृहस्पतये अधिपतये) बृहत् = महान् लोकों के स्वामी अधिपति, (श्वित्राय रक्षित्रे) श्वित्र, अति श्वेत, परिशुद्ध स्वरूप, सर्व पापरहित, रक्षक और (वर्षाय इषुमते) वर्षण के समान समस्त कामनाओं के पूरक और सबके प्रेरक तुझको (एतं तं परिदद्मः०) हम यह देह या राष्ट्र सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

[तत्रैकं सूक्तम्, षष्टिश्च ऋचः]

[४] 'वशा' शक्ति

ऋषिः-कश्यपः॥ देवता—मन्त्रोक्ता वशा। वशा सूक्तम्॥ छन्दः—१–६, ८–१९, २१–३१, ३३–४१, ४३–५३ अनुष्टुभः, ७ भुरिग्, २० विराड्, ३२ उष्णिग्, बृहतीगर्भा, ४२ बृहतीगर्भा। त्रिपञ्चाशदृचं सूक्तम्॥

ददामीत्येव ब्रूयादनु चैनामभुत्सत।
वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत् प्रजावदपत्यवत् ॥ १ ॥

भा०—(वशाम्) 'वशा' को (याचद्भ्यः) मांगने-हारे (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न विद्वानों को (ददामि इति एव) देता हूँ ऐसा ही (ब्रूयात्) कहे और वे (अनु च) उसके बाद (एनाम्) इस वशा को (अभुत्सत) पहिचान लें, उसका ज्ञान कर लें। 'वशा' का स्वरूप देखो 'वशासूक्त' अथर्व० कां० १० । सू० १० । मं० १–३४ ॥

प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोप दस्यति ।
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (याचद्भ्यः आर्षेयेभ्यः) मांगने वाले ऋषियों के पुत्रों और शिष्यों को (देवानां) देवों के योग्य (गाम्) गौ को (न दित्सति) नहीं प्रदान करना चाहता (सः प्रजया) वह अपनी प्रजा को (विक्रीणीते) बेच खाता है और (पशुभिः च उप दस्यति) और पशुओं से रहित होकर विनष्ट हो जाता है।

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणया काटमर्दति ।
बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम् ॥ ३ ॥

भा०—(कूटया) मिथ्या रूप वाली, बिना सींग की 'वशा' से पुरुष के (सं शीर्यन्ते) घर और घरबार चकनाचूर हो जाते हैं। (श्लोणया) लंगड़ी लूली से देने वाला स्वयं (काटम्) गढ़े में (अर्दति) गिरता है। (बण्डया) कटी फटी, अंगहीन गौ से (गृहाः दह्यन्ते) घर जल जाते हैं, (काणया) चक्षुहीन 'गौ' अर्थात् निरुक्त व्याकरणादि व्याख्या के बिना वेदवाणी के उपदेश देने से उसका (स्वम् दीयते) अपना ही धन नष्ट हो जाता है।

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम् ।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्यु च्यसे ॥ ४ ॥

भा०—इस वशा के (शक्नः) मल के (अधिष्ठानात्) स्थान, गुदा से (विलोहितः) विलोहित नाम का ज्वर (गोपतिम् विन्दति) गौ के स्वामी को पकड़ लेता है। (तथा) और उसी प्रकार (वशायाः) 'वशा' के

(संविद्यम्) साथ रहने वाले को भी 'विलोहित' नामक ज्वर पकड़ लेता है। (हि) क्योंकि हे वशे ! तू (दुरदभ्ना) दुःख, कठिनता से भी कभी प्राण न छोड़ने हारी अर्थात् 'दुराधर्षा' (उच्यसे) कही जाती है।

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति।
अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति ॥ ५ ॥

भा०—(अस्याः) इस वशा के (पदोः अधिष्ठानात्) पैरों के स्थान से (विक्लिन्दुःनाम) 'छाजन' नामक रोग (विन्दति) गौ के स्वामी को हो जाता है और वह गाय (याः) जिन अन्य गौओं को (मुखेन) मुख से (उप जिघ्रति) सूंघ लेती हैं वे सब (अनामनात्) विना जाने ही (संशीर्यन्ते) विनाश को प्राप्त हो जाती हैं।

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (अस्याः) इस वशा के (कर्णौ) दोनों कानों को (आस्कुनोति) पीड़ित करता है (सः) वह (देवेषु) विद्वानों के ऊपर (आ वृश्चते) प्रहार करता है और जो वशा के कानों पर गरम सलाख या चाकू कैंची से उसका कान काट कर या दाग कर (मन्यते) यह समझता है (इति) कि (लक्ष्म कुर्वे) मैं केवल उस गाय को पहचानने के लिये यह चिह्नमात्र करता हूँ तो वह भी (स्वम्) अपने धन को (कनीयः कृणुते) स्वल्प कर लेता है, कम कर लेता है।

यदस्याः कस्मै चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥ ७ ॥

भा०—और (यद्) यदि (कश्चित्) कोई आदमी (कस्मैचिद् भोगाय) किसी अपने भोग-सिद्धि के लिये (अस्याः बालान्) इस वशा के बालों को (प्रकृन्तति) काट लेता है (ततः) तो फिर उसके (किशोराः) कच्ची उमर के बालक (म्रियन्ते) मारे जाते हैं और (वृकः) भेड़िया जिस

प्रकार बछड़ों को मार डालता है उसी प्रकार (वृकः) जीवन का नाशक मृत्यु या चोर डाकू उसके (वत्साम् च) बच्चों को (घातुकः) मार डाला करता है ।

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत् ।

ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥ ८ ॥

भा०—और (यद्) यदि (अस्याः) इसके (गो पतौ) गोपालक स्वामी के अधीने (सत्याः) रहते हुए (ध्वाङ्क्षः) कौवा (लोम) उसके लोमों को (अजीहिडत्) नोच लेता है (ततः) तो भी इस गोपति के (कुमारः) कुमार बालक (म्रियन्ते) मर जाते हैं और उसको स्वयं (अनामनात्) विना जाने ही, अकस्मात् (यक्ष्मः विन्दति) राजयक्ष्मा रोग पकड़ लेता है ।

यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति ।

ततोऽपरूपं जायते तस्माद्व्येष्यदेनसः ॥ ९ ॥

भा०—(यद्) यदि (अस्याः) इस 'वशा' के (पल्पूलनं) मूत्र और (शकृद्) गोबर को (दासीः) नौकरानी (सम् अस्यति) एकत्र मिला दे या इधर उधर फेंक दे (ततः) तो (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (अ-वि एष्यत्) न छूटकर (अपरूपं जायते) गौ का स्वामी भ्रष्ट रूप का हो जाता है ।

जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान् वशा ।

तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम् ॥१०॥ (१९)

भा०—(वशा) 'वशा' (जायमाना) उत्पन्न होती हुई ही (स-ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों सहित (देवान्) देवों को लक्ष्य करके (अभि जायते) उत्पन्न होती है (तस्मात्) इसलिये (एषा) वह (ब्रह्मभ्यः देया) ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मणों को दान कर देनी चाहिये, (तत्) उसके दान कर देने को ही (स्वस्य गोपनम्) अपने व अपने धन की रक्षा करना (आहुः) कहते हैं ।

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा ।
ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन् य एनां निप्रियायते ॥ ११ ॥

भा०—(ये) जो ब्राह्मण लोग (एनां वनिम्) इसको मांगने के लिये (आयन्ति) गऊ के स्वामी के पास आते हैं (वशा) वह वशा (तेषाम्) उनके लिये ही (देवकृता) ईश्वर ने बनाई है। (यः) जो गऊ का स्वामी (एनां) उसको (निप्रियायते) अपना ही प्रिय धन बना कर रख लेता है (तत्) उसके ऐसे कर्म को विद्वान् लोग (ब्रह्मज्येयम् अब्रुवन्) ब्राह्मणों के प्रति अत्याचार ही बतलाते हैं।

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे ॥ १२ ॥

भा०—(यः) जो गऊ का स्वामी (याचद्भ्यः) याचना करने हारे (आर्षेयेभ्यः) ऋषियों के पुत्रों और शिष्यों के निमित्त (देवानां गां) विद्वानों की इस गऊ को (न दित्सति) प्रदान करना नहीं चाहता (सः देवेषु) वह देवताओं पर (आवृश्चते) आघात करता है और (ब्राह्मणानां च मन्यवे) ब्राह्मणों के कोप का पात्र होता है।

या अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः ।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥ १३ ॥

भा०—(यः) जो (अस्य) इस गौ के स्वामी का (वशाभोगः) उस 'वशा' द्वारा कोई भोग या निज स्वार्थ प्रयोजन सिद्ध होता है तो उसके लिये (सः) वह (अन्याम् इच्छत्) और दूसरी गौ को प्राप्त करे, क्योंकि 'वशा' (अदत्ता) यदि दान न की जाय तो (पुरुषं) उस पुरुष को या गऊ के मालिक को (हिंस्ते) मार देती है (च) और उसको भी मार देती है जो (याचितां) मांगी गई 'वशा' को भी (न दित्सति) नहीं देना चाहता है।

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा ।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते ॥ १४ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (ब्राह्मणानां) ब्राह्मणों का (शेवधिः) कोई खजाना (निहितः) धरोहर रखा है, उसी प्रकार गौ के स्वामी के पास वह 'वशा' उनकी धरोहर है। (यस्मिन् कस्मिन् च) और वह जिस किसी विरले पुरुष के पास भी (जायते) पैदा हो जाती है (ताम्) उसको (एतत्) इस कारण से ही (अच्छ आ यन्ति) लेने के लिये आ जाते हैं।

स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् ॥ १५ ॥

भा०—(यद्) यदि (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोग (वशाम् अभि) वशा को लेने के लिये आते हैं तो (एतत्) यह तो वे (स्वम्) अपना ही धन (अच्छ आयन्ति) प्राप्त करने के लिये आते हैं। (अस्याः) इस वशा को (निरोधनम्) अपने यहां ही रोक रखना एक प्रकार से ऐसा है कि (यथा) जिस प्रकार (एनान्) इन ब्राह्मणों को (अन्यस्मिन्) उनके धन के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ के लिये (जिनीयात्) टाल दें या निषेध कर दें।

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती।
वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥ १६ ॥

भा०—(आ त्रैहायणात्) तीन वर्ष तक तो वह 'वशा' (अविज्ञातगदा सती) अपने बांझपन के रोग के विना जनाये (चरेत् एव) स्वामी के पास विचरती ही है। हे विद्वन्! (वशाम् च) जब वह वशा को (विद्यात्) जान ले (तर्हि) तब गौ के स्वामी को जानना चाहिये कि वह (ब्राह्मणाः एष्याः) दान देने के लिये ब्राह्मणों को खोज ले।

य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम्।
उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥ १७ ॥

भा०—(यः) जो (देवानां) देवों के (निहितम्) धरोहर रखे (निधिम्) खजाने रूप (एनाम्) इस 'वशा' को (अवशाम् आह) 'अवशा' कहता है (तस्मै) उसे (भवाशर्वौ) भव और शर्व (उभौ) दोनों

(परिक्रम्य) घेर कर (इषुम्) उस पर बाण (अस्यतः) फेंकते हैं। अर्थात् वह जन्म और मृत्यु का ग्रास हो जाता है।

यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥ १८ ॥

भा०—(यः) जो गौ का स्वामी (अस्याः) उसके (ऊधः) थान को, (अथो उत) और (अस्याः स्तनान्) इसके स्तनों को भी (न वेद) नहीं जानता, (चेत्) यदि वह (दातुम्) दान करने में (अशकद्) समर्थ है तो वह (उभयेन एव) थान और स्तन दोनों से (अस्मै) अपने स्वामी को (दुहे) दुग्ध प्रदान करती है।

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति ॥ १९ ॥

भा०—वह 'वशा' (एनं) उस स्वामी के पास (दुरदभ्ना) कठिनता से वश में आने वाली होकर (आ शये) रहती है जो (याचितां च) इसको मांगे जाने पर भी (न दित्सति) नहीं देना चाहता। (अस्मै) उसकी (कामाः) कामनाएं और मनोरथ (न समृद्ध्यन्ते) सफल, नहीं होते (याम्) जिस वशा को (अदत्त्वा) दान न करके (चिकीर्षति) उसको अपने यहां पाले रखना चाहता है।

देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः ॥ २० ॥

भा०—(देवाः) देवगण (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (मुखम्) अपना मुख, प्रमुख, अगुआ (कृत्वा) बना कर (वशाम्) वशा को (अयाचन्) याचना करते हैं। (अददत्) वशा का दान न करता हुआ (मानुषः) मनुष्य (तेषाम् सर्वेषाम्) उन सबके (हेडम्) क्रोध और अनादर का (नि एति) पात्र होता है।

हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योऽददद् वशाम्।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥ २१ ॥

भा०—(देवानां निहितं भागं) देवों के धरोहर रखे भाग को (चेत् मर्त्यः) यदि मनुष्य (नि-प्रियायते) अपने काम में लाता है या दबा लेता है तो वह (ब्राह्मणेभ्यः) ब्राह्मणों को (वशाम्) उस वशा का (अददत्) दान न करके ही (पशूनाम्) पशुओं के भी (हेडं नि एति) क्रोध को प्राप्त करता है।

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम् ।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥ २२ ॥

भा०—(यद्) यदि (गो पतिम्) गोपति के पास (शतम्) सौ ब्राह्मण जाकर (वशाम्) प्रजा की (याचेयुः) याचना करते हैं (अथ) तब (एनाम्) इस वशा को लक्ष्य करके (देवाः) देवगणों ने (अब्रुवन्) कहा है कि (एवं विदुषः ह) इस प्रकार के विद्वान् को ही (वशा) यह 'वशा' प्राप्त हो।

य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम् ।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥ २३ ॥

भा०—जो स्वामी (एवं विदुषः) इस प्रकार के उत्तम विद्वान् को वशा का (अदत्वा) दान न करके (अन्येभ्यः) औरों को (वशाम्) वशा का (ददद्) दान कर देता है, तो (तस्मै अधिष्ठाने) उसके प्रति उसके स्थान में (पृथिवी सह०) देवताओं समेत पृथिवी (तस्मै दुर्गा) दुःखप्रद हो जाती है।

देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत ।
तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत ॥ २४ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस पुरुष के पास (अग्रे) प्रथम यह वशा (अजायत) उत्पन्न हुई (देवाः) देवों ने उससे ही (वशाम् अयाचन्) 'वशा' को मांगा। (नारदः विद्यात्) पुरुषों का हितकारी विद्वान् तो यही जाने कि उसने (ताम् एनाम्) उस वशा को (देवैः सह) देवों के साथ ही (उद् आजत) हांक कर दिया था।

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम् ।
ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥ २५ ॥

भा०—जो पुरुष (एताम्) इस वशा को (ब्राह्मणैः च) ब्राह्मणों के (याचिताम्) मांग लेने पर भी (नि प्रियायते) अपना धन बनाये रखता है उस (पुरुषम्) पुरुष को (वशा) वशा (अनपत्यम्) सन्तान रहित (अल्पपशुम्) थोड़ी पशु सम्पत्ति वाला (कृणोति) कर देती है ।

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च ।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत् ॥ २६ ॥

भा०—(अग्निषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम (मित्राय वरुणाय च) मित्र और वरुण के (कामाय) प्रयोजन के लिये (तेभ्यः) उन स्वामियों से (ब्राह्मणाः याचन्ति) ब्राह्मण लोग वशा की याचना किया करते हैं । जो पुरुष उनको उस वशा का (अददत्) दान नहीं करता वह (तेषु) उन पर (आ वृश्चते) आघात करता है ।

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम् ।
चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत् ॥ २७ ॥

भा०—(यावत्) जब तक (अस्याः) इस 'वशा' का (गोपतिः) स्वामी (स्वयम्) अपने आप (ऋचः) ऋचाओं को (नः) नहीं (उप शृणुयात्) सुन लेता है, (तावत्) तब तक वह वशा (अस्य गोषु) उसकी गौओं में ही (चरत्) चरा करे । (श्रुत्वा) ऋचाएं सुन लेने पर वह वशा (अस्य गृहे) इस गोपति के घर में (न वसेत्) न रहे ।

यो अस्या ऋच उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत् ।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः ॥ २८ ॥

भा०—(यः) जो (अस्याः) उस वशा की (ऋचः) ऋचाएं, वेदमन्त्र (उपश्रुत्य) सुन कर (अथ) उसके बाद भी उस वशा को (गोषु) गौओं में ही (अचीचरत्) चराया करता है (तस्य) उसकी (आयुः भूतिम् च)

आयु और धनसम्पत्ति को (हीडिताः) क्रोधित हुए (देवाः) देवगण विद्वान् पुरुष (वृश्चन्ति) नाश कर डालते हैं।

वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति ॥ २९ ॥

भा०—(वशा) वशा (बहुधा) नाना प्रकार से (चरन्ती) चरती हुई भी (देवानां निहितः निधिः) देवों की धरोहर, खजाना ही है। (यदा) जब वह वशा (स्थाम) अपने रहने के स्थान को (जिघांसति) मारती, तोड़ती, फोड़ती है तभी वह (रूपाणि) नाना रूपों, स्वभावों को (आविः-कृणुष्व) प्रकट करती है।

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्ञ्याय कृणुते मनः ॥ ३० ॥ (२१)

भा०—(यदा) जब (स्थाम) अपने रहने के स्थान को (जिघांसति) सींगों और लातों से तोड़ती फोड़ती है और (आत्मानम्) अपने स्वरूप को (आविःकृणुते) प्रकट कर देती है (अथो ह) तभी निश्चय से वह (ब्रह्मभ्यः याच्ञ्याय) ब्राह्मणों द्वारा की गई याचना के लिये (मनःकृणुते) अपना चित्त करती है, विचारती है।

मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥

भा०—जब वह अपने (मनसा) मन से (संकल्पयति) संकल्प कर लेती है (तत्) तब वह (देवान् अपि गच्छति) देवों, विद्वानों को भी प्राप्त हो जाती है। (ततः) उसके (ब्रह्माणः) ब्राह्मण लोग (वशाम्) उस वशा को (याचितुम्) मांगने के लिये भी (उप प्र यन्ति) आ जाते हैं।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्योऽवशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ ३२ ॥

भा०—(स्वधाकारेण) स्वधा रूप अन्न प्रदान करने से (पितृभ्यः)

पितृ लोगों के, (यज्ञेन) यज्ञ से देवताओं के, (दानेन) दान कर देने से (राजन्यः) राजा (वशायाः मातुः) वशा रूप माता के (हेडं न गच्छति) क्रोध का पात्र नहीं होता।

पूर्वोक्त वशा का स्पष्टीकरण

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः ।
तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥ ३३ ॥

भा०—(वशा) वशा (राजन्यस्य) राजा की (माता) माता अर्थात् उसे बनाने और उत्पन्न करने वाली है। (तथा) उसी प्रकार (अग्रशः संभूतम्) पहले भी था कि (यद्) यदि वह 'वशा' (ब्रह्मभ्यः) विद्वान् ब्राह्मणों को (प्रदीयते) प्रदान कर दी जाय तो इसको भी विद्वान् लोग (तस्याः) उस वशा का (अनर्पणम्) अनर्पण, अप्रदान ही (आहुः) कहते हैं।

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये ।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत् ॥ ३४ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (स्रुचः) स्रुवा से (अग्नये) अग्नि के निमित्त (प्रगृहीतम्) लिये हुए (आज्यम्) घृत को (अलुम्पेत्) अग्नि में न डालकर वापिस ले ले इस प्रकार वह (अग्नये आवृश्चते) अग्नि के प्रति अपराध करता है, उसी प्रकार (ब्रह्मभ्यः) विद्वान् ब्रह्मज्ञानियों को (वशाम्) वशा का (अददत्) दान न करता हुआ (ब्रह्मभ्यः आ वृश्चते) ब्रह्मज्ञानियों के प्रति अपराध करता है।

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति ।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रददुषे दुहे ॥ ३५ ॥

भा०—(पुरोडाशवत्सा) 'पुरोडाश' अर्थात् अन्न को बछड़ा बना कर (सुदुघा) उत्तम रीति से बहुत फल देने वाली 'वशा' (लोके) लोक में (अस्मै) इस राजा के लिये (उपतिष्ठति) उपस्थित होती है। (सा वशा) वह 'वशा' (अस्मै प्रददुषे) इस अपने दान करने वाले के (सर्वान् कामान्

दुहे) समस्त कामना करने योग्य फलों को उत्पन्न करती और सब मनोरथ पूर्ण करती है।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥ ३६ ॥

भा०—(यम-राज्ये) नियन्ता राजा के राज्य में (वशा) 'वशा' (प्रददुषे) अपने को उत्तम पात्र में प्रदान करने हारे के लिये (सर्वान् कामान्) समस्त मनोऽभिलषित फलों को (दुहे) उत्पन्न करती है। (अथ) और (याचिताम्) याचना करने पर भी भोगी गई उस वशा को (निरुन्धानस्य) याचक के प्रति दान न देकर रोक रखने वाले के लिये (नारकं लोकम्) विद्वान् पुरुष 'नारक' निकृष्ट पुरुषों से पूर्ण लोक ही उसके योग्य (आहुः) बतलाते हैं।

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥ ३७ ॥

भा०—(प्रवीयमाना) प्रजा उत्पन्न करने का कर्म करती हुई, (वशा) 'वशा' (गोपतये) स्वामी राजा के प्रति (क्रुद्धा चरति) बड़ी क्रुद्ध होकर विचरती है, (मा) मुझको (वेहतम्) गर्भघातिनी, वन्ध्या (मन्यमानः) मानता हुआ पुरुष (मृत्योः) मृत्यु के (पाशेषु) पाशों में (बध्यताम्) बांधा जाय।

यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वशाम्।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥ ३८ ॥

भा०—(यः) जो (वशाम्) को (वेहतं मन्यमानः) गर्भोपघातिनी गाय सा मानता हुआ (अमा च) अपने घर पर ही (वशाम्) वशा को (पचते) पका देता, उसका भोग करता है, (अस्य पुत्रान् पौत्रान् च अपि) उसके बेटों, पोतों तक को भी (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक विद्वान् (याचयते) भीख मंगवाता है।

म॒हदे॒षाव॑ तपति॒ चर॑न्ती॒ गोषु॒ गौर॑पि ।
अथो॑ ह॒ गोप॑तये व॒शाद॑दुषे वि॒षं दु॑हे ॥ ३९ ॥

भा०—(गोषु) गौओं में (गौः अपि) गौ होकर (चरन्ती) विचरती हुई (एषा) वह वशा (महत् तपति) बड़ी पीड़ा अनुभव करती है, अथो और (अददुषे) प्रदान न करने हारे (गोपतये) स्वामी को यह (विषं दुहे) विष दुहा करती है ।

प्रि॒यं प॑शू॒नां भ॑वति॒ यद् ब्र॒ह्मभ्यः॑ प्र॒दीय॑ते ।
अथो॑ व॒शाया॒स्तत् प्रि॒यं यद् दे॑व॒त्रा ह॒विः स्यात् ॥४०॥ (२२)

भा०—(यद्) यदि (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मणों को वशा (प्रदीयते) प्रदान कर दी जाती है तो (पशूनां) पशुओं का भी (प्रियम्) भला ही (भवति) होता है । (अथो) और (वशायाः) वशा को भी (तत् प्रियम्) वह प्रिय लगता है (यद्) कि वह (देवत्रा) देवों के (हविः) दान योग्य पदार्थ (स्यात्) हो जाय ।

या व॒शा उ॒दक॑ल्पयन् दे॒वा य॒ज्ञादु॒देत्य॑ ।
तासां॑ विलि॒प्त्यं भी॒मामु॒दाकु॑रुत नार॒दः ॥ ४१ ॥

भा०—(देवाः) देवों ने (यज्ञाद्) यज्ञ से (उद् एत्य) ऊपर आकर (याः वशाः) जिन 'वशाओं' को (उत् अकल्पयन्) उन्नत स्वीकार किया, (तासाम्) उनमें से भी (भीमाम्) उग्र (विलिप्त्यं) 'विलिप्ति' को (नारदः) विद्वान् पुरुष (उत् आकुरत) और भी उत्कृष्ट मानता है ।

तां दे॒वा अ॑मीमांसन्त व॒शेया३मव॒शेति॑ ।
ताम॑ब्रवीन्नार॒द ए॒षा व॒शानां॑ व॒शत॒मेति॑ ॥ ४२ ॥

भा०—(तां) उस 'भीमा' विलिप्ति के विषय में (देवा अमीमांसन्त) देवगण भी विवेचन करते हैं कि (वशा इयम्) वह 'वशा' है या (अवशा इति) 'अवशा', वशा से भिन्न, 'वशा' सी है । (नारदः) नारद विद्वान् (ताम्) उस भीमा विलिप्ति के विषय में कहता है कि (एषा) यह तो (वशानाम् वशतमा) वशा में भी सबसे उत्तम वशा है ।

कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः ।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः ॥ ४३ ॥

भा०—हे (नारद) नरसंघ को उपदेश देने वाले ! (कति नु वशा) भला बतलाओ कितनी ऐसी 'वशा' हैं (याः) जिनको (त्वं) तू (वेत्थ) जानता है कि ये (मनुष्यजाः) मनुष्य से उत्पन्न हैं। (ताः) उनको (त्वा विद्वांसम्) तुझ विद्वान् से (पृच्छामि) पूछता हूँ और बतला उनमें से (कस्याः) किसका (अब्राह्मणः) ब्राह्मण से अतिरिक्त लोग (न अश्नीयात्) भोग न करे।

विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥ ४४ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) वेदज्ञ ! (विलिप्त्या) 'विलिप्ति' और (या च) जो 'सूतवशा' वशा को उत्पन्न करने वाली और (वशा) वशा, (तस्याः) इन तीनों का वह (अब्राह्मणः) ब्राह्मण से अतिरिक्त पुरुष (न अश्नीयात्) भोग न करे (यः) जो (भूत्याम्) समृद्धि की (आशंसेत) आशा करे।

नमस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वशा।
कतमासां भीमतमा यामदत्वा पराभवेत् ॥ ४५ ॥

भा०—हे (नारद) हे नरोपदेशक ! (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो और (अनुष्ठु) तत्काल ही (विदुषे) वशा को जान लेने वाले विद्वान् को (वशा) 'वशा' प्राप्त होनी चाहिये। अच्छा, अब यह कहा कि (आसाम्) इन उपरोक्त विलिप्ति, सूतवशा और वशा इन तीनों में से (कतमा) कौनसी (भीमतमा) सबसे अधिक भयप्रद है (याम्) जिसे (अदत्वा) विना दिये स्वामी (पराभवेत्) अपमान, कष्ट या दरिद्रता को प्राप्त होता है।

विलिप्ती या बृहस्पतेऽथो सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥ ४६ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! (यः) जो विलिप्ती और (सूतवशा) वशा) सूतवशा और वशा है इत्यादि व्याख्या देखो [मन्त्र सं० ४३]

त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा ।
ताः प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोऽनाव्रस्कः प्रजापतौ ॥ ४७ ॥

भा०—(त्रीणि) तीन (वै) ही (वशाजातानि) वशा के प्रभेद हैं (विलिप्ती) 'विलिप्ती' (सूतवशा) 'सूतवशा' और (वशा) 'वशा' (ताः) उन तीनों को (यः) जो (ब्रह्मभ्यः) ब्राह्मणों को (प्रयच्छेत्) प्रदान करता है (सः) वह (प्रजापतौ) प्रजापति के प्रति (अनाव्रस्कः) कोई अपराध नहीं करता।

एतद् वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः ।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे ॥ ४८ ॥

भा०—(अददुषः गृहे) दान न करने हारे के घर में (या भीमा) जो बड़ी भयानक है ऐसी (वशां चेत् एनं याचेयुः) वशा को उस स्वामी के पास जाकर यदि ब्राह्मणगण याचना करते हैं तो (याचितः) मांगने पर स्वामी (इति मन्वीत) ऐसा ही जाने और कहे हे (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणो ! (एतत् वः हविः) यह तुम्हें 'हवि' अर्थात् दान देने योग्य पदार्थ है।

देवा वशां पर्यवदन् न नोऽदादिति हीडिताः ।
एताभिर्ऋग्भिर्भेदं तस्माद् वै स पराभवत् ॥ ४९ ॥

भा०—(नः) हमें स्वामी (न अदात्) इस वशा को प्रदान नहीं करता (इति) इस कारण से (हीडिताः) क्रुद्ध हुए (देवाः) देवगण (एताभिः) इन (ऋग्भिः) ऋचाओं से (भेदन्) भेद तोड़-फोड़ की (परि-अवदन्) मन्त्रणा करते हैं। (तस्मात्) इसलिये (वै) निश्चय से (सः) वह अदाता स्वामी (पराभवत्) पराजय को प्राप्त होता है।

उतैनां भेदो नाददाद् वशामिन्द्रेण याचितः ।
तस्मात् तं देवा आगसोऽवृश्चन्नहमुत्तरे ॥ ५० ॥

भा०—(उत) और (एनाम्) इस (वशां) वशा को लक्ष्य करके (इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (याचितः भेदः) याचना किया गया 'भेद' भी

(वशाम्) वशा को (न अददात्) न प्रदान करे (तस्मात्) इस कारण (तं) उस अदाता पुरुष को (आगसः) अपराध के कारण (अहमुत्तरे) युद्ध में (अवृश्चन्) मार काट डालते हैं ।

ये व॒शाया॒ अदा॑नाय॒ वद॑न्ति परिरा॒पिणः॑ ।
इन्द्र॑स्य म॒न्यवे॑ जा॒ल्मा आ वृ॑श्चन्ते॒ अचि॑त्त्या ॥ ५१ ॥

भा०—(ये) जो (परिरापिणः) बुरी सलाह देने वाले लोग (वशायाः) वशा को (अदानाय) दान न करने के लिये (वदन्ति) कहा करते हैं वे (जाल्माः) दुष्ट पुरुष (अचित्त्याः) अपने अज्ञान या दुष्टचित्तता के कारण (इन्द्रस्य मन्यवे) इन्द्र के मन्यु के द्वारा (आ वृश्चन्ते) विनष्ट हो जाते हैं।

ये गोप॑तिं प॒राणी॑या॒थाहु॒र्मा द॑दा॒ इति॑ ।
रु॒द्रस्या॒स्तां ते हे॒तिं परि॑ य॒न्त्यचि॑त्त्या ॥ ५२ ॥

भा०—(ये) जो लोग (गोपतिम्) गौ के स्वामी को (पराणीय) दूर एकान्त में ले जाकर (अथ) बाद में (आहुः) उससे कहते हैं कि तू (मा ददाः इति) वशा का दान मत कर, (ते) वे (अचित्त्याः) अपनी मूर्खता से ही (रुद्रस्य) रुद्र के (अस्तां हेतिम्) फेंके हुए बाण के (परियन्ति) शिकार हो जाते हैं ।

यदि॑ हु॒तां यद्यहु॑ताम॒मा च॒ पच॑ते व॒शाम् ।
दे॒वान्त्सब्रा॑ह्मणानृ॒त्वा जि॒ह्मो लो॒कान्निर्ऋ॑च्छति ॥५३॥ (२९)

भा०—(यदि हुताम्) यदि दान दी हो, (यदि अहुताम्) दान न दी हो तो भी यदि गोपति (वशाम् अमा च पचते) 'वशा' को अपने ही घर में पकाता, उसे निजी भोग में लाता है, वह (सब्राह्मणान्) ब्राह्मण सहित (देवान्) देवों के प्रति (ऋत्वा) अपराध करके (जिह्मः) कुटिलाचारी होकर (लोकात्) इस लोक से (निर्ऋच्छति) कष्ट पाकर निकलता है ।

पूर्वोक्त सूक्त का शब्दार्थ वाक्य रचनानुसार कर दिया है । इस सूक्त की संगति अथर्ववेद के १०वें काण्ड के १०वें सूक्त के साथ लगाने से इस

सूक्त का भावार्थ स्पष्ट हो जाता है। वहां भी तीन वशाओं का वर्णन है। "वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः।" इसी प्रकार यहां भी विलिप्ति, सूतवशा और वशा इन तीन वशाओं का वर्णन है। इस सूक्त में क्रम से नारद = विद्वान्, जीवपति = परमात्मा। इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तं, ऋचश्च त्रयःपञ्चाशत्]

[५] (१) ब्रह्मगवी का वर्णन।

ऋषिः—अथर्वाचार्यः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ सप्त पर्यायसूक्तानि तत्र प्रथमः पर्यायः ॥ छन्दः—१,६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, २ भुरिक्साम्नी अनुष्टुप्, ३ चतुष्पदा स्वराड् उष्णिक्, ४ आसुरी अनुष्टुप्, ५ साम्नी पंक्तिः। षडृचं प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

श्रमे॑ण तप॑सा सृष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तर्ते॑ श्रि॒ता ॥ १ ॥

भा०—ब्रह्मगवी = ब्रह्म = ब्राह्मण की शक्तिमयी ब्रह्मवाणी (श्रमेण) श्रम और (तपसा) तप से (सृष्टा) बनी या उत्पन्न होती है। (ब्रह्मणा) ब्रह्म-वेद और ब्रह्म = ब्रह्मज्ञान के प्राप्त करने वाले तपस्वी पुरुष द्वारा (वित्ता) जानी और प्राप्त की जा सकती है, (ऋते श्रिता) ऋत परम सत्यमय परमात्मा में आश्रित रहती है।

ब्रह्मगवी का स्वरूप देखो [अथर्व० का० ५। सू० १८, १९।]

स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता य॒शसा॒ परी॑वृता ॥ २ ॥

भा०—वह ब्रह्मवाणी (सत्येन आवृता) सत्य के बल से सुरक्षित होती है। (श्रिया) श्री, शोभा और कांति से (प्रावृता) ढकी होती और (यशसा परीवृता) वीर्य और तेज और सत् ख्याति से घिरी होती है।

स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ पर्यू॑ढा दी॒क्षया॒ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥ ३ ॥

भा०—वह (स्वधया) अमृत शक्ति से (परिहिता) सुरक्षित, (श्रद्धया परि ऊढा) श्रद्धा से ढकी हुई, (दीक्षया गुप्ता) दृढ़ संकल्प और बल से सुरक्षित रहती है। (यज्ञे) यज्ञभावना में (प्रतिष्ठिता) स्थित रहती है तथा (लोकः निधनम्) यह लोक उसका आश्रय है।

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४ ॥

भा०—(ब्रह्म) वेद उसके (पद-वायम्) पद = स्वरूप को दर्शाने वाला है और (ब्राह्मणः) वेदज्ञ उसका (अधिपतिः) स्वामी है ।

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ५ ॥

अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ॥ ६ ॥ (२४)

भा०—(ताम्) उस ब्रह्मगवी को (आ-ददानस्य) हर लेने वाले, (ब्राह्मणम्) और ब्राह्मण के प्रति (जिनतः) बलात्कार करने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय की (सूनृता) शुभ सत्य वाणी, (वीर्यम्) बल और (पुण्या लक्ष्मीः) पुण्य लक्ष्मी (अप क्रामति) उसे छोड़कर भाग जाती है ।

(२)

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते ॥ छन्दः—७ साम्नी त्रिष्टुप्, ८–९ आर्च्य नुष्टुप । (८ भुरिक्), १० उष्णिक् (७–१० एकपदा), ११ आर्ची निचृत् पंक्तिः ॥ पञ्चचं द्वितीयं पर्याय सूक्तम् ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥७॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥८॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ९ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥ तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ११ ॥ (२५)

भा०—(ब्राह्मणं जिनतः) ब्राह्मण पर बलात्कार करने हारे और उससे (ब्रह्मगवीम् आददानस्य) ब्रह्मगवी, ब्रह्म = वेदवाणी को बलात् छीनने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय के, (ओजः च तेजः च) ओज, प्रभाव और तेज (सहः च बलं च) दूसरे को पराजित करने का सामर्थ्य और सेनाबल (वाक् च इन्द्रियम् च) वाणी और इन्द्रियें (श्रीः च धर्मः च) लक्ष्मी और धर्म (ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्राह्मबल और क्षात्रबल (राष्ट्रं च विशः च) राष्ट्र

और वैश्य प्रजाएं, (त्विषिः च यशः च) कांति और यश (वर्चः च द्रविणम् च) वीर्य और धन (आयुः च रूपं च) आयु और रूप (नाम च कीर्त्तिः च) नाम और कीर्त्ति (प्राणः च अपानः च) प्राण और अपान (चक्षुः च श्रोत्रं च) दर्शनशक्ति और श्रवणशक्ति (पयः च रसः च) दूध और रस (अन्नं च अन्नाद्यं च) अन्न और अन्न के भोग करने का सामर्थ्य, (ऋतं च सत्यं च) ऋत और सत्य (इष्टं च पूर्त्तं च) यज्ञ याग और कूप तड़ागादि धर्म के सब कार्य तथा (प्रजा च पशवः च) प्रजाएं और पशु (तानि सर्वाणि) वे सब (अप क्रामन्ति) उसको छोड़कर चले जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

(३)

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते ॥ १२ छन्दः—विराड्विषमा गायत्री, १३ आसुरी अनुष्टुप्, १४, २६ साम्नी उष्णिक्, १५ गायत्री, १६,१७,१९,२० प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १८ याजुषी जगती, २१,२५ साम्नी अनुष्टुप्, २२ साम्नी बृहती, २३ याजुषी त्रिष्टुप्, २४ आसुरी गायत्री, २७ आर्ची उष्णिक् । षोडशर्चं तृतीयं सूक्तम् ॥

सैषा भीमा ब्रह्मगव्य॒घविषा साक्षात् कृत्या कूल्बजमावृता ॥१२॥

भा०—(सा एषा) वह यह (ब्रह्मगवी) 'ब्रह्मगवी' (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्म-द्वेषी के लिये, (अघविषा) ऐसे तीव्र बिष से युक्त है जो किसी उपाय से नाश नहीं हो सकता। वह (साक्षात् कृत्या) ब्रह्मद्वेषी के लिये साक्षात् प्रत्यक्ष में हिंसा का घातक प्रयोग ही है जो (कूल्बजम् = कु-उल्ब-जम्) कुत्सित जनसमुदाय से उत्पन्न पुरुषों पर (आवृता) आश्रित है अथवा (कूल्बजमावृता) वह घातक प्रयोग है और घास फूस में लिपटा है, उल्बः = उच्यति समवैति इति उल्बः । कुत्सितः उल्बः कूल्बः तस्माजातः कूल्बजः । कुत्सित समुदायोद्गतनेतृपुरुषः । तमावृता तमावृत्य तिष्ठतीत्यर्थः ।

सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥ १३ ॥

सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥ १४ ॥

भा०—ब्रह्म-द्वेषी के लिये (अस्याम्) इसमें (सर्वाणि) सब प्रकार के (घोराणि) भयानक कर्म और (सर्वे च मृत्यवः) सब प्रकार के मृत्युभय विद्यमान होते हैं, (अस्याम्) इसमें (सर्वाणि क्रूराणि) सब प्रकार के क्रूर कर्म और (सर्वे पुरुषवधाः) समस्त प्रकार के पुरुषों को मारने वाले हथियार अथवा सब प्रकार के पुरुषों के मारने के उपाय सम्मिलित हैं ।

सा ब्र॑ह्म॒ज्यं दे॑वपी॒युं ब्र॑ह्म॒ग॒व्या॒दी॒यमा॑ना मृ॒त्योः पड्वी॑श॒ आ द्य॑ति ॥ १५ ॥

भा०—(सा ब्रह्मगवी) ब्रह्मगवी (आदीयमाना) छीनी जाकर (ब्रह्मज्यं) वेद और वेदज्ञों के विनाशक, (देवपीयुं) विद्वान् पुरुषों के हिंसक पुरुषों को (मृत्योः) मौत के (पड्वीशे) पञ्जे में या फांसे में (आ द्यति) फांसकर खण्ड २ कर डालती है ।

मे॒निः श॒तव॑धा॒ हि सा ब्र॑ह्म॒ज्यस्य॒ क्षिति॒र्हि सा ॥ १६ ॥

भा०—(सा) वह 'ब्रह्मगवी' (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघ्न के लिये (शतवधा) सैंकड़ों प्रकार से वध करने वाली (मेनिः) वज्र रूप हो जाती है और (सा) वह (ब्रह्मज्यस्य) ब्राह्मी व्यवस्था के घाती पुरुष का (क्षितिः हि) निश्चय से क्षय करने हारी होती है ।

तस्मा॒द् वै ब्रा॑ह्म॒णा॒नां गौर्दु॑रा॒धर्षा॑ विजा॒न॒ता ॥ १७ ॥

भा०—(तस्मात्) इसलिये (वै) निश्चय से (विजानता) इस रहस्य को विशेष रूप से जानने वाले पुरुष द्वारा (ब्राह्मणानां गौः) ब्राह्मणों की 'गौ' (दुराधर्षा) कठिनता से धर्षण की जाती है ।

वज्रो॒ धाव॑न्ती वैश्वान॒र उद्वी॑ता ॥ १८ ॥

भा०—ब्रह्मघ्न के लिये, ब्रह्मगवी ही (धावन्ती) दौड़ती हुई दीखती है, (वज्रः) वह तलवार होकर या (वैश्वानरः उद्वीता) अग्नि, बिजुली रूप होकर ऊपर उठती या धधकती है ।

हे॒तिः श॒फानु॑त्खि॒दन्ती॑ महादे॒वो॒३ ऽपेक्ष॑माणा ॥ १९ ॥

भा०—(हेतिः शफान् उत्खिदन्ती) अपने खुर ऊपर उठा २ कर मारती हुई, बाण या अस्त्र होकर जाती है (महादेवः अपेक्षमाणा) और क्रूर दृष्टि से देखती हुई मानो साक्षात् महादेव के समान हो जाती है ।

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥

भा०—(क्षुरपविः) छुरे की धार के समान तीक्ष्ण होकर (ईक्षमाणा) सबको देखती है और (वाश्यमाना) घोर शब्द करती हुई (अभिस्फूर्जति) भारी गर्जना करती है ।

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥

भा०—(मृत्युः) मृत्यु रूप होकर (हिंकृण्वती) मानो बंभारती है । (उग्रः देवः) काल रूप होकर मानो (पुच्छं पर्यस्यन्ती) पूंछ फटकार रही होती है ।

सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥

भा०—ब्रह्मघाती के लिये (सर्वज्यानिः) यह सब प्राणियों का नाश करने हारी होकर (कर्णौ) कानों को (वरीवर्जयन्ती) फटकार रही होती है । (राजयक्ष्मः) राजयक्ष्मा का भयंकर रोग बन कर मानो वह (मेहन्ती) मूत्र कर रही होती है ।

मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥

भा०—(मेनिः) वज्र या विद्युत् रूप होकर (दुह्यमाना) मानो ब्रह्माण्ड से दुही जाती है और (दुग्धा) पूरी तरह से दुही जाकर वह (शीर्षक्तिः) सिर की तीव्र पीड़ा रूप हो जाती है ।

सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥

भा०—(उपतिष्ठन्ती) समीप आती हुई वह (सेदिः) बल वीर्य का नाश करने हारी होती है । जब ब्रह्मघाती द्वारा (परामृष्टा) कठोर स्पर्श को प्राप्त करती है तो (मिथोयोधः) वह परस्पर युद्ध करने हारे सिपाही के समान भयंकर हो जाती है ।

शरव्या मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥

भा०—ब्रह्मघ्न द्वारा (मुखे) मुख के (अपिनह्यमाने) बांधे जाने पर अर्थात् प्रजा के बोलने पर प्रतिबन्ध लगा देने पर (शरव्या) तीक्ष्ण बाण के समान प्रहार करने हारी होती है। (हव्यमाना) जब वह इसे मारता है तो वह (ऋतिः) भारी पीड़ा होकर प्रकट होती है।

अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥

भा०—ब्रह्मघ्न द्वारा (निपतन्ती) नीचे गिरती हुई वह ब्रह्मगवी (अघविषा) विष से पूर्ण होती है। (निपतिता) नीचे गिरी हुई वह साक्षात् (तमः) मृत्यु के अन्धकार समान हो जाती है।

अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥२७॥ (२६)

भा०—(ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्म = ब्राह्मण और ब्रह्म वेद की हानि करने वाले ब्रह्मद्वेषी पुरुष के (अनुगच्छती) पीछे पीछे चलती हुई (ब्रह्मगवी) 'ब्रह्मगवी' उसके (प्राणान् उप दासयति) प्राणों का नाश कर डालती है।

(४)

ऋषिर्देवता च पूर्ववत् ॥ छन्दः—२८ आसुरी गायत्री, २९, ३७ आसुर्यनुष्टुभौ, ३० साम्नी अनुष्टुप्, ३१ याजुषी त्रिष्टुप्, ३२ साम्नी गायत्री, ३३,३४ साम्नी-बृहत्यौ, ३५ भुरिक् साम्नी अनुष्टुप्, ३६ साम्न्युष्णिक्, ३८ प्रतिष्ठा गायत्री।

एकादशर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥

भा०—(विकृत्यमाना) विविध रूपों से अंग अंग काटी जाती हुई ब्रह्मद्वेषियों के लिये साक्षात् (वैरम्) वैर, आपस का कलह बनकर प्रकट होती है। (विभाज्यमाना) अंग अंग काटकर आपस में बांटली जाती हुई ब्रह्मगवी (पौत्राद्यम्) पुत्र, पौत्र आदि को खा जाने वाली हो जाती है।

देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥ २९ ॥

भा०—जब ब्रह्मद्वेषी लोग उस ब्रह्मगवी को (ह्रियमाणा) हरण कर

रहे होते हैं तब वह (देवहेतिः) विद्वानों के अस्त्र के समान उसका नाश करती है। (हृता) जब वे उसका हरण कर चुकते हैं तब वह (व्यृद्धिः) उनके सम्पत्ति के नाश का कारण होती है।

पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३० ॥

भा०—(अधिधीयमाना) ब्रह्मद्वेषी पुरुष द्वारा अधिकार में रखी हुई ब्रह्मगवी उसके लिये तो (पाप्मा) पाप के समान है, जो उसे भविष्यत् में कष्ट का कारण होती है। (अवधीयमाना) उससे तिरस्कार को प्राप्त होती हुई ब्रह्मगवी (पारुष्यम्) उसके ऊपर कठोर दण्ड के रूप में उसको आर्थिक, शारीरिक और वाचिक कठोर दण्ड का कारण होती है।

विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ३१ ॥

भा०—(प्रयस्यन्ती) ब्रह्मगवी ब्रह्मद्वेषी के द्वारा कष्ट उठाती हुई उसके लिये (विषम्) विष के समान प्राणनाशक है। (प्रयस्ता) अति कठिन कष्ट पाई हुई, सताई हुई वह (तक्मा) ज्वर के समान उसके जीवन को दुःखमय बना देने हारी होती है।

अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्का ॥ ३२ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा ब्रह्मगवी (पच्यमाना) हांडी आदि में मांस अथवा भोजनादि के समान पकाई गई उसके लिये (अघम्) भयंकर पाप के समान अप्रतिकार अपराध है और (पक्का) पकी हुई वह (दुष्व-प्न्यम्) बुरे भयकारी स्वप्न के समान रात्रि में भी उसे सुख से नींद न लेने हारी त्रासकारिणी होती है।

मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ३३ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा ब्रह्मगवी (पर्याक्रियमाणा) कड़छी से लोटी-पोटी जाती हुई उसके (मूलबर्हणी) मूल का नाश करने वाली और (पर्याकृता) खूब कड़छी से लोटी पोटी गई वही उसके लिये (क्षितिः) विनाशरूप है।

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥ ३४ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा पकाई गई ब्रह्मगवी स्वयं (गन्धेन) उठते हुए मांस के गन्ध से वह (असंज्ञा) उसको निश्चेतन और बेहोश करने वाली होती है। (उद्ध्रियमाणा) कड़छे से ऊपर निकाली जाती हुई उसके लिये (शुक्) शोकरूप है। (उद्धृता) ऊपर निकाली हुई ही (आशीविषः) दाढ़ों में जहर धारने वाले सर्प के समान उसके लिये प्राणहर है।

अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥ ३५ ॥

भा०—(उपह्रियमाणा) बलि के लिये लाई गई या पकाई जाने पर परोसी जाती हुई या भेंट दी जाती हुई ब्रह्मगवी ब्रह्मद्वेषी के लिये (अभूतिः) अभूति अर्थात् समस्त सम्पत्ति को विनाश कर, विपत्ति को लाने वाली है और (उपहृता) लाई गई या परोसी गई या भेंट दी गई 'ब्रह्मगवी' (पराभूतिः) उसको पराजय करने वाली है।

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥ ३६ ॥

भा०—(पिश्यमाना) जब वह एक एक अंग करके काटी जा रही होती है या दांतों से चबाई जा रही होती है तब वह साक्षात् (क्रुद्धः शर्वः) क्रुद्ध शर्व, प्रलयकारी रुद्र के समान है। (पिशिता) जब वह अंग अंग करके काटी जा चुकी या चबाई गई है तब वह (शिमिदा) उसके समस्त सुखों की नाशक, भारी महामारी के समान है।

अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥ ३७ ॥

भा०—'ब्रह्मगवी' (अश्यमाना) खाई या निगली जाती हुई (अवर्तिः) ब्रह्मद्वेषी के लिये उसकी सत्ता मिटाने वाली है और (अशिता) खाई गई वह (निर्ऋतिः) पाप देवता या मृत्यु के समान भयंकर है।

अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥३८॥

भा०—(अशिता) खाई गई 'ब्रह्मगवी' (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञ विद्वान् के नाशकारी पुरुष को (अस्मात् च अमुष्मात् च) इस और उस, ऐहिक और पारमार्थिक (लोकात्) लोक से (छिनत्ति) उखाड़ फेंकती है।

(५)

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते ॥ छन्दः—३९ साम्नी पंक्तिः, ४० याजुषी अनुष्टुप्, ४१, ४६ भुरिक् साम्नी अनुष्टुप्, ४२ आसुरी बृहती, ४३ साम्नी बृहती, ४४ पिपीलिका मध्याऽनुष्टुप्, ४५ आर्ची बृहती । अष्टर्चं पञ्चमं पर्यायसूक्तम्

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३९ ॥

भा०—(तस्याः) उस ब्रह्मगवी का (आहननं) मारना (कृत्या) घातकारी गुप्त प्रयोग के समान है। (आशसनम्) उसका खण्ड २ करना (मेनिः) घोर वज्र के समान है। (ऊबध्यम्) उसके भीतर के अन्नादि का नाश करना (वलगः) गुप्त हत्या प्रयोग के समान है।

अस्वगता परिह्णुता ॥ ४० ॥

भा०—(परिह्णुता) छुपाली गई या अपने अधिकार से च्युत करदी गई 'ब्रह्मगवी' (अस्वगता) अपने गृह और धन सम्पत्ति से हाथ धो लेना है।

अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥ ४१ ॥

भा०—(ब्रह्मगवी) ब्रह्मगवी (ब्रह्मज्यं) ब्रह्मघ्न पुरुष में (क्रव्यात्) श्मशानाग्नि के समान घातक (भूत्वा) होकर (प्रविश्य अत्ति) प्रविष्ट होकर खाती है।

सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४२ ॥

भा०—(अस्य) इस ब्रह्मद्वेषी के (सर्वा अङ्गा) समस्त अंगों और (पर्वा) पोरुओं और (मूलानि) मूलों को भी (वृश्चति) काट देती है।

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ४३ ॥

भा०—(अस्य) इस ब्रह्मघ्न के (पितृबन्धु) मां बाप और उनके बन्धुओं को (छिनत्ति) विनाश कर डालती है और (मातृबन्धु) माता और उसके सम्बन्ध के बन्धुओं को भी (पराभावयति) उससे जुदा करके विनाश कर देती है।

विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥

भा०—(ब्रह्मगवी) 'ब्रह्मगवी' (क्षत्रियेण) क्षत्रिय अर्थात् राजबल द्वारा (अपुनः-दीयमाना) यदि फिर भी लौटाई न जाय तो वह (सर्वान् विवाहान्) समस्त राष्ट्र के विवाह सम्बन्धों और (ज्ञातीन्) समस्त जातिबन्धुओं का भी (क्षापयति) विनाश कर डालती है।

अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥४५॥
य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥ (२८)

भा०—(यः एवम्) जो इस प्रकार (विदुषः) विद्वान् (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गाम्) गौ वाणी को (क्षत्रियः) क्षत्रिय (आदत्ते) लेता है, वह ब्रह्मगवी (एनम्) उसको (अवास्तुम्) मकान रहित, (अस्वगम्) घरबार रहित और (अप्रजसम्) प्रजारहित (करोति) कर डालती है और वह (अपरापरणः भवति) दूसरे किसी अपने पालन करने वाले सहायक से भी रहित हो निस्सहाय हो जाता है और (क्षीयते) नाश को प्राप्त हो जाता, उखड़ जाता है।

(६)

ऋषिर्देवते च पूर्वोक्ते ॥ छन्दः—४७, ४९, ५१-५३, ५७-५९, ६१ प्राजापत्यानुष्टुभः, ४८ आर्षी अनुष्टुप्, ५० साम्नी बृहती, ५४,५५ प्राजपत्या ५६ उष्णिक्, आसुरी गायत्री। ६० गायत्री। पञ्चदशर्चं षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥

भा०—(तस्य) पूर्वोक्त ब्राह्मण को दुःख देने वाले दुष्ट पुरुष के (आहनने) मारे जाने पर (गृध्राः) गीध (क्षिप्रं वै) बहुत शीघ्र (ऐलबम् कुर्वते) बड़ा कोलाहल करते हैं।

क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः
पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम् ॥ ४८ ॥

भा०—(क्षिप्रं वै) और शीघ्र ही (तस्य आदहनं परि) उसकी जलती चिता के चारों ओर (केशिनीः) लम्बे लम्बे बालों वाली औरतें बाल खोल

खोल कर उसके मरने का विलाप करती हुई, (पाणिना) हाथों से (उरसि) छातियों पर (आघ्नानाः) दुहत्थड़ मार कर रोती चीखती हुई (पापम्) पापसूचक या घोर (ऐबलम्) आर्तनाद (कुर्वाणाः) करती हुई (परिनृत्यन्ति) विकृत नाच करती हैं।

क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥

भा०—(तस्य वास्तुषु) उसके महलों में (क्षिप्रं वै) शीघ्र ही (वृकाः) चोर, उचक्के और सियार भेड़िये (ऐबलम् कुर्वते) चीख पुकार मचाया करते हैं।

क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत् तदासी३दिदं नु ता३दिति ॥५०॥

भा०—(क्षिप्रं वै) और शीघ्र ही लोग (तस्य) उसके बारे में (पृच्छन्ति) आश्चर्य से ऐसे पूछा करते हैं (यत्) कि (तद् आसीत्) ओह ! इसका तो वह अवर्णनीय वैभव था, (इदं नु ता३त् इति) बस वह सब यही खण्डहर होकर ढेर हुआ पड़ा है !!!

छिन्ध्याच्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥ ५१ ॥

आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥ ५२ ॥

भा०—हे (आङ्गिरसि) अङ्गिरस् = ब्राह्मण विद्वान् की शक्ति रूप ! दुष्ट पुरुष को (छिन्धि) काट डाल, (आच्छिन्धि) सब ओर से काट डाल, (प्र च्छिन्धि) अच्छी प्रकार काट डाल। (क्षापय क्षापय) उजाड़ डाल, उजाड़ डाल। (आददानम् उप दासय) ब्रह्मगवी के लेने और नाश करने हारे को विनाश कर डाल।

वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥ ५३ ॥

भा०—हे आङ्गिरसि ब्रह्मगवी ! तू (वैश्वदेवी हि) निश्चय से वैश्वदेवी प्रजापति की परम शक्ति (उच्यसे) कहाती है। तू (कूल्बजम्) कुत्सित जन समुदाय से उत्पन्न नेता के आश्रय पर या तृणों के ढेर में (आवृता) गुप्तरूप से छिपी (कृत्या) कृत्या हिंसा की गुप्त चाल के समान अनर्थकारिणी है।

ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ५४ ॥

भा०—हे आङ्गिरसि ! तू (ओषन्ती) दहन और सन्ताप करती हुई और (सम् ओषन्ती) खूब जलाती हुई (ब्रह्मण:वज्र:) ब्राह्मण की तलवार के समान है ।

क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ५५ ॥

भा०—हे आंगिरसि ! ब्रह्मगवि ! (क्षुरपविः) छुरे के तीक्ष्ण धार वाली होकर, ब्रह्मद्वेषी के लिये (मृत्युः भूत्वा) मृत्यु होकर, (त्वम्) तू (धाव) दौड़, चढ़ाई कर ।

आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥ ५६ ॥

भा०—हे ब्रह्मगवि ! तू (जिनताम्) हत्याकारियों के (वर्चः) तेज, (इष्टम्) यज्ञ-याग के फल और (पूर्तम्) कूप, तड़ाग, धर्मशाला आदि परोपकार के कार्यों के फल और (आशिषः) उनकी समस्त आशाओं और कामनाओं को (आ दत्से) स्वयं लेकर विनाश कर डालती है ।

आदाय जीतं जीताय लोके३ऽमुष्मिन् प्र यच्छसि ॥ ५७ ॥

भा०—(जीतं) हिंसाकारी पुरुष को (आदाय) पकड़ कर तू (अमुष्मिन् लोके) मत्यु के बाद के दूसरे परलोक में भी (जीताय) उससे हिंसा किये गये, उससे पीड़ित पुरुष के हाथों (प्र यच्छसि) सौंप देती हैं ।

अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ ५८ ॥

भा०—हे (अघ्न्ये) कभी न मारने योग्य और किसी से भी न मारने योग्य ! ब्रह्मगवि ! (ब्राह्मणस्य अभिशस्त्या) ब्राह्मण के विरुद्ध होने वाले द्रोह में तू उसकी (पदवीः) प्रतिष्ठा, मार्गदर्शक (भव) बन कर रह ।

मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव ॥ ५९ ॥

भा०—हे ब्रह्मगवि ! तू (मेनिः) वज्ररूप, (शरव्या) बाण रूप (भव) हो । तू (अघात्) सब अत्याचारों को खा जाने वाली और स्वयं (अघविषा) पापी के लिये अप्रतीकार्य विष रूप (भव) हो ।

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥६०॥

भा०—(अघ्न्ये) हे अघ्न्ये ! ब्रह्मगवि ! तू (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती, (कृतागसः) अपराधकारी (देवपीयोः) देव, विद्वानों के हिंसक, (अराधसः) अनुदार दुष्ट पुरुष के (शिरः) शिर को (प्र जहि) कुचल डाल ।

त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥ (२९)

भा०—(त्वया) हे ब्रह्मगवि ! तुझ द्वारा (प्रमूर्णम्) मारे गये, (मृदितम्) चकनाचूर किये गये, (दुश्चितम्) दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष को (अग्निः दहतु) अग्नि संतापकारक राजा जला दे ।

(७)

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते ॥ छन्दः—६२–६४, ६६, ६८–७० प्राजापत्यानुष्टुभः, ६५ गायत्री, ६७ प्राजापत्या गायत्री, ७१ आसुरी पंक्तिः, ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ७३ आसुरी । द्वादशर्चं सप्तमं पर्याय सूक्तम् ॥

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ ६२ ॥
ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह ॥ ६३ ॥

भा०—हे (देवि) दिव्य स्वभाव वाली देवि ! (अघ्न्ये) और कभी न मारे जाने योग्य ब्रह्मगवि ! तू (ब्रह्मज्यम्) ब्राह्मण की हानि करने हारे पुरुष को (वृश्च, प्र वृश्च) काट, अच्छी तरह से काट और (सं वृश्च) खूब अच्छी तरह से काट । (दह, प्र दह, सं दह) जला, अच्छी तरह से जला और खूब अच्छी तरह से जला । उसको तू (आ मूलाद्) जड़ तक (अनु सं दह) फूंक डाल ।

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥ ६४ ॥
एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ६५
वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥
प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥

भा०—हे (देवि अघ्न्ये) अघ्न्ये ब्रह्मगवि ! (यथा) जिस तरह से वह (यमसादनात्) यमराज, परमेश्वर के दण्डस्थान से (परावतः) परले (पापलोकान्) पाप के फलस्वरूप घोर लोकों को (अगात्) चला जावे (एव) इस प्रकार तू (कृतागसः) पाप-कारी, (देवपीयोः) विद्वानों के शत्रु, (अराधसः) अनुदार, घोर क्षुद्र (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती पुरुष के (शिरः) शिर और (स्कन्धान्) कन्धों को, (शतपर्वणा) सौ पर्वों वाले (क्षुर-भृष्टिना) छुरे की धार से सम्पन्न (तीक्ष्णेन) तीखे, तेज़ (वज्रेण) वज्र से (प्र जहि) खूब काट डाल।

लोमा॑न्यस्य॒ सं छि॑न्धि॒ त्वच॑मस्य॒ वि वे॑ष्टय ॥ ६८ ॥
मां॒सान्य॑स्य शातय॒ स्नावा॑न्यस्य॒ सं वृ॑ह ॥ ६९ ॥
अस्थी॑न्यस्य पीडय म॒ज्जान॑मस्य॒ निर्ज॑हि ॥ ७० ॥
सर्वा॒स्याङ्गा॒ पर्वा॑णि॒ श्रथय ॥ ७१ ॥

भा०—(अस्य) इसके (लोमानि सं छिन्धि) लोम लोम काट डाल। (अस्य त्वचम्) इसके चमड़े को (वि वेष्टय) उमेठ डाल, उधेड़ डाल। (अस्य मांसानि) इसके मांस के लोथड़ों को (शातय) काट डाल। (अस्य स्नावानि) इसकी स्नायुओं नसों को (सं वृह) कचर डाल। (अस्य अस्थीनि) इसकी हड्डियों को (पीडय) तोड़ डाल। (अस्य मज्जानम्) इसकी चर्बी को (निर्जहि) सर्वथा नाश कर डाल। (अस्य) इसके (सर्वा पर्वाणि) सब पोरू २ और (अङ्गा) अङ्ग २ (वि श्रथय) बिलकुल जुदा २ कर डाल।

अ॒ग्निरे॑नं क्र॒व्यात् पृ॑थि॒व्या नु॑दता॒मुदो॑षतु
वा॒युर॒न्तरि॑क्षान्मह॒तो व॑रि॒म्णः ॥ ७२ ॥
सूर्य॑ एनं दि॒वः प्र णु॑दतां॒ न्योषतु ॥ ७३ ॥ (३०)

भा०—(एनं) इसको (क्रव्यात् अग्निः) क्रव्य, कच्चा मांस खाने वाला श्मशान अग्नि (पृथिव्याः नुदताम्) पृथिवी से निकाल बाहर करे और

(उत् ओषतु) जला डाले और (वायुः) वायु (महतः वरिम्णः) इस बड़े भारी (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से भी परे करे। (सूर्यः) सूर्य (एनं) इसको (दिवः) द्यौलोक से भी (प्र नुदताम्) परे निकाल दे और (नि ओषतु) नीचे नीचे जलावे, उसे संतप्त करे। इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम् , ऋचश्च त्रिसप्ततिः]

इति द्वादशं काण्डं समाप्तम्

द्वादशे पञ्च सूक्तानि पर्यायाः सप्त पञ्चमे।
पञ्चानुवाकाश्च ऋचश्चतुरूर्ध्वशतत्रयम् ॥

अथ त्रयोदशं काण्डम्

[१] 'रोहित' रूप से परमात्मा और राजा का वर्णन।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—रोहित आदित्यो। अध्यात्मं सूक्तम्। ३ मरुतः, २८, ३१ अग्निः, ३१ बहुदेवता ॥ छन्दः—३-५, ९, १२ जगत्यः, १५ अतिजागतगर्भा जगती, ८ भुरिक् , १६, १७ पञ्चपदा ककुम्मती जगती, १३ अतिशाक्करगर्भातिजगती, १४ त्रिपदा पुरःपरशाक्करा विपरीतपादलक्ष्मा पंक्तिः, १८, १९ पञ्चपदा ककुम्मत्यतिजगत्यौ, १८ परशाक्करा भुरिक् , १९ परातिजगती, २१ आर्षी निचृद् गायत्री, २२, २३, २७ प्रकृता २६ विराट् परोष्णिक् , २८-३०, ३२, ३९-४०, ४५-५८ अनुष्टुभः, ५२-५५ पथ्यापंक्तिः, ५५ ककुम्मती बृहतीगर्भा, ५७ ककुम्मती, ३१ पञ्चपदा ककुम्मती शाक्करगर्भा जगती, ३५ उपरिष्टाद् बृहती, ३६ निचृन्महाबृहती, ३७ परशाक्करा विराड् अतिजगती, ४२ विराड् जगती, ४३ विराड् महाबृहती, ४४ परोष्णिक् , ५९, ६० गायत्र्यौ, १, २, ६, ७, १०, ११, २०, २४, २५, ३२-३४, ३८-४३, ४२-५४, ५६, ५८ त्रिष्टुभः। षष्ट्यृचः सूक्तम् ॥

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥१॥

भा०—हे (वाजिन्) अन्नपते, वीर्यवन् राजन् ! (उद् एहि) तू उदय को प्राप्त हो। (यः) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच में विद्यमान है वह तू (सूनृतावत्) उत्तम शुभ वाणी और व्यवस्था से युक्त (इदं) इस (राष्ट्रं) राष्ट्र में (प्र विश) प्रवेश कर। (यः) जो (रोहितः) अति प्रदीप्त, लाल रंग की उज्ज्वल पोशाक में सजा हुआ, सूर्य के समान (इदं) इस (विश्वम्) समस्त राष्ट्र को (जजान) उत्पन्न करता या निर्माण करता है (सः) वह बड़ा व्यवस्थापक (राष्ट्राय) राष्ट्र के हित के लिये (सुभृतम्) उत्तमता से भरण पालन करने में समर्थ (त्वा) तुझे (बिभर्तु) पालन पोषण करे।

अध्यात्म में—हे (वाजिन्) इन्द्र, आत्मन् ! (उत् एहि) ऊपर उठ, अभ्युदय को प्राप्त हो। (सूनृतावत्) शुभ ज्ञानमय और (राष्ट्रम्) राजमान, प्रकाशस्वरूप (इदम्) इस प्रत्यक्षगम्य अपने लिंग देह या स्वरूप में (प्रविश) प्रवेश कर। (यः) जो (रोहितः) समस्त संसार का बीज वपन करने और उत्पन्न करने वाला, 'लोहित' रजोभाव से युक्त उत्पादक परमात्मा, (अप्सु अन्तः) मूल प्रकृति के परमाणुओं में से (इदं विश्वं जजान) इस समस्त संसार को उत्पन्न करता है (सः) वह (राष्ट्राय सुभृतम्) राजमान, प्रकाशस्वरूप अपने लिंग देह या तेजोरूप को उत्तम रीति से उसे धारण करने वाला (त्वा) तुझे (बिभर्तु) पालन करे।

उद्वाज आ गन् यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर (वाजः) वीर्यवान् या क्षात्ररूप होकर (उद् आगन्) अभ्युदय को प्राप्त है वह तू हे वीर्यवन् राजन् ! (विशः) उन वैश्य प्रजाओं के ऊपर (आ रोह) आरूढ होकर शासन कर। (याः) जो प्रजाएं कि (त्वद्-योनयः) तेरा आश्रय होकर तुझे उत्पन्न करने हारी हैं। तू (सोमं) सर्वप्रेरक बल या राष्ट्र या ऐश्वर्य

को (दधानः) धारण करता हुआ (इत्) इस राष्ट्र में (अपः) उत्तम जलों, (ओषधीः) ओषधियों, (गाः) गौओं, (चतुष्पदः) चौपायों और (द्विपदः) मनुष्यों को भी (आ वेशय) लाकर बसा।

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादु संमुदः॥३॥
पूर्वार्धः अथर्व० ५। २१। ११ प्र० द्वि॥

भा०—हे (उग्राः मरुतः) बलवान् उग्र रूप मरुत् गणो! वायु के समान तीव्र वेगवान् एवं शत्रु के मृत्युकारक, भारी मार मारने वाले सैनिको! (यूयम्) आप लोग (पृश्निमातरः) पृथिवी को अपनी माता स्वीकार करते हुए, (इन्द्रेण युजा) राजा के सहित (शत्रून् प्र मृणीत) शत्रुओं का विनाश करो। (रोहितः) लाल पोशाक पहने तेजस्वी राजा (नः) आप लोगों के विषय में (आशृणवत्) सुने कि आप लोग (सु दानवः) उत्तम दानशील (त्रि-सप्तासः) इक्कीसों प्रकार के (मरुतः) मरुद्गण (स्वादुः संमुदः) उत्तम भोगों में आनन्द लाभ कर रहे हैं।

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम्।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः॥४॥

भा०—(रोहितः) सूर्य जिस प्रकार (रुहः रुरोह) उच्च उच्च स्थानों को क्रम से चढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार उदय को प्राप्त होता हुआ राजा भी (रुहः आरुरोह) उच्च उच्च स्थान और अधिकारों को प्राप्त करता है। (गर्भः) गर्भ जिस प्रकार (जनुषाम्) प्राणियों के (जनीनां) माता के (उपस्थम्) गोद भाग में (आ रुरोह) क्रम से रोपित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार (गर्भः) राज्य-शक्ति को अपने हाथ में ग्रहण करने में समर्थ राजा (जनुषाम्) प्राणियों या प्रजाजनों के बीच (उपस्थम्) उच्चतम स्थान को (आ रुरोह) चढ़ कर प्राप्त करता है। (ताभिः) उन प्रजाओं के प्रयत्नों से (संरब्धम्) बनाये गये राष्ट्र को (अनु

अविन्दन्) उनकी अनुकूलता में ही प्राप्त करता हुआ, (षड् उर्वीः) छहों विशाल दिशाओं में (गातुम्) अपने गमन मार्ग को (प्रपश्यन्) देखता हुआ, (राष्ट्रम् आ अहाः) समस्त राष्ट्र को अपने वश में कर लेता है। रोहण-प्रकरण देखो यजु० [अ० १० । १०-१४]

अध्यात्म पक्ष में—(रोहितः रुहः रुरोह) सर्वोत्पादक परमात्मा आरोहणशील सब जीवों के ऊपर विराजमान है। (जनीनाम् गर्भः इव) माताओं के गर्भ के समान (जनुषाम् उपस्थम् आरुरोह) वह समस्त प्राणियों के भीतर विराजमान है। (ताभिः संरब्धम् षट् उर्वीः अनु अविन्दन्) उन समस्त प्राणियों द्वारा जाना जाकर ही वह समस्त छहों दिशाओं में व्यापक दिखाई देता है। वह (गातु प्रपश्यन् इह राष्ट्रम् आ अहाः) ज्ञान-सर्वस्व का दर्शन कराता हुआ इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

आ ते॑ रा॒ष्ट्रमि॒ह रोहि॑तोऽहार्षी॒द् व्या॑स्थ॒न्मृधो॒ अभ॑यं ते अभूत्।
तस्मै॑ ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी रे॒वती॑भिः कामं॑ दुहाथा॑मि॒ह शक्व॑रीभिः ॥५॥

भा०—हे प्रजाजन ! (ते राष्ट्रम्) तेरे राष्ट्र को (रोहितः इह अहार्षीत्) सर्वोपरि आरूढ़ तेजस्वी राजा इस पृथ्वी पर स्वीकार करता है। वह (मृधः) शत्रुओं को (वि आस्थत्) नाना प्रकार से नाश करता है। तब (ते अभयम् अभूत्) तेरे लिये अभय हो जाता है। (तस्मै ते) उस तेरे लिये (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी अपनी (रेवतीभिः) धनादि सम्पन्न (शक्वरीभिः) अति शक्तिशाली शक्तियों या प्रजाओं के साथ (इह) इस राष्ट्र में (कामम्) यथेच्छ (दुहाथाम्) मनोरथों को पूर्ण करें।

रोहि॑तो॒ द्यावा॑पृथि॒वी ज॑जान॒ तत्र॒ तन्तुं॑ पर॒मे॒ष्ठी त॑तान।
तत्र॑ शिश्रिये॒ऽज एक॑पादो॒ऽदृंहद् द्यावा॑पृथि॒वी बले॑न ॥६॥

भा०—(रोहितः) सबके उत्पादक परमात्मा ने (द्यावा पृथिवी) आकाश और पृथिवी को (जजान) उत्पन्न किया है। (तत्) वहां उन दोनों में (परमेष्ठी) प्रजापति परमात्मा ने (तन्तुम्) विस्तारशील प्रकृति

को, या वायुरूप सूत्र को (ततान) फैलाया, प्रकट किया (तत्र) उस पर (अजः) अजन्मा (एकपादः) एक मात्र सर्वाश्रय परमात्मा ही स्वयं (शिश्रिये) उसमें आश्रय रूप से वर्तमान रहा। उसने (बलेन) अपने विक्षोभकारी बल से (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को (अदृंहत्) दृढता से स्थापित कर दिया।

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत् तेन स्वस्तभितं तेन नाकः।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥७॥

भा०—(रोहितः) उस सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को (अदृंहत्) दृढता से स्थिर किया। (तेन) उसने ही (स्वः) तेजोमय पिण्ड और (तेन नाकः) उसने ही सुखमय लोक (स्तभितम्) थाम रखे हैं और उसी ने (अन्तरिक्षम्) वायुमय स्थान और (रजांसि) वे समस्त तारे आदि लोक (विमिता) नाना प्रकार के बनाये हैं। (तेन) उसके अनुग्रह से (देवाः) दिव्य लोक सूर्य, अग्नि, वायु आदि पदार्थ और आत्मदर्शन करने हारे विद्वान् लोग (अमृतम्) अविनाशी अक्षय रूप को (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं।

वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन ॥८॥

भा०—(रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (प्ररुहः) उत्कृष्ट प्रदेशों (रुहः च) और उनके उत्पन्न करने के सामर्थ्यों को (सम् आकुर्वाणः) एकत्र करता हुआ (विश्वरूपम्) इस विश्व के स्वरूप को (वि अमृशत्) नाना प्रकार से बनाता है और (महता) बड़ा भारी (महिम्ना) सामर्थ्य से (दिवं) द्यौलोक के भी ऊपर (रूढ्वा) अधिष्ठाता रूप से आरूढ़ होकर (ते) तेरे राष्ट्र को (पयसा) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों और (घृतेन) तेज से (सम् अनक्तु) भली प्रकार प्रकाशित करे।

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम्।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ९

भा०—हे परमात्मन्! (याः) जो (ते) तेरी (रुहः) उत्पादक शक्तियां, (प्ररुहः) विशेष बल और (आरुहः) प्रत्यक्ष वृत्तियां हैं (याभिः) जिनसे तू (दिवम् अन्तरिक्षम्) द्यौ और अन्तरिक्ष लोकों को (आपृणासि) पूर रहा है, (तासां) उन महाशक्तियों के (ब्रह्मणा) महान् (पयसा) बल से स्वयं (वावृधानः) सबसे बड़ा होकर, (रोहितस्य) तेरे सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाले जीव के इस (राष्ट्रे) चराचर जगत् में तू सदा (जागृहि) सावधान रहता, उनके कृतकर्मों के फलों की व्यवस्था करता है।

यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः ॥ १० ॥ (१)

भा०—हे परमात्मन्! (याः) जो (ते) तेरी (विशः) तुझमें प्रविष्ट प्रजाएं, (तपसः) सत्य ज्ञान से (सं बभूवुः) विशेष रूप से सामर्थ्यवान् या उत्पन्न हैं और (वत्सं) सबमें निवास करने हारे तुझे और (गायत्रीम्) प्राणों का त्राण करने हारी तेरी ही शक्ति के (अनु) पीछे पीछे (ताः) वे प्रजाएं (इह) इस लोक में (अगुः) गमन करती हैं, (ताः) वे (शिवेन मनसा) शुभ चित्त से (त्वा) तुझमें ही (विशन्तु) प्रवेश कर जायं और तू समस्त विश्व का (सम्-माता) एक मात्र बनाने हारा, (वासः) सबमें बसने हारा (रोहितः) सर्वोत्पादक एवं तेजस्वी उनको (अभि एतु) साक्षात् हो। अथवा—(संमाता वत्सः) बछड़ा जिस प्रकार माता के पास जाता है उसी प्रकार तू भी (अभ्येतु) उनको प्राप्त हो।

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥११॥

भा०—(रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (ऊर्ध्वः) सबसे ऊपर विराजमान (नाके) सुखमय मोक्ष में (अधि अस्थात्) विद्यमान है। वह (युवा) सदा युवा, (कविः) क्रान्त-दर्शी, (विश्वा) समस्त प्रकार के (रूपाणि)

रोचमान पदार्थों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, (अग्निः) प्रकाशस्वरूप अग्नि के समान (तिग्मेन) तीक्ष्ण (ज्योतिषा) ज्योति से (विभाति) विविध रूपों से प्रकाशमान होता है और वही (तृतीये) अति अधिक जीर्णतम, सबसे ऊपर के (रजांसि) लोकों में भी (प्रियाणि) अति मनोहर पदार्थों को (चक्रे) उत्पन्न करता है।

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः।
मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥

भा०—(जात वेदाः) वेदों का उत्पादक, (वृषभः) मेघ के समान सुखों का वर्षण करने वाला, (सहस्रशृङ्गः) सूर्य के समान सहस्रों शृङ्गरूप किरणों से युक्त, (घृताहुतः) घृत की आहुति से प्रदीप्त अग्नि के समान प्रकाशमान, (सोमपृष्ठः) जल को जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से खेंचता है उसी प्रकार आनन्द को अपने भीतर धारण करने वाला, (सुवीरः) उत्तम वीर्यवान्, (नाथितः) सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वर (मा) मेरा (मा हासीत्) परित्याग न करे और हे परमात्मन्! (त्वा) तुझको (इत्) भी (न जहानि) मैं कभी न छोडूं और तू (मे) मुझे (गो-पोषं) गौ आदि पशुओं की सम्पत्ति और (वीरपोषं च) वीरपुत्रों और वीरपुरुषों की बल सम्पत्ति (धेहि) प्रदान कर।

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमाना स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु १३

भा०—(रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (यज्ञस्य) यज्ञ का (जनिता) उत्पादक और (मुखम् च) मुख अर्थात् उसको प्रारम्भ करने हारा है। उसे मैं (वाचा) वाणी से और (श्रोत्रेण) कानों से और (मनसा) मन से (जुहोमि) अपने भीतर धारण करता हूँ। (देवाः) दिव्य प्रकाश और ज्ञान से युक्त विद्वान् पुरुष (सुमनस्यमानाः) प्रसन्न चित्त होकर (तम्

रोहितम्) उस सर्वोत्पादक परमात्मा के ही शरण में (यान्ति) प्राप्त होते हैं। (सः) वह (रोहैः) नाना जन्मों द्वारा (मा) मुझे (साम् इत्यै) अपने साथ मिला लेने के लिये (रोहयतु) उन्नत पद पर चढ़ावे। इसी प्रकार राजा राष्ट्र-यज्ञ का प्रमुख है। उसे हम स्वीकार करें। वह हमें समिति, सभा के सदस्य पद प्रदान करे। हमें प्रतिनिधि आदि होनेका अधिकार दे।

रोहितो यज्ञं व्यदधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांस्युप मेमान्यागुः।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ १४ ॥

भा०—(रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (विश्वकर्मणे) इस विश्व को रचने के लिये (यज्ञम्) समस्त पञ्चभूतों के संसर्ग के कार्यों को (वि अदधात्) नाना प्रकार से करता है। (तस्मात्) उस परमेश्वर से ही (मां) मुझे (इमानि तेजांसि) तेजस्वी पदार्थ और मानसिक तेजोमय ज्ञान (उप आ अगुः) प्राप्त होते हैं। हे परमात्मन् ! मैं (भुवनस्य) समस्त संसार के (मज्मनि अधि) प्रवर्तक बल के भी ऊपर अधिष्ठाता रूप से (ते) तेरे ही (नाभिम्) समस्त संसार को व्यवस्था में बांधने वाले महान् सामर्थ्य को (वोचेयम्) बतलाता हूँ।

आ त्वा रुरोह बृहत्युत पङ्क्तिरा ककुब् वर्चसा जातवेदः।
आ त्वा रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वा रुरोह रोहितो रेतसा सह ॥ १५ ॥

भा०—हे (जातवेदः) ज्ञानमय परमेश्वर ! (बृहती) बृहती छन्द, (पंक्तिः) पंक्ति छन्द (ककुब्) और ककुप् छन्द (वर्चसा) तेरे तेज की अधिकता के कारण (त्वा आरुरोह) तेरे ही आश्रय हैं। (उष्णिहाक्षरः) उष्णिक् छन्द के अक्षर (त्वा) तुझ पर (आरुरोह) आश्रित हैं। (वषट्-कारः) वैदिक वाणी, छहों ऋतुओं का संचालक सूर्य, वाणी, प्राणापान, वज्र, ओज, बल, वायु, विद्युत्, मेघ और उसका गर्जन आदि सभी (त्वा आरुरोह) भी तेरे ही आश्रय पर हैं। (रोहितः) सर्वोत्पादक

(रेतसा सह) सबके बीजमय उत्पादक सामर्थ्य से युक्त सूर्य भी तेरे पर ही आश्रित है।

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेऽयमन्तरिक्षम्।

अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे ॥ १६ ॥

भा०—(अयम्) यह परमात्मा (पृथिव्याः) पृथिवी के (गर्भं) भीतरी भाग को भी (वस्ते) आच्छादित करता, उसमें भी व्यापक है, (दिवं वस्ते) द्यौलोक को भी आच्छादित करता, उसमें भी व्यापक है और (अन्तरिक्षम् वस्ते) अन्तरिक्ष लोक को भी आच्छादित करता अर्थात् उसमें भी व्यापक है। (अयं) यह (ब्रध्नस्य) सूर्य के (विष्टपि) विशेष परितप्त भाग में भी व्यापक है। वह (स्वः लोकान्) स्वः आकाश के समस्त लोकों में (वि-आनशे) नाना प्रकार से व्यापक है।

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु ॥ १७ ॥

भा०—हे (वाचस्पते) वाणी के स्वामी परमेश्वर ! (नः) हमारे लिये (पृथिवी) यह पृथिवी (स्योना) सुखकारिणी हो और हमारे लिये (योनिः स्योना) हमारा निवासस्थान सुखकारी हो। (नः) हमारे (तल्पा) सोने के बिस्तर भी (सुशेवा) सुखपूर्वक सेवन करने योग्य हों। (नः) हमारा (प्राणः) प्राण (इह एव) इस देह में (नः सख्ये अस्तु) हमारे साथ मित्र भाव में रहे। (हे परमेष्ठिन्) हे प्रजापते ! (तं त्वा) उस तुझको (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी ज्ञानी पुरुष, (आयुषा) अपने दीर्घ आयु और (वर्चसा) तेज और बल से (दधातु) अपने में धारण करे।

वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित आयुषा वर्चसा दधातु ॥ १८ ॥

भा०—हे (वाचस्पते) वाणी के स्वामी ! परमात्मन् ! (ये) जो (पञ्च) हमारे शरीरों का परिपाक करने हारे, या पांच (ऋतवः) ऋतुएं, या वर्ष में ऋतुओं के समान शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियें (नौ) हमारे (वैश्वकर्मणाः) समस्त कर्मों और क्रियाओं को करने हारे होकर (परि संबभूवुः) उत्पन्न होते हैं, वे पांचों इन्द्रियें और (प्राणः) प्राण (इह एव) इस देह में ही (नः सख्ये अस्तु) हमारे साथ मित्रभाव में रहें। हे (परमेष्ठिन्) प्रजापते ! (तं त्वा) उस तुझको (रोहितः) उच्च गति को प्राप्त ज्ञानी पुरुष, सूर्य के समान, (आयुषा वर्चसा) आयु और तेज से (दधातु) धारण करे।

वाच॑स्पते सौमन॒सं मन॑श्च गो॒ष्ठे नो॒ गा ज॒नय॒ योनि॑षु प्र॒जाः ।
इ॒हैव प्रा॒णः स॒ख्ये नो॑ अस्तु॒ तं त्वा॑ परमेष्ठि॒न् पर्य॒हमायु॑षा॒ वर्च॑सा दधामि ॥ १९ ॥

भा०—हे (वाचस्पते) परमेश्वर ! राजन् ! (मनः च) हमारे मन में (सौमनसम्) शुभ संकल्प और (नः गोष्ठे गाः) हमारी गो-शालाओं में गौवें और (योनिषु प्रजाः) स्त्रियों और गृहों में प्रजाएं और (इह एव) इस देह में भी (नः सख्ये प्राणः) हमारे मित्रभाव में हमारा प्राण (अस्तु) रहे। हे (परमेष्ठिन्) प्रजापते ! (अहम्) मैं (तं त्वा) उस तुझको (वर्चसा आयुषा) अपने तेज और दीर्घ जीवन से अपने में (दधामि) धारण करता हूँ।

परि॑ त्वा धात् सवि॒ता दे॒वो अ॒ग्निर्वर्च॑सा मि॒त्रावरु॑णाव॒भि त्वा॑ ।
सर्वा॒ अरा॑तीरव॒क्राम॒न्नेहीदं रा॒ष्ट्रम॑करः सू॒नृता॑वत् ॥ २० ॥ (२).

भा०—(सविता देवः) सबका उत्पादक परमेश्वर (त्वा) तेरी (परि धात्) सब ओर से रक्षा करे। (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष (वर्चसा त्वा परि धात्) अपने तेज से तेरी रक्षा करे। (मित्रावरुणौ त्वा अभि) स्नेहीजन और शत्रु वारक सेनापति दोनों तेरी रक्षा करें और तू (सर्वाः) समस्त (अरातीः) शत्रु सेनाओं को (अवक्रामन्) अपने नीचे

पददलित करता हुआ (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (सूनृतावत्) उत्तम ज्ञान और सत्यव्यवहार और सद्व्यवस्था से युक्त (अकरः) बना।

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित।
शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥

ऋ० ८ । ० । २८ ॥

भा०—हे (रोहित) उच्च पदारूढ ! तेजस्विन् ! लाल पोशाक से सुसज्जित राजन् ! (यम् त्वा) जिस तुझको (रथे) रथ में लगी (पृषती) चित्र विचित्र वर्ण की (प्रष्टिः) घोड़ी (वहति) ले जाती है और सूर्य जिस प्रकार (अपः रिणन्) मेघ के जलों को परे हटाता हुआ सुन्दर किरणों से फैलता है उसी प्रकार वह तू (अपः) समस्त प्रजाओं को (रिणन्) परे हटाता हुआ (शुभा) अति सुन्दर रूप से (यासि) राष्ट्र में गमन करता है।

अध्यात्म में—हे (रोहित) उच्च गतिप्राप्त जीव ! (रथे यं त्वा पृषती प्रष्टिः वहति) रमण साधन इस देह में रसों का स्पर्श करने वाली व्यापक चितिशक्ति तुझे ऊर्ध्व मार्ग में ले जाती है, तब तू (अपः रिणन्) कर्म बन्धनों को पार करके (शुभा यासि) कल्याण मार्ग में गमन करता है।

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः।
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम २२

भा०—(रोहिणी) उन्नतिशील प्रकृति या प्रजा (रोहितस्य) उन्नतिशील या सर्वोत्पादक परमेश्वर या राजा की (अनुव्रता) आज्ञा के अनुकूल चलने हारी हो। वह ईश्वर या राजा (सूरिः) विद्वान् है। उसकी शक्ति (सुवर्णा) उत्तम वर्ण वाली, शुभ कर्मों से युक्त और ईश्वर या राजा (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी है। प्रकृति और प्रजा भी (बृहती) सदा वृद्धिशील या महान् है। उससे हम (विश्वरूपान्) नाना प्रकार के (वाजान्) सामर्थ्यों और धनों को (जयेम) प्राप्त करें और (तया) उसके बल पर

ही (विश्वाः) समस्त (पृतनाः) शत्रु सेनाओं पर (अभि स्याम) विजय करें। अर्थात् प्रकृति के वशीकरण से समस्त शत्रुओं पर विजय करें।

इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति ।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥२३॥

भा०—(रोहितस्य) रोहित, परमेश्वर का (इदं सदः) यही विश्व, निवासस्थान, आश्रय है कि यह (रोहिणी) उसकी परम शक्ति या प्रकृति और उसका (असौ) यह (पन्थाः) मार्ग है (येन) जिस मार्ग से (पृषती चित्र वर्णा) व्यापक प्रकृति (याति) गति करती है। (तां) उसका (गन्धर्वाः) वेदवाणी के धारण करने वाले (कश्यपाः) प्रकाश के पालक ज्ञानी लोग (उन्नयन्ति) ज्ञान करते हैं, धारण करते हैं और (ताम्) उसकी (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् लोग (अप्रमादम्) प्रमाद रहित होकर (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं।

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् ।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥ २४ ॥

भा०—(सूर्यस्य) जिस प्रकार सूर्य के (हरयः) शीघ्रगामी किरण (केतुमन्तः) ज्ञान कराने वाले प्रकाश से युक्त होकर (अमृताः) अमृत स्वरूप होकर (सदा) नित्य (रथम्) सूर्य के पिण्ड को (सुखं वहन्ति) सुखपूर्वक धारण करते हैं और जिस प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा के (केतुमन्तः हरयः रथं सुखं वहन्ति) झण्डों से सुशोभित घोड़े रथ को सुखपूर्वक ढोते हैं उसी प्रकार इस सबके प्रकाशक (सूर्यस्य) सूर्य रूप परमात्मा के (केतुमन्तः हरयः) ज्ञान साधनों से युक्त 'हरि' अर्थात् अज्ञानहारी जीव (अमृताः) सदा अमर रहकर (सुखं रथं वहन्ति) सुखपूर्वक अपना देह धारण करते हैं और (भ्राजमानः) प्रकाशमान (रोहितः) परमेश्वर, (देवः) सूर्य (दिवं) द्यौलोक के समान, (घृतपावा) प्रकाश और ज्ञान का पालक होकर (पृषतीम् आ विवेश) उस चित्रवर्णा, प्रकृति के भीतर प्रवेश करता है। राजा के पक्ष में—पृषती समृद्ध प्रजा है। शेष स्पष्ट है।

यो रोहि॑तो वृ॑ष॒भस्ति॒ग्मशृ॑ङ्गः पर्य॒ग्निं परि॒ सूर्यं॑ ब॒भूव॑ ।
यो वि॑ष्ट॒भ्नाति॑ पृथि॒वीं दिवं॑ च॒ तस्मा॑द् दे॒वा अधि॒ सृष्टीः॑ सृजन्ते ॥ २५ ॥

भा०—(यः) जो (रोहितः) सर्वोत्पादक, (वृषभः) सबसे बलशाली और सब कामनाओं का वर्षक, (तिग्मशृङ्गः) सूर्य के समान तीक्ष्ण किरणों से युक्त अथवा पापियों को तीखे साधनों से पीड़ित करने वाला, (अग्निम् परि) अग्नि से भी ऊपर और (सूर्यम् परि) सूर्य के भी ऊपर (बभूव) विद्यमान है और (यः) जो (पृथिवीम्) पृथिवी को और (दिवम् च) द्यौलोक को भी (वि स्तभ्नाति) नाना प्रकार से थामे हुए है, (तस्मात्) उस परमेश्वर के आश्रय से ही (देवाः) समस्त देवगण, पांचों भूत, तन्मात्राएं आदि (सृष्टीः) नाना सृष्टियों को (अधि सृजन्ते) उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार राजा सर्वश्रेष्ठ, तीक्ष्ण बल वाला, सूर्य के समान तेजस्वी होकर सर्व प्राणियों के ऊपर विराजता है।

रोहि॑तो॒ दिव॒मारु॑हन्मह॒तः पर्य॑र्ण॒वात् ।
सर्वा॑ रुरोह॒ रोहि॑तो॒ रुहः॑ ॥ २६ ॥

भा०—(महतः) बड़े भारी (अर्णवात्) समुद्र से (परि) जिस प्रकार सूर्य ऊपर उठता है उसी प्रकार (रोहितः) प्रकाशवान् जीव मुक्त आत्मा (अर्णवात् परि दिवम्) भवसागर से ऊपर द्यौ या मोक्ष स्थान को (आरुहत्) प्राप्त करता है और वह (रोहितः) अति तेजस्वी होकर (सर्वा रुहः) सब उच्च भूमियों और प्रतिष्ठाओं और लोकों को (रुरोह) प्राप्त करता है।

वि मि॑मीष्व॒ पय॑स्वतीं घृ॒ताचीं॑ दे॒वानां॑ धे॒नुरन॑पस्पृ॒गे॒षा ।
इन्द्रः॒ सोमं॑ पिबतु॒ क्षेमो॑ अस्त्व॒ग्निः प्र स्तौ॑तु॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ २७ ॥

भा०—हे ज्ञानवन्! (पयस्वतीम्) दूध वाली, (घृताचीम्) घृत से पूर्ण जिस प्रकार गाय को आदर की दृष्टि से देखा जाता है उसी प्रकार

तू (पयस्वतीम्) ऋत से पूर्ण, (घृताचीम्) तेज से युक्त ऋतम्भरा, विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा को (वि मिमीष्व) विशेष रूप से ज्ञान कर, प्राप्त कर। (एषा) वह प्रज्ञा (देवानाम्) अभ्यासियों की (अनपस्फुक्) सदा उनके साथ रहने वाली, एवं अक्षय अथवा सुशील (धेनुः) रस पान कराने वाली कामधेनु के समान है। (इन्द्रः) ऐश्वर्य, विभूति सम्पन्न आत्मा (सोमं पिबतु) सोम पान करे। (क्षेमः अस्तु) कल्याण हो। (अग्निः) प्रकाशमान योगी पुरुष उस दशा में (प्र स्तोतु) उत्तम रीति से प्रभु की स्तुति करे और इस प्रकार तू (मृधः) चित्त के भीतरी शत्रुओं को (वि नुदस्व) विविध उपायों से दूर कर।

समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥ २८ ॥

भा०—(अग्निः) ब्रह्ममय अग्नि इस आत्मा में अब (सम्-इद्धः) खूब अच्छी तरह प्रदीप्त हो गया है और वह (घृतवृद्धः) घृत से बढ़ा हुआ और (घृताहुतः) घृत की आहुति से प्रदीप्त अग्नि के समान (सम् इधानः) सदा अच्छी प्रकार जलता ही रहे। वही (अभीषाड्) सर्वत्र सब पदार्थों को विजय प्राप्त करने वाला, (विश्वाषाड्) समस्त विश्व का विजय करने वाला परमेश्वर (सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (ये मम) जो मेरे प्रति द्वेष बुद्धि रखते हैं (हन्तु) मारे, नाश करे।

हन्त्वेनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥

भा०—अग्नि के स्वभाव का तेजस्वी पुरुष (एनान्) इन शत्रुओं को (हन्तु) मारे और (यः) जो (अरिः) शत्रु (पृतन्यति) सेना लेकर हमारा विनाश करता है उसको यह पूर्वोक्त अग्नि (प्र दहतु) अच्छी प्रकार भस्म करे। (क्रव्यादा) कच्चा मांस खाने वाले (अग्निना) शवाग्नि के समान अति क्रूर स्वभाव के पुरुष द्वारा (वयं) हम (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र दहामसि) जला दिया करें, भस्म कर दिया करें, उनका मूलोच्छेद कर दें।

अवाचीनानवं जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान् ।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥ ३० ॥ (३)

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! और हे आत्मन् ! तू (वज्रेण) ज्ञानरूप वज्र से (बाहुमान्) बाहु वाला होकर (अवाचीनान्) अपने नीचे दबे हुए अन्तःशत्रु कामादि वर्ग को (अव जहि) और भी नीचे पटक कर विनाश कर। (अधा) और (मामकान्) 'अहम्' अर्थात् आत्मा के या मेरे (सपत्नान्) समान अधिकार का दावा करने वाले शत्रुओं को (अग्नेः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के (तेजोभिः) तेजों के बल से (आदिषि) अपने वश करता हूँ।

अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! तू (सपत्नान् अधरान् पादय) हमारे अन्तःशत्रुओं को नीचे गिरा दे और (अस्मत् सजातम्) हमारे समान बल वाले (उत् पिपानम्) और हमसे ऊंचे होते हुए को हे (बृहस्पते) महान् लोकों के स्वामिन् ! (व्यथय) पीड़ित कर। हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! और हे अग्ने ! (मित्रावरुणौ) हे मित्र ! और वरुण ! वे शत्रु लोग (अ-प्रति-मन्यूयमानाः) हमारे प्रति निष्फल क्रोध वाले होकर (अधरे पद्यन्ताम्) नीचे गिरें।

उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि ।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः ॥ ३२ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान् राजन् ! हे (सूर्य) सूर्य के समान प्रचण्ड तापवान् ! (त्वं) तू (उद्यन्) उदित होता हुआ (मे सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (अव जहि) विनाश कर, दण्डित कर और (एनान्) इनको (अश्मना) पत्थर के समान अभेद्य वज्र से (अव जहि) गिरा या दण्डित कर। (ते) वे (अधमं तमः) नीचे के गहरे अन्धकार को (यन्तु) प्राप्त हों।

वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोऽन्तरिक्षम् ।
घृतेनार्कमभ्यर्चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति ॥ ३३ ॥

भा०—(विराजः) समस्त ब्रह्माण्ड को (वत्सः) आच्छादित करने वाला और (मतीनाम् वृषभः) सब स्तुतियों और ज्ञानों को वहन करने वाला या ज्ञानवान् पुरुषों में से सबसे श्रेष्ठ वह (शुक्रपृष्ठः) तेजःस्वरूप होकर (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में भी (आरुरोह) व्यापक है। विद्वान् लोग (अर्कं) अर्चा करने योग्य (वत्सं) व्यापक परमेश्वर की (घृतेन) उपासना या ज्ञान द्वारा (अभि अर्चन्ति) स्तुति वन्दना करते हैं। (ब्रह्म सन्तं) ब्रह्मस्वरूप उस परमेश्वर की (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (वर्धयन्ति) महिमा का गान करते हैं ।

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व ॥ ३४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! तू (दिवं च रोह) द्यौ प्रकाशमय स्थान, मोक्ष को प्राप्त हो। (पृथिवीम् च रोह) साधनसम्पन्न होकर इस पृथिवी लोक को प्राप्त कर, अपने वश कर। (राष्ट्रं च रोह) राष्ट्र को प्राप्त कर। (द्रविणम् च रोह) धन सम्पत्ति को भी प्राप्त कर। (प्रजाम् च रोह) प्रजा को प्राप्त कर। (अमृतम् च रोह) शत वर्ष के दीर्घ जीवन या अन्न को प्राप्त कर और जीवन की समाप्ति पर अपनी (तन्वं) आत्मा को (रोहितेन) सर्वोत्पादक या प्रकाशमान परमात्मा के साथ (सं स्पृशस्व) अच्छी प्रकार जोड़ दे। राजा के पक्ष में—अमृतं = अन्न । रोहित = राजोचित वेषभूषा ।

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥३५॥

भा०—(ये देवाः) जो विद्वान् लोग (राष्ट्रभृतः) राष्ट्र या तेज को धारण करने वाले हैं और (अभितः सूर्यम्) सूर्य के चारों ओर ग्रहों के समान सर्वप्रेरक राजा के चारों ओर (यन्ति) गति करते हैं, हे पुरुष !

(तैः) उनसे (संविदानः) सत्-मन्त्रणा करता हुआ (रोहितः) उच्च पदारूढ़ राजा (सुमनस्यमानः) शुभ संकल्प होकर (ते) तेरे (राष्ट्रं) राष्ट्र का (दधातु) पोषण करे।

उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम् ॥ ३६ ॥

भा०—हे परमेश्वर! (त्वा) तुझे (ब्रह्मपूताः) वेदमन्त्रों से पवित्र (यज्ञाः) यज्ञ (उत् वहन्ति) धारण करते हैं, तेरा गौरव दर्शाते हैं। (हरयः) हरण करने वाले घोड़े, जिस प्रकार मार्ग में रथ को ढो ले जाते हैं, उसी प्रकार (अध्वगतः हरयः) मोक्ष मार्ग पर विचरण करने वाले, मुक्त जीवगण (त्वा वहन्ति) तुझे अपने हृदय में धारण करते हैं। जीवात्मन्! तू (समुद्रम् तिरः) समस्त आनन्दों के सागर परमात्मा को प्राप्त करके (अर्णवम् अति) इस संसार सागर को पार करके (रोचसे) अति प्रकाशित होता है। राजा के पक्ष में—हरयः = विद्वान् या अश्व। यज्ञ = राष्ट्र।

रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संधनाजिति।
सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ ३७ ॥

भा०—(वसुजिति) समस्त प्राणियों और उनके बसने के लोकों को अपने वश करने हारे, (गोजिति) इन्द्रियों, प्राणों, समस्त सूर्य लोकों को अपने वश करने वाले और (सं धनाजिति) समस्त उत्तम विभूति और ऐश्वर्यों को वश करने वाले, (रोहिते) सर्वोत्पादक परमेश्वर में (द्यावा-पृथिवी अधिश्रिते) द्यौ और पृथिवी लोक आश्रित हैं। (यस्य) जिसके (जनिमानि) स्वरूप (सहस्रं) सहस्र, अति बलशील या सहस्रों लोकों से युक्त समस्त विश्व और (सप्त च) सात प्राण हैं। मैं तो (भुवनस्य) समस्त कार्य संसार के (अधि मज्मनि) अधिष्ठातृ रूप बल पर (ते नाभिम्) तेरे ही केन्द्रस्थ, मुख्य बल को (वोचेयम्) कहता हूँ।

यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम् ।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥३८॥

भा०—(यशाः) हे ईश्वर ! हे राजन् ! यशस्वी होकर तू (प्र दिशः दिशः च) मुख्य दिशाओं और उप-दिशाओं में भी (यासि) प्रयाण करता है। (पशूनाम्) पशुओं (उत्) और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के बीच में भी तू ही (यशाः) सबसे अधिक यशस्वी है। (अदित्याः) अखण्ड (पृथिव्याः) पृथिवी को (उपस्थे) गोद में (अहं) मैं भी (यशाः) यशस्वी होकर (सविता इव) सूर्य के समान (चारुः) प्रकाशमान, उत्तम (भूयासम्) होकर रहूँ।

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि ।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३९ ॥

भा०—(अमुत्र सन्) हे प्रभो ! आप दूर रहकर (इह वेत्थ) यहां की सब कुछ जानते हो और (इतःसन्) यहां रहकर भी (तानि) उन दूर के कार्यों को (पश्यसि) देखते हो। (दिवि सूर्यम्) द्यौलोक में सूर्य के समान प्रकाशमान, एवं (विपश्चितम्) समस्त कामों को जानने वाले आपको, (रोचनम्) प्रकाशमान रूप में, (इतः) इस लोक के तत्वदर्शी (पश्यन्ति) साक्षात् दर्शन करते हैं।

देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे ।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥ (४)

भा०—हे प्रभो ! तू (देवः) प्रकाशमान एवं सब जगत् का खिलाड़ी होकर, (देवान्) समस्त दिव्य पदार्थों को (मर्चयसि) चला रहा है और स्वयं (अर्णवे) इस महान् आकाश को भी (अन्तः चरसि) व्याप्त है। क्रान्तदर्शी लोग (समानम् अग्निम्) उसके समान तेजःस्वरूप अग्नि को यज्ञों में (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं और (परे कवयः) दूसरे क्रान्तदर्शी लोग (तम्) उसी का (विदुः) साक्षात् ज्ञान करते हैं। राजा के पक्ष में—देव = राजा। देवान् = शासकों को। अर्णवे = राष्ट्र में। अग्नि = अग्रणी नेता।

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् कस्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ४१
अथर्व० ९।९।१७॥

भा०—(गौः वत्सम्) गौ जिस प्रकार अपने (पदा) चरण से (वत्सं बिभ्रती) बछड़े को धारण करती हुई उसको अपना रसपान कराती है, उसी प्रकार (परेण) परम पद मोक्ष से या दूर से, दूर लोक से (अवः) समीप से समीपतम स्थान तक और (एना अवरेण परः) इस समीपतम स्थान से अति दूर प्रदेश तक व्यापक, (वत्सं) बसने हारे संसार या समस्त जीव लोक को (पदा) अपने ज्ञान या व्यापक सामर्थ्य से (बिभ्रती) धारण करती हुई (गौः) वह परमेश्वरी शक्तिरूप कामधेनु (उद् अस्थात्) खड़ी है। (सा) वह परम शक्ति (कद्रीची) किस प्रकार की है ?, (कंस्विद् अर्धम्) किस महान् समृद्ध परम पुरुष में (परा अगात्) आश्रित है ? और (क स्वित्) वह किस आश्रय पर (सूते) सृष्टि को उत्पन्न करती है ?, (नहि अस्मिन् यूथे) वह परमेश्वरी शक्तिरूप कामधेनु इस सामान्य गोयूथ अर्थात् विकार रूप महदादि में से नहीं है।

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥४२॥
अथर्व० ९।१०।२१॥ ऋ० १।१६४।४१॥

भा०—वह (एकपदी) एक चरण वाली अर्थात् एक रूप, एक मात्र है और वह (द्विपदी) दो पदों वाली है अर्थात् चेतन और अचेतन, यत् तत्, निरुक्त अनिरुक्त, सत् असत्, या व्यक्त अव्यक्त ये दो स्वरूप उसके दो पद हैं। (सा चतुष्पदी) वह चार पद, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष वाली अथवा चतुष्पद ब्रह्मरूप है। वही (अष्टापदी) आठ पदों वाली चार वर्ण, चार आश्रमों से सम्पन्न अथवा भूमि, आपः, आदि आठ प्रकृतियों से युक्त है और (सा) वह (नवपदी) नव प्राणरूप नव पदों से युक्त (बभू-

वुषी) रहती हुई (भुवनस्य) समस्त संसार के लिये (सहस्राक्षरा) हज़ारों अक्षय शक्तियों को देने वाली है। वही (भुवनस्य) सृष्टि की (पंक्तिः) परिपाक क्रिया करने हारी है। (तस्याः अधि) उससे ही ये (समुद्राः) बड़े बड़े रससागर समुद्र भी (विक्षरन्ति) बह रहे हैं।

आरोहन् द्यामुमृतः प्राव मे वचः ।
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥४३॥

भा०—हे परमात्मन्! तू (द्याम्) प्रकाशमय मोक्षलोक को (आरोहन्) प्राप्त करता हुआ (अमृतः) सदा अमृत स्वरूप (मे वचः) मेरी प्रार्थना रूप वाणी को (प्र अव) उत्तम रीति से पूर्ण कर। (त्वा) तुझको (ब्रह्मपूताः) वेदमन्त्रों से पवित्र (यज्ञम्) समस्त यज्ञ (उद् वहन्ति) उत्कृष्ट रूप से धारण करते हैं। अथवा (ब्रह्मपूताः यज्ञाः) ब्रह्म-ध्यान से पवित्र आत्मागण तुझे (वहन्ति) प्राप्त करते हैं और (अध्वगतः) मोक्ष मार्ग में जाने वाले (हरयः) मुक्त जीव भी (त्वा वहन्ति) तुझे प्राप्त करते हैं।

वेद तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि ।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

भा०—हे (अमर्त्य) मरण धर्म से रहित आत्मन्! (तत्) उस (ते) अपने स्वरूप को (वेद) तू जान, (यत्) जिससे (ते) तेरा (दिवि) तेजोमय मोक्षलोक में (आक्रमणम्) गमन हो और उसको भी जान (यत्) जो (ते) तेरे (सधस्थम्) सदा साथ रहने वाला परम-आत्मा (परमे व्योमन्, वि-ओमन्) परम विविध रक्षा करने हारे मोक्ष रूप में विराजमान है।

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति ।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥ ४५ ॥

भा०—वह महान् (सूर्यः) 'सूर्य' परमेश्वर (द्याम्) द्यौलोक को,

वही (सूर्यः पृथिवीम्) पृथिवी को और वही (सूर्यः आपः) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं को भी (अति पश्यति) सूक्ष्मरूप से उनमें व्याप्त होकर उनको देख रहा है। (भूतस्य) इस उत्पन्न जगत् का (एकम्) एकमात्र (चक्षुः) द्रष्टा भी वही (सूर्यः) परमेश्वर है। वह (महीम् दिवम्) विशाल द्यौलोक में (आ रुरोह) व्याप्त है।

रोहित का महान् यज्ञ

उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत।
तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

भा०—(उर्वीः) विशाल बड़ी २ दिशाएं (परिधयः) पृथ्वीरूप वेदि के परकोट (आसन्) हैं और यह (भूमिः) भूमि (वेदिः) वेदि (अकल्पत) बन गई। (तत्र) उस भूमिरूप वेदि में (एतौ) इन दो प्रकार के (अग्नी) अग्नियों को (रोहितः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (आधत्त) स्थापित करता है, इनमें से एक (हिमम्) शीत काल है और दूसरा (घ्रसम्) ग्रीष्म काल है।

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान्।
वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥

भा०—(हिमं घ्रंसं च आधाय) योगीजन शीतकाल और ग्रीष्मकाल इन दोनों अग्नियों का आधान करके और (पर्वतान् यूपान्) पर्वतों को 'यूप' नामक स्तम्भरूप (कृत्वा) मान कर, (वर्षाज्यौ अग्नि) दोनों अग्नियों में वर्षा को घृत मान कर, (स्वर्विदः) स्वः = प्रकाश और परितापक सूर्य को प्राप्त करने हारे (रोहितस्य) सुखमय और सर्वोत्पादक प्रभु का (ईजाते) यज्ञ करते हैं।

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥

भा०—(स्वर्विदः) प्रकाश और तापदायक सूर्य को अपने वश करने

द्वारे (रोहितस्य) सुखमय और सर्वोत्पादक परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेद के ज्ञान के अनुसार अथवा उसकी महान् शक्ति से (अग्निः) यह महान् अग्नि (सम्-इध्यते) प्रदीप्त होता है। (तस्मात्) उससे ही (ध्रंसः) यह ग्रीष्म और (तस्माद्) उससे ही (हिमः) शीत और (तस्मात्) उससे ही (यज्ञः) यह महान् संवत्सर रूप यज्ञ (अजायत) उत्पन्न हुआ करता है।

ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥

भा०—(ब्रह्मणा) वेद से (वावृधानौ) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए पूर्वोक्त 'हिम' और 'घ्रंस' (ब्रह्मवृद्धौ) ब्रह्म, वेद ज्ञान से परिपुष्ट और (ब्रह्माहुतौ) ब्रह्म, वेदज्ञ विद्वान् द्वारा आहुति दिये गये (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म द्वारा अति दीप्त अग्नियों के समान (स्वर्विदः) स्वः = प्रकाश स्वरूप आत्मा को प्राप्त करने वाले (रोहितस्य) मोक्षपद पर आरूढ़ आदित्य समान योगी के भी (ईजाते) योग यज्ञ को सम्पादन करते हैं ।

सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५० ॥ (५)

भा०—हिम और ध्रंस इन दोनों में (अन्यः) एक (सत्ये) सत्य, ज्ञान, न्याय व्यवस्था में (सम् आहितः) अति सावधान होकर विराजता है और (अन्यः) दूसरा (अप्सु) जलों या प्रजाओं में (सम् इध्यते) दुष्टों का तापकारी होने से अग्नि के समान अच्छी प्रकार प्रदीप्त होता है। वे दोनों ही (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म, वेद और वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा प्रदीप्त अग्नि के समान तेजस्वी होकर (स्वर्विदः) स्वर्ग के समान सुखप्रद आत्मा या राष्ट्र को लाभ करने वाले (रोहितस्य) सर्वोच्चपदारूढ़ उज्ज्वल रक्तवर्ण तेज को धारण करने वाले योगी और राजा के योग और राष्ट्र यज्ञ को (ईजाते) सम्पादन करते हैं ।

यं वातः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥

भा०—(यं) जिस प्राण को (वातः) वायु (परि शुम्भति) अलंकृत करता है और (यं वा) जिस अपान को (इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः) वेद, अन्न और प्राण का पालक इन्द्र अर्थात् जीवात्मा सुशोभित करता है, वे दोनों 'हिम' और 'घ्रंस' (ब्रह्मेद्धौ) वेद द्वारा प्रज्वलित अग्नियों के समान स्वयं प्रदीप्त होकर, (स्वर्विदः) प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होने वाले (रोहितस्य) मोक्ष पद में आरूढ़ योगी के देह में (ईजाते) यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम्।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥५२॥

भा०—(भूमिम्) भूमि को (वेदिम्) वेदि (कल्पयित्वा) बनाकर और (दिवम्) द्यौलोक को (दक्षिणाम्) 'दक्षिणा' (कृत्वा) करके और (घ्रंसम्) 'घ्रंस' को (तदग्निम्) वेदि में अग्नि (कृत्वा) बनाकर (रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (वर्षेण आज्येन) वर्षारूप 'आज्य' या घृत से (विश्वम्) समस्त विश्व को (आत्मन्वद्) अपनी चेतना शक्ति से युक्त (चकार) करता है।

वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत।
तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

भा०—इस महान् यज्ञ में (वर्षम् आज्यम्) वर्षा घृत के समान है। (अग्निः घ्रंसः) ग्रीष्म का सूर्य ही अग्नि के समान है। (वेदिः भूमिः अकल्पयत्) और भूमि को वेदि बनाया गया है। (तत्र) और उस विश्वमय विराड् यज्ञ में (एतान् पर्वतान्) इन पर्वतों को (अग्निः) अग्निरूप परमेश्वर ने (गीर्भिः) अपनी उद्गिरण करने वाली शक्तियों से (ऊर्ध्वान्) ऊर्ध्व, ऊंचे स्थलों, पर्वती चट्टानों को (अकल्पयत्) बनाता है। पृथ्वी की भीतरी अग्नि ज्वालामुखी रूप से फूट २ कर भूतल को विषम करती है। पृथ्वी के स्तर टूट २ कर पर्वत और खोहें बनती हैं।

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत्।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ५४ ॥

भा०—(गीर्भिः) अपनी उद्‌गिरण करने वाली शक्तियों से (ऊर्ध्वान्) उच्च प्रदेशों को (कल्पयित्वा) रचकर (रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (भूमिम्) भूमि के प्रति (अब्रवीत्) कहता है कि (यद् भूतं) जो उत्पन्न हुए और (यत् च भाव्यम्) जो उत्पन्न होने योग्य पदार्थ हैं (इदं सर्वम्) यह सर्व (त्वयि) तुझमें ही (जायताम्) उत्पन्न हों ।

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत।

तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥ ५५ ॥

भा०—(सः यज्ञः) वह महान् यज्ञ (प्रथमः) सबसे प्रथम, सबसे श्रेष्ठ, (भूतः) महान् संसार रूप में उत्पन्न और (भव्यः) निरन्तर होने वाला (अजायत) सम्पन्न हुआ। (तस्माद्) उस महान् यज्ञ से (इदं सर्वं जज्ञे) यह समस्त संसार उत्पन्न हुआ (यत् किं च) जो कि (इदं विरोचते) यह नाना प्रकार से शोभा दे रहा है और (रोहितेन) जिसको सर्वोत्पादक (ऋषिणा) क्रान्तद्रष्टा अन्तर्यामी परमेश्वर (आभृतम्) धारण कर रहा है।

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति ।

तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५६ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (गां च) गौ को, वाणी को, या पृथ्वी को (पदा) चरण से (स्फुरति) ठुकराता, उसका अपमान करता है और (सूर्यम् च) सूर्य के (प्रत्यङ्) सामने (मेहति) मूत्र करता है ऐसे (ते तस्य) पुरुष के (मूलं) मूल को मैं (वृश्चामि) विनाश करता हूँ, जिससे (अपरम्) उसके बाद (छायाम्) इस प्रकार की अपमानजनक क्रिया (न करवः) न कर पावे ।

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा ।

तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५७ ॥

भा०—हे पुरुष ! (यः) जो तू (मा) मुझ गुरु को (अभिच्छायम्)

अपनी छाया मुझ पर फेंकता हुआ (अत्येपि) मेरा अतिक्रमण करे और (मां अग्निम् च अन्तरा) और यदि मुझ शिष्य और अग्नि और तद्रूप आचार्य के बीच में से गुजरे, (तस्य ते) ऐसे तेरे (मूलम्) मूल को (वृश्चामि) काट डालूं, जिससे तू (अपरम्) फिर ऐसी (छायाम्) अपमानजनक क्रिया (न करवः) न करे ।

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।

दुष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥

भा०—हे (देव) परमेश्वर, राजन्, गुरो ! हे (सूर्य) सूर्य के समान प्रकाशक ! (यः) जो (अद्य) आज (त्वां च मां च अन्तरा) तेरे और मेरे बीच में (आयति) आ जाय (तस्मिन्) उसमें (दुष्वप्न्यं) बुरे स्वप्न देने वाले (शमलम्) पापवासना और (दुरितानि च) दुष्ट संकल्पों को (मृज्महे) लगा दें ।

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।

मान्त स्थुर्नो अरातयः ॥ ५९ ॥ ऋ० १० । ५७ । १ ॥

भा०—हम लोग (पथः) सत् मार्ग से (मा प्र गाम) कभी विचलित न हों । हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (सोमिनः) परमानन्दरूप वाले (यज्ञात्) परमेश्वर की उपासना से (वयम् मा) हम कभी च्युत न हों और (अन्तः) भीतर (नः अरातयः) हमारे काम क्रोध आदि शत्रु लोग हम पर (मा स्थुः) कभी आक्रमण और वश न करें ।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।

तमाहुतमशीमहि ॥ ६० ॥ (६)

ऋ० १० । ५७ । २ ॥

भा०—(यः) जो (यज्ञस्य) इस पूर्वोक्त महान् विश्वमय यज्ञ का (प्रसाधनः) संचालन करने-हारा, (तन्तुः) तन्तु के समान सबको बांधने हारा होकर, (देवेषु) समस्त प्राणों और समस्त लोकों और दिव्य पदार्थों

में (आततः) फैला हुआ है, (तम्) उस (आहुतम्) [illegible] आदर योग्य, पूजनीय आनन्दमय प्रभु को हम (अशीमहि) प्राप्त करें, उसका दिये का भोग करें। या आनन्द-रसरूप इसको अपनी आत्मा में आहुति करके उसका भोग कर। इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तमेकं, षष्टिश्च ऋचः ।]

[२] रोहित परमेश्वर और ज्ञानी ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मरोहितादित्यो ॥ छन्दः—१, १२–१५, ३९–४१ अनुष्टुभः, २–३,८,४३ जगत्यः, १० आस्तारपंक्तिः, ११ बृहतीगर्भा, १६–२४ आर्षी गायत्री, २५ ककुम्मती आस्तारपंक्तिः, २६ पुरोद्व्यतिजागता भुरिक् जगती, २७ विराड् जगती, ९९ बार्हतगर्भानुष्टुप्, ३० पञ्चपदा उष्णिग्गर्भाऽतिजगती, ३४ आर्षी पंक्तिः, ३७ पञ्चपदा विराड्गर्भा जगती, ४४, ४५ जगत्यौ [४४ चतुष्पदा पुरःशाक्करा भुरिक्, ४५ अतिजागतगर्भा]।

षट्चत्वारिंशदृचं सूक्तम् ॥

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥ १ ॥

भा०—(मीढुषः) समस्त संसार में जीवन-सेचन करने हारे, (महिव्रतस्य) जगत् के सर्जन, पालन, संहार आदि कार्यों के करने वाले, (आदित्यस्य) सूर्य के समान सबको अपने वश में कर लेने वाले, (नृचक्षसः) सर्व मनुष्यों के कर्मों और कर्मफलों के द्रष्टा (अस्य) इस परमात्मा के, (शुक्राः) कान्ति सम्पन्न और (भ्राजन्तः) दीप्तिमान (केतवः) ज्ञापक किरणों के समान प्रज्ञानयुक्त चिन्ह (उद् ईरते) उदित होते और साक्षात् होते हैं।

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे ।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥२॥

भा०—(दिशाम्) दिशाओं को जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से प्रकाशित करता है उसी प्रकार (अर्चिषा) अपनी ज्ञानज्योति से (प्रज्ञानां) योगियों की ऋतम्भरा प्रज्ञाओं को (स्वरयन्तम्) प्रकाशित करते हुए, (सुपक्षम्) शोभन रीति से सबके आश्रय-दाता और (अर्णवे) महान् विस्तृत आकाश में (आशुम्) सर्वव्यापक, एवं (पतयन्तम्) योगियों को ज्ञान कराते हुए, (भुवनस्य) उत्पन्न संसार के (गोपाम्) परि-पालक (सूर्यम्) सूर्य, प्रभु की (स्तवाम) हम स्तुति करते हैं, (यः) जो (रश्मिभिः) किरणों के समान व्यापक शक्तियों से (सर्वाः दिशः) समस्त दिशाओं को (आभाति) प्रकाशित करता है।

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥३॥

भा०—हे परमात्मन् ! (यत) जो तू (प्राङ्) पूर्व दिशा में और (प्रत्यङ्) पश्चिम दिशा में, पूर्व और पश्चात् (स्वधया) अपनी धारणा शक्ति से (शीभम्) अति शीघ्रता से (यासि) सूर्य के समान गति करता या व्यापता है और (मायया) अपनी 'माया' दिव्य ज्ञानशक्ति से (नाना-रूपे) नाना प्रकार के (अहनी) दिन और रात (कर्षि) बनाता है (तत्) वही हे (आदित्य) सबके आदानकारक परमात्मन् ! (महि) महान् (श्रवः) कीर्ति है (यत्) कि (एकः) तू अकेला ही (विश्वं भूम) समस्त संसार के ऊपर (परि जायसे) सूर्य के समान प्रकाशक और जीवनप्रद रूप में सामर्थ्यवान् होकर विराजता है।

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः।
स्रुताद् यमत्त्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥४॥

भा०—(बह्वीः) नाना संख्या वाली या बड़ी बड़ी (सप्त) सात दिशाएं जिस प्रकार सूर्य को धारण करती हैं उसी प्रकार सात (हरितः) हरण करने वाली सात प्राण वृत्तियां (यं वहन्ति) जिस आत्मा को वहन

या धारण करती हैं और (यम्) जिसको (अत्रिः) सर्व जगत् को अपने में लीन करने हारा परमात्मा (स्रुताद्) गतिशील संसार से हटाकर (दिवम्) मोक्ष में (उत् निनाय) ले जाता है, (विपश्चितम्) ज्ञान और कर्म के संचय करने-हारे, (तरणिम्) संसार को पार करने वाले, (भ्राजमानम्) अति देदीप्यमान तेजस्वी, आत्मा को, विद्वान् लोग अपनी (आजिम्) प्राप्त करने योग्य चरम-सीमा स्वरूप परब्रह्म के प्रति (परियान्तम्) गमन करते हुए (पश्यन्ति) साक्षात् दर्शन करते हैं।

मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम्।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (आजिम्) चरम सीमा अर्थात् मोक्षपद तक (परि यान्तम्) पहुँचते हुए (त्वा) तुझको (मा दभन्) काम क्रोध आदि मानस शत्रु न मारें। तू (दुर्गान्) कठिन कठिन अवसरों, प्रलोभनों को भी (शीभम्) अति शीघ्र (अति याहि) पार कर। (स्वस्ति) तेरा मोक्षमार्ग में सदा कल्याण हो। (यद्) जब (अहोरात्रे वि मिमानः) दिन रात्रि को नाना प्रकार से बनाता, बिताता हुआ, हे (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्विन् योगिन् ! (दिवं) द्यौलोक के समान प्रकाशमान और (पृथिवीम् च) पृथिवी लोक के समान सर्वाश्रय परमात्मा के पास (एषि) पहुँचता है।

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥६॥

भा०—हे सूर्य के समान देदीप्यमान आत्मन् ! (ते रथाय स्वस्ति) तेरे रमणकारी स्वरूप के लिये 'स्वस्ति' है, अर्थात् वह बहुत उत्तम है (येन) जिससे तू (उभौ अन्तौ) दोनों सीमाओं को (सद्यः) शीघ्र ही (परियासि) प्राप्त होता है और (ते) तेरे (यम्) जिस स्वरूप को, (वहिष्ठाः) वहन करने हारी, (हरितः) अति शीघ्रगामिनी, रश्मियों के समान चित्त-वृत्तियां या प्राण वृत्तियां या (शतम्) सौ, सैकड़ों (अश्वाः)

व्यापनशील किरणें और (बह्वीः) बड़ी विशाल (सप्त) सात दिशाएं जिस प्रकार सूर्य को धारण करती हैं उसी प्रकार उस आत्मा को (शतम् अश्वाः) सौ व्यापनशील हृदयगत नाड़ियां और (सप्त बह्वीः) सात मुख्य प्राण (वहन्ति) धारण करते हैं।

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥७॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्विन् आत्मन्! (सुखम्) सु = उत्तम ख = ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय के मार्गों से युक्त, (अंशुमन्तं) मनोरश्मियों से सम्पन्न, (स्योनं) सुखकारी, (सुवह्निम्) सुख से एक लोक से लोकान्तर में वहन करने वाले, (वाजिनम्) बल से सम्पन्न (रथम्) उस रथ रूप भौतिक और अभौतिक सूक्ष्म रथ पर (अधि तिष्ठ) विराजमान हो। (ते यम्) तेरे जिस देह रथ को (वहिष्ठाः) वहन करने में समर्थ (हरितः) गति-शील प्राण, (अश्वाः शतम्) और शत नाड़ियां, (यदि वा) अथवा (बह्वीः सप्त) अति बलवती सात प्राणवृत्तियां (वहन्ति) धारण करती हैं।

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥८॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा (हिरण्यत्वचसः) सुवर्ण के समान तेजोमय आवरण वाली, (बृहतीः) बड़ी विशाल कार्य करने में समर्थ (सप्त) सात (हरितः) हरण-शील प्राणशक्तियों को (यातवे) अपनी जीवन यात्रा के लिये (रथे) अपने रमण साधन देह में, घोड़ों को रथी के समान (अयुक्त) जोतता है और वही (रजसः परस्तात्) सब लोकों के परे विद्यमान सूर्य के समान (शुक्रः) अति शुचि, दीप्तिमान् होकर (रजसः परस्तात्) रजोगुण से परे (अमोचि) मुक्त हो जाता है और वही (तमः) तमोगुण को (विधूय) दूर करके (दिवम्) द्यौलोक या प्रकाशस्वरूप मोक्षमय धाम परमेश्वर को (आरुहत्) प्राप्त होता है।

उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोऽभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥९॥

भा०—(देवः) प्रकाशमान आत्मा (बृहता केतुना) बड़े भारी प्रज्ञान से (उत् आगन्) ऊपर उठता है और वह (तमोभिः) तामस आवरणों से (अपावृक्) सर्वथा मुक्तहोकर (ज्योतिः) परमेश्वरीय प्रकाश को (अश्रैत्) धारण करता है । वह प्रकाशवान् आत्मा (अदितेः) उस महान् अखण्ड परमेश्वरी शक्ति का (पुत्रः) पुत्र होकर उसके अनुग्रह से अनुगृहीत होकर, (दिव्यः) दिव्य शक्ति से युक्त और (सुपर्णः) उत्तम प्रज्ञान से सम्पन्न होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को सूर्य के समान (वि अख्यत्) विविध प्रकार से प्रकाशित करता है ।

उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वांल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः १०(७

भा०—हे आत्मन् ! तू (उद्यन्) उदित होता हुआ सूर्य के समान ही (रश्मीन्) रश्मियों को (आ तनुषे) चारों ओर फेंकता है, तथा (क्रतुना) ज्ञान और कर्म के सामर्थ्य से (भ्राजमानः) अति प्रदीप्त होकर, (सर्वान् लोकान् परिभूः) समस्त लोकों में व्यापक सूर्य के समान कामचारी होकर (उभा समुद्रौ) दोनों समुद्रों, इह और अमुक दोनों लोकों को (विभासि) प्रकाशित करता है । 'आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयति । एष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः ।'—प्रश्न उप० ३ । ८ ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥ ११ ॥

अथर्व० ७ । ८१ । १ ॥ १४ । १ । २३ ॥

भा०—(एतौ) ये दोनों (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (शिशू) दो बालकों के समान परमात्मा और आत्मा (मायया) अलौकिक बुद्धि से (अर्णवं परि यातः) संसार समुद्र में गति करते हैं उन दोनों में से (अन्यः) एक

(विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों को साक्षीरूप से (विचष्टे) देखता है, (अन्यं) दूसरे को (हैरण्यैः) अभिरमणीय इन्द्रिय आदि से गम्य भोग्य विषयों द्वारा (हरितः) हरणशील प्राणगण (वहन्ति) धारण करते हैं।

दि॒वि त्वात्रि॑रधारय॒त् सूर्या॒ मासा॑य॒ कर्त॑वे।

स ए॑षि॒ सुधृ॑त॒स्तप॒न् विश्वा॑ भू॒ताव॒चाक॑शत् ॥ १२ ॥

भा०—हे (सूर्य) आत्मन्! (अत्रिः) सर्वव्यापक एवं प्रलयकाल में सबको अपने भीतर ले लेने वाला परमात्मा, (त्वां) तुझको, (मासाय) उत्तम कर्म या तपस्या के (कर्तवे) करने के लिये, (दिवि) प्रकाशमान मोक्षलोक में (अधारयत्) स्थापित करता है। (सः) वह (एषः) यह सूर्य के समान (सुधृतः) उत्तम रीति से स्थिर होकर, (तपन्) तेज से परितप्त होकर, (विश्वा भूता) समस्त प्राणियों के प्रति (अवचाकशत्) प्रकाशित होता है।

उ॒भाव॒न्तौ सम॑र्षसि व॒त्सः सं॑मा॒तरा॑विव।

न॒न्वे॒३॒ तदि॒तः पु॒रा ब्रह्म॑ दे॒वा अ॒मी वि॑दुः ॥ १३ ॥

भा०—(वत्सः) बच्चा जिस प्रकार (मातरौ इव) माता पिता दोनों के प्रति (सम्) समान भाव से प्रेम में आकर्षित होकर जाता है उसी प्रकार हे मुमुक्षु आत्मन्! तू (उभौ अन्तौ सम् अर्षसि) दोनों अन्त = चरम आत्मा और परमात्मा दोनों के प्राप्तव्य स्वरूपों को प्राप्त होता है। (ननु) निश्चय से (एतम्) इस परम ध्येयस्वरूप को (पुरा) पूर्वकाल के (अमी देवाः) वे पारंगत विद्वान् पुरुष (ब्रह्म विदुः) ब्रह्मरूप से साक्षात् करते और जानते हैं।

यत् स॑मु॒द्रमनु॑ श्रि॒तं तत् सि॑षासति॒ सूर्यः॑।

अ॒ध्वास्य॒ वित॑तो म॒हान् पूर्व॒श्चाप॑रश्च॒ यः ॥ १४ ॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य के समान तेज से युक्त आत्मा, (तत्) उस परमरस को (सिषासति) प्राप्त करना चाहता है, (यत्) जो, (समुद्रम्

अनु श्रितम्) आनन्दरस के सागर परमेश्वर में विद्यमान है। (अस्य) इस तक पहुँचने के लिये (यः) जो (पूर्वः) पूर्व जो पहले चला आया है और (यः अपरः च) जो अपर आगे भी चलता है वह समस्त (अध्वा) महा मार्ग (महान् विततः) बड़ा भारी उसके समक्ष विस्तृत है। अर्थात् ब्रह्म का मार्ग महान् है, जिसका आगा और पीछा दोनों विशाल हैं। पूर्ण ब्रह्म का मार्ग अनन्त है।

तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति ।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते ॥ १५ ॥

भा०—वह योगी सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा भी (जूतिभिः) अपने ही मानस ज्योतियों या ज्ञान के अति वेगों से (तम्) उस सुदूरवर्ती परब्रह्म मार्ग को (सम् आप्नोति) प्राप्त कर लेता है, (ततः) तब वह (न अप चिकित्सति) उसे त्याग कर फिर कुमार्ग या संशय भ्रम में नहीं जाता। (तेन) इसी कारण लोग (देवानां) विद्वान् लोगों के निमित्त (अमृतस्य) अन्न के (भक्षं) भोग को (न अव रुन्धते) नहीं रोकते।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

अथर्व० २० । ४७ । १३ ॥ ऋ० १ । ५० । १ ॥ यजु० । ७ । ४१ ॥

भा०—(केतवः) ज्ञानवान् पुरुष (त्यं जातवेसम्) उस सर्वज्ञ परमेश्वर को (उद् वहन्ति) उत्तम लोक में प्राप्त करते हैं और (विश्वाय सूर्यम्) समस्त संसार के प्रेरक परमात्मा को (दृशे) साक्षात् दर्शन करने का यत्न करते हैं।

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ १७ ॥

ऋ० १ । ५ । २ ॥ अथर्व० २० । ४७ । १४ ॥

भा०—(विश्वचक्षसे) विश्व के नेत्र या समस्त विश्व को देखने वाले

(सूराय) सूर्य के तीव्र प्रकाश से (यथा) जिस प्रकार (नक्षत्रा:) नक्षत्रगण (अक्तुभि:) अपनी दीप्तियों या अन्धकारमय रात्रियों सहित दिन में (अप यन्ति) विलुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार (विश्वचक्षसे सूराय) सर्वद्रष्टा सूर्य के समान योगी के प्रबल प्रभाव से (त्ये) वे नाना प्रकार के (तायव:) चोर स्वभाव अज्ञान अन्धकार के गहरे पर्दे में छिपकर विषयवासना रूप से आत्मा को छलने लुभाने वाले भोग और वञ्चनाकारी लोग भी (अप यन्ति) दूर भाग जाते हैं।

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १८ ॥

ऋ० १।५०।३ ॥ यजु० ८।४० ॥ अथर्व० २०।४७।१५ ॥

भा०—(अस्य) इस परमात्मा के (केतव:) ज्ञान कराने-हारे विद्वान् पुरुष, (रश्मय:) सूर्य की किरणों के समान (जनान् अनु) सर्व साधारण-जनों के हित के लिये, उनमें (वि अदृश्रन्) नाना प्रकार से दिखाई देते हैं। वे तो इस लोक में, साक्षात् (यथा) जिस प्रकार (भ्राजन्त:) चमचमाते प्रकाशमान (अग्नय:) अग्नियां हों उसी प्रकार तपस्वी, तेजस्वी होकर रहते हैं।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥ ऋ० १।५०।४ ॥

भा०—हे (रोचन) प्रकाशस्वरूप, सर्वप्रकाशक आत्मन्! परमात्मन्! तू (तरणि:) सबको तराने हारा, (विश्व-दर्शत:) सूर्य के समान सबको दर्शाने वाला, एवं सब संसार के लिये परम दर्शनीय है और हे (सूर्य) सर्वोत्पादक तू ही (ज्योति: कृत् असि) समस्त सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतियों का रचने-हारा है। तू सचमुच (विश्वम् आभासि) समस्त विश्व को प्रकाशित करता है।

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। उप०।

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ २० ॥ (८) ऋ० १ । ५० । ५ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू (देवानां) देवों, इन्द्रियों और प्राणों की बनी (विशः) प्रजाओं और (मानुषीः विशः) मनुष्य प्रजाओं के भी (प्रत्यङ्) साक्षात् होकर (उद् एषि) उदित होता है। (स्वः) सुख को (दृशे) साक्षात् दर्शन कराने के लिये (विश्वम्) समस्त विश्व के (प्रत्यङ्) प्रति तुम अपना साक्षात् दर्शन देते हो।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥ ऋ० १ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (पावक) परमपावन परमात्मन् ! हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ एवं सबसे वरण करने योग्य ! (येन चक्षसा) तू दया की दृष्टि से (भुरण्यन्तम्) प्रजा के भरण-पोषण करने वाले पुरुष को (पश्यसि) देखता है, उसीसे हमें भी देख।

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥ ऋ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) प्रेरक, उत्पादक आत्मन् ! जिस प्रकार सूर्य (अक्तुभिः) अपनी दीप्तियों से (अहः मिमानः) दिन को मापता हुआ आकाश में उदित होता है उसी प्रकार तू भी (अक्तुभिः) अपनी ज्योतिर्मय ज्ञानसाधन इन्द्रियों से (पृथुः रजः) विस्तृत लोकों का (मिमानः) ज्ञान करता हुआ और (जन्मानि) नाना जन्मों को (पश्यन्) देखता हुआ, (द्याम्) उस प्रकाशमान ब्रह्म को (वि एषि) विशेष रूप से प्राप्त होता है।

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २३ ॥ ऋ० । १ । ५० । ८ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्विन् आत्मन् ! (शोचिष्केशम्) दीप्ति के आवरण या काशमय स्वरूप से युक्त, (विचक्षणम्) विशेष

रूप से ज्ञान दर्शन करने हारे विज्ञानवान् आत्मा रूप (त्वा) तुझको, हे (देव) दर्शन-वान् आत्मन् ! (सप्त हरितः) सात हरण-शील वेगवान् प्राण (वहन्ति) धारण करते हैं।

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥　　ऋ० १ । ५० ९ ॥

भा०—(सूरः) ज्ञानवान् आत्मा, (रथस्य) रमणसाधन इस देहरूप 'रथ' के साथ (नप्त्यः) सम्बद्ध (सप्त) सात (शुन्ध्युवः) शुद्ध प्राणों को, (अयुक्त) योग मार्ग में नियुक्त या समाहित करता है और (ताभिः) उन प्राणों से ही (स्वयुक्तिभिः) अपने योग के आठों उपायों से (याति) परम पद तक पहुँचता है।

रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव ॥२५॥

भा०—(रोहितः) तेजस्वी सूर्य के समान आत्मा, (तपसा) तप से (तपस्वी) तपस्वी होकर, (दिवम्) प्रकाशमान परमेश्वर या मोक्ष को (आरुहत्) प्राप्त होता है। वही पुनः (योनिम् ऐति) योनि या इस मनुष्य आदि योनि को प्राप्त होता है। (सः उ पुनः जायते) वह ही पुनः पुनः जन्म धारण करता है। (सः) वह ही (देवानाम्) ग्राह्य विषयों में क्रीड़ा करने वाले प्राणों का (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) होता है।

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥२६॥
ऋ० १० । ८३ । ३ ॥ यजु० १७ । १९ ॥

भा०—(यः) जो परमात्मा (विश्वचर्षणिः) समस्त जगत् का द्रष्टा, (उत) और (विश्वतोमुखः) सब ओर के मुखों वाला है। (यः विश्वतः पाणिः) जिसके सर्वत्र हाथ हैं और जो (विश्वतस्पृथः) सर्वत्र व्याप्त है। वह (एकः देवः) एक मात्र सबका द्रष्टा, सबका प्रकाशक, उपास्य देव

विश्व के प्राणियों पर दया करके (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी इन दोनों में, विद्यमान समस्त चराचर संसार को, (पतत्रैः) कारणों द्वारा (संजनयन्) भली प्रकार उत्पन्न करता हुआ, (बाहुभ्याम्) अपनी बाहुओं से, अपने हाथों से मानो सबका (सं भरति) भली प्रकार भरण पोषण करता है ।

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं समासते ॥२७॥
पूर्वार्धः १० । ११७ । ८ (प्र० द्वि०) अथर्व० १३ । ३ । २५ ॥

भा०—(एकपाद्) एक चरण वाला (द्विपदः भूयः वि चक्रमे) दो चरण वाले से अधिक गति करता है और (द्विपात्) दो चरण वाला (त्रिपादम्) या तीन चरण वाले को (पश्चात्) पीछे से आकर भी (अभि एति) पकड़ लेता है । (द्विपात् ह) दो चरण वाला (षट्पदः भूयः विचक्रमे) 'षट्पद्' से भी अधिक वेग से चलता है । (ते) वे सब (एकपदः) एक चरण वाले के (तन्वं) शरीर के आश्रय पर ही (सम् आसते) विराजते हैं ।

वायुरेकपात् तस्य आकाशं पादः । गो० पू० २ । ८ ॥ आदित्यस्त्रिपात् तस्येमे लोकाः पादाः । गो० पू० २ । ८ ॥ चन्द्रमा द्विपात् तस्य पूर्वपक्षाऽपरपक्षौ पादौ । गो० पू० २ । ८ ॥ द्विपाद्वा अयं पुरुषः । श० २ । ३ । ४ । ३३ ॥ अग्निः षट्पादस्तस्य पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः एप ओषधिवनस्पतय इमानि भूतानि पादाः । गो० पू० २ । ९ ॥ अर्थात् वायु चन्द्र से भी शीघ्रगामी है और चन्द्र सूर्य को राशि संक्रमण में पीछे से जा पकड़ता है और यह द्विपात् पुरुष समस्त अग्नि को अपने वश करता है । ये सब 'एकपात्' परमात्मा या 'वायु' सब प्राणों के प्राण पर आश्रित हैं ।

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ।२८

भा०—हे (आदित्य) आदित्य के समान तेजस्वी आत्मम् ! सूर्य जिस प्रकार (विश्वा रजांसि सहमानः) समस्त लोकों और धूलिपटलों को अपने तेज से दूर करता हुआ (केतुमान्) रश्मियों से युक्त होकर (प्रवतः) दूर से ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार तू भी (विश्वा रजांसि) प्रजा के रजोविकारों को (सहमानः) अपने तपोबल से दूर करता हुआ, (उद्यन्) उनसे ऊपर उठता हुआ, (केतुमान्) ज्ञानवान् होकर, (प्रवतः) दूर २ भी (वि भासि) प्रकाशित होता, प्रसिद्ध होता है और जिस प्रकार (अतन्द्रः) विना अस्त हुआ सूर्य दिशाओं में गति करता है तो (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप, दिन और रात्रि को प्रकट करता है उसी प्रकार आदित्य योगी भी (अतन्द्रः) तन्द्रा रहित, आलस्य रहित होकर (यास्यन्) मोक्ष मार्ग में गति करने की इच्छा करता हुआ, (यदा) जब (हरितः) अपने हरणशील प्राणों को (आस्थात्) वश करता है, तब (रोचमानः) अति प्रकाशमान होता हुआ (द्वे रूपे) दो रूपों को (कृणुते) प्रकट करता है। दो रूप = सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, निर्बीज और सबीज समाधि।

बण्म॒हाँ अ॑सि सूर्य॒ बडा॑दित्य म॒हाँ अ॑सि।
म॒हांस्ते॑ मह॒तो म॑हि॒मा त्वमा॑दित्य म॒हाँ अ॑सि ॥ २९ ॥

ऋ० ८।१०१।११ ॥ यजु० ३३।३९ ॥ अथर्व० २०।५८।३ ॥

भा०—(बट्) निश्चय से, हे (सूर्य) सूर्य के तुल्य तेजस्विन् आत्मन् ! तू (महान् असि) महान् है। हे (आदित्य) आदित्य के समान आत्मन् ! (बट्) सचमुच (महान् असि) तू महान् है। (महतः ते) तुझ महान् की (महान् महिमा) बड़ी महिमा है। (त्वम्) तू हे (आदित्य) सूर्य के समान प्रकाशक परमेश्वर ! (महान् असि) सबसे बड़ा है।

रोच॑से दि॒वि रोच॑से अ॒न्तरि॑क्षे पत॑ङ्ग पृथि॒व्यां रोच॑से॒ रोच॑से अ॒प्स्व॑१॒न्तः। उ॒भा स॑मु॒द्रौ रुच्या॒ व्या॑पिथ दे॒वो दे॑वासि महि॒षः स्व॒र्जित् ॥ ३० ॥ (९)

भा०—हे (पतंग) ज्ञान-ऐश्वर्य को प्राप्त आत्मन् ! तू सूर्य के समान (दिवि) आकाश में या ज्ञानमय मोक्षपद में (रोचसे) प्रकाशित होता है। (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में सूर्य के समान तू अन्तःकरण में प्रकाशित होता है। (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (रोचसे) प्रकाशित होता है। (अप्सु अन्तः) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं और प्रजाओं के भीतर भी तू (रोचसे) शोभा देता है और तू (रुच्या) अपनी कान्ति से (उभौ समुद्रौ) दोनों समुद्रों को सूर्य के समान ही दोनों लोकों को (व्यापिथ) व्याप्त होता है और हे (देव) प्रकाशवान् ! तू ही (देवः) उपास्य देव (महिषः) सबसे महान् और (स्वर्जित्) ज्ञान और प्रकाशमय लोकों को अपने वश करने हारा है।

अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥३१॥

भा०—(पतङ्गः) योगसिद्ध विभूति को प्राप्त होने हारा, योगी आत्मा, (अर्वाङ) नीचे या समीप, उरे या आगे, (परस्तात्) दूर परे और (व्यध्वे) विशेष मार्ग के बीच में भी, (प्रयतः) उत्तम रीति से प्राणायाम यम नियम आदि अष्टांगों में जितेन्द्रिय होकर, (आशुः) कार्य करने में शीघ्रकारी (विपश्चित्) ज्ञान सम्पन्न मेधावी होकर, (पतयन्) ऐश्वर्यवान् होता हुआ या ब्रह्म मार्ग में जाता हुआ, (विष्णुः) अपने ही अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर, (विचित्तः) विशेष रूप से संज्ञानवान्, सम्यग्दर्शी होकर, (शवसा) अपने सामर्थ्य से (अधि तिष्ठन्) सब पर वश करता हुआ, (केतुना) अपने ज्ञान तेज से (विश्वम् एजत्) समस्त गतिमान् संसार को (प्र सहते) अपने वश करता है।

चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम्।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥३२॥

भा०—(चित्रः) समस्त संसार का संचय करने हारा, (चिकित्वान्)

ज्ञानी, (महिषः) महान्, (सुपर्णः) उत्तम पालन शक्ति से युक्त (रोदसी) द्यौ पृथिवी और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (रोचनम्) प्रकाशित करता है। (सूर्यः) सूर्य को (परि वसाने) आश्रय करके रहने वाले (अहोरात्रे) दिन और रात भी (अस्य) इस परमेश्वर के (विश्वा वीर्याणि) समस्त वीर्यों को (प्र तिरतः) बतलाते हैं, बढ़ाते हैं।

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः।
ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात् प्रदिशः कल्पमानः ॥ ३३ ॥

भा०—(तिग्मः) अति तीक्ष्ण, (विभ्राजन्) विशेष रूप से देदीप्यमान, (तन्वं शिशानः) अपने आपको तपस्या से अति तीक्ष्ण करता हुआ, (अरंगमासः) अत्यन्त गति करने वाले (प्रवतः) प्राणों से (रराणः) शीघ्रता से रमण करता हुआ, (ज्योतिष्मान्) ब्रह्ममय ज्योति से युक्त होकर, (पक्षी) आत्म-परिग्रह या दमन-शक्ति से युक्त होकर, (महिषः) महान् आत्मा, (वयोधाः) बल और प्राण को धारण करने में समर्थ होकर, (विश्वाः) समस्त (प्रदिशः) दिशाओं को सूर्य के समान स्वयं समस्त ज्ञान साधन इन्द्रियों को (कल्पमानः) विचरता एवं सामर्थ्यवान् करता हुआ, (आस्थात्) स्थिर रूप से विराजमान रहता है।

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वा तारीद् दुरितानि शुक्रः ॥३४॥
अथर्व० २२। १०७। १३॥

भा०—(देवानां) विषयग्राही इन्द्रियों को (केतुः) ज्ञान प्रदान करने वाला, (चित्रम्) विचित्र, (अनीकम्) बलस्वरूप, (ज्योतिष्मान्) ज्ञानज्योति और योग तेज से सम्पन्न, विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा से सम्पन्न योगी, (सूर्यः) सूर्य के समान अति तेजस्वी होकर (उद्यन्) उदित होता है। जिस प्रकार सूर्य (द्युम्नैः) अपने तेजों या किरणों से

(तमांसि दिवा करोति) अन्धकारों को दिन के प्रकाशों से बदल देता है उसी प्रकार वह योगी भी समस्त (तमांसि) तामस कार्यों को अपने (द्युम्नैः) ज्ञानमय प्रकाशों से (दिवा करोति) दिन के समान श्वेत करता है, अर्थात् कृष्ण कर्मों को शुक्ल कर्मों में बदल देता है। तब वह स्वयं (शुक्रः) दीप्तिमान् तेजस्वी शुक्लकर्मा योगी होकर (विश्वा दुरितानि) समस्त पापकर्मों को (तारीत) तर जाता है।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३५॥

यजु० ६।४२॥१३।४६॥ अथर्व० २०।१०७।१४॥ ऋ०१।११५।१॥

भा०—(देवानाम्) विद्वानों के लिये (चित्रम्) अति अद्भुत, (अनीकम्) बल स्वरूप (मित्रस्य) सबको स्नेह करने वाला, (वरुणस्य) सर्व श्रेष्ठ, (अग्नेः) ज्ञानी पुरुष की (चक्षुः) आंखरूप वह परमात्मा, (जगत्) जंगम और (तस्थुषः) स्थावर का (आत्मा) अन्तर्यामी होकर, (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को (आप्राद्) पूर्ण व्याप्त कर रहा है।

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥३६॥

भा०—(उच्चा पतन्तम्) ऊंचे पद, मोक्ष को जाते हुए (अरुणम्) ज्योतिर्मय, (सुपर्ण) उत्तम ज्ञान सम्पन्न, (दिवः मध्ये) द्यौलोक के बीच में सूर्य के समान (भ्राजमानम्) अति देदीप्यमान, (तरणिम्) सर्व दुःखतारक, (सवितारम्) सर्व प्रेरक सर्वोत्पादक (त्वाम्) तुझको, (अजस्रम्) अविनाशी (ज्योतिः) ज्योति के रूप में (पश्याम) हम साक्षात् करें, (यत्) जिसको कि (अत्रिः) सबको अपने भीतर लीने वाला मुख्य प्राण (अविन्दत्) धारण करता है।

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥३७॥

भा०—(दिवस्पृष्ठे) आकाश के ऊपरि देश में (धावमानं) गति करते हुए सूर्य के समान देदीप्यमान, (सुपर्णम्) उत्तम ज्ञान और पालना से युक्त, (अदित्याः पुत्रम्) अदिति के पुत्र, आदित्य योगी, अथवा अखण्ड ब्रह्म के उपासक आत्मा की, (नाथकामः) ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ और (भीतः) मृत्यु से भयभीत होकर (उपयामि) उसकी शरण में जाता हूँ । हे (सूर्य) तेजस्विन् ! आत्मन् ! (सः) वह तू (नः) हमें (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (प्र तिर) प्रदान कर, हम (ते सुमतौ) तेरी उत्तम बुद्धि या ज्ञानोपदेश के अधीन (स्याम) रहें और (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों ।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥३८

अथर्व० १० । ८ । १८ ॥ १३ । ३ । १४ ॥

भा०—(सहस्र-अह्न्यम्) हजारों दिनों या युगों में बीतने योग्य (स्वर्गम्) विस्तृत आकाश में (पततः) जाते हुए सूर्य के समान (हरेः) अति पीतवर्ण एवं गतिशील परम आत्मा के (पक्षौ) दोनों पक्ष, दोनों मार्ग रात दिन (वियतौ) विशेष रूप से नियम बद्ध हैं। (सः) वह परमात्मा (सर्वान् देवान्) समस्त देवों, प्राणों को (उरसि) अपने छाती पर, अपने हृदय में (उपदद्य) धारण करके (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (सं पश्यन्) देखता हुआ (याति) विचरण करता है ।

रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्व१राभरत् ॥ ३९ ॥

भा०—(रोहितः) सर्वोत्पादक वह परम-आत्मा ही (कालः) काल स्वरूप (अभवत्) है । (अग्रे) सृष्टि के पूर्व (रोहितः) वही सर्वोत्पादक परमेश्वर (प्रजापतिः) प्रजा का पालक था । (रोहितः यज्ञानाम् मुखम्) रोहित ही यज्ञों का मुख है । उसी (रोहितः) रोहित ने (स्वः आभरत्) समस्त आनन्दधाम को भरपूर कर रखा है ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतो मुखः ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥ गी० १० । ३३ ।

रोहि॑तो लो॒को अ॑भव॒द् रोहि॒तोऽत्य॑तप॒द् दिव॑म् ।

रोहि॑तो र॒श्मिभि॒र्भूमि॑ँ समु॒द्रमनु॒ सं च॑रत् ॥ ४० ॥ (१०)

भा०—(रोहितः) रोहित ही (लोकः अभवत्) यह दृश्यमान जगत् का, समस्त पदार्थों का दर्शक लोक है अर्थात् यह उसी की शक्ति का विकास है। (रोहितः) वह सर्वोत्पादक ही (दिवम्) सूर्य को (अति अतपत्) अति तीव्रता से तपाता है। (रोहितः) वही सूर्य के समान (रश्मिभिः) अपनी शक्तिमय-रश्मियों से (भूमिम् समुद्रम् अनु) भूमि और समुद्र पर भी (अनु सं चरत्) विचरता है, नाना प्रकार से प्रकट होता है।

सर्वा॒ दिशः॒ सम॑चर॒द् रोहि॒तोऽधि॑पति॒र्दि॒वः ।

दिवं॑ समु॒द्रमाद् भूमि॒ं सर्वं॑ भू॒तं वि र॑क्षति ॥ ४१ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक, सूर्य का भी स्वामी (रोहितः) रोहित परमेश्वर, (सर्वाः दिशः सम् अचरत्) समस्त दिशाओं में व्यापक है। (दिवम्) आकाश, (समुद्रम्) समुद्र, (आत् भूमिम्) और भूमि को भी व्याप कर वही (सर्वम्) समस्त (भूतम्) उत्पन्न प्राणिसंसार की (वि रक्षति) विविध प्रकार से रक्षा करता है।

आ॒रोह॑ञ्छु॒क्रो बृ॒ह॒तीरत॑न्द्रो॒ द्वे रू॒पे कृ॑णु॒ते रोच॑मानः ।

चि॒त्रश्चि॑कि॒त्वान् म॑हि॒षो वात॑माया॒ याव॑तो लो॒काना॒भि यद् वि॒भाति॑ ॥ ४२ ॥

भा०—(शुक्रः) अति तेजस्वी, सूर्य जिस प्रकार (बृहतीः) आकाश के महान् प्रदेशरूप दिशाओं के ऊपर (आरोहन्) चढ़कर (रोचमानः) अति कान्तिमान् होकर भी (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप दिन और रात्रि को प्रकट करता है उसी प्रकार (शुक्रः) शुक्र तेजस्वी शुक्ल योगी आत्मा

(बृहतीः) प्राणों पर (आरोहन्) आरूढ़ होकर, उन पर वश करता हुआ, (अतन्द्रः) आलस्य रहित होकर, निद्रावृत्ति पर भी वश करके, (रोचमानः) अति तेजस्वी होकर, (द्वे रूपे कृणुते) दो रूपों अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात को प्रकट करता है। वह (चित्रः) अद्भुतरूप, (चिकित्वान्) ज्ञानी, (महिषः) महान् आत्मा (वातम् आयाः) प्राण के बल पर गति करता हुआ, (यावतः) जितने भी लोक हैं उन सब (लोकान् अभि) लोकों में (विभाति) विशेष रूप से प्रकाशित होता है, वहां विचरता है।

अभ्य१॒॑न्यदे॑ति॒ पर्य॒न्यद॑स्यतेऽहोरा॒त्राभ्यां॑ महि॒षः कल्प॑मानः।
सूर्यं॑ व॒यं रज॑सि क्षि॒यन्तं॑ गातु॒विदं॑ हवामहे॒ नाध॑मानाः ॥ ४३ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (अन्यत् अभि एति) दिन रात दोनों में से जब एक 'दिन' भाग पर आरूढ़ होता है और (अन्यत् परि अस्यते) तब दूसरे 'रात्रि' भाग को सदा परे हटाता है और इस प्रकार वह (महिषः) महान् सूर्य (अहोरात्राभ्याम्) दिन रात दोनों से (कल्पमानः) सामर्थ्य-वान् होता है, उसी प्रकार शक्तिशाली परमेश्वर दिन और रात्रि के समान जगत् के सर्ग और प्रलय दोनों स्थितियों में से जब एक पर आरूढ़ होता है तो दूसरे को दूर करता है। इस प्रकार (वयम्) हम (नाध-मानाः) उपासना करते हुए उपासक लोग (रजसि) रजोगुण में (वितन्तम्) निवास करते हुए (सूर्यम्) सबके प्रकाशक (गातुविदम्) और समस्त ज्ञान और यज्ञ या संसार को अपने भीतर ले लेने हारे परमेश्वर की (हवामहे) स्तुति करते हैं।

पृ॒थि॒वी॒प्रो म॑हि॒षो नाध॑मानस्य गा॒तुरद॑ब्धचक्षुः॒ परि॒ विश्वं॑ ब॒भूव॑।
विश्वं॑ सं॒पश्य॑न्त्सुवि॒दत्रो॒ यज॑त्र इ॒दं शृ॑णोतु॒ यद॒हं ब्रवी॑मि ॥४४॥

भा०—(महिषः) वह महान् परमात्मा (पृथिवीप्रः) समस्त पृथिवी को नाना भोग्य पदार्थों से पूर्ण करने वाला, (नाधमानस्य गातुः) स्तुतिकर्त्ता उपासक के लिये जाने योग्य मार्ग के समान है और (अदब्ध-

चक्षुः) अविनाशी चक्षु के समान है, (विश्वं परि बभूव) वह इस विश्व में व्यापक है। वह परमेश्वर (विश्वं सम्पश्यन्) विश्व को भली प्रकार देखता हुआ, (सुविदत्रः) उत्तम ज्ञान वाला और दानशील और (यजत्रः) उपासना करने योग्य है। वह (यद्) जो कुछ (अहम्) मैं (ब्रवीमि) कहूँ (इदं) उसको (शृणोतु) सुने।

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि द्यामन्तरिक्षम्। सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥

भा०—(अस्य) इस परमात्मा की (महिमा) महिमा (पृथिवीम् परि समुद्रम् परि) पृथिवी और समुद्र दोनों पर व्याप्त है। वह (ज्योतिषा) परम तेज से (द्याम् परि, अन्तरिक्षं परि) द्यौ और अन्तरिक्ष दोनों में (विभ्राजन्) प्रकाशित है। (सर्वम् सम्पश्यन्०) इत्यादि पूर्ववत्।

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्। यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ ४६ (११)

ऋ० ५। १। १ ॥ यजु० १५। २४ ॥ साम० १। ७३ ॥

भा०—(जनानाम्) मनुष्यों की (समिधा) काष्ठ से (अग्निः) प्रज्वलित अग्निहोत्र का अग्नि प्रातःकाल के अवसर पर (अबोधि) जागता है, (धेनुम् इव) और जिस प्रकार बछड़ा दूध पिलाने वाली गाय के प्रति चला जाता है, उसी प्रकार वह अग्नि प्रबुद्ध होकर मानो (आयतीम् उषासम्) प्राप्त होती हुई उषा के पास पहुँचता है। (यह्वाः) जिस प्रकार बड़े २ पक्षी (उज्जिहानाः) उड़ते २ (वयाम् प्र) शाखा पर चले जाते हैं उसी प्रकार सूर्य के (भानवः) किरण (अच्छ) भली प्रकार (नाकम् प्र सिस्रते) नाक = आकाश तक पहुँचते हैं। इति द्वितीयोऽनुवाकः।

[तत्रैकं सूक्तम्, षट्चत्वारिंशदृचः]

[३] रोहित, आत्मा, ज्ञानवान् राजा और परमात्मा का वर्णन

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ अध्यात्मम् । देवता—रोहित आदित्यः । छन्दः—१ चतुरवसानाष्टपदा आकृतिः, २–४ त्र्यवसाना षट्पदा [२, ३ अंष्टिः, २ भुरिक्, ४ अतिशाक्करगर्भा धृतिः] ५–७ चतुरवसाना सप्तपदा [५, ६ शाक्करातिशाक्करगर्भा प्रकृतिः, ७ अनुष्टुप् गर्भातिधृतिः], ८ त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टिः, ९–१९ चतुरवसाना [९–१२, १५ १७ सप्तपदा भुरिग् अतिधृतिः, १५ निचृत्, १७ कृतिः, १३, १४, १६, १८, १९ अष्टपदा, १३, १४ विकृतिः, १६, १८, १९ आकृतिः, १९ भुरिक्], २०–२२ त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टिः, २१, २३–२५ चतुरवसाना अष्टपदा [२४ अष्टपदाकृतिः, २१ आकृतिः, २३, २५ विकृतिः]। सड्विंशत्यृचं सूक्तम् ॥

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ।
यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति ।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥१॥

भा०—(यः) जो (इमे) इन (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को (जजान) उत्पन्न करता है और (यः) जो (भुवनानि) समस्त लोकों को अपना (द्रापिम्) वस्त्र या चोला बनाकर उनमें (वस्ते) निवास करता है। अथवा (यः द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते) जो अपने आपको समस्त लोकों का वस्त्र बनाकर समस्त भुवनों को आच्छादित करता है, (यस्मिन्) जिसमें ये (षट्) छः (उर्वीः) विशाल (प्रदिशः) दिशाएं (क्षियन्ति) निवास करती हैं, (याः अनु) जिनमें (पतङ्गः) नित्य गतिशील सूर्य उस परमात्मा की शक्ति से अनुप्राणित होकर (विचाकशीति) विशेष रूप से प्रकाशित होता है। (यः) जो पुरुष (एवं विद्वांसं) इस प्रकार के (ब्राह्मणं) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का (जिनाति) विनाश करता है (एतद्) यह (आगः) अपराध (तस्य) उस (क्रुद्धस्य देवस्य) क्रुद्ध रूप परमेश्वर के प्रति ही है। हे

(रोहित) तेजस्विन् राजन् ! तू (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती को (उद्वेपय) कंपा दे, (प्र क्षिणीहि) नाश कर दे और उस पर (पाशान् प्रति मुञ्च) पाश डाल कर बांध ले।

यस्माद् वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति। तस्य देवस्य ०।०॥ २॥

भा०—(यस्मात्) जिस परमेश्वर के बल से (वाताः) वायुएं (ऋतुथा) ऋतुओं के अनुकूल (पवन्ते) बहा करती हैं और (यस्मात्) जिस मूल से या जिसके आश्रय पर (समुद्राः) समुद्र और नदियों के प्रवाह (अधि वि क्षरन्ति) विविध दिशाओं में प्रवाहित होते हैं। (तस्य देवस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा। तस्य०।०॥ ३॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (मारयति) सबको मारता है, (प्राणयति) प्राण देता है और (यस्मात्) जिस आदि कारण से (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने वाले लोक और प्राणी (प्राणन्ति) प्राण धारण करते हैं, (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति। तस्य०।०॥ ४॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (प्राणेन) प्राण शक्ति से (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को और देह में मस्तक से चरण तक को (तर्पयति) तृप्त करता और (यः) जो (अपानेन) 'अपान' शक्ति से (समुद्रस्य) समुद्र के (जठरं) भीतरी भाग का एवं देह में मल मूत्रादि त्यागने वाले द्वारों या मध्य भाग को (पिपर्ति) पालन पोषण करता है, (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरःसह पङ्क्त्या श्रितः। यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे। तस्य०।०॥ ५॥

भा०—(यस्मिन्) जिस सर्वाश्रय परमात्मा में (विराट्) पृथिवी, (परमेष्ठी) जल, (प्रजापतिः) वायु (अग्निः) अग्नि, (वैश्वानरः) समस्त प्राणियों में व्यापक आकाश और आत्मा (सह पङ्क्त्या) अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के विषयों सहित (श्रितः) आश्रित है और (यः) जो (परस्य) दूरस्थ भुवन के (प्राणम्) प्राण और (परमस्य) सर्वोच्च सूर्य के भी (तेजः) तेज को (आददे) स्वयं धारण करता है (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

इयं पृथिवी विराट् । गौ० उ० ६ । २ ॥ आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति । श० ८ । २ । ३ । १३ ॥ स आपोऽभवत् । परमाद्वा एतद्स्थानाद् वर्षति यद् दिवस्तत् परमेष्ठी नाम । श० ११ । १ । १६ ॥ एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद् वायुः । कौ० १९ । २ ॥ स एष वायुः प्रजापतिः त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्तः । ८ । ३ । ४ । १५ ॥ एष वै बहुलो वैश्वानरो यदाकाशः । श० १० । ६ ॥ १ । ६ ॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः । यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत । तस्य०।० ॥६॥

भा०—(यस्मिन्) जिसमें (षट् उर्वीः) छहों विशाल दिशाएं और (चतस्रः) चार (आपः) जल भरे समुद्र, (यज्ञस्य) तथा देवोपासना के निदर्शक (त्रयः) तीन अ, उ, म् (अक्षराः) अक्षर अथवा अविनाशी वेद (श्रिताः) आश्रय लिये हुए हैं और (यः) जो (रोदसी अन्तरा) आकाश और भूमि के बीच में (क्रुद्धः) दुष्टों के प्रति सदा कोपकारी होकर (चक्षुषा) अपने प्रकाशमान सूर्य रूप चक्षु से मानो निरन्तर (ऐक्षत) देखा करता है । (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः ।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः । तस्य० । ० ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (अन्नादः) समस्त विश्व को अपना

अन्न बनाकर खा जाता है और स्वयं (अन्नपतिः बभूव) अन्नमय समस्त लोकों का स्वामी है (उत) और (यः) जो (ब्रह्मणः पतिः) महान् ब्रह्माण्ड, वा वेद का स्वामी है। (भूतः भविष्यद्) जो स्वयं भूत और भविष्यत् रूप होकर (भुवनस्य) इस उत्पन्न होने हारे वर्तमान जगत् का भी (यः पतिः) स्वामी है। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्। अन्नं वै सर्वेषां भूतानाम् आत्मा। गो० उ० १। २। ३ ॥

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते।
तस्य०। ० ॥ ८ ॥

भा०—(अहोरात्रैः) दिन और रातों से (विमितम्) विशेष रूप से मपे हुए, (त्रिंशद् अङ्गं) तीस अङ्ग अर्थात् अवयवों अर्थात् दिनों से बने (त्रयोदशं मासम्) १३वें मास को भी (यः) जो पूरी तरह से (निर्मिमीते) बना देता है, वह व्यवस्थापक परमेश्वर है। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य। तस्य०। ० ॥ ९ ॥

भा०—(सुपर्णाः) सात्विक ज्ञान से युक्त, (हरयः) अति उज्वल रूप मुक्तात्मा जन, सूर्य की किरणों के समान (अपः वसानाः) ज्ञानरूप जलों को धारण करते हुए, (कृष्णम्) सूर्य के समान आकर्षणकारी (नियानम्) सबके परम गन्तव्य परमेश्वर और (दिवम्) प्रकाशमय मोक्षलोक की तरफ (उत्पतन्ति) ऊर्ध्व गति करते हैं और पुनः मोक्ष काल के उपरान्त (ऋतस्य) परम आत्मज्ञान के (सदनात्) आश्रय से (आववृत्रन्) पुनः इस लोक में लौट आते हैं। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम्। तस्य०। ० ॥ १० ॥ (१२)

भा०—हे (कश्यप) सर्वद्रष्टा परमेश्वर! (यत्) जो (ते) तेरा (चन्द्रम्) सर्व आह्लादकारी, (रोचनावत्) दीप्तियुक्त, (पुष्कलम्)

पुष्टिकारी, (संहितम्) एकत्र संचित, (चित्रभानुः) प्रकाशमय रूप है, (यस्मिन्) जिसमें (सूर्याः) सूर्य के समान तेजस्वी (सप्त) सात भुवन और प्राण भी (साकम्) एक साथ ही (आर्पिताः) आश्रित हैं। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद् रथन्तरं प्रति गृह्णाति पश्चात्।
ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम्। तस्य० ॥ ११ ॥

भा०—(एनम् पुरस्तात्) इसको आगे से (बृहत्) महान् आकाश (अनुवस्ते) आच्छादित करता है और (पश्चात्) पीछे से (रथन्तरम्) पृथिवी (प्रतिगृह्णाति) सम्भाले रहती है। दोनों (ज्योतिः) उस ज्योतिःस्वरूप परमात्मा को (वसाने) वस्त्र के समान धारण या आच्छादित करते हुए, (अप्रमादम्) सुदृढ़ या जगमगाते (सदम्) मकान के समान बने हैं। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

'द्यौर्वै बृहत्'। श० ९। १। २। ३७॥ रथन्तरं हि इयं पृथिवी। श० ५। ७। २। १७॥ अध्यात्म में—प्राणो बृहत्। ता० ७। ६। १४। १७॥ मनो वै बृहत्। ऐ० ४। २८॥ वाग् वै रथन्तरम्। ता० ७। ६। १७॥ अपानो रथन्तरम्। ता० ७। ६। १४ १७॥ यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ एवं वै बृहत् प्रजापतेः। ता०। ७। ६। ६॥

बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथंतरमन्यतः सबले सध्रीची।
यद् रोहितमजनयन्त देवाः। तस्य०। ०॥ १२ ॥

भा०—उस आत्मा का (अन्यतः पक्षः) एक तरफ का बाजू (बृहत्) यह द्यौ या प्राण (आसीत्) है, और (अन्यतः) दूसरी ओर का पक्ष (रथन्तरं) पृथिवी और अपान है। वे दोनों (सबले) बल से युक्त और (सध्रीची) सदा साथ रहने वाले हैं। (यद्) जब (रोहितम्) आत्मा को (देवाः) पञ्चभूत आदि और उनके बने सूक्ष्म इन्द्रियगण और राजा को प्रजा के विद्वान् गण (अजनयन्त) प्रकट रूप से उत्पन्न करते हैं। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । तस्य० । ० ॥ १३ ॥

भा०—(सः) वह सर्वश्रेष्ठ, सबके वरण करने योग्य, सबका वारक परमेश्वर ही, (सायम्) सायङ्काल, अन्धकार आ जाने के अवसर पर (अग्निः भवति) अग्नि के समान प्रकाशक होता है। (सः) वह (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर पर (उद्यन्) उदित होते हुए सूर्य के समान सब का (मित्रः) परम स्नेही सर्वोपकारक (भवति) होता है। (सविता) सूर्य जिस प्रकार (अन्तरिक्षेण याति) अन्तरिक्ष से गमन करता है उसी प्रकार वह भी (सविता) सबका प्रेरक होकर (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष भाग, भीतरी अन्तःकरण द्वारा सर्वत्र व्यापक रहता है। वही (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यवान् (भूत्वा) होकर (दिवम् मध्यतः) आकाश के बीच सूर्य के समान (तपति) प्रतप्त होता है। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ।
तस्य० । ० ॥ १४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० १०।८।१८ ॥ और १३।२।३८ में ।

अयं स देवो अप्स्व१न्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः ।
य इदं विश्वं भुवनं जजान । तस्य० । ० ॥ १५ ॥

भा०—(यः) जो (इदम्) इस (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) संसार लोक को (जजान) उत्पन्न करता है, (अयं सः देवः) वह देव यह है जो (अप्सु अन्तः) समस्त प्रजाओं, लोकों और प्रकृति के मूल परमाणुओं के भीतर व्यापक और (सहस्र-मूलः) सहस्रों ब्रह्माण्डों या समस्त जगत् का मूल आधार या मूल कारण, (पुरुशाकः) महान् शक्तिशाली और (अत्त्रिः) जगत् को प्रलयकाल में स्वयं लीन कर लेने वाला है। जन्माद्यस्य यतः ॥ वेदान्त सूत्र १ । १ । १ ॥ (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्व१स्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ।
तस्य० । ० ॥ १६ ॥

भा०—(दिवि) आकाश में (वर्चसा) तेज से (भ्राजमानम्) देदीप्यमान, (देवम्) उस सर्व प्रकाशक (शुक्रम्) ज्योतिर्मय परमेश्वर को, (रघुष्यदः) अति तीव्र वेगवान् (हरयः) किरणों के समान गतिशील लोक या मुमुक्षु जन, (वहन्ति) अपने में धारण करते या प्राप्त करते हैं और (यस्य) जिसके बनाये (ऊर्ध्वाः) ऊपर विद्यमान (तन्वः) ज्योतिर्मय सहस्रों लोक (दिवं तपन्ति) आकाश को प्रकाशित करते हैं और जो (अर्वाङ्) नीचे के प्रदेश में भी (सुवर्णैः) उत्तम वर्ण के (पटरैः = पटलैः) तेजोमय सूर्यों से (विभाति) विविध प्रकार से शोभा देता है । (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति । तस्य० ॥ १७ ॥

भा०—(येन) जिसके बल से प्रेरित होकर (हरितः) हरणशील वेगवती शक्तियां (आदित्यान्) सूर्यों को (सं वहन्ति) निरन्तर चला रही हैं, (येन यज्ञेन) जिस उपास्य-देव के संग से (बहवः) बहुत से मुक्त जीव (प्रजानन्तः) उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न होकर (यन्ति) मोक्षधाम को प्राप्त होते हैं । (यद्) जो (एकम्) एकमात्र (ज्योतिः) ज्योति होकर स्वयं (बहुधाः) नाना रूपों से (वि भाति) प्रकाशित होता है (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।
तस्य० ॥ १८ ॥　　अथर्व० ९ । ९ । २ ॥ ऋ० । १६४ । २ ॥

भा०—(सप्त) सात शीर्षगत प्राण (एकचक्रम् रथम्) एक कर्त्ता

से युक्त रथ को (युञ्जन्ति) उसमें जुतकर वहन करते हैं और (एकः) एक (अश्वः) उन सबका भोक्ता (सप्तनामा) सातों का नाम धारण करके उनको (वहति) धारण करता है। (त्रिनाभि चक्रम्) सत्व, रजः, तमः इन तीनों में बंधा हुआ, तीन नाभियों से युक्त कर्त्ता वह आत्मा, (अजरम्) कभी न जीर्ण होने वाला, (अनर्वम्) विना घोड़े के चलने हारे चक्र के समान स्वयं भी (अनर्वम्) दूसरे किसी अन्य प्रेरक की सहायता न लेता हुआ, स्वयं चेतन विद्यमान है। (यत्र) जिसमें (इमा) ये (विश्वा भुवनानि) इन्द्रिय आदि गण (तस्थुः) स्थिर हैं। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्। अथवा—(एकचक्रम् रथम्) एक मात्र कर्त्ता और रमण करने योग्य आत्मा में (सप्त) सात चक्षु आदि प्राण (युञ्जन्ति) जब योग देते हैं, संयुक्त हों, या समाहित होकर रहते हैं, तब वह (एकः अश्वः सप्तनामा वहति) एक ही भोक्ता सातों का नाम धारण करके स्वयं उनको धारण करता है।

अ॒ष्ट॒धा यु॒क्तो व॑हति॒ वह्नि॑रु॒ग्रः पि॒ता दे॒वानां॑ जनि॒ता म॑ती॒नाम्।
ऋ॒तस्य॒ तन्तुं॒ मन॑सा मि॒मा॒नः सर्वा॒ दिशः॑ पवते मा॒त॒रिश्वा॑।
तस्य॑० ॥ १९ ॥

भा०—(देवानां पिता) समस्त दिव्यगुण धारण करने वाले महत् आदि का (पिता) पालक और उत्पादक, (मतीनां) मननशील समस्त चेतन प्राणियां या स्तुतियों, वेदवाणियों का (जनिता) उत्पादक, उनको प्रादुर्भाव करने वाला, (उग्रः) अति भयंकर, महान् बलशाली, (वह्निः) सबको वहन करने हारा परमात्मा, (अष्टधा युक्तः) आठ रूपों से विविध प्रकार से संयुक्त होकर समस्त संसार को (वहति) धारण कर रहा है। (ऋतस्य) सर्गमय यज्ञ के (तन्तुं) सूत्र को अपने (मनसा) संकल्प से ही (मिमानः) निर्माण करता हुआ (मातरिश्वा) सबकी धारक प्रकृति में भी व्यापक परमेश्वर (सर्वाः दिशः पवते) समस्त दिशाओं में व्याप्त है। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

अष्टधा युक्तः—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गी० अ० ७ । ५ ॥

सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे ।
तस्य० । ० ॥ २० ॥

भा०—(सम्यञ्चं) सर्वव्यापक, उस (तन्तुम्) विस्तृत, परम सूक्ष्म सूत्र के (अनु) आश्रय पर ही (सर्वाः प्रदिशः) समस्त दिशाएं आश्रित हैं। वे उस (गायत्र्याम् अन्तः) प्राणरक्षक के भीतर और (अमृतस्य गर्भे) परम मोक्षमय देव के (गर्भे) गर्भ में विद्यमान हैं। (तस्य०) इत्यदि पूर्ववत् ।

निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः ।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म ।
तस्य० । ० ॥ २१ ॥

भा०—(तिस्रः) तीन (निम्रुचः) अस्त काल हैं। (तिस्रः) तीन (व्युषः) उषाकाल हैं। (त्रीणि रजांसि) तीन रजस् हैं। (अङ्ग) हे जिज्ञासो ! (तिस्रः दिवः) तीन आकाश हैं। हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (ते) तेरे (त्रेधा) तीन प्रकार के (जनित्रम्) प्रकट होने के स्वरूप को हम (विद्म) जानें और इसी प्रकार (देवानाम्) समस्त देवों के (त्रेधा जनिमानि) तीन तीन प्रकार के प्रादुर्भाव होने के रूपों को भी (विद्म) जानें। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

'रजांसि'—इमे वै लोकाः रजांसि । श० ६ । ३ । १ । १८ ॥ द्यौर्वै तृतीयं रजः । श० ६ । ७ । ४ । ५ ॥ तिस्रः दिवः, अग्निर्विद्युत्सूर्याः । अहर्व्युष्टिः । तै० ३ । ८ । १६ । ४ ॥ रात्रिर्व्युष्टिः । श० १३ । ५ । १६ ॥ अध्यात्म-आधिदैविक-आधिभौतिकभेदेन तिस्रो व्युषः तिस्रः निम्रुचः ।

वि य और्णोत् पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे ।
तस्य० । ० ॥ २२ ॥

भा०—(यः) जो (जायमानः) सृष्टिरूप में अपनी शक्ति को प्रकट

करता हुआ (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि और्णोत्) विविध आवरणों से आच्छादित करता है। वह इस पृथिवी के (आ) चारों ओर (समुद्रम्) समुद्र को (अदधात्) स्थापित करता है। समुद्र सहित पृथिवी को (अन्तरिक्षे अदधात्) अन्तरिक्ष में स्थापित करता है। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितो३ऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि।
किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवाः।
तस्य० ॥ २३ ॥

भा०—(केतुभिः) अपने ज्ञापक किरणों से (हितः) धारित (अर्कः) सूर्य के समान (समिद्धः) अतिदीप्त तेजोमय, (अर्कः) सबके अर्चना योग्य होकर हे (अग्ने) ज्ञानमय! प्रकाशस्वरूप! तू अपने (केतुभिः) ज्ञान कराने हारे (क्रतुभिः) कर्मों से (दिवि) महान् आकाश में सूर्यवत् (उद् अरोचथाः) सर्वोपरि चमकता है। (यद्) जब (रोहितम्) दिव्य शक्तियां आत्मा को (अजनयन्त) प्रकट करती हैं तब (पृश्निमातरः) समस्त अंगों को रसों से सेचने वाले (मरुतः) प्राणगण (किम् अभि आर्चन्) उसकी किस प्रकार अर्चना करते हैं, उसकी आज्ञा किस प्रकार पालते हैं? (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यो३ऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः। तस्य० ॥ २४ ॥

भा०—प्रथम तीन चरणों की व्याख्या देखो, अथर्व० ४। २। १॥ (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पंक्तिमुपतिष्ठमानः।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ २५ ॥

ऋ० १०। ११७। ८॥

भा०—प्रथम दो चरणों की व्याख्या देखो अथर्व० १३ । २ । २७ (प्र० द्वि०) ॥ और (चतुष्पाद्) चार पैरों वाला (द्विपदम्) दो पैर वालों के (अभिस्वरे) शासन में (पंक्तिम्) पंक्ति को (सम्पश्यन्) देखता हुआ और (उपतिष्ठमानः) उसकी सेवा में उपस्थित होकर (चक्रे) कार्य करता है। अध्यात्म में—अन्तःकरणचतुष्टय, 'द्विपद' मनुष्यों के कर्म-ज्ञानमय आत्मा के शासन में रहकर, पांचों ज्ञानेन्द्रियों को वश करता है। अथवा चतुष्पात् ब्रह्म मनुष्यों के प्रकाशमय हृदय में (पंक्तिम्) कर्मों के परिणत फल को व्यक्तरूप से देखता हुआ स्वयं उसको प्राप्त है। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ २६ ॥ (१४)

भा०—(कृष्णायाः रात्र्याः पुत्रः) कृष्णा का पुत्र (अर्जुनः) श्वेत होता है, अर्थात् (रात्र्याः) रात्रि का (वत्सः) पुत्र दिन या सूर्य (अजायत) उत्पन्न होता है। (सः) वह (द्याम्) आकाश में (अधि-रोहति) ऊपर चढ़ता है। जैसे (रोहितः) दीप्तिमान् मुक्त जीव (रुहः रुरोह) समस्त उत्तम लोकों को प्राप्त करता है, इसी प्रकार राजा भी लाल वस्त्रों को धारण करता हुआ (कृष्णायाः) कृषियोग्य पृथ्वी का पुत्र होकर (रुहः) समस्त उच्च पदों को प्राप्त करता है, अध्यात्म में—सबको आकर्षण करने वाली परम शक्ति परमेश्वरी का पुत्र ही 'अर्जुन' यह जीव है। वह मोक्षपद को प्राप्त होता है, वह (रुहः रुरोह) समस्त लोकों को प्राप्त होता है।

रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असावादित्यो वत्सः। श० ९।२।३। ३०॥ अर्जुनो ह वै नाम इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम। श० ५।४।३।७ ॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम्, षड्विंशतिर्ऋचः]

[४ (१)] रोहित, परमेश्वर का वर्णन

ऋषिः–ब्रह्मा । देवता–अध्यात्मं रोहितादित्यः । त्रिष्टुप् छन्दः । षट्पर्यायाः । मन्त्रोक्ता देवताः । १–११ प्राजापत्यानुष्टुभः, १२ विराड्गायत्री । १३ आसुरी उष्णिक् । त्रयोदशर्चं प्रथम पर्यायसूक्तम् ॥

स ए॑ति सवि॒ता स्व॒र्दि॒वस्पृ॒ष्ठेऽव॒चाक॑शत् ॥ १ ॥

भा०—(सः) वह (सविता) सूर्य के समान ज्योतिष्मान् (स्वः) परम सुखमय मोक्षलोक में (एति) व्याप्त है । (दिवः पृष्ठे) आकाश के उच्चतम भाग में सूर्य के समान वह मोक्षधाम में (अवचाकशत्) प्रकाशित है ।

र॒श्मिभि॒र्नभ॒ आभृ॑तं महे॒न्द्र ए॒त्यावृ॑तः ॥ २ ॥

भा०—सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों से (नभः) अन्तरिक्ष भाग जिस प्रकार (आभृतम्) पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार परम आत्मा की ज्योतियों से (नभः) अप्रकाशमान समस्त जड़ जगत् (आभृतम्) पूर्णरूप से जगमगाता है और (महेन्द्रः) वह महान् ऐश्वर्यवान् (आवृतः एति) प्रकाश से विभूतिमान् होकर समस्त लोकों से आवृत है ।

स धा॒ता स वि॑ध॒र्ता स वा॒युर्नभ॒ उच्छ्रि॑तम् । रश्मि० ॥ ३ ॥

भा०—(सः धाता) वह सबका पालक पोषक, (सः विधर्ता) वह सबको विशेष रूप से धारण करने वाला या विविध प्रकारों से धारण करने वाला है । (स वायुः) वह सर्वव्यापक, सबका प्रेरक, सूत्रात्मा, प्राणों का प्राण 'वायु' है । वही (नभः) सबको एक सूत्र में बांधने वाला 'नभ' है । वही (उच्छ्रितम्) सबसे अधिक ऊंचा है । (महेन्द्रः एति आवृतः) वही सब लोकों में महैश्वर्यवान् होकर प्रकट होता है ।

सो॑ऽर्य॒मा स वरु॑णः स रु॒द्रः स म॑हादे॒वः । रश्मि० ॥ ४ ॥

भा०—(सः) वह (अर्यमा) सर्वश्रेष्ठ स्वामी, समस्त गतिमान् पदार्थों का नियन्ता, न्यायकारी अर्यमा है । (स वरुणः) वह सर्वश्रेष्ठ,

सर्ववरणीय, सबका वारक 'वरुण' है। (सः रुद्रः) वह स्वयं सबके कष्टों पर आंसू बहाने वाला, करुणामय, दुष्टों को रुलाने वाला, सर्वोपदेशक 'रुद्र' है। (सः महादेवः) वह महान् उपास्यदेव, 'देवों का भी देव' है।

सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। रश्मि० ॥ ५ ॥

भा०—(सः अग्निः) वह सबों का अग्रणी तेजोमय ज्ञानवान् 'अग्नि' है। (सः उ सूर्यः) वह ही सब का प्रेरक, उत्पादक, 'सूर्य' है। (स उ एव महायमः) वह ही महान् नियन्ता 'महायम' है।

तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश। रश्मि० ॥ ६ ॥

भा०—(तम्) उस आत्मा के समीप (वत्साः) दश पुत्र जिस प्रकार (एकशीर्षाणः) पिता के अधीन रहते हैं उसी प्रकार (दश वत्साः) दश वत्स, वास करने हारे दश प्राण (एकशीर्षाणः) एक शिरोभाग में, विद्यमान होकर (उप तिष्ठन्ति) उसके अधीन रहते हैं। परमात्म पक्ष में—वायु, आदित्य, दिशा, ओषधि, वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु, आपः आदि दशों प्राणों के मूल पदार्थ लेने, या दश दिशाएं दश वत्स हैं।

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति। रश्मि० ॥ ७ ॥

भा०—वे दशों प्राण (पश्चात्) पीछे से (प्राञ्चः) आगे को (आ तन्वन्ति) फैलते हैं, भीतर से बाहर को आते हैं। (यद्) जब वह आदित्य-मय प्राणात्मा (उद् एति) उदित होता है तब वह (वि भासति) विविध रूपों में प्रकाशित होता है।

तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः ॥ ८ ॥

भा०—(तस्य) उस आत्मा का (एषः) यह (मारुतः गणः) मरुत् सम्बन्धी प्राणगण है। (सः) वह प्राणगण और देवगण (शिक्याकृतः एति) मानो इस मूर्धा में और उस महान् परमात्मा में ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि एक छिक्के में धरा हो।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ ९ ॥

भा०—व्याख्या देखो इसी सूक्त की २य ऋचा।

तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥ १० ॥

भा०—(तस्य) उस आत्मा के (इमे) ये साक्षात् (नव कोशाः) नव कोश हैं। वे ही (नवधा) नव प्रकार के (विष्टम्भाः) विविध रूप से उसके स्तम्भन करने वाले, रोकने वाले, बन्धन रूप में (हिताः) स्थित हैं।

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥

भा०—(सः) वह तू (यत् च प्राणति) जो प्राण लेता है (यत् च न) और जो प्राण नहीं लेता उन (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं को (वि पश्यति) विशेष रूप से देखता है। या समस्त प्रजाओं के हित के लिये उन पर निरीक्षण करता है।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥

भा०—(तम्) उसको ही (इदं) यह समस्त (सहः) शक्ति (निगतम्) पूर्ण रूप से प्राप्त है। (सः एषः एकः) वह यह एक ही है। (एकवृत) एकमात्र स्वयं समर्थ और (एकः एव) ऐश्वर्य में एक अद्वितीय है।

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥ (१२)

भा०—(एते देवाः) ये समस्त देव, दिव्य पदार्थ और विद्वान्गण (अस्मिन्) उस परमेश्वर में ही (एकवृतः भवन्ति) एकत्र हो उसमें आश्रित होकर रहते हैं।

(२) अद्वितीय परमेश्वर का वर्णन

ऋषिः–ब्रह्मा ॥ देवता–अध्यात्मम् ॥ छन्दः—१४ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्, १५ आसुरी पंक्तिः, १६, १९ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १७, १८ आसुरी गायत्री। अष्टर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥१४॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥

भा०—वही परमेश्वर (कीर्तिः च) कीति और (यशः च) यश, और (अम्भः च) व्यापक सृष्टि का आदि मूलकारण जल और (नभः च) महान्

आकाश, (ब्राह्मणवर्चसम् च) ब्रह्मतेज, (अन्नं च) अन्न और (अन्नाद्यं च) अन्नादि पदार्थों का भोग सामर्थ्य है। ये सब वस्तुएं उस विद्वान् को प्राप्त होती हैं (यः एतं देवं) जो कि उस उपास्यदेव परमेश्वर को (एकवृतम् वेद) एक रूप से सदा वर्तमान, अखण्ड, एक रसरूप में जानता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं० ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं० ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं० ॥ १८ ॥

भा०—वह परमेश्वर (न द्वितीयः) न दूसरा है, (न तृतीयः) न तीसरा, (चतुर्थः न अपि उच्यते) और चौथा भी नहीं कहा जाता। (न पञ्चमः) न पांचवां है, (न षष्ठः) न छठा, (न सप्तमः) सातवां भी नहीं (उच्यते) कहा जाता। (न अष्टमः) न आठवां है, (न नवमः) न नवां और (दशमः अपि न उच्यते) दशवां भी नहीं कहा जाता। प्रत्युत वह सबसे 'प्रथम', सर्वश्रेष्ठ, सबसे अद्वितीय और सबसे मुख्य है।

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। य एतं० ॥ १९ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। य एतं० ॥२०॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति। य एतं० ॥ २१ ॥ (१६)

भा०—(यत् च प्राणति) जो प्राण लेता है और (यत् च न) जो प्राण नहीं लेता (सर्वस्मै) उस सब चराचर पदार्थ को (सः विपश्यति) वह विशेष रूप से देखता है। (तम् इदं नि-गतम्) उसमें यह समस्त जगत् आश्रित है। (सः सहः) वह परमात्मा शक्तिस्वरूप, सबका संचालक, प्रवर्तक है। (एषः एकः) वह एक ही है। (एकवृद्) वह एक रस, अखण्ड, चेतनस्वरूप है। वह (एकः एव) एक ही अद्वितीय है। (सर्वे अस्मिन् देवाः एकवृतः भवन्ति) उस सर्व शक्तिमान् परमात्मा में समस्त लोक (एकवृतः) एकमात्र आश्रित होकर उसी में लीन होकर रहते हैं।

(३) परमेश्वर का वर्णन ।

छन्दः—२२ भुरिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप् , २३ आर्ची गायत्री, २५ एकपदा आसुरी गायत्री, २६ आर्ची अनुष्टुप् , २७, २८ प्राजापत्याऽनुष्टुप् । सप्तर्चं तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च । य एतं० ॥ २२ ॥

भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥ २३ ॥

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ २४ ॥

भा०—(यः एतं देवम्) जो इस देव को (एकवृतं वेद) एकमात्र, अखण्ड, एकरस, चेतनरूप से वर्तमान जान लेता है उसको (ब्रह्म च) साक्षात् वेद, (तपः च) तप, (कीर्तिः च) कीर्ति, (यशः च) यश, (अम्भः च) जल, व्यापकशक्ति, (नभः च) आकाश, प्रबन्धशक्ति, (ब्राह्मण-वर्चसम्) ब्राह्मणों का ब्रह्मतेज, (अन्नं च) अन्न और (अन्नाद्यं च) अन्न आदि का भोग सामर्थ्य, इसी प्रकार (भूतं च) भूतकाल, (भव्यं च) भविष्यत्, (श्रद्धा च) सत्य धारणा, (रुचिः) रुचि, (स्वर्गः च) सुखमय लोक, (स्वधा च) और 'अमृत' मोक्षपद भी प्राप्त है ।

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ॥ २५ ॥

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥२६॥

भा०—(सः एव मृत्युः) वह परमात्मा ही (मृत्युः) सब प्राणियों के प्राणों को देह से जुदा करने वाला 'मृत्यु' है। (सः अमृतम्) वही परमेश्वर 'अमृत' प्राणप्रद है । (सः अभ्वम्) वह कभी न पैदा होने वाला या महान् स्तुति योग्य है। (सः रक्षः) वही सबका रक्षक है। (सः रुद्रः) वह 'रुद्र' है। (सः वसुवनिः) वह समस्त वास करने हारे जीवों और लोकों का एकमात्र भजन करने योग्य और आजीविका देने वाला है। साक्षात् 'अग्नि' रूप है। वही (वसुदेये) यज्ञ में दान करने योग्य आहुति में (नमोवाके) और 'नमः' वचन पूर्वक करने योग्य ईश्वर-

प्रार्थना स्तुति आदि ब्रह्मयज्ञ में भी, (वषट्कारः) नमः स्वाहा और वषट् वौषट् आदि शब्दों से यज्ञों में आहुतियों द्वारा (अनुसंहितः) निरन्तर स्मरण किया जाता है।

तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥ २७ ॥

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ २८ ॥ (१७)

भा०—(तस्य) उसके (प्रशिषम्) शासन को (सर्वे) सब (यातवः) गतिमान् सूर्य, ग्रह आदि पिण्ड और समस्त जंगम प्राणी भी (उप आसते) मानते हैं। (तस्य वशे) उसके वश में (चन्द्रमसा सह) चन्द्रमा सहित (अमू) ये (सर्वाः) समस्त (नक्षत्रा) नक्षत्रगण भी हैं।

(४) परमेश्वर का वर्णन।

छन्दः—२९,३३,३९,४०,४५ आसुरीगायत्री, ३०,३२,३५,३६,४२ प्राजापत्यानुष्टुभः, ३१ विराड् गायत्री, ३४, ३७, ३८ साम्न्युष्णिहः, ४२ साम्नीबृहती, ४३ आर्षी गायत्री, ४४ साम्न्यनुष्टुप् ॥ सप्तदशर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥

भा०—(सः वै) वह सूर्य जिस प्रकार (अह्नः अजायत) दिन से उत्पन्न होता है और (तस्माद्) उस सूर्य से (अहः) दिन (अजायत) उत्पन्न होता है उसी प्रकार इस प्रत्यक्ष संसार के रूप से ब्रह्म की सत्ता प्रकट होती है।

स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ॥ ३० ॥

भा०—(सः वै) वह सूर्य जिस प्रकार (रात्र्याः अजायत) रात्रि के उत्तर काल में उदित होकर रात्रि से उत्पन्न होता प्रतीत है और सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि के आ जाने से (तस्माद् रात्रिः अजायत) उस सूर्य से रात्रि होती है। उसी प्रकार वह परमेश्वर उस महाप्रलय की घोर रात्रि से जाना जाता है।

स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥ ३१ ॥

भा०—(सः वा अन्तरिक्षाद् अजायत) वह सूर्य जिस प्रकार अन्तरिक्ष से होता प्रतीत होता है और (तस्माद् अन्तरिक्षं अजायत) उस सूर्य की सत्ता को देखकर अन्तरिक्ष की सत्ता प्रतीत होती है। उसी प्रकार अन्तरिक्ष से परमेश्वर की सत्ता प्रतीत होती है।

स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ३२ ॥

भा०—(वै) इसी प्रकार (सः) वह परमेश्वरी शक्ति (वायोः) वायु से (अजायत) प्रादुर्भूत या प्रकट होती है और (वायुः) यह वायु (तस्मात् अजायत) उस परमेश्वर से उत्पन्न होता है।

स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥ ३३ ॥

भा०—(वै) निश्चय से (दिवः) द्यौलोक महान् आकाश से (सः अजायत) वह प्रकट होता है, (तस्माद्) उससे (द्यौः अधि अजायत) वह महान् आकाश उत्पन्न होता है।

स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त ॥ ३४ ॥

भा०—(सः वै दिग्भ्यः अजायत) उस परमेश्वर की सत्ता दिशाओं में प्रकट होती है क्योंकि (तस्मात्) उस परमेश्वर से (दिशः अजायन्त) दिशाएं उत्पन्न होती हैं।

स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥ ३५ ॥

भा०—(सः वै भूमेः अजायत) वह भूमि से प्रकट होता है, (तस्माद् भूमिः अजायत) उससे वह भूमि उत्पन्न होती है।

स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥ ३६ ॥

भा०—(सः वा अग्नेः अजायत) जिस प्रकार सूर्य अग्नि तत्व से उत्पन्न होता है और (तस्माद् अग्निः अजायत) उस सूर्य से अग्नि उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह परमेश्वर अग्नि की महान् शक्ति से स्वयं प्रकट होता है क्योंकि अग्नि उसी से उत्पन्न होता है।

स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त ॥ ३७ ॥

भा०—(सः वा अद्भ्यः अजायत) वह सूर्य जिस प्रकार जलों से उत्पन्न होता है और (तस्माद् आपः अजायन्त) सूर्य से वे जल वर्षाधारा रूप से उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार वह परमेश्वर (अद्भ्यः अजायत) जलों से प्रकट होता है और वे जल उस परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं।

स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त ॥ ३८ ॥

भा०—(सः वा) वह परमेश्वर (ऋग्भ्यः अजायत) ऋचाओं से प्रकट होता है ये (ऋचः) ऋचाएं (तस्मात् अजायन्त) उससे ही उत्पन्न होती हैं।

स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ३९ ॥

भा०—(सः वै यज्ञाद् अजायत) वह यज्ञ से प्रकट होता है क्योंकि (तस्माद् यज्ञः अजायत) उससे यज्ञ उत्पन्न होता है।

स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥ ४० ॥

भा०—(सः यज्ञः) वह परमेश्वर स्वयं यज्ञस्वरूप, साक्षात् प्रजापति हैं। (तस्य) उसका स्वरूप ही (यज्ञः) यज्ञ है। (सः) वह परमेश्वर 'ओ३म्' रूप से (यज्ञस्य) यज्ञ का (शिरःकृतम्) शिरोभाग बना हुआ है। सेषा एकाक्षरा ऋग् (ओ३म्) तपसोग्रे प्रादुर्बभूव···एषैव यज्ञस्य पुरस्ताद् युज्यते एषा पश्चात् सर्वतः एतया यज्ञस्तायते। इति गोपथ० १। २२ ॥

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ॥ ४१ ॥

भा०—(सः स्तनयति) वही परमेश्वर मेघ होकर गर्जता है, (स विद्योतते) वह विद्युत्रूप से चमकता है। (सः उ) और वह ही (अश्मानम् अस्यति) ऊपर से ओला बरसाता है।

पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ ४२ ॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः ॥४३॥
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ ४४ ॥
उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ ४५ ॥

भा०—(पापाय वा पुरुषाय) पापी पुरुष के सुख के लिये तथा (भद्राय वा पुरुषाय) कल्याणकारी सज्जन पुरुष के लिये, (असुराय वा)

या केवल प्राणादि में रमण करने वाले भोगी विलासी पुरुष या बलवान् पुरुष के लिये, तू (यद् वा) जो कुछ भी (ओषधीः) अन्नादि ओषधियों को (कृणोषि) उत्पन्न करता है, (यद् वा वर्षसि) और जो भी तू वर्षाता है और (यद् वा) जो भी तू (जन्यम्) उत्पन्न होने वाले प्राणियों की (अवीवृधः) वृद्धि करता है, हे (मघवन्) सर्वैश्वर्य के स्वामी परमेश्वर ! (तावान्) उतना सब (ते महिमा) तेरा ही महान् ऐश्वर्य है, तेरी ही महिमा है। (उपो) और ये सब भी (ते) तेरे ही (शतम् तन्वः) सैकड़ों स्वरूप हैं। (उपो) ये सब भी (ते) तेरे ही (बध्वे = बद्धे) बन्धन में (बद्धानि) करोड़ों सूर्य बंधे हैं। (यदि वा) या यों कहें कि स्वयं (नि-अर्बुदम्) 'खरबों' संख्या में तू ही (असि) ह।

(५) परमेश्वर का वर्णन

छन्दः—४६ आसुरी गायत्री, ४७ यवमध्या गायत्री, ४८ साम्नी उष्णिक्, ४९ निचृत्साम्नी बृहती, ५० प्राजापत्यानुष्टुप्, ५१ विराड् गायत्री ॥ षड्चात्मकं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥

भा०—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (नमुराद् भूयान्) 'नमुर' अर्थात् मृत्यु के न होने अर्थात् तू अमर रहने वाले पदार्थों से भी अधिक ऐश्वर्यवान् है। हे इन्द्र ! परमेश्वर ! तू (मृत्युभ्यः) सब विनाशी पदार्थों से भी (भूयान्) बड़ा और अधिक शक्तिशाली है।

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (अरात्याः भूयान्) अराति = दरिद्रता या कृपणता से भी अधिक बलशाली, अधिक ऐश्वर्यवान् है। (शच्याः पतिः त्वम् असि) समस्त शक्ति का स्वामी तू स्वयं है। (विभूः प्रभूः इति) 'विभू' अर्थात् नाना सामर्थ्यों से सम्पन्न और 'प्रभू' अर्थात् उत्तम सामर्थ्यवान् इन नामों से (वयम्) हम (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

नम॑स्ते अस्तु पश्यत पश्य॑ मा पश्यत ॥ ४८ ॥

भा०—हे (पश्यत) दर्शनीय अथवा सर्वद्रष्टः ! (ते नमः अस्तु) तुझे हमारा नमस्कार हो। हे (पश्यत) सर्वद्रष्टः ! (मा पश्य) मुझ अपने उपासक को दया दृष्टि से देखिये।

अन्नाद्ये॑न यश॑सा तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑ ॥ ४९ ॥

भा०—और दया करके आप मुझे (अन्नाद्येन) अन्न आदि के भोग सामर्थ्य, (यशसा) वीर्य, (तेजसा) तेज और (ब्राह्मणवर्चसेन) वेद के विद्वानों के बल से बढ़ाइये।

अम्भो॒ अमो॒ मह॒ः सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् । नम॑स्ते० ।० ॥५०॥

भा०—हे परमात्मन् ! (वयम्) हम (त्वा) आपकी, (अम्भः) सर्वव्यापक शान्त जल के समान सर्वप्राणप्रद, (अमः) ज्ञानस्वरूप, परम पूजनीय, (सहः) सर्व वशयिता (इति) इन गुणों से (उपास्महे) उपासना करते हैं।

अम्भो॑ अरु॒णं र॑ज॒तं रज॒ः सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् । नम॑स्ते० । ० ॥ ५१ ॥ (१९)

भा०—हे परमात्मन् ! (वयम्) हम (अम्भः) जल के समान सब प्राणों के उत्पादक, (अरुणम्) प्रकाशस्वरूप, (रजतम्) चित्त के अनुरञ्जक, आनन्दस्वरूप, (रजः) समस्त लोकों और ऐश्वर्य विभूतियों से सम्पन्न, (सहः) सबके वश करने हारे, परम बलस्वरूप (इति) इन गुणों और रूपों से (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

(६)

छन्दः—५२, ५३ प्राजापत्यानुष्टुभौ, ५४ आर्षी गायत्री, शेषास्त्रिष्टुभः ॥ पञ्चर्चं षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

उ॒रुः पृ॒थुः सु॒भूर्भुव॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् । नम॑स्ते० । ० ॥५२॥

भा०—हे परमात्मन् ! (वयम्) हम लोग, (उरुः) सर्वशक्तिमान्, महान् (पृथुः) अति विस्तृत, सर्वव्यापक, (सुभूः) उत्तम शक्तिरूप में

समस्त पदार्थों में वर्तमान, (भुवः) अन्तरिक्ष के समान व्यापक वा सब का उत्पादक, इत्यादि नामों, गुणों और रूपों से (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्। नमस्ते० ।०॥५३॥

भा०—हे परमात्मन्! (वयम्) हम (त्वा) तुझको (प्रथः) सबसे अधिक विस्तृत, (वरः) सबसे बरणीय, सर्वश्रेष्ठ, (व्यचः) सबमें व्यापक, (लोकः) सबका द्रष्टा, इन नामों गुणों और रूपों से (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम्॥ ५४॥

भा०—हे परमेश्वर! (वयम्) हम (त्वा) आपको, (भवद्-वसुः) समस्त उत्पन्न होने हारे चर अचर पदार्थों में बसने हारे, (इदद्-वसुः) परम ऐश्वर्यवान्, सूर्यादि पदार्थों में भी वास करने हारे, (संयद्-वसुः) समस्त ऐश्वर्य को एकत्र एक काल में धारण करने वाले और (आयद्-वसुः) समस्त लोकों को वश करने हारे केन्द्रस्थ महा सूर्यों के भी भीतर शक्ति रूप से बसने वाले, (इति) इन नामों, गुणों और रूपों से भी (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत॥ ५५॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५६॥ (२०)

ऋचौ ४८, ४९॥

भा०—व्याख्या देखो गत पञ्चम पर्याय सूक्त के ४८, ४९ मन्त्र॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः॥

[तत्र पर्यायाः षट् सूक्तमेकं षट् पञ्चाशदृचः स्मृताः]

इति त्रयोदशं काण्डं समाप्तम्।

चतुर्भिरनुवाकैश्च सूक्तैश्चापि चतुर्मितैः।
अष्टाशीतिशतेनर्ग्भिः पूर्यतेऽसौ त्रयोदशः॥

अथ चतुर्दशं काण्डम्

[१] गृहाश्रम प्रवेश और विवाह-प्रकरण

ऋषिका—सूर्या सावित्री ॥ देवता—आत्मा १–५ सोमस्तुतिः, ६ विवाहः, २३ सोमार्कौ, २४ चन्द्रमाः, २५ विवाहमन्त्राशिषः, २५, २७ वधूवासःसंस्पर्शमोचनम् ॥ छन्दः—१–१३, १६–१८, २२, २६–२८, ३०, ३४, ३५, ४१–४४, ५१, ५२, ५५, ५८, ५९, ६१–६४ अनुष्टुभः, १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः, १५ आस्तारपंक्तिः, १९, २०, २३, २४, ३१–३३, ३७, ३९, ४०, ४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, ५८, ५९ ६१ त्रिष्टुभः (२३, ३१, ४५ बृहतीगर्भाः), २१, ४६, ५४, ६४ जगत्यः, (५४, ६४ भुरिक् त्रिष्टुभौ), २९, ५५ पुरस्ताद्बृहत्यौ, ३४ प्रस्तारपंक्तिः, ३८ पुरोबृहती त्रिपदा परोष्णिक्, (४८ पथ्यापंक्तिः), ६० पराऽनुष्टुप् । चतुःषष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

ऋ० १०। ८५। १॥

भा०—(सत्येन) सत्य ने (भूमिः) भूमि को (उत्तभिता) उठा रक्खा है। (सूर्येण) सूर्य ने (द्यौः उत्तभिता) द्यौः, आकाश, आकाशस्थ पिण्डों को उठा रक्खा है। (ऋतेन) तप तेज के बल से (आदित्याः) आदित्य ऋतुगण (तिष्ठन्ति) स्थिर रहते हैं। (दिवि) प्रकाशमान सूर्य के आश्रय पर (सोमः) चन्द्र (अधिश्रितः) आश्रित है और (दिवि सोमः अधिश्रितः) प्रकाशमान सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष में वीर्य आश्रित है।

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

ऋ० १०। ८५। २॥

भा०—(आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारीगण (सोमेन) वीर्य के बल से (बलिनः) बलवान् रहते हैं। (सोमेन) वीर्य के बल पर ही (पृथिवी) यह

भूमितुल्य स्त्री भी (मही) पूज्य, बड़ी शक्तिशालिनी है । (अथो) और (एषाम्) इन (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (उपस्थे) समीप बीच में (सोमः) चन्द्र के समान (नक्षत्राणाम्) अपने स्थान से च्युत न होने वाले दृढ़ तपस्वियों के बीच भी (सोमः) वीर्य ही (आहितः) स्थित होता है ।

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३ ॥

भा०—(पपिवान्) सोमपान करने वाला पुरुष (सोमं) उसको ही सोम (मन्यते) समझ लेता है (यत्) जिसे लोग (ओषधिम्) ओषधि रूप में (सं पिंषन्ति) पीसा करते हैं । परन्तु (यम्) जिस वेद-ज्ञान को (ब्रह्माणः) वेदज्ञ पुरुष (सोमम्) सोम रूप से (विदुः) जानते हैं (तस्य) उसको (पार्थिवः) पृथिवीवासी पुरुष या राजा भी (न अश्नाति) भोग नहीं करता ।

'वेदानां दुह्यं भृग्वङ्गिरसः सोमपानं मन्यन्ते । सोमात्मको ह्ययं वेदः । तदप्येतद् ऋचोक्तं सोमं मन्यते पपिवान्०' । इति गो० ब्रा० पू० २।९॥

यत् त्वा सोम प्र पिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ८५ । ५ ॥

भा०—हे (सोम) सोम ! (यत्) जब (त्वा) तुझे (प्र पिबन्ति) लोग भरपूर होकर पी लेते या भोग लेते हैं (ततः) तिस पर भी तू (पुनः) फिर (आप्यायसे) बढ़कर समृद्ध हो जाता है । (वायुः) प्राण वायु (सोमस्य) अन्तरिक्षस्थ जल और देह गत वीर्य का (रक्षिता) रक्षक है। जैसे (समानां) वर्षों का (मासः) मास ही (आकृतिः) बनाने वाला होता है । अधियज्ञ में—हे सोम ! कृष्णपक्ष में देवता लोग तुम्हारा पान करते हैं और शुक्ल पक्ष में फिर तुम चन्द्रमा की कला के अनुसार वृद्धि को प्राप्त होते हो—निरुक्त टीका श्री० दुर्गाचार्य ।

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
आग्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) वीर्यवान् पुरुष ! आत्मन् ! तू (आच्छद् विधानैः) चारों तरफ के प्रकोट, आवरणों की रचनाओं से (गुपितः) राजा के समान सुरक्षित है और (बार्हतैः) बड़े बड़े शक्तिशाली पुरुषों द्वारा (रक्षितः) रक्षा किया गया है । (ग्राव्णाम्) उपदेष्टा लोगों के उपदेशों और व्याख्यानों को (इत्) ही (शृण्वन्) सुनता हुआ (तिष्ठसि) तू विराजमान है । (पार्थिवः) राजा भी (ते) तेरा (न अश्नाति) भोग नहीं करता । पुमान् वै सोमः, स्त्री सुरा । तै० १ । ३ । ३ । ३ ॥

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ८५ । ७ ॥

भा०—(यद्) जब सूर्या, सूर्य की कान्ति के समान चित्त को प्रेरणा करने वाली, स्वयंवरा नवयुवती कन्या (पतिम्) पति को (अयात्) प्राप्त होती, उस समय (चित्तिः) चित्त का संकल्प ही (उपबर्हणम्) सेज पर सिर टेकने के लिये लगे सिरहाने के समान सुखदायी (आ) होता है और (चक्षुः) चक्षु में उत्पन्न प्रेम का राग ही (अभि अञ्जनम्) गात्र के ऊपर लगाने के लिये सुगन्ध तैलादि के समान शान्तिदायक (आ) होता है । (द्यौः भूमिः) आकाश और भूमि (कोशः आसीत्) ये दोनों खजाने बन जाते हैं ।

अधिदैवत में—सूर्या, उषा जब अपने पति सूर्य के पास जाती है तब चित्ति संकल्प उसका सिरहाना, चक्षु तेज उसका गात्रलेप और पृथ्वी और आकाश उसके खजाने हैं ।

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ८५ । ७ ॥

भा०—(सूर्यायाः) कन्या की (रैभी) रैभी नामक ऋचा (अनुदेयी) विदाई के समय का दहेज हो और (नाराशंसी) उत्तम नर-नारियों की इतिहास-कथा (न्योचनी) गृह प्रवेश के समय पहनने योग्य ओढ़नी या आभूषण (आसीत्) हो और (सूर्यायाः) सूर्या के समान कान्तिमती कन्या का (वासः) वस्त्र ही (भद्रम् इत्) अति कल्याणकारी, सुखकारी और सुन्दर हो इस प्रकार वह (गाथया परिष्कृता) गाथा, श्लोक मन्त्रपाठ आदि से सुशोभित होकर वधू पति के घर (एति) आवे ।

स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ८५ । ८ ॥

भा०—(स्तोमाः) वेद के स्तुतिपाठ, (प्रतिधयः) उस कन्या के 'प्रतिधि' प्रतिपालक हों और (सूर्यायाः) कन्या की (छन्दः) अभिलाषा (कुरीरम्) करने योग्य अपने पति से मिलने की परम अभिलाषा 'मैथुन' (ओपनः) और पति के समीप शयन की हो । इसके बाद (अश्विना) रात दिन के समान सदा परस्पर साथ रहने वाले वे दोनों (वरा) एक दूसरे को वरण करने वा चाहने वाले हों और उसके इस कार्य में (अग्निः) अग्नि और उसके समान ज्ञान प्रकाश से युक्त आचार्य ही (पुरोगवः) उसका पुरोहित या साक्षी (आसीत्) हो । यहां महर्षि दयानन्दकृत संस्कार-विधि में विवाह संस्कार के योग्य काल का निर्णय देखने योग्य है ।

कुरीरम्—क्रियते तत् कुरीरः मैथुनं वा । इति दयानन्द उणादि-भाष्ये । उणा० ४ । ३३ ॥ ओपशः—आङ् उप पूर्वात् शेतेरसुन् । ओपशः सहशयनम् ।

सोमो॑ वधूयुर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां यत् पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒तार्द॑दात् ॥ ९ ॥

ऋ० १० । ८५ । ९ ॥

भा०—जब (सोमः) वीर्यवान् पुरुष (वधूयुः) वधू की कामना से युक्त (अभवत्) होवे । तब (अश्विनौ) स्त्री और पुरुष (उभौ) दोनों (वरा) परस्पर एक दूसरे का वरण करने वाले (आस्ताम्) होवें और (यत्) जब दोनों की अभिलाषा पूरी तरह से हो तब (पत्ये) पति की (शंसन्तीम्) अभिलाषा करने वाली (सूर्याम्) कन्या को (सविता) उसका उत्पादक पिता (मनसा) अपने मनः संकल्प द्वारा (अददात्) दान करे, पति के हाथ सौंप दे ।

मनो॑ अस्या॒ अन॑ आसी॒द् द्यौरा॑सीदु॒त च्छ॒दिः ।
शु॒क्राव॑न॒ड्वाहा॑वास्तां॒ यदया॑त् सू॒र्या पति॑म् ॥ १० ॥

ऋ० १० । ८५ । १० ॥

भा०—(यद्) जब (सूर्या) कन्या (पतिम्) पति के पास (आयात्) जावे तब (अस्याः) इस कन्या का पति के पास जाने के लिये (मनः अनः आसीत्) मन अर्थात् चित्त या संकल्प ही रथ हो, (उत) और (द्यौः) आकाश या वाणी ही उस पूर्वोक्त संकल्पमय मनोरथ की (च्छदिः) ऊपर की छत के समान आवरण (आसीत्) हो । (अनड्वाहौ) उस मनोरथरूप रथ को ढोने वाले बैलों के स्थान पर (शुक्रौ) दोनों स्त्री पुरुष के शुक्र और रज हों । या वे दोनों स्वयं ही (शुक्रौ) शुद्ध चित्त, कान्तिमान् होकर उस गृहस्थ रथ के उठाने वाले हों ।

ऋ॒क्सा॒माभ्या॑म॒भिहि॑तौ॒ गावौ॑ ते सा॒मना॑वैताम् ।
श्रोत्रे॑ ते च॒क्रे आ॑स्तां दि॒वि पन्था॑श्चराच॒रः ॥ ११ ॥

ऋ० १० । ८५ । ११ ॥

भा०—(ऋक्सामाभ्याम्) ऋग्वेद और सामवेद दोनों से (अभि-

हितौ) बंधे हुए (ते) तेरे मनोरथ, रथ के (गावौ) पूर्वोक्त दोनों बैलों के (सामनौ) समान (एताम्) चलें। हे कन्ये ! (ते श्रोत्रे) दोनों कान (ते) तेरे मनोरथ रथ के (चक्रे) दो चक्र (आस्ताम्) रहें। (दिवि) तेरे उस मनोरथ-रथ का (चराचरः) समस्त चराचर संसार (पन्थाः) मार्ग है।

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥

ऋ० १० । ८५ । १२ ॥

भा०—हे कन्ये ! (ते यात्याः) तेरे अपने पति के गृह जाते हुए (चक्रे शुची) कान्तिमान् पूर्वोक्त दो चक्र हों और (अक्षः) धुरे रूप से (व्यानः) व्यान वायु जो हृदय की नाड़ियों में विविध प्रकार से गति करता है वह (आहतः) लगा हो। (पतिम् प्रयती) अपने पति के पास जाती हुई (सूर्या) सूर्य की उषा के समान शुद्ध कान्ति से युक्त कन्या (मनः मयम्) संकल्प से बने मानस-रथ पर (आरोहत्) चढ़े।

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥ १३ ॥

ऋ० १० । ८५ । १३ ॥

भा०—(सविता) सूर्यवत् उत्पादक पिता (यम्) जिस वहन योग्य पदार्थ को (अवासृजत्) प्रदान या विदा करता है वही (सूर्यायाः) कन्या का (वहतुः) वहन करने वाला (प्र अगात्) आगे जाये। (मघासु) मघा नक्षत्रों के योग में (गावः) सूर्य की किरणें भी (हन्यन्ते) मारी जाती हैं, इस कारण (फल्गुनीषु) फल्गुनी नक्षत्रों के योग में (वि-उह्यते) विवाह किया जाता है।

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १४ ॥

ऋ० १० । ८५ । १४ । प्र० द्वि०, १५ तृ० च० ॥

भा०—हे (अश्विनौ) दिन रात्रि के समान सदा एक दूसरे के पीछे चलने हारे विवाहित वर वधुओ ! (सूर्यायाः) उषा के समान कान्तिमती कन्या के (वहतुं) वहन करने योग्य रथ को लेकर, (त्रिचक्रेण) तीन चक्रों वाले रथ पर सवार होकर, (यद्) जब (पृच्छमानौ) अपना मार्ग पूछते हुए (अयात) जावो तो (वाम्) हे स्त्री पुरुषो ! तुम्हारा (एकं चक्रं क्व आसीत्) एक चक्र कहां होता है और (देष्ट्राय) उपदेष्टा के ज्ञानोपदेश के श्रवण करने के लिये तुम दोनों (क्व तस्थथुः) किस स्थान पर खड़े हुआ करते हो। पूर्व मनोमय शकट के श्रोत्र दो चक्र बतलाये है। तीसरे चक्र का निर्देश होने होने से उसी की यहां जिज्ञासा है। वह तृतीय चक्र बुद्धि है। [देखो मन्त्र १६]

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
विश्वे देवा अनु तद् वामजानन् पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥१५॥

ऋ० १० । ८५ । १५ प्र० द्वि १४ तृ० च० ॥

भा०—हे (शुभस्पती) शोभा के मालिक वर वधुओ ! तुम दोनों जब (उपसूर्याम्) कन्या के (वरेयम्) वरण कार्य के अवसर पर, विवाह संस्कार के अवसर पर, (अयातम्) आते हो, (तत्) तब (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुष (वाम्) तुम दोनों वर वधू के विषय में (अजानन्) भली प्रकार जान लें और तुम दोनों को विवाह कर लेने की अनुमति दें और तब (पूषा पुत्रः) हृष्ट पुष्ट पुत्र अपने (पितरम्) उत्पादक माता पिता को (अवृणीत) प्राप्त करे।

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद् विदुः ॥ १६ ॥

ऋ० १० । ८५ । १६ ॥

भा०—हे (सूर्ये) सौभाग्यवति कन्ये ! (ते) तेरे मनरूप रथ के (द्वे चक्रे) श्रोत्र या कानरूप दोनों चक्रों को (ब्रह्माणः) ब्रह्म के जानने वाले

वेदज्ञ विद्वान् (ऋतुथा) ऋतुकाल के अवसर पर (विदुः) भली प्रकार जानते हैं। (अथ) और (एकं चक्रम्) एक चक्र (यत्) जो (गुहा) गुहा में, हृदय के भीतर छिपा चित्त या बुद्धि है (तत्) उसको (अद्धातयः इद्) विद्वान् लोग ही (विदुः) जानते हैं। कन्या की अभिलाषा वर-प्राप्ति की होती है, वह अपने कामों से योग्य वरों की कथा श्रवण करती है और चित्त से योग्य वर को गुणती है। दोनों कान और चित्त ये तीन चक्र हैं जिनसे वह मनोरथ रूप रथ पर चढ़कर पति को प्राप्त करती है।

अ॒र्य॒मणं॑ यजामहे सुब॒न्धुं प॑ति॒वेद॑नम्।
उ॒र्वा॒रु॒कमि॑व॒ बन्ध॑नात् प्रेतो मु॑ञ्चामि॒ नामुतः॑ ॥ १७ ॥

ऋ० ७ । ५९ । १२ ॥

भा०—हम कन्या पक्ष के लोग (अर्यमणम्) सर्वश्रेष्ठ, न्यायकारी, (पतिवेदनम्) पति को प्राप्त कराने हारे, (सु-बन्धुम्) उत्तम बन्धुस्वरूप परमेश्वर की (यजामहे) पूजा करते हैं। (उर्वारुकम्) खरबूजा जिस प्रकार अपनी बेल से टूटकर आपसे आप अलग हो जाता है उसी प्रकार मैं कार्यकर्त्ता (इतः) इस पितृगृह से (प्र-मुञ्चामि) इस कन्या को पृथक् करता हूँ, (अमुतः) उस पतिबन्धन से (न) कभी पृथक् न करूं। बल्कि उसके साथ जोड़ता हूँ।

प्रेतो मु॑ञ्चामि॒ नामुतः॑ सुब॒द्धाम॒मुत॑स्करम्।
यथे॒यमि॑न्द्र मीढ्वः सुपु॒त्रा सु॒भगास॑ति ॥ १८ ॥

ऋ० १० । ८५ । २५ ॥

भा०—मैं कन्या का पिता (इतः) इस पितृकुल से (प्र मुञ्चामि) सर्वथा इस कन्या को पृथक् करता हूँ। (अमुतः) इसके पति सम्बन्ध से इसको (न प्र मुञ्चामि) कभी अलग न करूं प्रत्युत (अमुतः) पति के साथ इसको (सुबद्धाम्) खूब अच्छी प्रकार ग्रन्थिबद्ध (करम्) करता हूँ। (यथा) जिससे हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (इयम्) यह (सुभगा) उत्तम

सौभाग्य वाली कन्या (मीढ्वः) वीर्य सेचन में समर्थ पति के साथ रहकर (सुपुत्रा) उत्तम पुत्रों वाली (असति) हो।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वा बध्नात् सविता सुशेवाः
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ॥१९॥

ऋ० १० । ८५ । २४ प्र० द्वि० तृ० ॥

भा०—हे कन्ये ! (त्वा) तुझको मैं पति, (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर या तेरे पिता के (पाशात) उस बन्धन से (प्र मुञ्चामि) छुड़ाता हूँ (येन) जिस बन्धन से (त्वा) तुझे (सुशेवाः) उत्तम रीति से सेवा करने योग्य (सविता) परमेश्वर ने या तेरे पिता ने (अबध्नात्) बांधा था। हे कन्ये ! (ऋतस्य योनौ) परम सत्य ज्ञान और यज्ञ के स्थान और (सुकृतस्य) पुण्य और सत्याचरण के (लोके) लोक इस गृहस्थाश्रम में (सहसंभलायै) पति के साथ सदा सुमधुर भाषण करने वाली (ते) तुझको (स्योनम्) सुख (अस्तु) प्राप्त हो।

भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ।२०।(२)

ऋ० १० । ८५ । २६ ॥

भा०—हे कन्ये ! (त्वा) तुझको (भगः) ऐश्वर्यवान् सौभाग्यशील वर (इतः) इस पितृगृह से (हस्तगृह्य) हाथ से पकड़ कर, पाणिग्रहण करके (नयतु) ले जावे। (अश्विना) अश्व पर आरूढ़ वर और उसका भाई दोनों (त्वा) तुझको (रथेन) रथ पर बैठाकर (प्र वहताम्) ले जायें। हे कन्ये ! तू गृहपत्नी होकर (गृहान् गच्छ) घर को जा। (यथा) जिससे (त्वं) तू (गृहपत्नी) गृहस्वामिनी (असः) हो। (वशिनी) सबको वश करने हारी, सबकी हृदयहारिणी (त्वं) तू (विदथम्) ज्ञान से भरे वचन (आ वदासि) कहा कर।

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥२१॥

ऋ० १० । ८५ । २७ ॥

भा०—हे पुत्री ! (ते) तेरी (प्रजायै) सन्तान के लिये (प्रियम्) प्रिय लगने वाले पदार्थ (सम् ऋध्यताम्) अच्छी प्रकार अधिक मात्रा में प्राप्त हों। (अस्मिन् गृहे) इस घर में (गार्हपत्याय) गृहपति के कार्य, गार्हपत्य अग्नि की सेवा और गृहस्थकार्य के लिये (जागृहि) तू सदा जाग, सावधान रह और (एना पत्या) इस पति के संग (तन्वं) अपने शरीर को (सं स्पृशस्व) स्पर्श करा, आलिङ्गन कर। (अथ) और उसके बाद (जिर्विः) अधिक उमर की बूढ़ी होकर (विदथम्) ज्ञानोपदेश (आ वदासि) किया कर।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २२ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४२ ॥

भा०—हे वरवधू ! तुम दोनों (इह एव) इस गृहस्थ आश्रम में (स्तं) रहो। (मा वि यौष्टम्) कभी वियुक्त न हुआ करो। (पुत्रैः) पुत्रों (नप्तृभिः) नातियों से (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (मोदमानौ) आनन्द प्रसन्न रहते हुए (सु-अस्तकौ) उत्तम गृह से सम्पन्न होकर, (विश्वम् आयुः) अपनी पूर्ण आयु का (वि अश्नुतम्) विशेष रूप से या विविध प्रकार से भोग करो।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ २३ ॥

ऋ० १० । ८५ । १८ ॥

भा०—सूर्य चन्द्र और आत्मा परमात्मा पक्ष में पूर्व अथर्व० ७। ८१। १ और १३। २। ११ में कह आये हैं। पति पत्नी पक्ष में—

(एतौ) ये दोनों (शिशू) एकत्र शयन करने हारे पति पत्नी (पूर्वापरम्) एक दूसरे के आगे और पीछे पतिपत्नीभाव से (मायया) परस्पर की प्रेमलीला या सद्बुद्धि से (चरतः) विचरण करते हैं और (क्रीडन्तौ) नाना प्रकार से क्रीड़ा विहार करते हुए (अर्णवम्) संसार-सागर के पार (परि यातः) जाते हैं। उन दोनों में (अन्यः) एक (विश्वा भुवना) सूर्य के समान समस्त लोकों को (विचष्टे) विविध रूप से देखता है और (अन्यः) दूसरा, चन्द्रमा के समान, स्त्री (ऋतून् विदधत्) ऋतु कालों को धारण करती हुई (नवः) सदा नवीन शरीर वाली, सुन्दर रूप (जायसे) हो जाती है।

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२४॥

ऋ० १० । ८५ । १९ ॥

भा०—हे सूर्य के समान तेजस्वी पति ! तू (अह्नाम्) दिनों का (केतुः) प्रज्ञापक ज्ञाता होकर, (जायमानः) पुत्र रूप से उत्पन्न होता हुआ, (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के प्रारम्भ में सूर्य के समान (नवः नवः भवसि) नये २ रूप में प्रकट होता है और तू (देवेभ्यः) अतिथि आदि देव के समान पूज्य पुरुषों के लिये (भागं) अन्न आदि सेवन योग्य पदार्थ (विदधासि) विविध प्रकार से प्रदान करता है और (आयन्) सबको प्राप्त होकर हे (चन्द्रमा) चन्द्र के समान आह्लादकारिन्, पत्नि ! तू सबको (दीर्घम् आयुः) दीर्घ जीवन (प्र तिरसे) प्रदान करती है।

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते।
तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः। ऐ० ७ । १ ३ ॥

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥ २५ ॥

ऋ० १० । ८५ । २९ ॥

भा०—हे नवविवाहित पुरुष ! तू (शमुल्यम्) शमन करने योग्य मानस दुर्भाव या मलिनता को (परा देहि) दूर कर दे और (ब्रह्मभ्यः) विद्वान् ब्राह्मणों को (वसु) धन का (वि भज) विविध रूपों में दान किया कर। (एषा जाया) यह स्त्री साक्षात् (पद्वती) चरणों वाली (कृत्या) सेना के समान हिंसाकारिणी (भूत्वा) होकर (पतिम्) पति के गृह में (विशते) प्रवेश करती है। विद्वानों को गृह पर बुलाकर उनके ज्ञानोपदेशों द्वारा चित्त के मलिन भावों को दूर करें। नहीं तो गृहों में नववधू ही कलहों का कारण हो जाती है।

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २६ ॥

ऋ० १० । ८५ । २८ ॥

भा०—हे नवविवाहित ! जब इस नवविवाहित वधू का हृदय (नीललोहितम्) नीला, लाल या शबल, तामस और राजस भावों से युक्त, मलिन (भवति) हो जाता है तब उसकी (कृत्या-आसक्तिः) हिंसा के कार्य में या गृहस्थ योग्य कार्यों में प्रवृत्ति (वि अज्यते) स्पष्ट हो जाती है। तब (अस्याः ज्ञातयः) उस कन्या के बन्धु बान्धव भी (एधन्ते) बढ़ते हैं और (पतिः) पति (बन्धेषु) प्रेम के बन्धनों में (बध्यते) बंधता है।

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ २७ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३० ॥

भा०—(यद्) यदि (वध्वः) वधू के (वाससः) वस्त्र से (पतिः) पति (स्वम् अङ्गम्) अपना शरीर (अभि ऊर्णुते) आच्छादित करे तो (अमुया) इस (पापया) पाप या बुरे काम से (रुशती) सुन्दर शोभा युक्त (तनूः) शरीर भी (अश्लीला) गन्दा, मलिन, शोभा रहित, (भवति) हो जाता है। पति कभी अपनी स्त्री के उतरे हुए कपड़े न पहना करे।

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्त्तनम्।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥ २८ ॥
ऋ० १० । ८५ । ३५ ॥

भा०—(सूर्यायाः) पुत्र प्रसव करने में समर्थ युवती के (रूपाणि) रूपों को (पश्य) देख। उसमें रजस्वला होने के समय अङ्गों का (आशसनम्) कटना, (विशसनम्) फटना और (अधि विकर्त्तनम्) चिरना आदि होता है। (तानि) उन सब दोषों और मलिनता के कार्यों को (ब्रह्मा उत) वेदज्ञानी विद्वान् ही (शुम्भति) संस्कार द्वारा शुद्ध करता है।

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे।
सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥
ऋ० १० । ८५ । ३४ ॥

भा०—इस दशा में (एतम्) स्त्री का शरीर (तृष्टम्) तृषा उष्णता का रोग उत्पन्न करता है, (कतुकम्) देह पर चिरमिराहट की फुन्सियां आदि विषम कष्ट उत्पन्न करता है, (अपाष्ठवद्) घृणित वस्तु के समान और (विषवत्) विष से युक्त होता है। उस समय (एतत्) स्त्री का शरीर (अत्तवे न) भोग करने के योग्य नहीं होता। (यः) जो (ब्रह्मा) वेदवेत्ता विद्वान् इस प्रकार (सूर्याम्) सन्तानोत्पन्न करने में समर्थ कन्या के लक्षण (वेद) जानता है या जो सूर्या कन्या को पति के साथ प्राप्त करादे वह ब्रह्मा या जो सूर्या सूक्त को जानता हो। (सः इम्) उसको ही (वाधूयम्) विवाह के अवसर के वस्त्र लेने (अर्हति) उचित है।

स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति ॥३०॥ (३)

भा०—(सः इत्) वह ब्रह्मवेदवेत्ता ही (तत्) उस (सुमङ्गलम्) शुभ मङ्गलमय (वासः) वस्त्र या दहेज को (स्योनम्) सुखपूर्वक (हरति) ले सकता है। (यः) जो (प्रायश्चित्तिम्) प्रायश्चित्तीय विधि को (अध्येति)

जानता है (येन) जिससे कि (जाया) पत्नी (न रिष्यति) पति के प्रति हानिकारक नहीं होती ।

युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु ।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥३१

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (युवं) तुम दोनों (ऋतोद्येषु) अपने सत्य भाषण के व्यवहारों में सदा (ऋतं वदन्तौ) सत्य का भाषण करते हुए (समृद्धं) खूब समृद्ध (भगम्) ऐश्वर्य को (सं भरतम्) भली प्रकार प्राप्त करो । हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के परिपालक विद्वन् ! (अस्यै) इस कन्या के (पतिम्) पति के प्रति (रोचय) रुचि उत्पन्न करा, ऐसा उपदेश कर जिससे वह अपने पति को अधिक स्नेह से चाहे और (संभलः) उत्तम मधुर भाषण करने वाला विद्वान् (एताम्) इस (वाचम्) स्नेह भरी वाणी को (चारु) भली प्रकार (वदतु) कहे ।

इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ ।
शुभं यतीरुस्रियाःसोमवर्चसो विश्वे देवाःक्रन्निह वो मनांसि ॥३२॥

भा०—हे (गावः) गौवो ! या गमन करने योग्य स्त्रियो ! तुम (इह-इत्) यह ही पतिगृह में (असाथ) रहो । तुम (परः) दूर देश में (न गमाथ) मत जाओ । (इमं) इस अपने पालक को (प्रजया) उत्तम सन्तान से (वर्धयाथ) बढ़ाओ । (उस्रियाः) गौओ, या उत्तम आचार वाली स्त्रियो ! आप लोग (शुभं यतीः) सुन्दरता से इधर उधर विचरती हुई (सोमवर्चसः) सोम, चन्द्र के समान कान्ति वाली श्वेत और लाल वर्ण की या सौम्य होकर रहो । (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्, श्रेष्ठ पुरुष (वः) तुम्हारे (मनांसि) चित्तों को (इह क्रन्) यहां ही लगाये रखें ।

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम् ।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥३३॥

भा०—हे (गावः) गौओ ! या गमन योग्य स्त्रियो ! (इमं) इस

नवगृहस्थ को (प्रजया) प्रजा से (सं विशाथ) प्राप्त होओ। (अयम्) यह गृहस्थ (देवानाम्) पूज्य विद्वानों और अतिथियों के (भागम्) भाग को (न मिनाति) नहीं मारता, लोप नहीं करता। (वः) तुमको (पूषा) पुष्ट करने वाला और (सर्वे च) समस्त (मरुतः) वैश्यगण या विद्वान् पुरुष (अस्मै) इस गृहपति के निमित्त तुझे देते हैं और (वः धाता) तुम्हारा पालक और (सविता) उत्पादक पिता और परमेश्वर भी तुमको (अस्मै सुवाति) इसके हाथों तुम्हें सौंपता है।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥ ३४ ॥

भा०—(येभिः) जिन मार्गों से (नः सखायः) हमारे मित्रगण (वरेयम्) कन्यावरण के उत्सव के लिये (यन्ति) जावें वे (पन्थानः) मार्ग (अनृक्षराः) कांट से रहित और (ऋजवः) सूधे (सन्तु) हों (भगेन) ऐश्वर्य-सम्पन्न धनाढ्य पुरुषों और (अर्यम्णा) श्रेष्ठ राजा के (सम्) साथ मिलकर (धाता) मार्ग बनाने वाला शिल्पी उन मार्गों को (वर्चसा) प्रकाश से (सं सृजतु) अच्छी प्रकार युक्त करे।

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम्।
यद् गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३५ ॥

भा०—(यत् च) जो (वर्चः) तेज या बल (अक्षेषु) पासों या राष्ट्र के अध्यक्षों में या प्रेमियों की आंखों में है, (यत् च) और जो बल (सुरायाम्) चित्त को हरने वाली सुन्दर स्त्री वा जलधारा में (आहितम्) भरा है और (यद् वर्चः गोषु) जो तेज, धन, समृद्धि और पुष्टिकारक घी दूध आदि सुस्वादु पदार्थों या गौओं में विद्यमान है (तेन) उन सब तीनों प्रकार के चित्ताकर्षक तेजों से हे (अश्विना) स्त्री पुरुषो! तुम सब (इमाम्) इस सौभाग्यवती नववधू को (अवतम्) सुशोभित करो।

येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।
येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३६ ॥

भा०—(येन) जिस (वर्चसा) तेज से (महानघ्न्याः) हिंसा न करने योग्य स्त्री का भी (जघनम्) जघन सींचा गया है और (येन वा) जिस तेज से (सुरा) सुरा या जलधारा सींची गई है और (येन) जिस तेज से (अक्षाः) पासे या इन्द्रियें (अभि असिच्यन्त) सींची गई हैं, (तेन) उस (वर्चसा) तेज से (इमां) इस स्त्री को हे (अश्विनौ) स्त्री पुरुषो या कन्या और वर के माता पिताओ ! तुम भी (अवतम्) सुशोभित करो ।

यो अ॒निध्मो दी॒दय॑द॒प्स्व॒१॒न्तर्यं विप्रा॑स ईळ॑ते अध्व॒रेषु॑ ।
अपां नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑वान् ॥३७॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (अनिध्मः) विना ईंधन के जलों में विद्यमान विद्युत् के समान समस्त प्रजाओं में (दीदयत्) प्रकाशित होता है, (यं) जिसकी (अध्वरेषु) यज्ञों में (विप्रासः) मेधावी पुरुष (ईडते) उपासना करते हैं, वह (अपां नपात्) प्रजाओं का परिपालक परमेश्वर (मधुमती) मधुर जीवन और आनन्दरस से परिपूर्ण (अपः) प्रजाएं, सत्कर्म और सद् बुद्धियां (दाः) प्रदान करे। (याभिः) जिनसे (वीर्यावान्) वीर्यवान् पुरुष (वावृधे) बढ़ता है ।

इदम॒हं रुश॑न्तं ग्रा॒भं त॑नू॒दूषि॒मपो॑हामि ।
यो भ॒द्रो रो॑च॒नस्तमुद॑चामि ॥ ३८ ॥

भा०—(इदम्) यह (अहम्) मैं (रुशन्तं) नाश करने वाले, (तनूदूषिम्) शरीरों को दूषित करने वाले और (ग्राभं) शरीर को जकड़ने वाले रोग को (अप ऊहामि) शरीर से दूर करता हूँ और (यः) जो (भद्रः) सुखकारी (रोचनः) सुन्दर वर्ण है (तम्) उसको (उद् अचामि) ऊपर धारण करता हूँ ।

वर वधू के उबटन आदि से शरीर के मल को दूर करें और उत्तम शरीर वर्ण करने वाले पदार्थों का उपयोग करें ।

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥ ३९ ॥

भा०—(ब्राह्मणाः) वेद के जानने हारे विद्वान् पुरुष (अस्यै) इस कन्या को (स्नपनीः) नहलाने के योग्य (अपः) जलों को (आहरन्तु) लावें और वे ही (अवीरघ्नीः) वीर्य और सन्तान को नाश न करने वाले (अपः) जलों और उत्तम उपदेशों और कर्मों को (उद अजन्तु) प्राप्त करावें। कन्या स्नानादि करके (अर्यम्णः) परमेश्वर की प्रतिनिधि (अग्निम्) अग्नि की (परि एतु) प्रदक्षिणा करे और (पूषन्) वर तथा (श्वशुरः) कन्या का भावी ससुर और (देवरः च) पति का छोटा भाई और अन्य सम्बन्धी (प्रतीक्षन्ते) उसको प्रत्यक्ष देखा करें।

बोधायन गृह्यसूत्रे—अथैनां प्रदक्षिणमग्निं पर्याणयति अर्यम्णो अग्निं परियन्तु क्षिप्रं प्रतीक्षन्तां श्वश्रुवो देवराश्च । इति ॥

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म ।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्व ४०(४

भा०—हे नववधू ! (ते) तुझे (हिरण्यं शम्) यह सुवर्णादि का आभरण सुखकारी हो। (आपः शम् उ सन्तु) जल भी तुझे सुखकारक हों। (मेथिः) परस्पर का संग-लाभ भी तुझे सुखकारक हो और (युगस्य) तुम युगल हुए जोड़े का (तर्द्म) तृणादि का बना आसन भी (शम्) सुखकारी हो। (ते) हे वधु ! (शतपवित्राः) सैकड़ों प्रकार से पवित्र करने वाले (आपः) जल और स्वच्छ जलों के समान पवित्र आप्तजन तुझे (शम् भवन्तु) कल्याणकारी हों और तू (शम् उ) सुखपूर्वक ही अपने (पत्या) पति के शरीर के साथ अपने (तन्वं) शरीर का (संस्पृशस्व) स्पर्श करा। कर्मकाण्ड में—विवाह में काष्ठस्तम्भ (मेथि) गाड़ा जाता था, उसके साथ स्त्री को बांधते थे और बैलों के जूए का स्पर्श भी कराते थे। वे रूढ़ियां केवल कर्मकाण्ड की थीं, जिनमें काष्ठ-स्तम्भ पुरुष का और जुआ सुसंगत स्त्री पुरुष का प्रतिनिधि है।

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो ।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैंकड़ों कर्म करने हारे परमात्मन् ! हे शतप्रज्ञ आचार्य ! तू (रथस्य) रमण करने योग्य शरीर की (खे) छिद्र, इन्द्रियों में और (अनसः) प्राणमय जीवन के (खे) अवकाश भाग, जीवन काल में और (युगस्य) परस्पर मिलकर जोड़ा बने युगल, पति पत्नी के (खे) गृह में, हे इन्द्र, परमेश्वर, वा पते ! (अपालाम्) अपाला = अबला कन्या को (त्रिः पूत्वा) मन, वाणी और कर्म तीनों प्रकार से पवित्र करके (सूर्यत्वचम्) सूर्य के समान कान्ति वाली (अकृणोः) कर ।

कर्मकाण्ड में—पति विवाह के पश्चात् रथ और शकट में सुन्दर रूप से बैठकर वधू को सत्कार पूर्वक गृह में लावे ।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥

भा०—(सौमनसम्) उत्तम चित्त, (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, (सौभाग्यम्) उत्तम सौभाग्य और (रयिम्) धन समृद्धि की (आशासाना) आशा करती हुई हे वधू ! (पत्युः) अपने पति के (अनुव्रता) अनुकूल वर्त्तने हारी (भूत्वा) होकर, (अमृताय) अमृत अर्थात् पूर्ण १०० वर्षों की आयु प्राप्त करने अथवा सुख, प्राण, अमृत या प्रजा लाभ के लिये (सं नह्यस्व) अपने को कटिबद्ध कर ।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥ ४३ ॥

भा०—(नदीनां) नदियों के बीच में (यथा) जिस प्रकार (सिन्धुः) समुद्र सबसे बड़ा होने के कारण (साम्राज्यं सुषुवे) उन पर शासन करता है, उसी प्रकार (वृषा) वीर्यसेचन में समर्थ युवक पती, हे स्त्रि ! तेरे लिये (साम्राज्यम् सुषुवे) एक साम्राज्य बनाता है, जिसका वह स्वयं महाराजा

है। हे वधू ! (एवा) उसी प्रकार (त्वम्) तू (पत्युः अस्तम्) पति के घर (परेत्य) पहुँच कर (साम्राज्ञी) महाराणी (एधि) बन कर रह।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥ ४४ ॥

भा०—हे वधु ! तू (श्वशुरेषु) श्वशुरों में (सम्राज्ञी एधि) महाराणी होकर रह। (उत देवृषु सम्राज्ञी) और देवरों के बीच में भी महाराणी बनकर रह। (ननान्दुः सम्राज्ञी) ननद के समक्ष भी तू महाराणी के समान आदरयुक्त होकर रह। (उत श्वश्र्वाः सम्राज्ञी) और सास की दृष्टि में भी महाराणी बनकर रह।

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥ ४५ ॥

भा०—हे (आयुष्मति) दीर्घ आयु वाली ! (याः) जिन साड़ियों को (देवीः) घर की उत्तम देवियों ने स्वयं (अकृन्तन्) काता, (अवयन्) स्वयं बुना, (याः च) और जिनको (तत्निरे) ताना और (याः) जिनके (अभितः अन्तान्) दोनों तरफ के अंचरों को (अददन्त) गांठ देकर बनाया, (ताः) वे साड़ियां व वस्त्र (त्वा) तुझको (जरसे) वृद्धावस्था तक (सं व्ययन्तु) आच्छादित करें। हे आयुष्मति ! (इदं) यह (वासः) वस्त्र (परिधत्स्व) पहन ले।

जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥४६

ऋ० १० । ४० । १० ॥

भा०—(जीवं रुदन्ति) विदाई के अवसर पर लोग अपने प्रेमी जीव के लिये रोया करते हैं। इसी कारण वे (अध्वरं) पवित्र यज्ञ-कर्म को (वि नयन्ति) व्यर्थ कर देते हैं। (नरः) नेता लोग (दीर्घाम्) लम्बे दीर्घकाल के लिये (प्रसितिम्) भविष्य के फांसे को (दीध्युः) विचारा

करते हैं। वास्तव में (ये) जो लोग (पितृभ्यः) माता पिताओं के लिये (इदम्) इस विवाहरूप (वामम्) सुन्दर कार्य को (सम् ईरिरे) रचते हैं वे (पतिभ्यः) पतियों के लिये (जनये) अपनी स्त्री के (परिष्वजे) आलिंगन का (मयः) सुख उत्पन्न करते हैं। [ऐसे अवसर पर अपने सम्बन्धियों की विदाई के लिये नहीं रोना चाहिये ।]

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे ।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥४७॥

भा०—हे वधु ! (देव्याः) देवी (पृथिव्याः) पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (ते) तेरी (प्रजायै) उत्तम प्रजा के लिये (स्योनं) सुखकारक, (ध्रुवम्) स्थिर (अश्मानं) शिलाखण्ड को (धारयामि) स्थापित करता हूँ। (तम् आ तिष्ठ) उस शिला पर पैर रखकर तू खड़ी हो, (अनुमाद्य) तू प्रसन्न हो, (सुवर्चाः) उत्तम तेज वाली हो। (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर (ते आयुः) तेरी आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे।

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ४८

भा०—हे वधु ! (येन) जिस प्रयोजन से (अग्निः) राजा (अस्याः) इस (भूम्याः) पृथिवी का (दक्षिणं हस्तम्) दायां हाथ (जग्राह) स्वयं ग्रहण करता है, (तेन) उसी प्रयोजन से मैं पति (ते) तेरे (दक्षिणं हस्तं) दायें हाथ का (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ। हे वधु ! (मा व्यथिष्ठाः) तू दुखित मत हो (मया सह) मेरे साथ (प्रजया) प्रजा और (धनेन च) धन से तू समृद्ध हो।

देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु ।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥ ४९ ॥

भा०—हे वधु ! (देवः) वीर्यदान करने में समर्थ, (सविता) सन्तानों का उत्पादक वर (ते हस्तं) तेरे हाथ को (गृह्णातु) ग्रहण करे और

(सोमः राजा) देदीप्यमान, कान्तिमान्, तेजस्वी पुरुष तुझे (सुप्रजसम् कृणोतु) उत्तम प्रजा से युक्त करे। (जातवेदाः अग्निः) ज्ञानवान्, ज्ञान-प्रकाशक, आचार्य (पत्ये) पति के लिये (पत्नीं) पत्नी को (सुभगाम्) सौभाग्यवती और (जरदष्टिम्) वृद्धावस्था तक जीवन निर्वाह करने में समर्थ (कृणोतु) करे।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥५०॥(५)

ऋ० १०। ८४। ३६॥

भा०—हे वधु ! मैं वर (ते हस्तम्) तेरे हाथ को (सौभगत्वाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ। (यथा) जिससे तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था तक जीवित (असि) रह। (भगः) ऐश्वर्यवान्, (अर्यमा) न्यायकारी, (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर और तुम्हारा पिता और (पुरंधिः) समस्त पुर = पूर्ण जगत् को धारण करने वाला परमेश्वर (देवाः) ये विद्वान्गण (त्वा) तुझको (गार्हपत्याय) गृहस्थ के कार्य के लिये (मह्यम् अदुः) मुझे सौंपते हैं।

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ ५१ ॥

भा०—हे वधु ! (ते हस्तम्) तेरे हाथ को (भगः) ऐश्वर्यसम्पन्न युवा (अग्रहीत्) ग्रहण करता है। (सविता) प्रजा के उत्पादन करने में समर्थ पुरुष (हस्तम्) तेरे हाथ को (अग्रहीत्) ग्रहण करता है। (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से (पत्नी) गृहपत्नी है और (अहम्) मैं (धर्मणा) धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहस्वामी हूँ।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥ ५२ ॥

भा०—(मम) मेरी (इयम्) यह वधू (पोष्या) पोषण करने योग्य

(अस्तु) हो । हे वधू ! (त्वा) तुझको (बृहस्पतिः) वेद के विद्वान् आचार्य और समस्त संसार के स्वामी परमेश्वर ने (मह्यम्) मेरे हाथ (अदात्) सौंपा है । हे (प्रजावति) उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ भाविनी प्रजावति ! तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष तक (सं जीव) भली प्रकार जीवन धारण कर ।

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥५३॥

ऋ० १० । ८५ । खिलेषु ॥

भा०—(बृहस्पतेः) महान् ब्रह्माण्ड और वेद के परिपालक परमेश्वर और आचार्य और अन्य (कवीनाम्) क्रान्तदर्शी, दीर्घदर्शी विद्वानों की (प्रशिषा) आज्ञा से (त्वष्टा) शिल्पी ने (शुभे) शोभा के लिये ही (वासः) वस्त्र और निवासगृह भी (व्यदधात् कम्) बनाये हैं, (तेन) इसलिये (सविता) सर्वोत्पादक और (भगः च) ऐश्वर्यवान् प्रभु (इमां नारीम्) इस स्त्री को (सूर्याम् इव) अपनी जगद्-उत्पादनकारिणी शक्ति के समान (प्रजया) प्रजा से (परिधत्ताम्) युक्त करे ।

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) मेघ और विद्युत् (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (मातरिश्वा) आकाश में व्यापक वायु, (मित्रावरुणा) प्राण और अपान (भगः) ऐश्वर्यशील सूर्य, (उभा अश्विना) दिन और रात्रि अथवा नर नारी, (बृहस्पतिः) वेदों का स्वामी परमेश्वर, (मरुतः) विद्वान् प्रजाएं, (ब्रह्म) वेदज्ञान, (सोमः) उत्पादक यह सोम नामक पति ये सब (इमाम् नारीम्) इस स्त्री को (प्रजया वर्धयन्तु) प्रजा सहित बढ़ती दें ।

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर ने (प्रथमः) प्रथम ही (सूर्यायाः) पुत्र प्रसव करने में समर्थ स्त्री-जाति के (शीर्षे) शिर पर (केशान्) केशों को (अकल्पयत्) बनाया है। (तेन) उस कारण ही हे (अश्विना) स्त्री पुरुषो! (इमाम् नारीम्) इस स्त्री को (पत्ये) पति के चित्ताकर्षण के लिये हम (सं शोभयामसि) भली प्रकार सुशोभित करें।

इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ५६

भा०—(इदम् तत् रूपम्) यह वह बाह्य सुन्दर रूप है (यत्) जिसको (योषा) नवयुवती प्रायः (अवस्त) धारण किया ही करती हैं। परन्तु मैं (मनसा) सच्चे मन से (चरन्तीम्) सत् आचरण करती हुई (जायाम्) अपनी पत्नी को (जिज्ञासे) ठीक ठीक प्रकार से जान लेना चाहता हूँ। मैं (नवग्वैः) नवागत (सखिभिः) मित्रों सहित (ताम्) उसका (अनु अर्त्तिष्ये) अनुगमन करूंगा, उसके पीछे पीछे जाऊंगा। (इमाम् पाशान्) इन प्रेम के पाशों को (कः) कौन (विद्वान्) जानता हुआ, ज्ञानी पुरुष (वि चचर्त) काट सकता है?

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥५७॥

भा०—(अहम्) मैं (अस्याः) इसके (रूपम्) रूप को (पश्यन्) देखकर और मैं (मयि) अपने में, (अस्याः) इसके (मनसः) चित्त के (कुलायम्) विश्रामार्थ, बने घोंसले के समान आश्रयस्थान (वेदत् इत्) जानता हुआ ही (वि ष्यामि) इसके सम्बन्ध में विविध प्रकार से विचार करता हूँ कि मैं (स्तेयम्) कभी चुराकर (न अद्मि) न खाऊं। मैं (स्वयं) अपने आप (वरुणस्य) राजा के (पाशान्) व्यवस्था बन्धनों को (श्रथ्नानः) अपने ऊपर बांधता हुआ, (मनसा उद् अमुच्ये) अपने चित्त से उसे मुक्त करता हूँ, स्वतन्त्र करता हूँ।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥ ५८ ॥

भा०—हे (वधु) प्रियतमे वधु ! (त्वा) तुझको (वरुणस्य) उत्पादक प्रभु के उस (पाशात्) पाश से (प्र मुञ्चामि) भली प्रकार मुक्त करूं, (येन) जिससे (सुशेवाः) उत्तम सेवा करने योग्य सुखप्रदाता (सविता) उत्पादक प्रभु या पिता (त्वा अवध्नात्) तुझे पितृऋण रूप बंधन से बांधता है। (उरुम् लोकम्) इस विशाल लोक को और (अत्र) इस लोक में विस्तृत (पन्थाम्) जीवन मार्ग को, मैं, (सहपत्न्यै तुभ्यम्) तुझ सहधर्मचारिणी के लिये (सुगम्) सुख से जाने योग्य (कृणोमि) करता हूँ।

उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात ।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥५९॥

भा०—हे वीर पुरुषो ! (उद् यच्छध्वम्) अपने शस्त्रों को उठाओ और (रक्षः) दुष्ट पुरुष को (अप हनाथ) मार भगाओ। (इमाम् नारीम्) इस नारी को (सुकृते) पुण्य पुरुष के हाथ (दधात) प्रदान करो। (विपश्चित्) बुद्धिमान्, (धाता) पिता (अस्यै) इसके योग्य (पतिम्) पति को (विवेद) जाने, प्राप्त करे। (भगः) ऐश्वर्यवान् (राजा) चित्त को अनुरंजन करने में समर्थ (प्रजानन्) ज्ञानी पुरुष (पुरः एतु) कन्या का पाणिग्रहण करने के लिये आगे आवे।

भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि ।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ ६० ॥

भा०—(भगः) ऐश्वर्यवान् पुरुष इस पलंग के (चतुरः पादान्) चारों पैरों को (ततक्ष) गढ़ता या गढ़वाता है और (भगः) ऐश्वर्यवान् पुरुष ही (चत्वारि) चार (उष्पलानि उत्पदानि) पायों पर लगने वाले दण्डों को (ततक्ष) बनवाता है। (त्वष्टा) शिल्पी पुरुष (मध्यतः अनु) बीच की

(वर्ध्रान्) रस्सियों को (पिपेश) सुन्दर २ बनवाता है। (सा) वह नववधू (सुमङ्गली) शुभ मंगल वस्त्र धारण करती हुई (नः) हमारे सौभाग्य के लिये (अस्तु) हो।

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥६१

ऋ० १० । ८५ । २० ॥

भा०—हे (सूर्ये) कन्ये ! (सुकिंशुकम्) उत्तम उत्तम बनावटी तोते आदि पक्षियों की आकृति से सुसज्जित, (विश्वरूपं) नाना प्रकार के (हिरण्य-वर्णम्) सुवर्ण के रंग के सुनहरे, (सुवृतम्) सुन्दर बने हुए, (सुचक्रम्) उत्तम चक्रों से युक्त (वहतुम्) रथ पर (आरोह) चढ़ और (पतिभ्यः) पतियों और देवरों के लिये (त्वम्) तू (वहतुम्) इस रथ को (अमृतस्य लोकं) अमृत के लोक के समान (स्योनम्) सुखकारी (कृणु) बना।

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते।
इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥ ६२ ॥

भा०—हे (वरुण) परमेश्वर ! हे (बृहस्पते) विश्वपते ! हे (इन्द्र) इन्द्र ! हे (सवितः) जगत उत्पादक ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिये इस वधू को (अभ्रातृघ्नीम्) भ्राता का नाश न करने वाली, (अपशुघ्नीम्) पशुओं का नाश न करने वाली और (अपतिघ्नीम्) पति का नाश न करने वाली, (पुत्रिणीम्) पुत्र संतान वाली बनाकर (अस्मभ्यं वह) हमें प्राप्त करा।

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि।
शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥ ६३ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (कुमार्यम्) कुमारी कन्या को (देवकृते) परमेश्वर के बनाये (स्थूणे) इस स्थिर (पथि) संसार-मार्ग में (मा हिंसिष्टम्) मत मारो। हम लोग (देव्याः शालायाः) दिव्यगुण से युक्त शाला

के (द्वारम्) द्वार को और (वधूपथम्) नववधू के मार्ग को (स्योनम् कृण्मः) सदा सुखकारी शान्तिमय बनाया करें ।

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ६४।(६)

भा०—(अपरम्) पश्चात् भी (ब्रह्म) वेदविहित कर्म (युज्यताम्) हुआ करे । (पूर्वम् ब्रह्म) पहले भी वैदिक कर्म या वेदपाठ हो । (अन्ततः ब्रह्म) अन्त में भी वेदपाठ हो । (मध्यतः ब्रह्म, सर्वतः ब्रह्म) बीच में और सब समय में वेदपाठ हो । (अनाव्याधाम्) पीड़ा हिंसा आदि कष्टों से रहित (देवपुराम्) श्रेष्ठ पुरुषों की नगरी को (प्रपद्य) प्राप्त होकर (पतिलोके) पतिगृह में (शिवा) कल्याणकारिणी और (स्योना) सबको सुखकारिणी होकर (वि राज) मानपूर्वक निवास कर । इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम्, चतुःषष्टिश्च ऋचः]

[२] पति पत्नी के कर्त्तव्यों का वर्णन

ऋषिका–सावित्री सूर्या ॥ देवता–स्वयमात्मतया सूर्यः [१० यक्ष्मनाशनः, ११ दम्पत्योः परिपन्थिनाशनः] ॥ छन्दः—५, ६, १२, ३१, ३७, ३९, ४० जगत्यः, [३७, ३६ भुरिक् त्रिष्टुभौ], ९ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् अत्यष्टिः १३, १४, १७–१९, ३४, ३६, ३८, ४१, ४२, ४९, ६१, ७०, ७४, ७५ त्रिष्टुभः, १५, ५१ भुरिजौ, २० पुरस्ताद् बृहती, २३, २४, २५, ३२, ३३ पुरोबृहती, २६ त्रिपदा विराड् नामगायत्री, ३३ विराड् आस्तारपंक्तिः, ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्, ४३ त्रिष्टुब्गार्भा पंक्तिः, ४४ प्रस्तारपंक्तिः, ४७ पथ्याबृहती, ४८ सतः पंक्तिः, ५० उपरिष्टाद् बृहती निचृत्, ५२ विराट् पुरोष्णिक्, ५९, ६०, ६२ पथ्यापंक्तिः, ६८ पुरोष्णिक्, ६९ त्र्यवसाना षट्पदा अतिशक्वरी, ७१ बृहती, १–४, ७–११, १६, २१, २२, २७–३०, ३४, ४५, ४६, ५३–५८, ६३–६७, ७२, ७३ अनुष्टुभः । पञ्चसप्तत्यृचं सूक्तम् ॥

तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ १ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३८ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् परमेश्वर और आचार्य ! (तुभ्यम् अग्ने) तेरे समक्ष हम युवक लोग (वहतुना सह) दहेज और रथ के सहित (सूर्याम्) वरणीय सावित्री कन्या को (परि अवहन्) परिणय करते हैं। (सः) वह तू (नः पतिभ्यः) हम पतियों को (प्रजया सह) प्रजा सहित (जायाम्) स्त्री पत्नी, को (दाः) प्रदान कर।

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३९ ॥

भा०—(पुनः) कन्या के पिता के देने के उपरान्त (अग्निः) पुरोहित और परमेश्वर (आयुषा वर्चसा सह) आयु और तेज सहित (अदाद्) कन्या को प्रदान करता है। (अस्याः) इसका (यः पतिः) जो पति है वह (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला होकर (शतं शरदः) सौ बरसों तक (जीवाति) जीवे।

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४० ॥

भा०—(प्रथमम्) पहले (जाया) स्त्री (सोमस्य) सोम की होती है। हे जाये ! (ते) तेरा (अपरः) दूसरा (पतिः) पति (गन्धर्वः) गन्धर्व है और (ते) तेरा (तृतीयः पतिः) तीसरा पति (अग्निः) अग्नि है और (मनुष्यजाः) मनुष्यों से उत्पन्न पति (तुरीयः) चौथे नम्बर पर है।

महर्षि दयानन्द के मत में—स्त्री का प्रथम पति 'सोम', दूसरा नियोगज 'गन्धर्व', तीसरा नियोगज 'अग्नि' और शेष सब चौथे से लेकर

११वें तक नियुक्त पति 'मनुष्य' नाम से कहाते हैं [सत्यार्थ० समु० ४]

याज्ञवल्क्यस्तु—सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्वम् मेध्या वै योषितो ह्यतः॥

तत्र मिताक्षरा—परिणयनात् पूर्वं सोमगन्धर्ववह्नयः स्त्रीर्भुक्त्वा तासां शौचमधुरवचनसर्वमेध्यत्वानि दत्तवन्तः। तस्मात्स्त्रियः स्पर्शालिङ्गनादिषु मेध्याः शुद्धाः स्मृताः।

वसिष्ठस्मृतिश्च—पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः।
गच्छन्ति मानुषान् पश्चात् नैता दुष्यन्ति धर्मतः॥
तासां सोमो ददच्छौचं गन्धर्वः शिक्षितां गिरम्।
अग्निश्च सर्वभक्षत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः॥
(३० । ५, ६ ।)

प्रथम आठ वर्ष तक सोम भोगता है, रजोदर्शन के पूर्व तक गन्धर्व और रजोदर्शन में अग्नि भोगता है। फलतः स्त्री शरीर में जल, वायु, अग्नि तीनों तत्वों के विशेष भोग को सोम, गन्धर्व और अग्नि देवों का भोग कहा है।

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये।
र॒यिं च पु॒त्रांश्चादाद॒ग्निर्मह्य॒मथो॑ इ॒माम्॥ ४॥

ऋ० १० । ८५ । ४१॥

भा०—(सोमः) सोम कन्या को (गन्धर्वाय ददद्) गन्धर्व के हाथ प्रदान करता है। (गन्धर्वः) गन्धर्व (अग्नये ददद्) उसे अग्नि के हाथ प्रदान करता है। (अग्निः) फिर अग्नि (रयिम्) वीर्य या रज और पुत्रों को (ददद्) प्रदान करता हुआ (इमाम्) इस कन्या को (मह्यम् अदाद्) मुझ पति को प्रदान करता है।

आ वा॑मगन्त्सुम॒तिर्वा॑जिनीवसू॒ न्य॑श्विना हृ॒त्सु कामा॑ अरंसत।
अभू॑तं गो॒पा मि॑थु॒ना शु॑भस्पती प्रि॒या अ॑र्य॒म्णो दुर्यां॑ अशीमहि॥५॥

ऋ० १० । ४० । १२॥

भा०—(सुमतिः) उत्तम मति (वाम्) तुम दोनों पति पत्नी को (आ अगन्) प्राप्त हो। हे (अश्विनौ) पति पत्नी! आप दोनों (वाजिनी-वसू) वीर्यशक्ति को धन के समान सञ्चय कर, (शुभःपती) अपने शरीर की सुन्दरता की रक्षा करते हुए, (गोपा) अपनी इन्द्रियों की रक्षा करते हुए, (मिथुना) परस्पर संयुक्त जोड़ा होकर गृहस्थ धर्म से (अभूतम्) रहो और हम सब लोग (अर्यम्णः) श्रेष्ठ राजा और परमेश्वर के (प्रियाः) प्रिय होकर (दुर्यान्) गृहों के सुखों का (अशीमहि) भोग करें।

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम्।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥६॥
ऋ० १०।४०।१३॥

भा०—(सा) वह स्त्री (शिवेन) कल्याण से पूर्ण (मनसा) चित्त से (मन्दसाना) स्तुति और गुणानुवाद करती हुई (वचस्यम्) प्रशंसनीय (सर्ववीरं) समस्त पुत्रों से युक्त (रयिम्) बल और धन को (धेहि) धारण करे। हे (शुभस्पती) शोभा युक्त पदार्थों के स्वामी स्त्री पुरुषो! आप दोनों (तीर्थं सुगम्) सुख से विहार करने योग्य जलाशय और (सुप्रपाणम्) सुख से जलपान करने योग्य घाट बनवाओ और (पथि-ष्ठाम्) मार्ग में खड़े (स्थाणुम्) वृक्षों को लगवाओ और (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि को (अप हतम्) दूर करो।

या ओषधयो या नद्यो३ यानि क्षेत्राणि या वना।
तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥ ७ ॥

भा०—(याः ओषधयः) जितनी ओषधियां हैं, (याः नद्यः) जो नदियां हैं, (यानि क्षेत्राणि) जितने क्षेत्र हैं, (या वनानि) जितने वन हैं (ताः त्वा) वे सब हे वधु! (पत्ये) पति के हित के लिये (प्रजावतीं वाम्) प्रजा से युक्त गर्भिणी तुझको (रक्षसः) विघ्नकारी कारणों से (रक्षन्तु) रक्षा करें।

एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम्।
यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥ ८ ॥

भा०—हम लोग (इमं पन्थाम्) उस मार्ग (आरुक्षाम) पर चलें जो (सुगम्) सुख से चलने योग्य है और (स्वस्तिवाहनम्) कल्याणकारी या जिस पर सुख से रथ, घोड़े हाथी आदि चल सकें। (यस्मिन्) जिसमें (वीरः) वीर्यवान् पुरुष, राजा (न रिष्यति) कभी क्लेश नहीं पाता तथा (अन्येषां) औरों के (वसु) धन आदि सम्पत्ति और आवास योग्य गृह आदि पर (विन्दते) अधिकार प्राप्त करता है ।

इदं सु मे नरः शृणुत ययाशिषा दंपती वाममश्नुतः ।
ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः ।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥ ९ ॥

भा०—हे (नरः) नेता पुरुषो ! (मे) मेरा (इदम्) यह प्रार्थना वचन (सु शृणुत) भली प्रकार सुनो । (यया) जिस प्रकार (आशिषा) आशीर्वाद या आशा से (दम्पती) वर वधू (वामम्) रमणीय धन का सुखपूर्वक (अश्नुतः) भोग करते हैं, (ये) जो (गन्धर्वाः) वाणी को धारण करने हारे पुरुष और (देवीः अप्सरसश्च) उत्तम ज्ञानपूर्ण स्त्रियां (एषु) इन (वानस्पत्येषु) वनस्पतियों से पूर्ण जंगलों में (अधितस्थुः) अधिकारी रूप से रहते हैं (ते) वे (अस्यै) इस (वध्वै) नव वधू के लिये (स्योनाः भवन्तु) सुखकारी हों, वे (उह्यमानम्) उठाकर ले जाये जाते हुए, गुजरते हुए, (वहतुम्) दहेज को (मा हिंसिषुः) विनाश न करें, न लूटें पाटें ।

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु ।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥ १० ॥ (७)

ऋ० १० । ८५ । ३१ ॥

भा०—(ये) जो (यक्ष्माः) पूजा करने योग्य अतिथि लोग (जनान् अनु) सर्वसाधारण मनुष्यों के साथ २ (वध्वः) नववधू के (चन्द्रम्) आह्लादकारी (वहतुम्) रथ या दहेज को देखने के लिये (यन्ति) आवें (तान्) उनको, (यज्ञियाः देवाः) विवाह कृत्य के करने वाले विद्वान्

ब्राह्मण या रक्षक लोग (पुनः) फिर (नयन्तु) आदर सत्कार से उसी स्थान पर पहुँचा दें (यतः आगताः) जहां से वे पधारे हों। अथवा—(यक्ष्माः) दुष्ट कृमि जो मनुष्यों के पीछे लगते हैं उनको विद्वान् लोग फिर वापिस कर दें।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ११ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३२ ॥

भा०—(ये) जो (परिपन्थिनः) मार्ग के चोर लुटेरे लोग (आसीदन्ति) समीप आ फटकें वे (दम्पती) वरवधू को (मा विदन्) जान भी न पावें। (दम्पती) वर-वधू दोनों (सुगेन) उत्तम मार्ग से (दुर्गम्) दुर्गम वन पर्वत के प्रदेश को (अति इताम्) पार कर जायं और (अरातयः) शत्रु लोग (अप द्रान्तु) दूर भाग जायं।

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु १२

भा०—मैं (वहतुम्) वधू का रथ और दहेज, (गृहैः) घरके पुरुषों को, (अघोरेण) सौम्य और (मित्रियेण) स्नेह से भरी (चक्षुषा) चक्षु से (सं काशयामि) दिखलाऊं। (यत्) जो (विश्वरूपम्) नाना प्रकार के आभूषणादि पदार्थ (पर्यानद्धम्) चारों तरफ सुसम्बद्ध रूप में बंधा या पहना हुआ है उसको (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर (पतिभ्यः) पति और उसके भाई देवरों के लिये (स्योनं) सुखकारी (कृणोतु) करे।

शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

भा०—(नारी) नारी (शिवा) कल्याणकारिणी होकर (इयम्) इस (अस्तम्) गृह को (आगन्) आवे। (धाता) धारण पोषणकर्त्ता परमेश्वर (अस्यै) इस वधू के लिये (इमं लोकम्) इस गृहस्थ को (दिदेश) नियत करता है। (अर्यमा) न्यायकारी राजा, (भगः) ऐश्वर्यवान्

पुरुष, (उभा) दोनों (अश्विना) स्त्री पुरुष लोग और (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर (ताम्) उस वधू को (प्रजया) उत्तम प्रजा से (वर्धयन्तु) बढ़ावें ।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥१४॥

भा०—(आत्मन्वती) सुदृढ़ शरीर वाली, (उर्वरा) पुत्रोत्पादन करने में उपजाऊ भूमिस्वरूप (इयम्) यह (नारी) स्त्री (आगन्) प्राप्त हो। हे (नरः) पुरुषो ! तुम लोग (अस्याम्) इसमें (बीजम्) बीज (वपत) बोओ (सा) वह (वः) तुम्हारे लिये (ऋषभस्य) वीर्यवान् श्रेष्ठ पुरुष के (दुग्धम्) निषिक्त (रेतः) वीर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई (वक्षणाभ्यः) वक्षणा, कोखों से (प्रजां) प्रजा को (जनयत्) उत्पन्न करे ।

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ मनु० ९ । ३३ ॥

नारी क्षेत्र है, पुरुष बीज है । क्षेत्र और बीज के योग से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है । कुरान में—'तुम्हारी बीबियां तुम्हारी खेतियां हैं।' (२ । २२३)

प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति ।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ १५ ॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वति ! स्त्री ! तू (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, तू (विराड् असि) साक्षात् विराट्, विशेष रूप से शोभा देने वाली पृथिवी के समान है और हे पुरुष ! (इह) इस स्त्री के प्रति तू भी (विष्णुः इव) विष्णु अर्थात् व्यापक सूर्य के समान है। हे (सिनीवालि) सिनीवालि ! स्त्री ! (प्रजायताम्) सुख से तेरी सन्तान उत्पन्न हो और तू (भगस्य) ऐश्वर्यवान् पति की (सुमतौ) शुभ मति या आज्ञा में (असत्) रह ।

योषा वै सिनीवाली। श० ६।५।१।१०॥ योषा वै सरस्वती श० २।५।१।११॥

उद् वं ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
माडुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यौ अशुनमारताम्॥ १६॥

ऋ० ३।३३।१३॥

भा०—हे (शम्याः आपः) शान्त गुणों से युक्त, शम दम से सम्पन्न आप्त पुरुषो! (वः) आप लोगों का (ऊर्मिः) ऊपर उठने का उत्साह (उत् हन्तु) ऊपर को बढ़े। आप लोग (योक्त्राणि) निन्दित कार्यों को (प्रमुञ्चत) छुड़ाओ। हे स्त्री पुरुष! तुम दोनों (अदुष्कृतौ) दुष्ट कर्मों से रहित, (वि एनसौ) पाप से रहित, (अघ्न्यौ) और कभी भी मारने या दण्ड देने योग्य न होकर (अशुनम्) असुख, दुःखदायी क्लेश को (मा आ अरताम्) कभी प्राप्त न होओ।

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना॥ १७॥

ऋ० १०।८५।४४॥

भा०—हे नववधू! तू (गृहेभ्यः) गृहवासियों के लिये (अघोरचक्षुः) क्रूर चक्षु से रहित, (अपतिघ्नी) पति का नाश न करनेहारी, (स्योना) सुखदायिनी, (सुशेया) उत्तम सुख करनेहारी, (सुयमा) उत्तम रूप से नियम व्यवस्था में रहने और गृह को उत्तम नियम व्यवस्था में रखनेहारी, (वीरसूः) वीर बालकों को उत्पन्न करने वाली, (देवृकामा) देवरों के प्रति शुभ कामना चाहने वाली, (सुमनस्यमाना) और उत्तम चित्त वाली हो। (त्वया) तुझ द्वारा हम लोग (सम् एधिषीमहि) समृद्धि को प्राप्त हों।

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥ १८॥

ऋ० १०।८५।४४॥

भा०—हे नववधु ! तू (अदेवृघ्नी अपतिघ्नी) देवर और पति का विनाश न करनेहारी होकर (इह एधि) इस घर में आ और (पशुभ्यः) पशुओं को (सुयमा) उत्तम रीति से दमन करनेवाली (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्विनी और (शिवा) सुखकारी, (प्रजावती) प्रजा से युक्त, (वीरसूः) वीर बालकों को प्रसव करनेवाली, (देवृकामा) देवरों के प्रति भी शुभ कामना करने वाली होकर (गार्हपत्यं अग्निम्) गार्हपत्य अग्नि या अपने गृहस्थ के नेता पति की (सपर्य) पूजा किया कर।

'देवृकामा'—देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ मनु० ९ । ५ ॥
यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ मनु० ९ । ९६ ॥

उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्ती॒दमागा॑ अहं त्वे॑डे अभि॒भूः स्वाद् गृहात् ।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्धोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ॥१९॥

भा०—हे अलक्ष्मि ! तू उठ जा। बतला (किम् इच्छन्ती) क्या चाहती हुई तू (इदम् आगाः) इस घर में आयी है ? (अहम्) मैं (अभिभूः) सामर्थ्यवान् पुरुष (स्वात् गृहात्) अपने घर से (त्वा) तुझे (ईडे) बाहर करता हूँ । हे (निर्ऋते) पापरूपे ! (या) जो तू (शून्यैषी) गृह को सूना करना चाहती हुई (अजगन्ध) आई है तो हे (अराते) अदानशीले ! अलक्ष्मि ! (उत् तिष्ठ) उठ, तू (प्र पत) परे भाग, (इह मा रं स्थाः) यहां मौज मतकर, यहां मत रह । नववधू गृहलक्ष्मी को प्राप्त करके घर में अलक्ष्मी को दूर करना उचित है।

य॒दा गार्ह॑पत्य॒मस॑पर्यै॒त् पूर्व॑म॒ग्निं व॒धूरि॒यम् ।
अधा सर॑स्वत्यै नारि पि॒तृभ्य॑श्च॒ नम॑स्कुरु ॥ २० ॥ (८)

भा०—(यदा) जब (इयम् वधूः) यह नववधू (गार्हपत्यम्) गार्हपत्य (अग्निम्) अग्नि की (असपर्यैत्) सेवा कर चुके (अधा) तब ही

हे (नारि) स्त्री ! तू (सरस्वत्यै) सरस्वती या वेदवाणी को (पितृभ्यः च) घर के पालक पिता आदि को (नमः कुरु) नमस्कार किया करें । अर्थात् नववधू अग्निहोत्र के पश्चात् वेद का स्वाध्याय और वृद्धों को नमस्कार किया करे ।

शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे ।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ २१ ॥

उत्तरार्थः अथर्व० १४।२।१५। तृ० च० ॥

भा०—हे वर ! तू (अस्यै) इस (नार्यै) स्त्री के लिये (शर्म) सुख-दायक और (वर्म) कष्टनिवारक (एतत्) सब पदार्थ (उपस्तरे) विस्तर पर ओढ़ने बिछाने आदि के लिये (आ हर) उपस्थित कर। हे (सिनी-वालि) हे वधु (प्र जायताम्) तू उत्तम रीति से पुत्र उत्पन्न कर और (भगस्य) ऐश्वर्यशील पति की (सुमतौ) उत्तम मति के अधीन (असत्) रह।

यं बल्वजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन ।
तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥ २२ ॥

भा०—(यम्) जिस (बल्वजम्) दर्भ घास को (न्यस्यथ) नीचे बिछाती हो, (अथ) और उसके ऊपर (चर्म च) चर्म भी (उपस्तृणी-थन) बिछा देती हो, (तद्) उस पर (या कन्या) जो कन्या (पतिम्) पति को (विन्दते) वरती है वह (सुप्रजा) उत्तम प्रजा वाली होकर (आ रोहतु) विराजे ।

उप स्तृणीहि बल्वजमधि चर्मणि रोहिते ।
तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥ २३ ॥

भा०—हे पति ! तू (बल्वजम्) दर्भ घास के आसन को (रोहिते चर्मणि अधि) रोहित, लाल मृग के चर्म पर (उपस्तृणीहि) बिछा दे। (तत्र) उस पर (सुप्रजा) उत्तम सन्तान से युक्त पत्नी बैठकर (इमम् अग्निम्) इस गार्हपत्य अग्नि और परमेश्वर की (सपर्यतु) उपासना और अग्निहोत्र करे ।

आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥२४॥

भा०—हे सुभगे ! (चर्म आरोह) चर्म पर चढ़ और (अग्निम् उपसीद) परमेश्वर की उपासना कर । (एषः देवः) यह उपास्यदेव (सर्वा) समस्त (रक्षांसि) विघ्नकारियों का (हन्ति) विनाश करता है । (इह) इस गृह में (अस्मै पत्यै) इस पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा उत्पन्न कर । (ते एषः पुत्रः) यह तेरा पुत्र (सुज्यैष्ठ्यः) उत्तम श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न (भवत्) हो ।

वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः ।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान् ॥ २५ ॥

भा०—जिस प्रकार (अस्याः) इस (मातुः) माता पृथ्वी की (उपस्थात्) गोद से (नानारूपाः) नाना प्रकार के (पशवः) जीव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस वधू रूप माता के गर्भ से भी नाना सन्ततियां उत्पन्न होकर (वि तिष्ठन्ताम्) नाना जीवन-पथों पर प्रस्थान करें । हे नववधु ! तू (सुमङ्गली) शुभ मङ्गलयुक्त होकर (इमम्) इस (अग्निम्) गार्हपत्य अग्नि, तत्प्रतिनिधिरूप पति एवं परमेश्वर की (उपसीद) उपासना कर, सेवा कर और (संपत्नी) उत्तम गृहपत्नी होकर (इह) इस गृह में (देवान्) विद्वान् अतिथियों की (प्रति भूष) सेवा कर ।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ २६ ॥

भा०—(सुमङ्गली) उत्तम मङ्गलमय चिह्नों से युक्त और (गृहाणां प्रतरणी) गृह के जनों को दुःख से पार लगाने वाली, (पत्ये) पति की (सुशेवा) उत्तम रूप से सेवा करने हारी, (श्वशुराय) श्वशुर को (शम्भूः) कल्याण और सुख देने वाली, (श्वश्र्वै) सास को (स्योना) सुखी करने

हारी होकर (इमान्) इन (गृहान्) गृहजनों के बीच में (प्रविश) प्रवेश कर।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।

स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ २७ ॥

भा०—हे नववधु ! (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरों के लिये (स्योना भव) सुखकारिणी हो, (पत्ये गृहेभ्यः) पति तथा अन्य गृहजनों के लिये (स्योना) सुखकारिणी हो, (अस्यै) इस (सर्वस्यै) समस्त (विशे) प्रजा के लिये (स्योना भव) सुखकारिणी हो और (एषां) इन सबकी (पुष्टाय) पुष्टि समृद्धि के लिये (भव) हो।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।

सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥ २८ ॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि।

वर्चो न्व१स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ २९ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३३ ॥

भा०—हे भद्र पुरुषो ! (इयम्) यह (सुमङ्गलीः) शुभ मङ्गलमयी (वधूः) नववधू है। (सम् एत) आओ (इमां पश्यत) इसको देखो और (अस्यै) इसको (सौभाग्यम्) उत्तम सौभाग्य वा आशीर्वाद (दत्त्वा) प्रदान करके (विपरेतन) अपने २ घरों को पधारो। (याः) जो (युवतयः) जवान स्त्रियां (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाली हैं वे (दौर्भाग्यैः) अपनी दौर्भाग्यमयी भावनाओं सहित (विपरेतन) वापिस लौट जावें और (याः च) जो (इह) इस स्थान पर (जरतीः अपि) वृद्ध स्त्रियां हैं वे (अस्यै) इसको (वर्चः) तेज (सं दत्त) प्रदान करें, (अथ) और अनन्तर (अस्तं) अपने २ घर को (विपरेतन) लौट जावें।

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।

आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥३०॥ (९)

भा०—(सावित्री) प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ, (सूर्या) सूर्य के समान कान्तिमती कन्या, (बृहते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य के लिये (कम्) ही (रुक्म प्रस्तरणम्) सुनहले बिछौने से सजे (विश्वा रूपाणि) नाना सुन्दर रूपों को (बिभ्रतम्) धारण करने वाले (वह्यं) रथ पर (आरोहत्) सवार हो।

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ३१

भा०—हे नववधु ! तू (सुमनस्यमाना) शुभ चित्तवाली होकर (तल्पम्) सेज पर (आरोह) चढ़ । (अस्मै पत्ये) इस पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर । तू (इन्द्राणी इव) परमेश्वर की परम शक्ति के समान (सुबुधा) तू उत्तम ज्ञान सम्पन्न होकर, (ज्योतिरग्राः) ताराओंवाली (उषसः) उषाओं में ही (बुध्यमाना) सचेत होकर (प्रति) प्रतिदिन (जागरासि) जागा कर। प्रातः सूर्य उगने से पूर्व नक्षत्रों के होते २ पत्नी को जागना चाहिये ।

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥३२॥

भा०—(अग्रे) पूर्वकाल में (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) अपनी पत्नियों के साथ (नि अपद्यन्त) एक सेज पर सोते रहे हैं और (तन्वः) अपने शरीरों को (तनूभिः) अपनी स्त्रियों के शरीरों के साथ (सम् अस्पृशन्त) स्पर्श कराते रहे हैं। हे (नारि) स्त्रि! तू (सूर्या इव) परमेश्वर की उत्पादक शक्ति के सामान ही (महित्वा) अपनी महिमा से (विश्वरूपा) नाना सामर्थ्यवती होकर, (प्रजावती) प्रजा से सम्पन्न होकर, (इह) इस गृहस्थ लोक में (पत्या) पति के साथ (संभव) मिलकर सन्तान उत्पन्न किया कर।

उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।
जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि॥३३॥
ऋ० १० । ८५ । २२ प्र० द्वि० २१ । तृ० च० ॥

भा०—हे (विश्वावसो) समस्त प्रकार के धनों के स्वामिन् वर ! (इतः) तू यहां से (उत्तिष्ठ) उठ । (त्वा) तेरी (नमसा) नमस्कार द्वारा (इडामहे) हम पूजा करते हैं । (पितृसदम्) पिता के घर में रहने वाली, (न्यक्ताम्) अति सुशोभित सुस्नाता, अञ्जनादि से सुशोभित (जामिम्) कन्या या वधू को तू (इच्छ) प्राप्त कर, उसकी कामना कर । (सः) वह (ते) तेरा (भागः) भाग है, (जनुषा) उत्पत्ति कर्म से (तस्य) उसको (विद्धि) प्राप्त कर ।

जामिः भगिनी इति बहवः । जनयन्ति अस्याम् इति निर्वचनात् जामिः कन्या पत्नी वा । इस मन्त्र से विवाहविधि के उत्तर पितृगृह में ही चतुर्थी कर्म में वर वधू को एकान्त तल्पारोहण की आज्ञा दी जाती है ।

अ॒प्स॒रसः॑ सध॒मादं॑ मदन्ति हवि॒र्धान॑मन्त॒रा सूर्यं॑ च ।
तास्ते॑ ज॒नित्र॑म॒भि ताः परे॑हि॒ नम॑स्ते गन्धर्व॒र्तुना॑ कृणोमि ॥३४॥

पूर्वार्धः अथर्व० ७ । १०९ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(हविर्धानम् सूर्यम् च अन्तरा) हविर्धान [अर्थात् पृथिवी और सूर्य के बीच में (अप्सरसः) स्त्रियां (सधमादम्) एक ही साथ आनन्द उत्सव में मिलकर (मदन्ति) हर्ष प्रकट करें । हे गन्धर्व पुरुष ! (ताः वे जनित्रम्) वे तेरी जाया हैं, (ताः अभि परा इहि) तु उनके समक्ष जा । हे गन्धर्व ! युवा पुरुष ! (ऋतुना) कन्या के ऋतुकाल के, अवसर पर (नमः ते कृणोमि) तेरा आदर सत्कार करता हूँ ।

नमो॑ गन्ध॒र्वस्य॒ नम॑से॒ नमो॒ भामा॑य॒ चक्षु॑षे च कृण्मः ।
विश्वा॑वसो॒ ब्रह्म॑णा ते॒ नमो॒ऽभि जा॒या अ॑प्स॒रसः॒ परे॑हि ॥ ३५ ॥

भा०—(गन्धर्वस्य) युवा पुरुष के (नमसे) बल वीर्य के लिये (नमः कृण्मः) हम आदर मात्र प्रकट करें और (भामाय) उसके अति दीप्तिमान् क्रोध पूर्ण (चक्षुषे) दृष्टिशक्ति के लिये भी (नमः कृण्मः) हम नमस्कार

करते है। हे (विश्वावसो) नाना धनों के स्वामिन्! (ते) तेरा हम (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (नमः) विशेष आदर करते हैं। तू (जायाः) सन्तानोत्पादक (अप्सरसः) स्त्रियों के (अभि) पास (परेहि) जा।

राया व॒यं सु॒मन॑सः स्या॒मोदि॒तो ग॑न्ध॒र्वमावी॑वृताम् ।
अग॒न्त्स दे॒वः प॑र॒मं स॒धस्थ॒मग॑न्म॒ यत्र॑ प्रति॒रन्त॒ आयुः॑ ॥ ३६ ॥

भा०—(वयम्) हम लोग (राया) धन-सम्पन्न होकर भी (सुमनसः) एक दूसरे के प्रति शुभ चित्त वाले होकर प्रेम से (स्याम) रहें और (इतः) इस गृहस्थाश्रम से (उत्) हम उत्कृष्ट (गन्धर्वम्) पुरुष को (अवीवृताम्) उत्पन्न करें। (सः देवः) वह दिव्य पुरुष (परमम् सधस्थम्) परम स्थान गृहाश्रम में (अगन्) प्राप्त होता है (यत्र) जहां हम भी (आयुः) दीर्घ जीवन (प्र-तिरन्तः) प्राप्त करते हुए (अगन्म) उस स्थान पर जावें।

सं पि॑तरा॒वृत्वि॑ये सृ॒जेथां मा॒ता पि॒ता च॒ रेत॑सो भवाथः ।
मर्य॑ इव॒ योषा॒मधि॑रोहयै॒नां प्र॒जां कृ॑ण्वाथामि॒ह पु॑ष्यतं र॒यिम् ॥३७

भा०—हे (पितरौ) माता और पिताओ! (ऋत्विये) ऋतुकाल के अवसर पर तुम परस्पर (संसृजेथाम्) संगत हुआ करो, परस्पर मिला करो। (माता च पिता च) तुम माता पिता ही (रेतसः) अपने वीर्य से पुत्ररूप में (भवाथः) उत्पन्न हुआ करते हो। हे पुरुष! (एनाम् योषाम्) इस अपनी पत्नी को, (मर्यं इव) मर्द के समान, (अधि रोहय) अपने सेज पर चढ़ा। हे स्त्री पुरुषो! (इह) इस गृहस्थ लोक में (प्रजाम् कृण्वाथाम्) प्रजा को उत्पन्न करो और (रयिम् पुष्यतम्) ऐश्वर्य को पुष्ट करो बढ़ाओ।

तां पू॑षं छि॒वत॑मा॒मेर॑यस्व॒ यस्यां॒ बीजं॒ मनु॑ष्या॒ऽ वप॑न्ति ।
या न॑ ऊ॒रू उ॑श॒ती वि॒श्रया॑ति॒ यस्या॑मु॒शन्तः॑ प्र॒हरे॑म॒ शेपः॑ ॥३८॥

ऋ० १० । ८५ । ३७ ॥

भा०—हे (पूषन्) पोषक पते! तू (ताम्) उस प्रियतमा (शिवतमाम्)

अति कल्याणकारिणी स्त्री को (ऐरयस्व) प्राप्त कर, (यस्याम्) जिसमें (मनुष्याः) मनुष्य (बीजम्) अपना बीज (वपन्ति) बोते हैं। (या) जो स्त्री (उशती) कामना करती हुई (नः) हमारे लिये (ऊरू) अपनी दोनों जंघाएं (विश्रयाति) खोल देती है और (यस्याम्) जिसमें हम (उशन्तः) कामना करते हुए (शेपः) प्रजनन अंग को (प्रहरेम) प्रवेश करते हैं।

आ रो॑होरुमुप॑ धत्स्व हस्तं॒ परि॑ ष्वजस्व जा॒यां सु॑मन॒स्यमा॑नः।
प्र॒जां कृ॑ण्वाथामि॒ह मोद॑मानौ दी॒र्घं वा॒मायुः॑ सवि॒ता कृ॑णोतु ॥३९॥

भा०—हे पुरुष! (उरुम्) अपनी पत्नी की जंघा पर (आरोह = आरोहय) चढ़। (हस्तम्) अपने हाथ को (उपधत्स्व) उसके सिरहाने के समान लगा दे और (सुमनस्यमानः) शुभ चित्त वाला होकर (जायाम्) अपनी स्त्री को (परिष्वजस्व) आलिंगन कर। हे स्त्री पुरुषो! (इह) गृहस्थ में (मोदमानौ) परस्पर प्रसन्न रहते हुए, आनन्द-विनोद करते हुए तुम दोनों (प्रजाम्) उत्तम सन्तानोत्पत्ति (कृण्वाथाम्) करो। (सविता) सब संसार का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (वां) तुम दोनों की (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (कृणोतु) करे।

आ वां॑ प्र॒जां ज॑नयतु प्र॒जाप॑तिरहो॒रा॒त्राभ्यां॒ सम॑नक्त्वर्य॒मा।
अदु॑र्मङ्गली पतिलो॒कमा वि॑शे॒मं शं नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥ ४० ॥ (१०) ऋ० १०।८५।४३।

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का परिपालक परमेश्वर (वां) तुम दोनों की (प्रजाम्) प्रजा को (जनयतु) उत्पन्न करे, (अर्यमा) न्यायकारी प्रभु तुमको (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात (सम् अनक्तु) एक दूसरे के साथ सदा परस्पर मिलाये रखे। हे वधू! तू (अदुर्मङ्गलीः) दुःखदायी स्वरूप न होकर (इमं) इस (पतिलोकम्) पतिगृह में (आविश) प्रविष्ट हो और (नः) हमारे (द्विपदे) दो पैर के मनुष्यों और (चतुष्पदे) पशुओं के लिये (शं शं भव) सदा कल्याणकारिणी, शान्तिदायिनी हो।

देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥४१॥

भा०—(देवैः) देव, दानशील वर कन्या के निमित्त देने वाले और (मनुना) मनु = प्रजापति, वर कन्या के पिता द्वारा (दत्तम्) प्रदान किये (वाधूयम् वासः) वधू के वरण करने हारे वर का वस्त्र (वध्वः च वस्त्रम्) और वधू के विवाहकाल के वस्त्र (एतत्) इन सबको (साकम्) एक साथ ही (यः) जो पति (चिकितुषे ब्रह्मणे) ब्राह्मण को (ददाति) प्रदान करता है (सः इत्) वह ही (तल्पानि = तल्प्यानि) तल्प अर्थात् सेज के ऊपर होने वाले (रक्षांसि) विघ्नों या अधिक कारणों को (हन्ति) नाश कर देता है । १४ । १ । २५ ॥ मन्त्र में 'वाधूय वस्त्र' के दान का वर्णन पूर्व आ चुका है । फल यहां दर्शाते हैं ।

यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम् ॥ ४२ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) वेदवाणी के स्वामी पुरोहित ! (इन्द्रः च) और ऐश्वर्यवान् कन्या पिता ! तुम दोनों, (वधूयोः) वधू की कामना, करने हारे वर को (वाधूयम्) कन्या वरण करने के समय का (वासः) वस्त्र और उसी समय का (वध्वः च वस्त्रम्) वधू का वस्त्र, इन दोनों को वने (यम्) जिस (ब्रह्मभागम्) ब्राह्मण के भाग को तुम दोनों आप (मे) जिस मुझ वेदवेत्ता के प्रति (दत्तः) प्रदान करते हो, यह एक प्रकार से (युवम्) तुम दोनों (अनुमन्यमानौ) परस्पर अनुमति करते हुए ही (ब्रह्मणे) वेदज्ञ वर को (दत्तम्) प्रदान करते हो । क्योंकि ऐसा दहेज वेदज्ञ का ही भाग है ।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ ४३ ॥

भा०—(स्योनाद्) सुखकारी (योनेः) सेज या शयनस्थान से (अधि-

बुध्यमानौ) जागकर उठते हुए, (हसामुदौ) परस्पर हंसीविनोद युक्त होकर और (महसा) तेज और बल से (मोदमानौ) परस्पर आनन्दविनोद करते हुए, (सुगू) उत्तम इन्द्रियों या गौओं से सम्पन्न और (सुपुत्रौ) अर्थात् उत्तम पुत्रों से युक्त और (सुगृहौ) उत्तम गृह से सम्पन्न होकर, (जीवौ) दोनों जीव, वरवधू सुख से जीवन बिताते हुए, (विभातीः) विविधरूप से प्रकाशमान (उषसः) उषाओं, दिनों को (तराथः) व्यतीत करें।

नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥ ४४ ॥

भा०—मैं गृह का स्वामी (नवं वसानः) नये वस्त्र पहन कर, (सुरभिः) सुगन्धित पदार्थों से युक्त, (सुवासः) उत्तम वस्त्रों से सुशोभित होकर, (जीवः) सुख से जीवन धारण करता हुआ, (विभातीः उषसः) विशेष रूप से प्रकाश वाली उषाओं में प्रतिदिन (उद् अगाम्) उठा करूं और (पतत्री इव) पक्षी जिस प्रकार (आण्डात्) अण्डे से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार मैं (विश्वस्मात् एनसः) समस्त पाप से (परि अमुक्षि) मुक्त हो जाऊं।

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४५ ॥

अथर्व० ७।११२।१॥

भा०—(शुम्भनी) सुहावने (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी के समान रक्षक और आश्रयभूत माता पिता (अन्तिसुम्ने) समीप रहकर सदा सुख देने हारे, (महिव्रते) बड़े बड़े कार्य करने वाले हैं। (सप्त) सातों प्रकार (देवीः) ज्ञानदर्शन कराने वाली (आपः) ज्ञानधाराएं (सुस्रुवुः) सदा बहें। (ताः) वे सब (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च।
ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥ ४६ ॥

अथर्व० १०।८५।१७॥

भा०—(सूर्यायै) संसार को उत्पन्न करने हारी जगदम्बा शक्ति को, (देवेभ्यः) अग्नि, जल, सूर्य आदि देवों, (मित्राय) सबके स्नेही और (वरुणाय) सबके वरणीय श्रेष्ठ परमेश्वर के लिये और (ये) जो (भूतस्य) विश्व के (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञान कराने हारे जो गुरु हैं (तेभ्यः) उन सबको (इदम् नमः) यह नमस्कार (अकरम्) करता हूँ ।

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ ४७ ॥
ऋ० ८ । १ । १२ ॥

भा०—(यः) जो (ऋते) विना (अभिश्रिषः) चिपकने के पदार्थों गोंद, सरेस आदि के और विना जोड़ने के पदार्थों के, (चित्) और (जत्रुभ्यः) गर्दन की हंसली की हड्डियों में (आतृदः) छेद किये विना ही (संधिम्) सब सन्धियों को (संधाता) जोड़ता है और (विह्रुतं) कुटिल अंगों को भी (पुनः) फिर (निष्कर्त्ता) ठीक कर देता है, वह (पुरुवसुः) इन्द्रियों में बसने हारे आत्मा के समान समस्त लोकों में बसने हारा परमात्मा ही (मघवः) परमेश्वर है ।

अपास्मत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत् ।
निर्दहनी या पृषातक्यस्मिन् तां स्थाणावध्या संजामि ॥ ४८ ॥

भा०—(नीलम्) नीली (पिशङ्गम्) पीली (उत) और (यत्) जो (लोहितम्) लाल रंग की (तमः) पाप या मलिन पदार्थ है वह (अस्मत्) हम से (अप उच्छतु) दूर हो । (निर्दहनी) जलाने हारी और (पृषातकी) स्पर्श से दुःख देने वाली जो अविद्या (अस्मिन्) इस वरवधू के दिये वस्त्र में या संसार में है (तां) उसको (स्थाणौ) स्थाणु, वृक्ष में या परब्रह्म में (अधि आसजामि) लगा दूं । अर्थात् वस्त्रगत सब दुष्प्रभावों को वृक्ष के प्रभाव से और अविद्या के दुष्प्रभावों को ब्रह्म के आश्रय से दूर करूं ।

यावतीः कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः ।
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधिसादयामि ४९

भा०—(यावतीः) जितने (कृत्याः) हिंसाकारी प्रयोग और हानिकारक क्रियाएं (उपवासने) वरवधू के रहन-सहन में हैं और (यावन्तः) जितने (राज्ञः) राजा, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् परमात्मा के (पाशाः) पाश हैं और (याः) जितनी (व्यृद्धयः) दरिद्रताएं और (याः) जो (असमृद्धयः) दुरवस्थाएं (अस्मिन्) इस संसार में हैं (ताः) उनको (स्थाणौ) वृक्ष में, एवं वृक्ष के समान दूरस्थ परमात्मा के आश्रय में (अधि सादयामि) छोड़ता हूँ ।

या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः ।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम ॥ ५० ॥ (११)

भा०—(या) जो (मे) मेरी (प्रियतमा) अति प्रिय (तनूः) देह है (सा) वह मेरी देह (वाससः) इस वस्त्र से (बिभाय) भय खाती है । इसलिये हे (वनस्पते) वृक्ष, वनपालक ! (अग्रे) पहले (तस्य) उस वस्त्र को (नीविम् कृणुष्व) अपने तेड़ में बांध ले जिससे (वयम्) हम (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों ।

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः ।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात् ॥ ५१ ॥

भा०—(ये अन्ताः) जो वस्त्र की झालरें हैं, (यावतीः सिचः) और जितनी किनारियां हैं, (ये ओतवः) जो बाने और (ये च तन्तवः) जो ताने के सूत हैं, (यत् वासः) और जो वस्त्र (पत्नीभिः) गृहदेवियों ने (उतम्) बुना है, (तत्) वह (वः) हमें (स्योनं) सुखपूर्वक (उपस्पृशात्) शरीर को छुए । यहां 'वासो यत् पत्नीभृतम्' यह पैप्पलादपाठ सुसंगत है । कपड़ा जो पत्नी ने धारण किया है ।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः ।
अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥ ५२ ॥

भा०—(उशतीः) पति की कामना करती हुईं (इमाः) ये (कन्यलाः) कन्याएं (पितृलोकात्) पिता के घर से (पतिं यतीः) पति के पास जाती हुईं (दीक्षाम्) दृढ़ व्रत को (अव असृक्षत) धारण करती या ब्रह्मचर्य व्रत को विसर्जन करती हैं। (स्वाहा) यही सबसे उत्तम शिक्षा है या यही एक यज्ञाहुति या यश का कार्य है।

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्।
वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५३ ॥

भा०—(बृहस्पतिना) परमेश्वर की (अवसृष्टाम्) रची हुई दीक्षा को (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्गण (अधारयन्) धारण करते हैं। अतः दीक्षा के कारण ही (यत् वर्चः) जो तेज (गोषु) वेदवाणियों में (प्रविष्टम्) विद्यमान है (इमाम्) इस कन्या को (तेन) उसी तेज से (सं सृजामसि) हम युक्त करते हैं।

बृहस्पतिना० । तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेने० ॥ ५४ ॥
बृहस्पतिना० । भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेने० ॥ ५५ ॥
बृहस्पतिना० । यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेने० ॥ ५६ ॥
बृहस्पतिना० । पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेने० ॥ ५७ ॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्।
रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५८ ॥

भा०—(बृहस्पतिना० इत्यादि) सब पूर्ववत्। (गोषु) वेदवाणियों में (यत् तेजः प्रविष्टं) जो तेज प्रविष्ट है, (यत् भगः) जो ऐश्वर्य है, (यद् यशः) जो यश है, (यत् पयः) जो पुष्टिकारक दुग्ध है, (यः रसः) जो रस है, (तेन) उन सब पदार्थों से हम (इमां सं सृजामसि) इस कन्या को भी संयुक्त करते हैं।

यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तोऽघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥ ५९ ॥

भा०—हे गृहस्थ पुरुष ! (यद्) जब (इमे) ये (केशिनः) लम्बे केशों वाले, केश खोलकर (जनाः) पुरुष (ते) तेरे (गृहे) घर में (रोदेन) अपने रोने चिल्लाने से (अघम्) पाप या बुरे दृश्य या विघ्न (कृण्वन्तः) करते हुए (सम अनर्तिषुः) बहुत नाच कूद करें, अपने गात्र आदि फेंकें, बिलखें तो (तस्माद्) उस (एनसः) बुरे कार्य या पाप से (त्वा) तुझे (अग्निः) ज्ञानी पुरुष (सविता च) और उत्पादक परमेश्वर (प्र मुञ्चताम्) सदा भली प्रकार बचावें।

यदी॒यं दु॑हि॒ता तव॑ विके॒श्यरु॑दद् गृ॒हे रोदे॑न कृण्व॒त्य१॒घम् ।
अ॒ग्निष्ट्वा ॥ ६० ॥ (१२)

भा०—(यदि) यदि (इयम्) यह (तव) तेरी (दुहिता) दूर देश में विवाह के निमित्त देने योग्य कन्या (विकेशी) बाल खोल खोल कर (गृहे) घर में (रोदेन) अपने रोने से (अघम्) दुखःदायी दृश्य (कृण्वती) उपस्थित करती हुई (अरुदत्) रोवे तो (अग्निः त्वा० इत्यादि) अग्नि = आचार्य और सविता = परमेश्वर या तुम्हारे पिता तुम्हें इस बुरे दृश्य से मुक्त करें।

यज्जा॒मयो॒ यद् यु॑व॒तयो॑ गृ॒हे ते॑ स॒मन॑र्तिषू॒ रोदे॑न कृण्व॒ती॑र॒घम् ।
अ॒ग्निष्ट्वा॒० ॥ ६१ ॥

भा०—(यत्) यदि (जामयः) बहनें या कन्याएं, (यद् युवतयः) यदि युवती स्त्रियां, (रोदेन अघम् कृण्वतीः सम् अनर्त्तिषुः) अपने रोने चिल्लाने के सहित उत्पात मचाती हुई हाथ पैर फैंकें तो (अग्निः त्वा० इत्यादि) इस बुरे कार्य से आचार्य और पिता तुम्हें मुक्त करें।

यत् ते॑ प्र॒जायां॑ प॒शुषु॒ यद्वा॑ गृ॒हेषु॒ निष्ठि॑तमघ॒कृद्भि॑र॒घं कृ॒तम् ।
अ॒ग्निष्ट्वा॒ तस्मा॒देन॑सः सवि॒ता च॒ प्र मु॑ञ्चताम् ॥ ६२ ॥

भा०—हे गृहपते ! (यत्) जो (प्रजायाम्) तेरी प्रजा में (यद् वा पशुषु गृहेषु) और जो तेरे पशुओं और गृहों में, (अघकृद्भिः) उपद्रव-

कारियों से (कृतम्) किया गया (अघम्) उपद्रव (निःष्ठितम्) उठ खड़ा हो (अग्निः त्वा० इत्यादि) ज्ञानी आचार्य और सविता पिता परमेश्वर उस पापरूप उपद्रव से तुझे मुक्त करे ।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका ।
दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ६३ ॥

भा०—(इयं नारी) यह स्त्री (पूल्यानि) फुल्लियों या खीलों को (आवपन्तिका) अग्नि में आहुति करती हुई (उप ब्रूते) परमात्मा से प्रार्थना करती है कि (मे पतिः) मेरा पति (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला (अस्तु) हो और वह (शरदः शतम्) सौ बरस तक (जीवाति) जीवे ।

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दंपती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ६४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (इमौ) इन दोनों (चक्रवाका इव) चकवा चकवी के समान परस्पर प्रेम से बंधे (दम्पती) पतिपत्नीभाव से मिले हुए जोड़े को (सं नुद) प्रेरणा कर कि (एनौ) वे दोनों (सु-अस्तकौ) उत्तम घर में रहते हुए (प्रजया) अपनी प्रजा सहित (विश्वम् आयुः) पूर्ण आयु को (वि अश्नुताम्) नाना प्रकार से भोग प्राप्त करें ।

यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम् ।
विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि ॥ ६५ ॥

भा०—(यत्) जो (आसन्द्याम्) आसन्दी, खाट या पलङ्ग पर, (यद्) जो (उपधाने) सिरहाने और (यद् वा) जो (उपवासने) वस्त्रों पर और (विवाहे) विवाह के समय (यां कृत्याम्) जिस घातक विषम प्रयोग को करते हैं, (तां) उसको हम (आस्नाने) स्नान कराने वाले द्वारा (नि दध्मसि) दूर करते हैं । चौकी, गद्दा, वस्त्र पहनना आदि सब कार्यों की जिम्मेदारी नाई पर रखनी चाहिए ।

यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत् ।
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम् ॥ ६६ ॥

भा०—(यद्) जो (विवाहे) विवाह के अवसर पर और (वहतौ) दहेज में या रथ में, (दुःकृतम्) बुरा, विघ्नकारी कार्य (यत् शमलम्) जो घृणित, मलिन कार्य किया हो (वयम्) हम (तत् दुरितम्) उस बुरे कार्य को (सम्भलस्य) मधुरभाषी वर के प्रशंसक पुरुष के (कम्बले) कम्बल में (मृज्महे) शुद्ध करें। जो पुरुष कन्या के पिता के समक्ष वर के गुण वर्णन करता है उसको उसके कार्य के प्रतिफल में कम्बल दिया जाता है।

सं॒भ॒ले मलं॑ सादयि॒त्वा क॑म्ब॒ले दु॑रि॒तं व॒यम्।
अभू॑म य॒ज्ञिया॑: शु॒द्धाः प्र ण॒ आयूं॑षि तारिषत् ॥ ६७ ॥

भा०—(सम्भले) वर के प्रशंसक 'संभल' नामक पुरुष पर (मलं) विवाह के अवसर पर होने वाले दोष को अथवा दोष की उत्तरदायिता को (सादयित्वा) डाल कर और (वयम् दुरितम्) हुई त्रुटि को (कम्बले) कम्बल पर डाल कर हम (यज्ञियाः) विवाह यज्ञ में आये बाराती लोग (शुद्धाः) शुद्ध, निर्दोष (अभूम) रहें। वह 'सम्भल' ही (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को उस अवसर (प्र तारिषत) सुरक्षित रखता है। वही बरातियों के सुखपूर्वक रहने आदि का उत्तरदायी होता है।

कृ॒त्रिम॒: कण्ट॑कः श॒तद॒न् य ए॒षः।
अ॒पा॒स्याः केश्यं॒ मल॒मप॑ शीर्ष॒ण्यं लिखात् ॥ ६८ ॥

भा०—(यः एषः) जो यह (शतदन्) सैंकड़ों दांतों वाला (कृत्रिमः) कृत्रिम (कण्टकः) कण्टक अर्थात् कंघा है वह (अस्याः) इस वधू के (शीर्षण्यम्) सिर के और (केश्यम्) केशों के (मलम्) मल को (अप अप लिखात्) बाहर निकाल कर दूर करे। बालों को वधू कंघी से सवारा करे।

अङ्गा॑दङ्गाद् व॒यम॒स्या अप॒ यक्ष्मं॒ नि द॑ध्मसि।
तन्मा प्राप॑त् पृथि॒वीं मोत दे॒वान् दिवं॒ मा प्राप॑दु॒र्व॒न्तरि॑क्षम्।
अपो मा प्राप॒न्मलं॑मे॒तद॑ग्ने य॒मं मा प्राप॑त् पि॒तॄंश्च॒ सर्वा॑न् ॥६९॥

भा०—(वयम्) हम लोग (अस्याः) इस वधू के (अङ्गात् अङ्गात्) एक एक अङ्ग से (यक्ष्मम्) रोग को (अप निदध्मसि) दूर करें । (तत्) वह रोग (पृथिवीम् मा प्रापत्) पृथिवी को न प्राप्त हो, (मा उत देवान्) देवों विद्वानों एवं दिव्य पदार्थों को प्राप्त न हो, (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष और (दिवम्) द्यौ को भी (मा प्रापत्) प्राप्त न हो। हे अग्ने (एतत् मलम्) यह मल, रोग (अपः मा प्रापत्) जलों में भी न प्राप्त हो । (यमं मा प्रापत्) यम, ब्रह्मचारी और व्यवस्थापक और (सर्वान् च पितॄन्) समस्त प्रजा के पालकों को भी (मा प्रापत्) प्राप्त न हो । प्रत्युत तुझमें ही भस्म हो जाय । वेद के सिद्धान्त से मल को अग्नि में ही जलाना चाहिये । गृह्यसूत्रों में विवाह के अवसर पर कन्या के सर्वाङ्ग दोषों को शमन करने के निमित्त आहुतियां दी जाती हैं ।

सं त्वा नह्यामि पर्यसा पृथिव्याः सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम्।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम् ७०(१३

भा०—हे पत्नी ! (त्वा) तुझको मैं (पृथिव्याः पयसा) पृथिवी के पुष्टिकारक पदार्थों से (सं नह्यामि) भली प्रकार बांधता हूँ और (ओषधीनाम् पयसा) ओषधियों के पुष्टिकारक रस से (त्वा सं नह्यामि) तुझे भली प्रकार बांधता हूँ । (त्वा) तुझे (प्रजया) प्रजा और (धनेन) धन के बल से (सं नह्यामि) बांधता हूँ । (सा) वह तू (सं नद्धा) उत्तम रीति से मेरे संग बद्ध होकर (इमम्) इस (वाजम्) वीर्य को (सनुहि) धारण कर, पुत्र उत्पन्न कर । विवाह की उत्तर विधि में 'अन्नपाशेन मणिना०' इत्यादि तीन मन्त्रों से भात वरवधू क्रम से खाते हैं उससे परस्पर एक दूसरे को बांधते हैं ।

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ।
ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥ ७१ ॥

भा०—हे वधु ! (अहम्) मैं पति (अमः अस्मि) मुख्य प्राण हूँ

और (सा त्वम्) तू वह 'वाक्' है। (अहं साम) मैं सामवेद या गायन हूँ और (त्वम् ऋक्) तू ऋग्वेद की ऋचा या गानपद है। (अह द्यौः) मैं द्यौः हूँ (त्वम् पृथिवी) तू पृथिवी है। (तौ) वे दोनों हम (सं भवाव) एकत्र हों और (प्रजाम्) प्रजा को (आ जनयावहै) उत्पन्न करें।

जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः।
अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ ७२ ॥

ऋ० ७ । ९६ । ४ ॥

भा०—(अग्रवः) अविवाहित पुरुष (नौ) हम दोनों के समान ही (जनियन्ति) प्रथम स्त्री की इच्छा करते हैं और (सुदानवः) उत्तम दानशील, वीर्यदान में समर्थ, या धनाढ्य पुरुष (पुत्रियन्ति) पुत्रों की कामना करते हैं। हम दोनों (अरिष्टासू) प्राणों को सुरक्षित रूप से रखते हुए (बृहते) बड़े भारी (वाजसातये) बलवीर्य के लिये (सचेवहि) परस्पर मिलकर रहें।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥ ७३ ॥

भा०—(ये) जो (पितरः) गुरु, माता, पिता, वृद्ध पालकजन (वधूदर्शाः) वधू को देखने के निमित्त (इयं) इस (वहतुम्) विवाह में (आगमन्) पधारे हैं (ते) वे (पत्न्यै) मेरी पत्नी (अस्यै वध्वै) इस वधू को (प्रजावत्) प्रजा सहित (शर्म) सुख प्राप्त करने का आशीर्वाद (स यच्छन्तु) प्रदान करें।

येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥७४॥

भा०—(या) जो (इदं) यह (रशनायमाना) शृंखला के समान एक के बाद दूसरी वंश परम्परा (पूर्वा) हमसे पूर्व (आ अगन्) आती चली आ रही है वह (अस्यै) इस वधू को (प्रजाम्) प्रजा और (द्रविणं च)

धन (दत्वा) देकर, (ताम्) उसको (अगतस्य) भविष्यत् के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनु वहन्तु) ले जायें और (इयं) यह (विराड्) विशेषरूप से शोभा या आनन्द देने वाली पत्नी (सुप्रजा) उत्तम प्रजा से युक्त होकर (अति अजैषीत्) सबसे आगे बढ़ जाय ।

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ७५(१४

भा०—हे वधु ! तू (सुबुधा) उत्तम ज्ञानयुक्त, एवं सुख से शीघ्र जागने वाली होकर, (बुध्यमाना) प्रातः सचेत जागृत रहकर, (शतशारदाय) सौ बरस के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (प्र बुध्यस्व) खूब अच्छी प्रकार जागृत रह, सचेत रह । (गृहान् गच्छ) तु घर में प्रवेश कर (यथा) जिस प्रकार (गृहपत्नी असः) तू गृह-स्वामिनी हो । (सविता) सर्वोत्पादक परमात्मा (ते आयुः दीर्घम् कृणोतु) तेरी आयु को लम्बा करे।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम्, ऋचश्च पञ्चसप्ततिः]

अथ पञ्चदशं काण्डम्

[१ (१)] व्रात्य प्रजापति का वर्णन

ऋषिः-अथर्वा ॥ देवता-अध्यात्मम्, व्रात्यः । तत्र अष्टादश पर्यायाः ॥ छन्दः—१ साम्नीपंक्तिः, २ द्विपदा साम्नी बृहती ३ एकपदा यजुर्ब्राह्मी अनुष्टुप्, ४ एकपदा विराड् गायत्री, ५ साम्नी अनुष्टुप्, ६ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती, ७ आसुरीपंक्तिः, ८ त्रिपदा अनुष्टुप् । अष्टर्चं प्रथमं पर्याय सूक्तम् ॥

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥ १ ॥

भा०—(व्रात्यः) 'व्रात्य'—वैकारिक अहंकार आदि प्राकृतिकगण का स्वामी या सब देह से आवृत जीवों का स्वामी, या स्वामी रूप से वरण करने हारे जीवों या अधीन प्रजाओं का हितकारी, राजा के समान प्रभु

या सब व्रतों का एकमात्र उपास्य परमेश्वर (ईयमानः) गति करता (आसीत्) रहता है। (सः) वही अपने को (प्रजापतिम्) प्रजा के पालक, मेघ पर्जन्य और आत्मा के रूप में (सम् ऐरयत्) प्रकट करता है।

म्रियन्ते देहेन इति व्रताः, तेषां समूहाःव्राताः जीवसमूहाः तेषां पतिव्रात्यः परमेश्वरः। वृण्वते इति व्रताः, तेभ्यो हितो व्रात्यः। व्रतेषु भवो वा व्रात्यः।

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् ॥ २ ॥

भा०—(सः प्रजापतिः) वह प्रजापति (आत्मन्) अपनी आत्मा में (सुवर्णम्) तेजोमय को स्वयं (अपश्यत्) देखता है। (तत्) वह (प्र अजनयत्) संसार को उत्पन्न करता है।

तदेकमभवत् तल्ललाममभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्ठमभवत्।
तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत ॥३

भा०—(तत्) यह (एकम् अभवत्) एक था। (तत् ललामम् अभवत्) वह सबसे सुन्दर (अभवत्) था। (तत्) वह (महत् अभवत्) सबसे महान् था। (तत् ज्येष्ठम् अभवत्) वह ज्येष्ठ था। (तद् ब्रह्म अभवत्) वह ब्रह्म था। (तत् तपः अभवत्) वह 'तप' था। (तत् सत्यम् अभवत्) वह सत्य था। (तेन) उस परमेश्वर के सामर्थ्य से यह (प्र अजायत) सुन्दर संसार रूप में उत्पन्न हुआ।

सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् ॥ ४ ॥

भा०—(सः अवर्धत) वह और भी बढ़ा। (सः महान् अभवत्) वह 'महान्' हुआ। इसीलिये (सः) वह (महादेवः अभवत्) 'महादेव' है।

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥

भा०—(सः) वह (ईशाम्) ऐश्वर्यशील (देवानाम्) अग्नि, वायु, जल, आदि महान् शक्तियों पर भी (परिऐत्) शासक है। अतः (सः ईशानः अभवत्) वह 'ईशान' है।

स एकव्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः ॥ ६ ॥

भा०—(सः) वह (एकव्रात्यः) एक मात्र व्रात्य है, वह एक मात्र समस्त व्रतों का आश्रय सब 'व्रात' अर्थात् जीवगणों, देवगणों, भूतगणों का स्वामी, उनमें एक, व्यापक, सत् रूप है। (सः) वह (धनुः) धनुष को (आदत्त) ग्रहण करता है। (तद् एव) वह ही (इन्द्रधनुः) इन्द्र का धनुष है। अर्थात् वह परमेश्वर 'धनुः' अर्थात् समस्त संसार के प्रेरक बल को अपने वश करता है और वही प्रेरक बल 'इन्द्रधनुष' है। जिसका प्रतिरूप, मेघरूप प्रजापति का 'इन्द्र-धनुष' है।

नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥

भा०—(अस्य) उस धनुष का (उदरम् नीलम्) उदर अर्थात् भीतर का भाग नीला और (पृष्ठम् लोहितम्) पीठ अर्थात् बाहरी भाग लाल है।

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

भा०—(ब्रह्मवादिनः) वेद के उपदेष्टा (इति) इस प्रकार (वदन्ति) उपदेश करते हैं कि वह परमेश्वर अपने धनुष के (नीलेन एव) नीले भाग से ही (अप्रियम्) अप्रिय (भ्रातृव्यम्) शत्रु को (प्र ऊर्णोति) आच्छादित करता है और (लोहितेन) लाल भाग से (द्विषन्तं) द्वेष करने हारे को (विध्यति) बेधता है। ईश्वर के सत्व रजःतमोमय त्रिगुणात्मक प्रकृति रूपी धनुष के तामस भाग से वह अप्रिय मूढ़ पुरुष को आवृत करता और क्रोधात्मक राजस भाग से द्वेषी को पीड़ित करता है।

[२] व्रात्य प्रजापति का वर्णन

ऋषिः-अथर्वा ॥ देवता-अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१-४ (प्र०) १ ष०, ४ ष० साम्नी अनुष्टुप्, १,३,४, (द्वि०) साम्नी त्रिष्टुप्, १ तृ० द्विपदा आर्षी पंक्तिः, १, ३, ४; (च०) द्विपदा ब्राह्मी गायत्री, १-४ (पं०) द्विपदा आर्षी जगती, २ (पं०) साम्नी पंक्तिः, ३ (पं०) आसुरी गायत्री, १-४ (स०) पदपंक्तिः,

१-४ (अ०) त्रिपदा प्राजापत्या त्रिष्टुप्, २ (द्वि०) एकपदा उष्णिक्, २ (तृ०) द्विपदा आर्षी भुरिक् त्रिष्टुप्, २ (च०) आर्षी पराऽनुष्टुप्, २ (तृ०) द्विपदा विराडार्षी पंक्तिः, ४ (तृ०) निचृदार्षी पंक्तिः । अष्टाविंशत्यृचं द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

स उदतिष्ठत् स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥१॥ तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥ बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ३ ॥ बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥४॥ श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥५॥ भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥ मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥ कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (उद् अतिष्ठत्) उठा । (सः) वह (प्राचीं दिशम्) प्राची दिशा को (अनु व्यचलत्) चला ॥१॥ (बृहत् च रथन्तरम् च) बृहत् और रथन्तर, (आदित्याः च विश्वे देवाः च) आदित्य और विश्वदेव (तम् अनुव्यचलन्) उसके पीछे २ चले ॥२॥ (यः एवं विद्वांसम् व्रात्यम्) जो पुरुष इस प्रकार के विद्वान् व्रात्य की (उपवदति) निन्दा करता है वह (बृहते च वै रथन्तराय) बृहत् और रथन्तर, (आदित्येभ्यः च विश्वेभ्यः देवेभ्यः च) आदित्य और विश्वेदेवों के प्रति (आ वृश्चत) अपराध करता है ॥३॥

उस व्रात्य का स्वरूप क्या है ? (तस्य) उसके (प्राच्यां दिशि) प्राची दिशा में (श्रद्धा पुंश्चली) श्रद्धा नारी के समान है । (मित्रः मागधो) सूर्य स्तुति पाठक के समान है । (विज्ञानं वासः) विज्ञान वस्त्र के समान है । (अहः उष्णीषम्) दिन पगड़ी के समान है । (रात्री केशाः) रात्री

केशवत् है । (हरितौ) उज्वल सूर्य और चन्द्र (प्रवर्तौ) दो कुण्डल हैं। (कल्मलिः) तारे (मणिः) देह पर मणियें हैं । (भूतं च भविष्यत् च) भूत और भविष्यत् (परिस्कन्दौ) आगे पीछे चलने वाले दो पैदल सिपाही हैं। (मनः) मन उसका (विपथम्) नाना मार्गों में चलने वाला रथ है ॥६॥ (मातरिश्वा च पवमानश्च) मातरिश्वा और पवमान दोनों (विपथवाहौ) उसके रथ के घोड़े हैं । (वातः सारथि) वात सारथि है । (रेष्मा प्रतोदः) बवण्डर उसका हण्टर है ॥७॥ (कीर्तिः च) कीर्त्ति और (यशः च) यश उसके (पुरः सरौ) आगे चलने वाले हरकारे हैं । (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप का साक्षात् कर लेता है (एनं) उसको (कीर्त्तिः गच्छति) कीर्त्ति प्राप्त होती है और (यशः आ गच्छति) यश प्राप्त होता है। महादेव के त्रिपुर विजयी रथ के पौराणिक अलंकार की इससे तुलना करनी चाहिये ।

स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् ॥९॥ तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥१०॥ यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ११ ॥ यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥१२॥ उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं० मणिः ॥ १३ ॥ अमावास्याच्च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम् । मातरिश्वा० कीर्तिश्च० ॥ १४ ॥

भा०—व्रात्य का द्वितीय स्वरूप (सः उद् अतिष्ठत्) वह व्रात्य उठ खड़ा हुआ । (सः दक्षिणाम् दिशम् अनुव्यचलत्) वह दक्षिण दिशा की ओर चला ॥९॥ (तम् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च, यज्ञः च यजमानः च पशवः च अनुव्यचलन्) उसके पीछे यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशु भी चले ॥१०॥ (यः एवं विद्वांसं व्रात्यम् उपवदति) जो

ऐसे विद्वान् व्रात्य की निन्दा करता है (यज्ञायज्ञियाय च, वै सः वामदेव्याय च, यज्ञाय च, यजमानाय च, पशुभ्यः च आवृश्चते) वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओं के प्रति अपराधी होता है और (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य का स्वरूप जान लेता है वह (यज्ञायज्ञियस्य च वै सः वामदेव्यस्य च, यज्ञस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति) यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओं का भी प्रिय आश्रय हो जाता है। (दक्षिणायाम् दिशि तस्य) दक्षिण दिशा में उसकी (पुंश्चली उषाः) उषा पुंश्चली नारी के समान है। (मन्त्रःमागधः) वेदमन्त्र समूह उसके स्तुति पाठक के समान, (विज्ञानं वासः) विज्ञान वस्त्र के समान, (अहः उष्णीषम् रात्री केशाः हरितौ प्रवर्त्तौ कल्मलिः मणिः) दिन पगड़ी, रात्रि केश, सूर्य चन्द्र दोनों कुण्डल और तारे गले में पड़ी मणियां हैं ॥ ११–१३ ॥ (अमवास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम्) अमावस्या और पौर्णमासी दोनों हरकारे हैं। मन रथ है। (मातरिश्वा च० इत्यादि) पूर्ववत् ऋचा सं० ६–८ की व्याख्या देखो ॥ १४ ॥

स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १५ ॥ तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥ १६ ॥ वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥१७॥ वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि ॥१८॥ इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं०।० मणिः ॥१९॥ अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो विपथम्। मातरिश्वा०। कीर्तिश्च० ॥ २० ॥

भा०—व्रात्य का तृतीय स्वरूप। (स उद् अतिष्ठत्०) वह व्रात्य उठा। वह प्रतीची अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर चला ॥१५॥ (तं वैरूपं च वैराजं च, आपः च वरुणः च राजा अनुव्यचलन्) उसके पीछे पीछे वैरूप, वैराज, आपः और राजा वरुण चले ॥१६॥ (वैरूपाय च० इत्यादि) जो ऐसे विद्वान् की निन्दा करता है वह वैरूप, वैराज, आपः और राजा

वरुण का अपमान करता है ॥१७॥ (वैरूपस्य०····प्रियं धाम भवति) और जो उसको जान लेता है वह वैरूप, वैराज, आपः और राजा वरुण का प्रिय आश्रय हो जाता है।

(तस्यां प्रतीच्याम् दिशि) ॥१८॥ (इरा पुंश्चली हसः मागधः विज्ञानं वासः इत्यादि) (अहः च रात्री च परिष्कन्दौ मनः विपथम० ।०। इत्यादि पूर्ववत्) उसकी पश्चिम दिशा में इरा = अन्न नारी है, हस = आनन्द प्रमोद स्तुतिपाठक, विज्ञान वस्त्र, दिन पगड़ी, रात्रि केश इत्यादि पूर्ववत् (ऋचा सं० ५) दिन और रात्रि दो हरकारे, मन रथ है, इत्यादि पूर्ववत् ॥२०॥

स उद॑तिष्ठ॒त् स उदी॑चीं दि॒शमनु॒ व्यचलत् ॥ २१ ॥ तं श्यै॒तं च॑ नौध॒सं च॑ सप्त॒र्षय॑श्च सोम॑श्च राजा॑नु॒व्यचलन् ॥ २२ ॥ श्यै॒ताय॑ च॒ वै स नौध॒साय॑ च सप्त॒र्षिभ्य॑श्च॒ सोमा॑य च॒ राज्ञ॒ आ वृ॑श्चते॒ य ए॒वं वि॒द्वांस॒ं व्रात्य॑मुप॒वद॑ति ॥२३॥ श्यै॒तस्य॑ च॒ वै स नौध॒सस्य॑ च सप्त॒र्षीणां च॒ सोम॑स्य च॒ राज्ञः॑ प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ तस्योदी॑च्यां दि॒शि ॥२४॥ वि॒द्युत् पुंश्च॒ली स्त॒नयि॒त्नुर्मा॑ग॒धो वि॒ज्ञान॒ं वासोऽ ह॑रु॒ष्णीष॒ं रात्री॒ केशा॒ हरि॑तौ प्रव॒र्तौ कल्म॒लिर्म॒णिः ॥ २५ ॥ श्रु॒तं च॒ विश्रु॑तं च परिष्क॒न्दौ मनो॑ विप॒थम् ॥ २६ ॥ मात॒रिश्वा॑ च॒ पव॑मानश्च विपथवा॒हौ वात॒ः सार॑थी रे॒ष्मा प्र॑तो॒दः ॥२७॥ कीर्ति॑श्च॒ यश॑श्च पुरः॒ स॒रावैनं॑ की॒र्तिर्ग॑च्छ॒त्या यशो॑ गच्छति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥२८॥

भा०—(सः उद् अतिष्ठत् सः उदीचीं दिशम् अनुव्यचलत्) वह व्रात्य उठा। वह उत्तर दिशा में चला ॥२१॥ (तं श्यैतं च, नौधसं च सोमः च राजा अनुव्यचलन्) उसके पीछे श्यैत और नौधस, सप्तर्षिगण और सोम राजा चले ॥२२॥ (श्यैताय वै० इत्यादि) जो इस प्रकार विद्वान् की निन्दा करता है वह श्यैत, नौधस, सप्तर्षिगण और सोम राजा का अपमान करता है ॥२३॥ (श्यैतस्य च० इत्यादि) जो उसको जान लेता है वह श्यैत, नौधस, सप्तर्षिगण और सोम राजा का प्रियपात्र हो जाता है। (तस्य उदीच्यामं दिशि) ॥२४॥ उसकी उत्तर दिशा में (विद्युत्

पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधः विज्ञानं वासो० मणिः) (श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम्) विद्युत् नारी है, मेघ गर्जन स्तुतिपाठक है, विज्ञान वस्त्र है इत्यादि (देखो ऋचा सं० ५) श्रुत और विश्रुत ये दोनों हरकारे हैं, मन रथ है ॥२५-२६॥ (मातरिश्वा च० इत्यादि कीर्तिः च यशः च) ॥२७, २८॥ पूर्ववत् देखो व्याख्या (ऋचा संख्या ६-८) ॥२८॥

व्रात्य प्रजापति के चारों दिशाओं के प्रस्थान के चार रूप

दिशा	प्राची १	दक्षिणा २	प्रतीची ३	उदीची ४
अनुगन्तारः	[1]बृहत्, रथन्तरम् आदित्याः विश्वेदेवाः	यज्ञायज्ञियं, वामदेव्यं, यजमानः, पशवः	वैरूपं, वैराजं आपः, वरुणो राजा	श्यैतं, नौधसं सप्तर्षयः, सोमो राजा
पुंश्चली	श्रद्धा	उषा	इरा	विद्युत्
मागधः	मित्रः	मन्त्रः	हसः	स्तनयित्नुः
वासः	विज्ञानं	विज्ञानं	विज्ञानं	विज्ञानं
उष्णीषः	अहः	अहः	अहः	अहः
केशाः	रात्रिः	रात्रिः	रात्रिः	रात्रिः
प्रवर्तौ	हरितौ	हरितौ	हरितौ	हरितौ
मणिः	कल्मलिः	कल्मलिः	कल्मलिः	कल्मलिः
परिष्कन्दौ	भूतं, भविष्यत्	अमावस्या, पौर्ण०	अहः, रात्रिः	श्रुतं, विश्रुतं
विपथम्	मनः	मनः	मनः	मनः
विपथवाहौ	मातरिश्वा, पवमानः	मातरिश्वा, पवमानः	मातरिश्वा, पवमानः	मातरिश्वा, पवमानः
सारथिः	वातः	वातः	वातः	वातः
प्रतोदः	रेश्मा	रेश्मा	रेश्मा	रेश्मा

१. बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, वैरूप, वैराज, श्यैत ०सामगायनों के नाम हैं।

[३] व्रात्य के सिंहासन का वर्णन

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम् । व्रात्यः ॥ छन्दः—१ पिपीलिकामध्या गायत्री २ साम्नी उष्णिक्, ३ याजुषी जगती, ४ द्विपदा आर्ची उष्णिक्, ५ आर्ची बृहती, ६ आसुरी अनुष्टुप्, ७ साम्नी गायत्री, ८ आसुरी पंक्तिः, ९ आसुरी जगती, १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ११ विराड् गायत्री । एकादशर्चं तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति १

भा०—(सः) वह (संवत्सरम्) वर्ष भर (ऊर्ध्वः अतिष्ठत्) खड़ा रहा। (तं देवाः अब्रुवन्) उसको देवों ने कहा। (व्रात्य किं नु तिष्ठसि इति) हे व्रात्य! तू क्यों खड़ा है।

सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥

भा०—(सः अब्रवीत्) वह बोला (मे) मेरे लिये (आसन्दीं सं भरन्तु इति) बैठने की चौकी या पीढ़ा या आसन ले आओ।

तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ ३ ॥

भा०—(तस्मै व्रात्याय) उस व्रात्य के लिये (आसन्दीम् सम् अभरन्) चौकी ले आये।

तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥४॥

भा०—(तस्याः ग्रीष्मः च वसन्तः द्वौ पादौ आस्ताम्) उस चौकी के दो पाये ग्रीष्म और वसन्त थे। तथा (शरत् च वर्षाः च द्वौ) शरत् वर्षा ये दो पाये और थे।

बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये३आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥ ५ ॥

भा०—(बृहत् च) 'बृहत्' (रथन्तरम् च) और 'रथन्तर' ये दोनों (अनूच्ये आस्ताम्) दाये बायें की लकड़ी थे और (यज्ञायज्ञियम्) 'यज्ञायज्ञिय' और (वामदेव्यं च) 'वामदेव्य' ये दोनों (तिरश्च्ये) तिरछे, सिर-पांयते की लकड़ी थे।

ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥

भा०—उस पीढ़े के (प्राञ्चः तन्तवः) लम्बे तन्तु या निवार के पलेट (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र थे और (तिर्यञ्चः) तिरछे तन्तु या पलेट (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र थे।

वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥ ७ ॥

भा०—(वेदः) वेद (आस्तरणम्) उसका बिछौना और (ब्रह्म उपबर्हणम्) ब्रह्मविद्या सिरहाना था।

सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥

भा०—(साम् आसादः) 'साम' उस पीढ़े पर बैठने का स्थान था। (उद्गीथः उपश्रयः) उद्गीथ उसमें डालने के 'हथ्थे', लगे थे।

तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥

भा०—(ताम्) उस (आसन्दीम्) चौकी पर (व्रात्यः आरोहत्) प्रजापति व्रात्य चढ़ा।

तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः।
प्रहाय्याः विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥

भा०—(तस्य) उसके (परिष्कन्दाः) चारों ओर खड़े होने वाले अङ्ग-रक्षक सिपाही (देवजनाः) दिव्य शक्तियां या विद्वान्गण थे। (संकल्पाः) संकल्प ही (प्रहाय्याः) दूत या गुप्तचर थे और (विश्वानि भूतानि) समस्त प्राणी (उपसदः) समीप बैठने वाले उपजीवी, भृत्य, दरबारी थे।

विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥११॥

भा०—(यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है (अस्य) उसके समीप (विश्वानि एव भूतानि) समस्त प्राणी (उपसदः भवन्ति) निर्भय होकर उसकी शरण में रहते हैं।

(४) व्रात्य प्रजापति का राजतन्त्र।

ऋषिः–अथर्वा ॥ देवता–अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१, ५, ६ (द्वि०) दैवी जगती, २, ३, ४ (प्र०) प्राजापत्या गायत्र्यः १ (द्वि०) ३ (द्वि०) आर्च्यनुष्टुभौ,

१ (तृ०) ४ (तृ०) द्विपदा प्राजापत्या जगती, २ (द्वि०) प्राजापत्या पंक्तिः २ (तृ०) आर्ची जगती, ३ (तृ०) भौमार्ची त्रिष्टुप्, ४ (द्वि०) साम्नी त्रिष्टुप्, ५ (द्वि०) प्राजापत्या बृहती, ५ (तृ०) ६ (तृ०) द्विपदा आर्ची पंक्तिः, ६ (द्वि०) आर्ची उष्णिक् । अष्टादशर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मै॒ प्राच्या॑ दि॒शः ॥१॥ वा॒स॒न्तौ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वकु॑र्वन् बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑ ॥ २ ॥ वा॒स॒न्तावे॑नं॒ मासौ॑ प्राच्या॑ दि॒शो गो॑पायतो बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥

भा०—(प्राच्यः दिशः) प्राची दिशा में (तस्मै) उस व्रात्य के लिये (वासन्तौ मासौ) वसन्त ऋतु के दोनों मासों को (गोप्तारौ अकुर्वन्) विद्वानों ने रक्षक कल्पित किया । (बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर को (अनुष्ठातारौ) अनुष्ठाता, कर्मकर भृत्य या सेवक कल्पित किया । (यः एवं वेद) जो पुरुष व्रात्य के इस स्वरूप को भली प्रकार साक्षात् कर लेता है (एनं) उसको (वासन्तौ मासौ) वसन्त के दोनों मास (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं । (बृहत् च) बृहत् और (रथन्तरं च) रथन्तर दोनों (अनु तिष्ठतः) उसकी सेवा करते हैं ।

तस्मै॒ दक्षि॑णाया दि॒शः ॥४॥ ग्रैष्मौ॒ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वकु॑र्वन् यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑ ॥५॥ ग्रैष्मावे॑नं॒ मासौ॑ दक्षि॑णाया दि॒शो गो॑पायतो यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ६ ॥

भा०—(तस्मै) उस व्रात्य के लिये (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से (ग्रैष्मौ मासौ) ग्रीष्म के दोनों मासों को (गोप्तारौ अकुर्वन्) अङ्गरक्षक कल्पित किया । (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च अनुष्ठातारौ) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य इन दोनों को भृत्य कल्पित किया । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य के स्वरूप को साक्षात् जान लेता है (एनं) उसको (ग्रैष्मौ मासौ) ग्रीष्म के दोनों मास (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से

(गोपायतः) रक्षा करते हैं, (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य दोनों उसकी (अनु तिष्ठतः) सेवा करते हैं।

तस्मै॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शः ॥७॥ वा॒र्षि॑कौ॒ मासौ॑ गो॒ता॒रा॒वकु॑र्वन् वैरू॒पं च॑ वैरा॒जं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑ ॥८॥ वा॒र्षि॑कावे॒नं मासौ॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शो गो॑पायतो वैरू॒पं च॑ वैरा॒जं चानु॑ तिष्ठ॒तो य ए॒वं वेद ॥ ९ ॥

भा०—(तस्मै प्रतीच्याः दिशः) उस व्रात्य के लिये पश्चिम दिशा से (वार्षिकौ मासौ) वर्षा के दो मासों को (गोप्तारौ अकुर्वन्) रक्षक कल्पित करते हैं और (वैरूपं च वैराजं च अनुष्ठातारौ) वैरूप और वैराज को अनुष्ठाता, आज्ञापालक भृत्य कल्पित किया है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य के स्वरूप को साक्षात् जान लेता है (एनं) उसकी (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा से (वार्षिकौ मासौ गोपायतः) वर्षा काल के दोनों मास रक्षा करते हैं। (वैरूपं च वैराजं च) वैरूप और वैराज ये दोनों (अनु तिष्ठतः) भृत्य के समान उसकी आज्ञानुकूल कार्य करते हैं।

तस्मा॑ उदी॑च्या दि॒शः ॥१०॥ शा॒र॒दौ मासौ॑ गो॒ता॒रा॒वकु॑र्वञ्छ्यै॒तं च नौ॑ध॒सं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑ ॥११॥ शा॒र॒दावे॑नं मासा॒वुदी॑च्या दि॒शो गो॑पायतः श्यै॒तं च॑ नौध॒सं चानु॑ तिष्ठ॒तो य ए॒वं वेद॑ ॥ १२ ॥

भा०—(उदीच्या दिशः) उत्तर दिशा में (तस्मै) उस व्रात्य के लिये (शारदौ मासौ) शरद् ऋतु के दोनों मासों को (गोप्तारौ) रक्षक (अकुर्वन्) बनाया। (श्यैतं च नौधसं च अनुष्ठातारौ) श्यैत और नौधस दोनों को उसके आज्ञापालक भृत्य कल्पित किया। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य के स्वरूप को साक्षात् करता है (एनं) उसको (शारदौ मासौ) शरद् ऋतु के दोनों मास (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं। (श्यैतं च नौधसं च) श्यैत और नौधस दोनों (अनु तिष्ठतः) उसकी सेवा करते हैं।

तस्मै ध्रुवाया दिशः ॥१३॥ हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ॥ १४॥ हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १५॥

भा०—(ध्रुवायाः दिशः) नीचे की दिशा से (तस्मै) उस व्रात्य के लिये (हैमनौ मासौ) हेमन्त ऋतु के दोनों मासों को (गोप्तारौ अकुर्वन्) रक्षक कल्पित किया। (भूमिं च अग्निम् च अनुष्ठातारौ) भूमि और अग्नि को उसके भृत्य कल्पित किया। (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् कर लेता है (एनम्) उसको (हैमनौ मासौ) हेमन्त ऋतु के दोनों मास (ध्रुवायाः दिशः) 'ध्रुवा' दिशा अर्थात् भूमि की ओर से (गोपायतः) रक्षा करते हैं और (भूमिः च) भूमि और तथा (अग्निः च) अग्नि (अनु तिष्ठतः) उसके भृत्य के समान काम करते हैं।

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥ १६ ॥ शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥ १७ ॥ शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥

भा०—(ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (तस्मै) उस व्रात्य के लिये (शैशिरौ मासौ) शिशिर ऋतु के दोनों मासों को (गोप्तारौ) रक्षक (अकुर्वन्) कल्पित किया तथा (दिवं च आदित्यं च) आकाश और सूर्य को (अनुष्ठातारौ) कर्मकर भृत्य कल्पित किया ॥२७॥ (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है (एनं) उसकी (शैशिरौ मासौ) शिशिर काल के दोनों मास (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं तथा (द्यौः च आदित्यः च) आकाश और सूर्य (अनु तिष्ठतः) उसका भृत्य के समान काम करते हैं ॥ १८ ॥

(५) व्रात्य प्रजापति का राज्यतन्त्र

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—रुद्रगणसूक्तम् । मन्त्रोक्तो रुद्रः ॥ छन्दः—१ प्र० त्रिपदा समविषम गायत्री, १ द्वि० त्रिपदा भुरिग् आर्ची त्रिष्टुप्, १–७ तृ० द्विपदा

प्राजापत्यानुष्टुप्, २ प्र० त्रिपदा स्वराट् प्राजापत्या पंक्तिः, २–४ द्वि०, ६ त्रिपदा ब्राह्मी गायत्री, ३, ४, ६, प्र० त्रिपदाः ककुभः, ५, ७ प्र० भुरिजौ-विषमेगायत्र्यौ, ५ द्वि० निचृद् ब्राह्मी गायत्री, ७ द्वि० विराट्। षोडशर्चं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥ भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥२॥ नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(तस्मै) उस व्रात्य के लिये (प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) प्राची दिशा के भीतरी देश से (इष्वासम्) धनुर्धारी (भवम्) भव को (अनुष्ठातारम्) उसका कर्मचारी (अकुर्वन्) बनाया ॥ १ ॥ (यः एवम्) जो इसके इस रहस्य को (वेद) जानता है (एनम्) उसको (इष्वासः) धनुर्धर (भवः) भव (प्राच्याः दिशः अन्तः देशात्) प्राची दिशा के भीतरी देश से (अनुष्ठाता) उसका कर्मकर होकर (अनुतिष्ठति) उसकी आज्ञानुसार कार्य करता है। (न शर्वः) न शर्व, (न भवः) न भव, और (न ईशानः) न ईशान ही (एनं) उसका विनाश करता है और भव, शर्व और ईशान (न अस्य पशून्) न इसके पशुओं को (न समानान्) और न इसके बन्धुओं को ही (हिनस्ति) विनाश करता है।

तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥४॥ शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं० । नास्य० ॥५॥

भा०—(दक्षिणायाः दिश अन्तः देशात्) दक्षिण दिशा के भीतरी भाग से विद्वान्‌गण (तस्मै) उस व्रात्य के लिये (शर्वम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) शर्व धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित करते हैं। (यः एवं वेद शर्वः एनम् इष्वासः दक्षिणाया दिशः अन्तः देशात् अनुष्ठाता अनु

तिष्ठति न एनं० । नास्य पशून्० इत्यादि पूर्ववत्) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है शर्व धनुर्धर होकर दक्षिण दिशा के भीतरी देश से उसका भृत्य होकर उसके आज्ञानुसार कर्म करता है और भव शर्व और ईशान भी न उसको नाश करते हैं और न उसके मित्रों का नाश करते हैं।

तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥६॥ पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनु०। नास्य० ॥ ७ ॥

भा०—(प्रतीच्याः दिशः अन्तः देशात्) पश्चिम दिशा के भीतरी देश से (तस्मै) उस व्रात्य के लिये (इष्वासम् पशुपतिम्) बाण फेंकने वाले धनुर्धर पशुपति को (अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) भृत्य कल्पित करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है (पशुपतिः इष्वासः) पशुपति धनुर्धर (प्रतीच्याः दिशः अन्तर्देशात्) पश्चिम दिशा के भीतरी प्रदेश से (अनुष्ठाता अनु तिष्ठति) भृत्य हो उसकी सेवा करता है (नैनं०)····इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥८॥ उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनु०। नास्य० ॥ ९ ॥

भा०—(तस्मै उदीच्याः दिशः० इत्यादि) उत्तर दिशा से उग्रदेव को उसका धनुर्धर भृत्य कल्पित करते हैं। (य एवं वेद० इत्यादि) जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को साक्षात् करता है (उग्रः देवः इष्वासः एनं उदीच्या० इत्यादि) उग्रदेव धनुर्धर उसको उत्तर दिशा के भीतरी देश से सेवा करता है।··· इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥१०॥ रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनु०।नास्य०११

भा०—(ध्रुवायः दिशः अन्तर्देशात्) नीचे की दिशा के भीतरी देश से (तस्मै) उसके लिये (रुद्रम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् आकुर्वन्) रुद्र धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित किया। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य के स्वरूप को साक्षात् करता है (एनं रुद्रः इष्वासः) रुद्र धनुर्धर (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुवा दिशा के (अन्तः देशात् अनुष्ठाता अनुतिष्ठति। नास्य० इत्यादि) भीतरी प्रदेश से उसकी सेवा करता है। इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारम-कुर्वन् ॥१२॥ महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशा-दनु० । नास्य० ॥ १३ ॥

भा०—(ऊर्ध्वायाः दिशः अन्तः देशयात् तस्मै महादेवम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) ऊपर की दिशा के भीतरी देश से उसके लिये 'महादेव' धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित किया। (यः एवं वेद महा-देवः इष्वासः एनम्०) जो व्रात्य के ऐसे स्वरूप को साक्षात् जान लेता है ऊर्ध्व दिशा के भीतरी देश से महादेव धनुर्धर उसका कर्मकर होकर आज्ञा पालन करता है। (नास्य०)···इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥१४॥ ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ १५ ॥ नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

भा०—(सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः तस्मै ईशानम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) समस्त भीतरी देशों से उसके लिये ईशान धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित करते हैं। (ईशानः एनम् इष्वासः सर्वेभ्यः अन्तः देशेभ्यः) समस्त अन्तर्देशों से ईशान धनुर्धर (अनुष्ठाता अनु तिष्ठति) भृत्य होकर उसकी आज्ञा पालन करता है।···इत्यादि पूर्ववत्।

(६) व्रात्य प्रजापति का प्रस्थान

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१ प्र०, २ प्र० आसुरी पंक्तिः, ३–६, ९ प्र० आसुरी बृहती, ८ प्र० परोष्णिक्, १ द्वि०, ६ द्वि० आर्ची पंक्तिः, ७ प्र० आर्ची उष्णिक्, २ द्वि०, ४, द्वि० साम्नी त्रिष्टुप्, ३ द्वि० साम्नी पंक्तिः, ५ द्वि०, ८ द्वि० आर्षी त्रिष्टुप्, ७ द्वि० साम्नी अनुष्टुप्, ६ द्वि आर्ची अनुष्टुप्, १ तृ० आर्षी पंक्तिः, २ तृ०, ४ तृ० निचृद् बृहती, ३ तृ० प्राजापत्या त्रिष्टुप् ५ तृ०, ६ तृ० विराड् जगती, ७ तृ० आर्ची बृहती, ९ तृ० विराड् बृहती । षड्विंशत्यृचं षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥ तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यचलन् ॥ २ ॥ भूमेश्च वै सोऽग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(सः ध्रुवाम् दिशम् अनुव्यचलत्) वह भूमि की ओर की दिशा को चला । (तम्) उसके साथ २ (भूमिः च, अग्निः च, ओषधयः च, वनस्पतयः च, वानस्पत्याः च, वीरुधः च अनु वि अचलन्) भूमि, अग्नि, ओषधियां, बड़े वृक्ष और उनसे बनने वाले नाना पदार्थ इसके पीछे चले । (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है (सः भूमेः च, अग्नेः च, ओषधीनां च, वनस्पतीनां च, वानस्पत्यानां च, वीरुधां च, प्रियं धाम भवति) वह भूमि का, अग्नि का, ओषधियों का, वनस्पतियों का, वनस्पति के बने विकारों का प्रिय आश्रय हो जाता है ।

स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥ ४ ॥ तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥ ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

भा०—(सः ऊर्ध्वा दिशम् अनु वि अचलत्) वह ऊपर की दिशा को चला। (ऋतं च, सत्यं च, सूर्यः च, चन्द्रः च, नक्षत्राणि च तम् अनु वि अचलन्) ऋत, सत्य, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र उसके साथ उसके पीछे २ चले। (यः एवं वेद ऋतस्य च, सत्यस्य च, सूर्यस्य च, चन्द्रस्य च, नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति) जो व्रात्य का इस प्रकार का रहस्य साक्षात् करता है वह ऋत, सत्य, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का प्रिय आश्रय हो जाता है।

स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥७॥ तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥८॥ ऋचां च स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

भा०—(स उत्तमाम् दिशम् अनु वि-अचलत्) वह व्रात्य सबसे अधिक ऊंची दिशा की ओर चला। (तम्) उसके पीछे पीछे (ऋचः च, सामानि च, यजूंषि च, ब्रह्म च अनु वि-अचलन्) ऋग्वेद के मन्त्र, साम गायन, यजुर्मन्त्र और ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्र चले। (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है। (सः ऋचां चः, साम्नां च, यजुषां च, ब्रह्मणः च प्रियं धाम भवति) वह ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों का प्रिय आश्रय हो जाता है।

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥ १० ॥ तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सः) वह (बृहतीं दिशम् अनुव्यचलत्) 'बृहती' दिशा को चला। (११) (तम् इतिहासः च, पुराणं च, गाथाः च, नाराशंसीः च अनु वि-अचलन्) उसके पीछे २ इतिहास पुराण, गाथाएं और नाराशंसी भी चले। (१२) (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है (सः वै

इतिहासस्य च पुराणस्य च, गाथानां च नाराशंसीनां च, प्रियं धाम भवति) वह निश्चय ही इतिहास, पुराण अर्थात् सृष्टि विषयक पुरातन वृत्त, गाथा और नाराशंसियों का भी प्रिय आश्रय हो जाता है।

स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥१३॥ तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १४ ॥ आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १५ ॥

भा०—(सः परमाम् दिशम् अनु वि-अचलत्) वह परम दिशा में चला। (तम् आहवनीयः च, गार्हपत्यः च, दक्षिणाग्निः च, यज्ञः च, यजमानः च, पशवः च अनुव्यचलन्) उसके पीछे पीछे आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशु भी चले। (यः एवं वेद सः वै आहवनीयस्य० प्रियं धाम भवति) जो व्रात्य के इस प्रकार के तत्व को जान लेता है वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशुओं का भी प्रिय आश्रय हो जाता है।

सोऽनादिष्टां दिशमनुव्यचलत् ॥१६॥ तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्यचलन् ॥१७॥ ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥

भा०—वह व्रात्य (अनादिष्टां दिशम् अनुव्यचलत्) अनिर्दिष्ट दिशा को चला। (तम् ऋतवः च, आर्त्तवाः च, लोकाः च, लौक्याः च, मासाः च, अहोरात्रे च अनु वि-अचलन्) उसके पीछे ऋतु, ऋतुओं के अनुकूल वायु आदि लोक, लोक में विद्यमान नाना प्राणी, मास, अर्धमास, दिन रात ये सब चले। (यः एवं वेद सः वै ऋतूनां च० अहोरात्रयोः च प्रियं धाम भवति) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है वह ऋतु, ऋतुओं के होने वाले विशेष पदार्थों, लोकों में स्थित पदार्थों और प्राणियों, मासों, अर्धमासों, दिनों और रातों का प्रिय आश्रय हो जाता है।

सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥१९॥ तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्यचलन् ॥ २० ॥ दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२१॥

भा०—(सः) वह (अनावृत्तां दिशम् अनुव्यचलत्) 'अनावृत्ता' जिधर से लौटकर फिर न आया जाय उस दिशा को चला। (ततः) तब वह व्रात्य अपने को (न आवर्त्स्यन्) कभी न लौटने वाला ही (अमन्यत) मानने लगा। (तं) उसके पीछे (दितिः च अदितिः च) दिति और अदिति (इडा च इन्द्राणी च) इडा और इन्द्राणी भी (अनु व्यचलन्) चले। (य एवं वेद) जो व्रात्य के इस स्वरूप को साक्षात् करता है (सः) वह (दितेः च, अदितेः च, इडायाः च, इन्द्राण्याः च) दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी का (प्रियं धाम भवति) प्रिय आश्रय हो जाता है।

स दिशोऽनु व्यचलत् तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥ २२ ॥ विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २३ ॥

भा०—(सः दिशः अनु व्यचलत्) वह समस्त दिशाओं में चला। (तं विराड् अनुव्यचलत्) उसके पीछे विराट् चला (सर्वे च देवाः सर्वाः च देवताः) और सब देव और सब देवता भी उसके पीछे चले। (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जान लेता है (सः) वह (विराजः च सर्वेषां च देवानां, सर्वासां च देवतानां) विराट् का, सर्व देवों और सब देवताओं का (प्रियं धाम भवति) प्रिय आश्रय हो जाता है।

स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥२४॥ तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ २५ ॥ प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद २६

भा०—(सः) वह (सर्वान् अन्तर्देशान् अनु व्यचलत्) समस्त भीतरी देशों में चला। (तम् प्रजापतिः च, परमेष्ठी च, पिता च, पिताम[illegible] च

अनुव्यचलन्) उसके पीछे २ प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह भी चले। (यः एवं वेद) जो मनुष्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है (सः वै) वह निश्चय से (प्रजापतेः च, परमेष्ठिनः च, पितुः च, पितामहस्य च प्रियं धाम भवति) प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह का प्रिय आश्रय हो जाता है।

(७) व्रात्य की समुद्र विभूति

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम् , व्रात्यः ॥ छन्दः—१ त्रिपदानिचृद् गायत्री, २ एकपदा विराड् बृहती, ३ विराड् उष्णिक् , ४ एकपदा गायत्री, ५ पंक्तिः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

स म॑हि॒मा सद्रु॑र्भू॒त्वान्तं॑ पृथि॒व्या अ॑गच्छ॒त् स स॑मु॒द्रोऽभवत् ॥१॥

भा०—(सः) वह 'व्रात्य' (महिमा) महान् अनन्त परिमाण वाला (सद्रुः) द्रवशील (भूत्वा) होकर (पृथिव्याः अन्तम्) पृथिवी के सब ओर (अगच्छत्) व्याप्त हो गया। (सः समुद्रः अभवत्) वही समुद्र हो गया।

तं प्र॒जाप॑तिश्च परमे॒ष्ठी च॑ पि॒ता च॑ पिताम॒हश्चाप॑श्च श्र॒द्धा च॑ व॒र्षं भू॒त्वानु॒व्यवर्तयन्त ॥ २ ॥

भा०—(तम्) उसके पीछे २ (प्रजापतिः च) प्रजापति (परमेष्ठी च) और परमेष्ठी (पिता च) पिता (पितामहः च) और पितामह (आपः च श्रद्धा च) आपः और श्रद्धा (वर्षं भूत्वा) वर्षा रूप होकर (अनु वि अवर्तयन्त) रहने लगे।

ऐन॒मापो॑ गच्छ॒त्यैनं॑ श्र॒द्धा ग॑च्छ॒त्यैनं॑ व॒र्षं ग॑च्छति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥३॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इसको साक्षात् जानता है (एनम्) उसको (आपः आगच्छन्ति) समस्त जल प्राप्त होते हैं। (एनं श्रद्धा आगच्छति) उसको श्रद्धा प्राप्त होती है। (एनं वर्षं आगच्छति) उसको वर्षा प्राप्त होती है।

तं श्र॒द्धा च॑ य॒ज्ञश्च॑ लो॒कश्चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॑ च भू॒त्वाभि॑प॒र्याव॑र्तन्त ।४।

भा०—(तम्) उसके चारों ओर (श्रद्धा च, यज्ञः च, लोकः च, अन्नं च, अन्नाद्यं च भूत्वा अभिपर्यावर्त्तन्त) श्रद्धा, यज्ञ, और लोक, अन्न और अन्नाद्य रूप में होकर रहे।

ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥ ५ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस स्वरूप को जानता है (एनं) उसको (श्रद्धा आगच्छति) श्रद्धा प्राप्त होती है। (एनं यज्ञः आगच्छति) उसको यज्ञ प्राप्त होता है। (एनं लोकः आगच्छति) उसको लोक प्राप्त होता है, (एनं अन्नम् आगच्छति) उसको अन्न प्राप्त होते हैं और (एनम् अन्नाद्यम् आगच्छति) उसको अन्न खाने की शक्ति भी प्राप्त होती है। इति प्रथमोऽनुवाकः।

[तत्र सप्त पर्यायाः, द्वादशाधिकशतमवसानर्चः]

(८) व्रात्य राजा

ऋषिः–अथर्वा ॥ देवता–अध्यात्मम् । व्रात्यः ॥ छन्दः—१ साम्नी उष्णिक्, २ प्राजापत्यानुष्टुप्, ३ आर्ची पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (अरज्यत) सबका प्रेमपात्र हो रहा। (ततः) उसके बाद, उसी कारण से वह (राजन्यः अजायत) राजन्य अर्थात् राजा हुआ।

स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (सबन्धून् विशः) अपने बन्धुओं सहित समस्त प्रजाओं के तथा (अन्नम् अन्नाद्यम्) अन्न और अन्न के समान समस्त भोग्य पदार्थों या भोग सामर्थ्यों के (अभि उत् अतिष्ठत्) प्रति उठा। सबका अधिष्ठाता स्वामी हो गया।

विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है (सः) वह (विशां सबन्धूनां) बन्धुओं सहित समस्त प्रजाओं का, (अन्नस्य च अन्नाद्यस्य च) अन्न और अन्न से उत्पन्न अन्य खाद्य पदार्थ का भी (प्रियं धाम) प्रिय आश्रय हो जाता है।

(९) व्रात्य सभापति, समितिपति सेनापति और गृहपति।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम् । व्रात्यः ॥ छन्दः—१ आसुरी, २ आर्ची गायत्री, ३ आर्ची पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (विशः अनु व्यचलत्) प्रजाओं की ओर आया।

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥

भा०—(तम्) उसके पीछे २ (सभा च, समितिः च, सेना च, सुरा च अनुव्यचलन्) सभा, समिति, सेना और सुरा अर्थात् स्त्री भी चले।

सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है (सः) वह (सभायाः च वै सः समितेः च, सुरायाः च प्रियं धाम भवति) सभा, समिति, सेना और सुरा अर्थात् स्त्री का प्रिय आश्रय हो जाता है।

(१०) व्रात्य का आदर, ब्राह्मबल और क्षात्रबल का आश्रय

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम् । व्रात्यः ॥ छन्दः—१ द्विपदा साम्नी बृहती, २ त्रिपदा आर्ची पंक्तिः, ३ द्विपदा प्राजापत्या पंक्तिः, ४ त्रिपदा वर्धमाना गायत्री, ५ त्रिपदा साम्नी बृहती, ६, ८, १० द्विपदा आसुरी गायत्री, ७, ९ साम्नी उष्णिक्, ११ आसुरी बृहती । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥

भा०—(तत्) तो (यस्य राज्ञः) जिस राजा के (गृहान्) घरों पर (एवं विद्वान्) इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को साक्षात् करने वाला (व्रात्यः) व्रात्य (अतिथिः) अतिथि होकर (आगच्छेत्) आवे हु (एनम्) इस विद्वान् आचार्य को (आत्मनः) अपने से (श्रेयांसम्) श्रेष्ठ, अति अधिक कल्याणकारी मानकर (मानयेत्) उसका आदर करे। (तथा) वैसा करने से वह (क्षत्राय) क्षात्रबल या राज्य का (न आ वृश्चते) अपराध नहीं करता। (तथा) उसी प्रकार वह (राष्ट्राय न आ वृश्चते) अपने राष्ट्र का भी अपराध नहीं करता।

अतो॒ वै ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं चोद॑तिष्ठतां॒ ते अ॑ब्रूतां॒ कं प्र वि॑शा॒वेति॑ ॥३॥
अतो॒ वै बृह॒स्पति॑मे॒व ब्रह्म॒ प्र वि॑श॒त्विन्द्रं॑ क्ष॒त्रं तथा॒ वा इति॑ ॥४॥
अतो॒ वै बृह॒स्पति॑मे॒व ब्रह्म॒ प्रावि॑श॒दिन्द्रं॑ क्ष॒त्रम् ॥ ५ ॥

भा०—(अतः) उस विद्वान् प्रजापति रूप आचार्य से ही (ब्रह्म च) वेद और वेदज्ञ ब्राह्मण और (क्षत्रं च) क्षात्रबल और वीर्यवान् क्षत्रिय, (उत् अतिष्ठताम्) उत्पन्न होते हैं। (ते अब्रूताम्) वे दोनों कहते हैं (कम् प्र विशाव) हम दोनों ब्रह्मबल और क्षात्रबल कहां प्रविष्ट होकर रहें ? (अतः) इस व्रात्य से उत्पन्न (ब्रह्म) ब्रह्मबल, ब्रह्मज्ञान, वेद और ब्राह्मण लोग (बृहस्पतिम् एव प्र विशतु) बृहस्पति परमेश्वर या महान् वेदज्ञ का आश्रय लें और (क्षत्रम्) क्षात्रबल, वीर्य (इन्द्रं प्र विशतु) ऐश्वर्यवान् राजा का आश्रय लें। (तथा वा इति) ब्रह्म और क्षत्र दोनों को 'तथाऽस्तु' कहकर स्वीकार करता है। (अतः वै) निश्चय से उस व्रात्य आचार्य से उत्पन्न (ब्रह्म) ब्रह्मबल (बृहस्पतिम् एव) बृहस्पति आचार्य में (प्र अविशत्) प्रविष्ट है और (क्षत्रम् इन्द्रं प्र अविशत्) क्षात्रबल राजा के अधीन होता है।

इ॒यं वा उ॑ पृथि॒वी बृह॒स्पति॒र्द्यौरे॒वेन्द्रः॑ ॥ ६ ॥
अ॒यं वा उ॑ अ॒ग्निर्ब्रह्मा॒साव॑दि॒त्यः क्ष॒त्रम् ॥ ७ ॥

भा०—(इयम् वा उ पृथिवी बृहस्पतिः) यह पृथिवी ही बृहस्पति है और (द्यौः एव इन्द्रः) यह द्यौ इन्द्र है। अर्थात् बृहस्पति पृथिवी के समान सर्वाश्रय है। (अयं वा उ अग्निः ब्रह्म) यह अग्नि ही 'ब्रह्म' और (असौ आदित्यः क्षत्रम्) यह आदित्य 'क्षत्र' है। अर्थात् ब्रह्म अग्नि के समान प्रकाशमान है और क्षत्रबल सूर्य के समान तेजस्वी है।

ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥

यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥

भा०—(यः) जो (पृथिवीम् बृहस्पतिम्) पृथिवी को बृहस्पति और (अग्निम् ब्रह्म) अग्नि को ब्रह्म (वेद) जान लेता है (एनं) उसको (ब्रह्म आगच्छति) ब्रह्मबल प्राप्त होता है, (ब्रह्मवर्चसी भवति) वह ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है।

ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥

य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

भा०—(यः) जो (आदित्यम् क्षत्रम्) आदित्य को क्षत्र और (दिवम् इन्द्रम् वेद) द्यौ को इन्द्र जानता है, अर्थात् जो आदित्य के समान क्षात्रबल को और द्यौलोक के समान राजा को जानता है (एनम्) उसको (इन्द्रियम्) इन्द्र का ऐश्वर्य (आगच्छति) प्राप्त होता है और वह (इन्द्रियवान् भवति) इन्द्र के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है।

(११) व्रात्यपति आचार्य का आतिथ्य और अतिथियज्ञ

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्। व्रात्यः ॥ छन्दः—१ दैवी पंक्तिः, द्विपदा पूर्वा त्रिष्टुप् अतिशक्करी, ३–६,८,१०, त्रिपदा आर्ची बृहती (१० भुरिक्) ७, ९, द्विपदा प्राजापत्या बृहती, ११ द्विपदा आर्ची, अनुष्टुप्। एकादशर्चं सूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

भा०—(तद्) जो (यस्य) जिस गृहस्थ पुरुष के (गृहान्) घर पर (एवं विद्वान्) इस प्रकार के प्रजापति-स्वरूप को जानने हारा (व्रात्यः)

व्रातपति शिष्यगणों का आचार्य (अतिथिः) अतिथि होकर (आगच्छेत्) आवे तब—

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥

भा०—गृहपति (स्वयम्) अपने आप (एनम्) इनके समीप (अभि उत् एत्य) उसके सन्मुख उठकर आकर (ब्रूयात्) आदर सत्कार पूर्वक कहे कि हे (व्रात्य) 'व्रात्य' ! (क्व अवात्सीः) आप कहां रहते हैं ? हे (व्रात्य) व्रात्य ! (उदकम्) यह आपके लिये जल है । हे (व्रात्य) व्रात्य ! (तर्पयन्तु) ये मेरे गृह के जन आपको भोजन से तृप्त करें । (व्रात्य) हे व्रात्य ! (यथा) जिस प्रकार भी (ते) आपको (प्रियम्) प्रिय हो (तथा अस्तु) वैसा ही हो । हे (व्रात्य) व्रात्य ! (यथा ते वशः) जैसी आपकी इच्छा हो (तथा अस्तु) वैसा ही हो । हे (व्रात्य) व्रात्य ! (यथा ते निकामः) जिस प्रकार आपकी अभिलाषा हो (तथा अस्तु इति) वैसा ही हो ।

यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे ३

भा०—(यद्) जो (एनम्) अतिथि के प्रति (आह) गृहपति कहता है कि (व्रात्य क्व अवात्सीः इति) हे व्रात्य ! आप कहां रहते हैं ? (तेन) इस प्रकार के प्रश्न से (देवयानान् पथः एव अवरुन्धे) देवयान मार्गों को अपने वश करता है ।

यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥

भा०—(यद्) जब (एनम् आह) अतिथि को गृहपति कहता है कि (व्रात्य उदकम् इति) हे व्रातपते ! यह जल है, (अपः एव तेन अवरुन्धे) इससे वह समस्त आप्तजनों, प्राप्तव्य ज्ञानों और कर्मों, बुद्धियों, प्रजाओं को अपने अधीन करता है ।

यदे॑नमाह॒ व्रात्य॑ त॒र्पय॒न्त्विति॑ प्रा॒णमे॒व तेन॒ वर्षी॑यांसं कुरुते ॥५॥

भा०—(यद् एनम् आह) जब इस अतिथि को कहा जाता है (तर्प-यन्तु इति) कि मेरे गृहजन आपको भोजन से तृप्त करें, (इति) इस प्रकार (तेन) भोजन से तृप्त करने के कार्य से वह (प्राणम् एव) अपने जीवन को (वर्षीयांसं कुरुते) चिर वर्षों तक रहने वाला कर लेता है।

यदे॑नमाह॒ व्रात्य॒ यथा॑ ते प्रि॒यं तथा॒स्त्विति॑ प्रि॒यमे॒व तेना॑व रुन्द्धे ६

भा०—(यद् एनम् आह) जब इस अतिथि को कहा जाता है कि (यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति) जैसा आपको प्रिय हो वैसा ही हो, (तेन प्रियम् एव अवरुन्धे) इससे वह गृहपति अपने प्रिय लगने वाले पदार्थों पर वश करता है।

ऐनं॑ प्रि॒यं ग॑च्छति प्रि॒यः प्रि॒यस्य॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ७ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार के तत्व को जानता है, (एनं प्रियं आ गच्छति) उसको समस्त प्रिय पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। (प्रियः प्रियस्य भवति) अपने प्रिय लगने वाले जन को स्वयं भी वह प्रिय हो जाता है।

यदे॑नमाह॒ व्रात्य॒ यथा॑ ते॒ वश॒स्तथा॒स्त्विति॒ वश॑मे॒व तेना॑व रुन्द्धे ॥८॥

भा०—(यद् एनम् आह) जो अतिथि को कहता है कि (व्रात्य यथा ते वशः) हे व्रात्य! जैसी आपकी कामना है (तथा अस्तु इति) वैसा ही हो। (तेन वशम् एव अवरुन्धे) इससे कामना योग्य सब पदार्थों को वह अपने वश करता है।

ऐन॒ं वशो॑ गच्छति व॒शी व॒शिनां॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ९ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस तत्व को इस प्रकार साक्षात् कर लेता है (वशः) समस्त अभिलाषा योग्य पदार्थ (एनं आ गच्छति) उसको प्राप्त होते हैं और वह (वशिनां वशी भवति) वशी लोगों से भी सबसे बढ़ कर वशी, सब काम्य पदार्थों का स्वामी हो जाता है।

यदे॒नमाह॒ व्रात्य॒ यथा॑ ते नि॒कामस्त॒थास्त्विति॑ नि॒काम॑मे॒व तेना॑व रुन्द्धे ॥१०॥ ऐनं॑ नि॒कामो॒ गच्छति नि॒कामे॑ नि॒काम॑स्य भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ११ ॥

भा०—(यद् एनम् आह) जो अतिथि को कहा जाता है कि हे (व्रात्य यथा ते निकामः) व्रात्य ! जो आपकी कामना है (तथा अस्तु) वैसा ही हो, (इति तेन निकामम् एव अवरुन्धे) उससे वह अपने ही कामना योग्य सब पदार्थों को प्राप्त करता है। (यः एवं वेद) जो इस तत्त्व को जानता है (एनं निकामः आ गच्छति) उसको उसका कामना-योग्य पदार्थ प्राप्त होता है और (निकामस्य निकामे भवति) जिसको वह चाहता है वह भी उसकी इच्छा के अधीन हो जाता है।

(१२) अतिथि यज्ञ

ऋषिः–अथर्वा ॥ देवता–अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१ त्रिपदा गायत्री, २ प्राजापत्या बृहती, ३,४ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप्, [४ साम्नी], ५,६,९,१० आसुरी गायत्री, ८ विराड् गायत्री ७, ११ त्रिपदे प्राजापत्ये त्रिष्टुभौ। एकादशर्चं द्वादशं पर्यायसूक्तम् ॥

तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्य॒ उद्धृ॑तेष्व॒ग्निष्वधि॑श्रितेऽग्निहो॒त्रेऽति॑थि-र्गृ॒हाना॒गच्छे॑त् ॥१॥ स्व॒यमे॑नमभ्यु॒देत्य॑ ब्रूया॒द् व्रात्याति॑ सृ॒ज होष्यामीति॑ ॥ २ ॥

भा०—(तत्) तो (यस्य गृहान्) जिसके घर (एवं विद्वान् व्रात्यः) इस प्रकार ज्ञानवान् 'व्रात्य', आचार्य, (उद्धृतेषु अग्निषु) अग्नियों के उद्धृत होने पर, अर्थात् गार्हपत्याग्नि से उठाकर आहवनीय में आधान किये जाने पर और (अग्निहोत्रे अधिश्रिते) अग्निहोत्र के प्रारम्भ हो जाने पर (आगच्छेत्) आवे तब गृहपति (स्वयम् एनम् अभि उद्एत्य) स्वयम् उसके लिये आदर पूर्वक उठकर उसके समीप आकर (ब्रूयात्) कहे (व्रात्य अतिसृज) हे व्रात्य ! आज्ञा दो (होष्यामि इति) मैं अग्निहोत्र करूंगा।

स चा॑तिसृ॒जेज्जु॑हु॒यान्न चा॑तिसृ॒जेन्न जु॑हुयात् ॥ ३ ॥

भा०—(सः च अतिसृजेत्) और यदि वह आज्ञा दे तो (जुहुयात्) हवन करे। (न च अतिसृजेत् न जुहुयात्) न आज्ञा करे तो होम न करे।

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥
प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (एवं) इस प्रकार से (विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः) विद्वान् व्रात्य से आज्ञा पाकर (जुहोति) अग्निहोत्र करता है (सः) वह (पितृयाणं पन्थाम्) पितृयाण मार्ग को (प्र जानाति) भली प्रकार जान लेता है और (देवयानं प्र) देवयान मार्ग के तत्व को भी जान लेता है।

न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥६॥ पर्यस्यास्मिंल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (एवं) इस प्रकार (विदुषा व्रात्येन अति सृष्टः जुहोति) विद्वान् व्रात्य से आज्ञा प्राप्त करके अग्निहोत्र करता है वह (न देवेषु आ वृश्चते) विद्वानों के प्रति कोई अपराध नहीं करता, (हुतं अस्य भवति) अग्निहोत्र के फल को प्राप्त करता है और (अस्मिन् लोके) इस लोक में (अस्य) इसका (आयतनम्) आश्रय या प्रतिष्ठा (परिशिष्यते) उसके बाद भी बनी रहती है।

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥८॥ न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥ ९ ॥ आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥१०॥ नास्यास्मिंल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ११ ॥

भा०—(अथ) और (यः) जो (एवं विदुषा व्रात्येन) इस प्रकार के व्रात्य से (अनतिसृष्टः) विना आज्ञा प्राप्त किये ही (जुहोति) अग्निहोत्र करता है, वह (न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम्) न पितृयाण मार्ग के तत्व को जानता है और न देवयान मार्ग को ही जानता है। वह (देवेषु आ वृश्चते) विद्वानों के प्रति भी अपराध करता है। (अस्य अहुतम् भवति) उसके विना आज्ञा के हवन किया हुआ भी न हवन के समान

है। वह निष्फल हो जाता है (यः) जो (एवं विदुषा व्रात्येन) इस प्रकार के विद्वान् से (अनतिसृष्टः) विना आज्ञा प्राप्त किये (जुहोति) आहुति करता है (अस्य अस्मिन् लोके आयतनं न शिष्यते) उसकी इस लोक में प्रतिष्ठा भी शेष नहीं रहती।

(१३) अतिथि यज्ञ का फल

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१ प्र० साम्नी उष्णिक्, १ द्वि० ३ द्वि प्राजापत्यानुष्टुप्, २–४ प्र० आसुरी गायत्री, २ द्वि० साम्नी बृहती, ५ प्र० त्रिपदा निचृद् गायत्री, ५ द्वि० द्विपदा विराड् गायत्री, ६ प्राजापत्या पंक्तिः, ७ आसुरी जगती, ७ सतः पंक्ति, ९ अक्षरपंक्तिः। चतुर्दशर्चं त्रयोदशं पर्यायसूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥१॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥

भा०—(तद्) तो (यस्य गृहे) जिसके घर में (एवं विद्वान् व्रात्यः) इस प्रकार का विद्वान् व्रात्य (एकाम् रात्रिम्) एक रात्रि भर (अतिथिः) अतिथि होकर (वसति) रह जाता है (तेन) उससे वह गृहपति (ये पृथिव्यां पुण्याः लोकाः) जो पृथिवी पर पुण्य लोक हैं (तान् अव रुन्धे) उनको प्राप्त करता है, अपने वश करता है।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥३॥
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥

भा०—(तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिम् वसति) तो जिसके घर पर इस प्रकार का विद्वान् व्रात्य अतिथि होकर दूसरी रात्रि भर भी रह जाता है (ये अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः तान् तेन अव रुन्धे) तो वह गृहपति अन्तरिक्ष में जो पुण्य लोक हैं उनको अपने वश करता है।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥५॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥

भा०—(तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः तृतीयां रात्रिम् अतिथिः वसति ये दिवि पुण्याः लोकाः तान् तेन अवरुन्धे) तो जिस घर में ऐसा विद्वान् व्रात्य तीसरी रात रह जाता है तो जो द्यौ लोक में पुण्य लोक हैं वह गृहपति उन पर भी वश करता है।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥

भा०—(तद् यस्य० चतुर्थीं रात्रिम्० वसति ये पुण्यानां पुण्या लोकाः०) जिसके घर पर इस प्रकार का विद्वान् व्रात्य चौथी रात अतिथि होकर रहता है वह जो पुण्य लोकों में से भी उत्तम पुण्य लोक हैं उनको अपने वश करता है।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥९॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥१०॥

भा०—(तत् यस्य० अपरिमिताः रात्रीः अतिथिः गृहे वसति ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः०) जिसके घर पर इस प्रकार विद्वान् व्रात्य अनेक रात्रियें निवास करता है तो वह गृहपति जो असंख्य पुण्य लोक हैं उनको भी अपने वश कर लेता है।

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥११॥
कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ १२ ॥

भा०—(अथ) और (यस्य) जिसके (गृहान्) घर पर (अव्रात्यः) व्रात्य न होता हुआ भी (व्रात्यब्रुवः) अपने को व्रात्य बतलाता हुआ (नामबिभ्रती) केवल नाम भर धारण करने वाला (अतिथिः) अतिथि (आगच्छेत्) आ जाय तो फिर (कर्षेत् एनम्) क्या उसका अनादर करे ? (न च एनं कर्षेत्) नाहीं उसका भी अनादर करे। परन्तु—

अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥ १३ ॥ तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

भा०—(अस्यै देवतायै) इस देवता के निमित्त (उदकं याचामि) जल स्वीकार करने की प्रार्थना करता हूँ, (इमां देवतां वासये) इस देवता को मैं अपने घर में निवास देता हूँ। (इमाम् इमाम् देवतां परिवेवेष्मि) इस २ देवता को मैं भोजन आदि परोसता हूँ (इति) इस प्रकार भावना से ही (एनं) उसकी भी (परिवेविष्यात्) सेवा शुश्रूषा करे और भोजनादि दे। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार का तत्त्व जानता है (तस्याम् एव देवतायाम्) उस ही देवता के निमित्त हुवा (अस्य) इस गृहस्थ का (तत् हुतम्) वह आहुति या यज्ञ (भवति) हो जाता है।

(१४) व्रात्य अन्नाद के नानारूप और नाना ऐश्वर्य भोग

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१ प्र० त्रिपदाऽनुष्टुप्, १–१२ द्वि० द्विपदा आसुरी गायत्री, [६–९ द्वि० भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप्] २ प्र०, ५ प्र० पुरोष्णिक्, ३ प्र० अनुष्टुप्, ४ प्र० प्रस्तारपंक्तिः, ६ प्र० स्वराड् गायत्री, ७ प्र०, ८ प्र० आर्ची पंक्तिः, १० प्र० भुरिङ् नाम्नी गायत्री, ११ प्र० प्राजापत्या त्रिष्टुप्। चतुर्विंशत्यृचं चतुर्दशं पर्यायसूक्तम् ॥

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्यचलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥ मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (यत्) जब (प्राचीं दिशम्) प्राची दिशा की ओर (अनु वि-अचलत्) चला, तो वह (मनः) मन को (अन्नादं) अन्न का भोक्ता (कृत्वा) बनाकर, (मारुतम् शर्धः भूत्वा) मरुत् सम्बन्धी बल स्वरूप होकर, (अनु वि अचलत्) पीछे चला। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार का तत्त्व साक्षात् कर लेता है वह (मनसा) मनोरूप (अन्नादेन) अन्न के भोक्तृसामर्थ्य से (अन्नम्) पृथिवी के अन्नादि पदार्थ को (अत्ति) भोग करता है।

स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्यचलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥ बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (यद्) जब (दक्षिणाम् दिशम्) दक्षिणा (दक्ष = बलकी) दिशा की ओर (अनुव्यचलन्) चला तो (बलम् अन्नादं कृत्वा) बल को भोक्ता बनाकर (इन्द्रः भूत्वा अनुव्यचलत्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान्, सम्राट् होकर पीछे चला। (यः एवं वेद बलेन अन्नादेन अन्नम् अत्ति) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है वह बलरूप अन्न का भोक्ता होकर भोग करता है।

स यत् प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्यचलद्-पोऽन्नादीःकृत्वा ॥५॥ अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥६॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (यत्) जब (प्रतीचीम् दिशम्) पश्चिम दिशा की ओर (अनुव्यचलत्) चला। वह स्वयं (वरुणो राजा भूत्वा) सबके वरण करने योग्य राजा होकर (अपः) समस्त आप्त प्रजाओं को (अन्नादीः) राष्ट्र के भोग्य पदार्थों का भोक्ता (कृत्वा) बनाकर (अनुव्यचलत्) पीछे चला। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है वह (अद्भिः अन्नादीभिः अन्नम् अत्ति) स्वयं भी अन्न आदि की भोग करने वाली आप्त प्रजाओं द्वारा स्वयं अन्न का भोग करता है।

स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्यचलत् सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥७॥ आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

भा०—(सः) वह (यद्) जब (उदीचीम् दिशम् अनुव्यचलत्) उदीची दिशा को चला तो वह (सोमः राजा भूत्वा) सोम राजा होकर (आहुतिम् अन्नादीम् कृत्वा सप्तर्षिभिः हुतः) आहुति को पृथिवी के समस्त भोग्य पदार्थों का भोग करने वाली बनाकर स्वयं सप्तर्षियों द्वारा प्रदीप्त होकर (अनु व्यचलत्) पीछे चला। (आहुत्या अन्नाद्या) आहुति रूप अन्न की भोग करने वाली शक्ति से वह (अन्नम् अत्ति) अन्न का भोग करता है (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस स्वरूप का साक्षात् करता है।

स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्यचलद् विराजमन्नादीं कृत्वा ॥९॥ विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (यद्) जब (ध्रुवाम् दिशम् अनु वि अचलत्) ध्रुवा दिशा की ओर चला, (विष्णुः भूत्वा विराजम् अन्नादीम् कृत्वा) स्वयं विष्णु होकर विराट् पृथ्वी को ही अन्न का भोक्ता बनाकर (अनु वि अचलत्) पीछे चला। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य के स्वरूप को जानता है वह (विराजा अन्नाद्या अन्नम् अत्ति) 'विराज्' पृथिवीरूप अन्न की भोगने वाली शक्ति से अन्न का भोग करता है।

स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥११॥ ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य (यत्) जब (पशून्) पशुओं की ओर चला तब (रुद्रः भूत्वा ओषधीः अन्नादीः कृत्वा) वह स्वयं पीछे 'रुद्र' होकर और ओषधियों को अन्न भोगने वाली बनाकर (अनुव्यचलत्) पीछे चला। (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जान लेता है। वह (ओषधीभिः अन्नादीभिः अन्नम् अत्ति) ओषधिरूप अन्न की भोक्त्रीशक्तियों से अन्न का भोग करता है।

स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्यचलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥१३॥ स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥१४॥

भा०—(सः) वह (यत्) जब (पितॄन्) पालकों के प्रति (अनुव्यचलत्) चला तो वह स्वयं (यमः राजा भूत्वा) यम राजा होकर (स्वधाकारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत्) स्वधाकार को अन्न का भोक्ता बनाकर पीछे चला। (यः एवं वेद) जो व्रात्य प्रजापति के इस स्वरूप को जान लेता है वह (स्वधाकारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति) स्वधाकार रूप अन्नाद से अन्न का भोग करता है।

स यन्मनुष्या3 नु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्यचलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥१५॥ स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६॥

भा०—(सः यत् मनुष्यान् अनु व्यचलत्) वह व्रात्य प्रजापति जब मनुष्यों के प्रति चला तो (अग्निः भूत्वा स्वाहाकारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत्) वह स्वयं अग्नि होकर स्वाहाकार को अन्नाद बना कर पीछे चला। (स्वाहाकारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति यः एवं वेद) स्वधाकार रूप अन्नाद से ही वह अन्न भोग करता है जो व्रात्य के इस स्वरूप को जानता है।

स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्यचलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥१७॥ वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥१८॥

भा०—(सः यद् ऊर्ध्वां दिशम् अनुव्यचलत्) वह जब ऊर्ध्वदिशा को चला तब वह स्वयं (बृहस्पतिः भूत्वा वषट्कारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत्) बृहस्पति होकर वषट्कार को अन्नाद बनाकर पीछे चला। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है (वषट्कारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति) वषट्कार रूप अन्नाद से स्वयं अन्न को भोग करता है।

स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा १९ मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥

भा०—(सः यद् देवान् अनुव्यचलत्) वह जब देवों की ओर चला, तब वह (ईशानः भूत्वा मन्युम् अन्नादं कृत्वा) स्वयं 'ईशान' होकर और मन्यु को 'अन्नाद' बनाकर (अनु व्यचलत्) पीछे चला। (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस स्वरूप को जानता है वह (मन्युना अन्नादेन) मन्यु रूप अन्नाद से (अन्नम् अत्ति) अन्न का भोग करता है।

स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा ॥ २१ ॥ प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥

भा०—(सः यत् प्रजाः अनुव्यचलत् प्रजापतिः भूत्वा प्राणम् अन्नादं कृत्वा अनु वि अचलत्) वह जब प्रजाओं की ओर चला तब वह स्वयं

प्रजापति होकर प्राण को अन्नाद बनाकर चला । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है (प्राणेन अन्नादेन) प्राणरूप अन्नाद से (अन्नम् अत्ति) अन्न का भोग करता है ।

स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥२३॥ ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥२४॥

भा०—(सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु वि अचलत्) वह जो सब उपदिशाओं के बीच के समस्त देशों में चला तो (परमेष्ठी भूत्वा ब्रह्म अन्नादं कृत्वा अनु व्यचलत्) स्वयं परमेष्ठी होकर ब्रह्म को अन्नाद बनाकर पीछे चला । (ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नम् अत्ति य एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को जानता है वह ब्रह्म' रूप अन्नाद से अन्न का भोग करता है ।

(१५) व्रात्य के सात प्राणों का निरूपण

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता -अध्यात्मम् । व्रात्यः ॥ छन्दः—१ दैवी पंक्तिः २ आसुरी बृहती, ३, ४, ७, ८ प्राजापत्यानुष्टुप् [४, ७, ८ भुरिक्], ५, ६ द्विपद, साम्नी बृहती, ९ विराड् गायत्री । नवर्चं पञ्चदशं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य ॥१॥ सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥३

भा०—(तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य के (सप्त प्राणाः) सात प्राण, (सप्त अपानाः) सात अपान और (सप्त व्यानाः) सात व्यान हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः

भा०—(अस्य यः प्रथमः प्राणः) इस जीव का प्रथम मुख्य 'प्राण' (ऊर्ध्वः नाम) 'ऊर्ध्व' नामक है, (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का (अयं सः अग्निः) प्रथम प्राण यह 'अग्नि' है ।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः४

भा०—(यः अस्य द्वितीयः प्राणः) इस जीव का द्वितीय प्राण (प्रौढः नाम) 'प्रौढ' नाम का है (तस्य व्रात्यस्य असौ सः आदित्यः) उसी व्रात्य का प्रौढ प्राण वह आदित्य है ।

तस्य व्रात्यस्य योऽस्य तृतीयः प्राणो३ऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ५

भा०—(यः अस्य तृतीयः प्राणः अभ्यूढः नाम) इस जीव का जो तीसरा प्राण 'अभ्यूढ़' नाम का है (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का (असौ सः चन्द्रमाः) वह 'अभ्यूढ़' नामक प्राण यह चन्द्रमा है।

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ६

भा०—(यः अस्य चतुर्थः प्राणः विभूः नाम अयं सः पवमानः) इस जीव का चौथा प्राण 'विभू' नाम का है वह (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का (स पवमानः) यह 'पवमान' अर्थात् सोम है।

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ७

भा०—(यः) अस्य इस जीव का (पञ्चमः प्राणः) पांचवां प्राण (योनिः नाम) 'योनि' नामक है (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का (ताः इमाः आपः) वह योनि नामक प्राण ही ये जल हैं।

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः। ८

भा०—(यः अस्य षष्टः प्राणः) जो इस जीव का छठा प्राण (प्रियः नाम) 'प्रिय' नामक है (तस्य व्रात्यस्य ते इमे पशवः) उसी प्रकार उस व्रात्य के 'प्रिय' नाम प्राण पशु हैं।

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ ९ ॥

भा०—(यः अस्य सप्तमः प्राणः अपरिमितः नाम) जो इस जीव का सातवां प्राण 'अपरिमित' नामक है, (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का सातवां अपरिमित नामक प्राण (ताः इमाः प्रजाः) ये प्रजाएं हैं।

(१६) व्रात्य के सात अपानों का निरूपण।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१–३ साम्न्युष्णिहौ, २,४,५ प्राजापत्योष्णिहः, ६ याजुषी त्रिष्टुप्, ७ आसुरी गायत्री। सप्तर्चं षोडशं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥ १ ॥

भा०—(यः अस्य प्रथमः अपानः) जिस प्रकार इस जीव का प्रथम अपान है वैसा ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का प्रथम अपान (सा पौर्णमासी) वह पौर्णमासी है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। योऽस्य द्वितीयो॑ऽपा॒न॒ः साष्ट॑का ॥ २ ॥

भा०—(यः अस्य द्वितीयः अपानः) जो इस जीव का द्वितीय अपान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का द्वितीय अपान (सा अष्टका) यह अष्टका है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। योऽस्य तृतीयो॑ऽपानः सामा॑व॒ास्या ॥ ३ ॥

भा०—(यः अस्य तृतीयः अपानः) जो इस जीव का तीसरा अपान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का तीसरा अपान (सा अमावास्या) वह अमावास्या है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य॒। योऽस्य चतु॒र्थो॑ऽपा॒नः सा श्र॒द्धा ॥ ४ ॥

भा०—(यः अस्य चतुर्थः अपानः) जो इस जीव का चतुर्थ अपान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का चतुर्थ अपान (सा श्रद्धा) वह श्रद्धा है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य योऽस्य पञ्च॒मोऽपा॒नः सा दी॒क्षा ॥ ५ ॥

भा०—(यः अस्य पञ्चमः अपानः) जो इस जीव का पांचवां अपान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का पांचवा अपान (सा दीक्षा) वह दीक्षा है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य ष॒ष्ठोऽपा॒नः स य॒ज्ञः ॥ ६ ॥

भा०—(यः अस्य षष्ठः अपानः) जो इस जीव का छठा अपान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का षष्ठ अपान (सः यज्ञः) वह यज्ञ है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। योऽस्य सप्त॒मोऽपा॒नस्ता इ॒मा दक्षि॑णाः ॥ ७ ॥

भा०—(यः अस्य सप्तमः अपानः) जो इस जीव का सातवां अपान है (तस्य व्रात्यस्य ता इमाः दक्षिणाः) उसी प्रकार उस व्रात्य का सातवां अपान ये दक्षिणाएं हैं।

(१७) व्रात्य प्रजापति के सात व्यान

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मं, व्रात्यः ॥ छन्दः—१, ५ प्रजापत्योष्णिहौ, २, आसुर्यनुष्टुभौ, ३ याजुषी पंक्तिः, ४ साम्न्युष्णिक् , ६ याजुषी त्रिष्टुप् , ८ त्रिपदा प्रतिष्ठार्ची पंक्तिः, ९ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप् , १० साम्न्यनुष्टुप् । दशर्चं सप्तदशं सूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः ॥ १ ॥

भा०—(यः अस्य प्रथमः व्यानः) जो इस जीव का प्रथम व्यान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का प्रथम व्यान (सा इयं भूमिः) यह भूमि है ।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥२॥

भा०—(यः अस्य द्वितीयः व्यानः) जो इस जीव का दूसरा व्यान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का दूसरा व्यान (तद् अन्तरिक्षम्) वह अन्तरिक्ष है ।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥ ३ ॥

भा०—(यः अस्य तृतीयः व्यानः) जो इस जीव का तृतीय व्यान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य सा द्यौः) उस व्रात्य का तृतीय व्यान 'द्यौः' है ।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥४॥

भा०—(यः अस्य चतुर्थः व्यानः) जो इस जीव का चतुर्थ व्यान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य तानि नक्षत्राणि) उस व्रात्य का चतुर्थ व्यान वे नक्षत्र हैं।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः ॥ ५ ॥

भा०—(यः अस्य पञ्चमः व्यानः) जो इस जीव का पांचवां व्यान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का पांचवां व्यान (ते ऋतवः) वे ऋतु हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठो व्यानस्त आर्तवाः ॥६॥

भा०—(यः अस्य षष्ठः व्यानः) जो इस जीव का छठा व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का छठा व्यान (ते आर्त्तवाः) वे ऋतुओं के समूह हैं।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य सप्त॒मो व्या॒नः स सं॑वत्स॒रः ॥७॥

भा०—(यः अस्य सप्तमः व्यानः) जो इस जीव का सातवां व्यान है, वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य सः संवत्सरः) उस व्रात्य का सातवां व्यान वह संवत्सर है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । स॒मा॒नमर्थं॒ परि॑ यन्ति दे॒वाः सं॑वत्स॒रं वा ए॒तहृ॒तवो॑ऽनु॒ परि॑यन्ति॒ व्रात्यं॑ च ॥ ८ ॥

भा०—(संवत्सरं वा अनु) जिस प्रकार संवत्सर के आश्रय में (ऋतवः) ऋतुगण (परि यन्ति) रहते हैं, उसी प्रकार (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य के विषय में भी जानना चाहिये कि (देवाः) समस्त देव (समानम् अर्थम् व्रात्यं च परि यन्ति) अपने समान स्तुति योग्य इसी एक पदार्थ अर्थात् व्रात्य का आश्रय लेकर रहते हैं।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यदा॑दि॒त्यम॑भिसंवि॒शन्त्य॑मावा॒स्यां॑ऽचै॒व तत् पौर्णमा॒सीं च॑ ॥ ९ ॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (देवाः आदित्यम्) किरण सूय में प्रवेश करती हैं और जिस प्रकार (अमावास्याम्) अमावास्या में सब चन्द्र कलाएं लुप्त हो जाती हैं, या सूर्य और चन्द्र एक साथ रहते हैं और (पौर्णमासीम् च) जिस प्रकार पौर्णमासी में समस्त चन्द्रकलाएं एकत्र हो जाती हैं, (तत्) उसी प्रकार ये समस्त देवगण अर्थात् मुमुक्षु ज्ञानी लोग (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति के (आदित्यम्) आदित्य के समान प्रकाश ज्ञान स्वरूप में (अभि सं विशन्ति) प्रवेश करते हैं।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । एक॒ं तदे॑षाममृत॒त्वमित्याहु॑तिरे॒व ॥ १० ॥

भा०—(तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का (तत्) वह अचिन्त्य परम

स्वरूप (एकम्) एक है, वही (एषाम्) इन देवों का (अमृतत्वम्) मोक्षस्वरूप है, (इति) इस प्रकार उन जीवों और देवों का उसमें लीन हो जाना भी (आहुतिः एव) आहुति ही है। वही उनका परम ब्रह्म में महान् आत्मसमर्पण है।

(१८) व्रात्य के अन्य अङ्ग प्रत्यङ्ग

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१ दैवी पंक्तिः, २, ३ आर्ची बृहत्यौ, ४ आर्ची अनुष्टुप्, ५ साम्न्युष्णिक्। पञ्चर्चं अष्टादशं पर्यायसूक्तम्॥

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥ यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥ २ ॥

भा०—(यद् अस्य दक्षिणम् अक्षि) जिस प्रकार इस जीव की दाहिनी आंख है उसी प्रकार (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति की दाहिनी आंख (सः आदित्यः) वह आदित्य है। (यद् अस्य सव्यम् अक्षि) जो इस जीव की बायीं आंख है उसी प्रकार उस व्रात्य की बायीं आंख (स चन्द्रमा) वह चन्द्रमा है।

योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः ॥ ३ ॥

भा०—(यः अस्य दक्षिणः कर्णः) जो जीव का यह दायां कान है उसी प्रकार इस व्रात्य प्रजापति का दायां कान (अयं सः अग्निः) यह अग्नि है। (यः अस्य सव्यः कर्णः) जो इस जीव का बायां कान है वैसे ही उस व्रात्य का बायां कान (सः पवमानः) वह पवमान = सोम है।

अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ४

भा०—उस व्रात्य के (नासिके अहोरात्रे) दिन और रात दोनों नासिकाओं के समान हैं। (दितिः च अदितिः च) द्यौ और पृथ्वी या उत्तरायण और दक्षिणायन ये दोनों (शीर्षकपाले) शिर के दो कपाल हैं। (संवत्सरः शिरः) और संवत्सर शिर है।

अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य एक दिन में चलकर पूर्व दिशा से पश्चिम में अस्त हो जाता है उसी प्रकार वह (व्रात्यः) व्रात्य प्रजापति (अह्ना) अपने अगम्य स्वरूप से (प्रत्यङ्) आत्मा में अदृश्य होकर रहता है और जिस प्रकार (राज्या) रात्रि काल के पश्चात् सूर्य (प्राङ्) प्राची दिशा में आ जाता है उसी प्रकार (राज्या) रमणकारी शक्ति से वह उसके (प्राङ्) सम्मुख आ जाता है। ऐसे (व्रात्यस्य) सब व्रतों अर्थात् कर्मों के स्वामी प्रजापति को (नमः) हम सदा नमस्कार करते हैं। इति द्वितीयोऽनुवाकः॥

[तत्रैकादश पर्यायाः । अवसानर्चोऽष्टोत्तरशतम्]

इति पञ्चदशं काण्ड समाप्तम्

अनुवाकद्वयं पञ्चदशाऽष्टादशसूक्तकम्।
ऋचस्तत्रैव गण्यन्ते विंशतिश्च शतद्वयम्॥

अथ षोडशं काण्डम्

[१ (१)] पापशोधन, दुःखमोचन

ऋषिः–अथर्वा॥ देवता–प्रजापतिः॥ छन्दः—१, ३ साम्नी बृहत्यौ, २, १० याजुषी त्रिष्टुभौ, ४ आसुरी गायत्री ५, ८ साम्नी पंक्त्यौ, (५ द्विपदा) ६ साम्नी अनुष्टुप्, ७ निचृद् विराड् गायत्री, ९ आसुरी पंक्तिः, ११ साम्नी उष्णिक्, १२, १३ आर्च्यनुष्टुभौ। त्रयोदशर्चं प्रथमं पर्यायसूक्तम्॥

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः॥ १॥

भा०—(अपां) जलों का (वृषभः) वर्षण करने वाला सूर्य (अतिसृष्टः) अच्छे प्रकार से रचा गया है। इसी प्रकार (दिव्याः) द्यौलोक में प्रकाशमान सहस्रों सूर्य और विद्युत् आदि (अतिसृष्टाः) रचे गये हैं।

रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन्॥ २॥

म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः॥ ३॥

इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि॥ ४॥

भा०—(रुजन्) देह को तोड़ने वाला, (परि रुजन्) सब प्रकार से देह को पीड़ता हुआ, पीड़ित करता हुआ, (मृणन् प्रमृणन्) मारता हुआ, काटता हुआ रोग भी (अग्नि) है। वह (ओकः) अति संतापकारी, (मनोहा) चेतना का नाशक, (खनः) शरीर के रस धातुओं को खोद डालने वाला, (निर्दाहः) अति अधिक दाहकारी, (आत्मदूषिः) अपने चित्त में विकार उत्पन्न करने वाला और (तनूदूषिः) शरीर में दोष उत्पन्न करने वाला ये सब प्रकार के भी संताप ही हैं। (तम्) इस उक्त प्रकार के सब संतापक पदार्थों को (इदम्) इस रीति से (अति सृजामि) अपने से दूर करता हूं कि मैं (तम्) उस संतापकारी पदार्थ को (मा) कभी न (अभि अवनिक्षि) प्राप्त करूं।

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भा०—(तेन) उस पूर्वोक्त संतापदायक पदार्थ से (तम् अभि) उस पुरुष के प्रति (अति सृजामः) दूर करते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमें द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) और जिससे हम द्वेष करते हैं।

अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (अपाम् अग्रम् असि) जलों का अग्र, उनसे प्रथम उत्पन्न, उनका उपादान कारण है। हे अग्नियो ! रोगकारक संतापक पदार्थो ! (वः) तुमको मैं (समुद्रम्) समुद्र के प्रति (अभि अव सृजामि) बहा देता हूँ।

योऽप्स्व१ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (अप्सु) जलों में (अग्निः) अग्नि के समान संतापक पदार्थ है। (तं) उसको (अतिसृजामि) दूर करता हूँ और (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच में विद्यमान (म्रोकं) चोर, (खनिं) सेंध खोदने और (तनूदूषिम्) शरीर के नाश कराने वाले संतापक-पुरुष को भी (अति सृजामि) दूर करता हूँ।

यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत् ॥ ८ ॥

भा०—(आपः अग्निः) जलों के भीतर जिस प्रकार अग्नि प्रविष्ट होकर उसे भी तृप्त करता और उसको भाप बनाकर नष्ट कर देता है उसी प्रकार (यः) जो संतापकारी पुरुष (वः) तुम लोगों में (आविवेश) आ घुसे। (सः एषः) यह वह है अर्थात् वह उसी जलों में प्रविष्ट अग्नि के समान है। (यत्) जो पदार्थ भी (वः) तुम्हारे लिये (घोरं) अति घोर कष्टदायी है (तत् एतत्) वही वह अग्नि है।

इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥

भा०—हे पुरुषो! (वः) आप लोगों में से (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् पुरुष का ही, (इन्द्रियेण) राजा के ऐश्वर्य, मान प्रतिष्ठा से, (अभि षिञ्चेत्) अभिषेक किया जाना चाहिये।

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥

भा०—(आपः) स्वच्छ जल जिस प्रकार मल रहित होते हैं उसी प्रकार आप्त पुरुष भी (अरिप्राः) मल और पाप से रहित होते हैं। वे (अस्मत्) हमसे भी (रिप्रम्) पाप और मल (अप) दूर करें।

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥

भा०—वे आप्तपुरुष जलों के समान ही (अस्मत्) हमसे (एनः) पाप मल को (प्र वहन्तु) दूर बहा दें। वे (दुष्वप्न्यं) बुरे स्वप्नों के कारण को भी (प्र वहन्तु) दूर करें।

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥१२॥
अथर्व० १० । ५ । २४ ॥

भा०—हे (आपः) जलों के समान स्वच्छ हृदय के आप्त पुरुषो! आप लोग (मा) मुझे (शिवेन चक्षुषा) कल्याणकारी चक्षु से (पश्यत) देखो और (शिवया तन्वा) कल्याणकारी शरीर से (मे त्वचम्) मेरी त्वचा को (उप स्पृशत) स्पर्श करो।

शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः ॥१३॥

भा०—हम लोग (शिवान्) कल्याणकारी (अप्सुषदः) आप्त प्रजाओं के ऊपर शासक रूप में विराजमान, (शिवान्) कल्याणकारी, (अग्नीन्) अग्नि के समान प्रकाशमान अग्रणी नेताओं को (हवामहे) आदर सत्कार से बुलाते हैं। (देवीः) दिव्य गुण वाले प्रजागणो ! आप लोग (क्षत्रं) क्षत्र धर्मयुक्त बल और (वर्चः) तेज (आ धत्त) धारण करो।

(२) शक्ति-उपार्जन

ऋषिः–अथर्वा ॥ देवता–वाक् ॥ छन्दः—१ आसुरी अनुष्टुप्, २ आसुरी उष्णिक्, ३ साम्नी उष्णिक्, ४ त्रिपदा साम्नी बृहती, ५ आर्ची अनुष्टुप्, ६ निचृद् विराड् गायत्री। द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ॥ १ ॥

भा०—(दुरर्मण्यः नि) दुष्ट भोजन और दुष्ट प्रवृत्ति दूर हो। क्योंकि (ऊर्जा) उत्तम रसवान् अन्न से (वाक्) वाणी भी (मधुमती) मधु से सिक्त, ज्ञान से युक्त, मधुर होती है।

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥ २ ॥

भा०—हे आप्त पुरुषो ! आप लोग (मधुमतीः स्थ) मधु अर्थात् ज्ञान से सम्पन्न हो, मैं भी (मधुमतीम्) मधुर, ज्ञान से पूर्ण (वाचम्) वाणी (उदेयम्) बोलूं।

उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः ॥ ३ ॥

भा०—(मे गोपाः उपहूतः) अपने रक्षक परमात्मा को आदर पूर्वक स्मरण किया जाय और (उपहूतः गोपीथः) गो = वाणी का पान और पालन करने हारे ईश्वर को आदर से बुलाया जाय।

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥

भा०—(कर्णौ) दोनों कान (सुश्रुतौ) उत्तम सुनने वाले हों, (कर्णौ भद्रश्रुतौ) दोनों कान भद्र, सुखकारी कल्याणजनक शब्द का श्रवण करें। (भद्रश्लोकम्) भद्र, सुखकारी कल्याणजनक स्तुति को मैं (श्रूयासम्) सुना करूं।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्त्रं ज्योतिः ॥५

भा०—(सुश्रुतिः च) उत्तम श्रवणशक्ति और (उपश्रुतिः च) सूक्ष्म श्रवणशक्ति दोनों (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) कभी न छोड़ें और (सौपर्णं चक्षुः) मेरी आंख गरुड़ या बाज़ के समान हो और (ज्योतिः) प्रकाश (अजस्त्रम्) निरन्तर रहे। वे कभी मुझसे दूर न हों।

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

भा०—हे परमात्मन्! आप (ऋषीणां) मन्त्रद्रष्टा विद्वानों के (प्रस्तरः असि) सर्वत्र विस्तार करने हारे हैं, उस (दैवाय) देव स्वरूप (प्रस्तराय) समस्त जगत् के विस्तार करने हारे परमेश्वर को (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

(३) ऐश्वर्य-उपार्जन ।

ऋषिः–ब्रह्मा ॥ देवता–आदित्यः ॥ छन्दः—१ आसुरी गायत्री, २, ३ आर्च्यनुष्टुभौ, ५ प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ५ साम्नी उष्णिक्, ६ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्। षड्चं तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

भा०—(रयीणाम्) समस्त ऐश्वर्यों और बलों का (अहम्) मैं (मूर्धा) शिरोमणि बनूं और (समानाम्) अपने समान बल ऐश्वर्य वालों में भी सबका (मूर्धा) शिरोमणि (भूयासम्) हो जाऊं।

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥

भा०—(रुजः = रुचः च) नाना प्रकार की कान्तियां और तेज या (रुजः च) शत्रुओं का हिंसाकारी बल और (वेनः च) प्रकाश ये दोनों (मा मा हासिष्टां) मुझे कभी न छोड़ें। (मूर्धा च) शिर और (विधर्मा च) नाना प्रकार का धारक बल भी (मा मा हासिष्टाम्) मुझे कभी परित्याग न करे।

उखश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥

भा०—(उखः) भोजन पकाने की हांडी और (चमसः च) चमचा वा पात्र दोनों (मा मा हासिष्टां) मुझे परित्याग न करें। (धर्त्ता च धरुणः च) धारणकर्त्ता और आश्रय ये दोनों भी (मा मा हासिष्टाम्) मुझे न त्यागें।

विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥ ४ ॥

भा०—(विमोकः च) जलधाराएं बरसाने वाला मेघ और (आर्द्रपविः च) जलप्रद बादल की वाणी, गर्जनशील विद्युत् (मा मा हासिष्टाम्) मुझे परित्याग न करें। (आर्द्रदानुः) जलों को देने वाला मेघ ला देने वाला और (मातरिश्वा च) अन्तरिक्षगामी वायु भी (मा मा हासिष्टाम्) मुझे न छोड़ें। एष [वायुः] ह्यार्द्रं ददाति इति आर्द्रदानुः। श० ९।४।२।५॥

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) वाणी का पालक (मे) मेरा (आत्मा) आत्मा (नृमणाः नाम) समस्त मनुष्यों या प्राणों के भीतर मनन करने वाला और (हृद्यः) हृदय में विराजमान रहता है।

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ ६ ॥

भा०—(मे हृदयम्) मेरा हृदय (असंतापम्) संताप रहित हो। मेरी (गव्यूतिः) वाणी की गति या इन्द्रियों की पहुँच (उर्वी) विशाल हो और मैं (विधर्मणा) विशेष धारण सामर्थ्य से (समुद्रः अस्मि) समुद्र के समान विशाल, सर्व गुणरत्नों का आश्रय होऊं।

(४) रक्षा, शक्ति और सुख की प्रार्थना

ऋषिः–ब्रह्मा ॥ देवता–आदित्यः ॥ छन्दः—१, ३ साम्न्युष्टुभौ, २ साम्न्युष्णिक्, ४ त्रिपदाऽनुष्टुप्, ५ आसुरी गायत्री, ६ आर्च्युष्णिक्, ७ त्रिपदा विराड्गर्भाऽनुष्टुप्,। सप्तर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

भा०—(अहम्) मैं (रयीणाम् नाभिः) समस्त ऐश्वर्यों की नाभि, बन्धन स्थान, केन्द्र हो जाऊं । (समानाम् नाभिः भूयासम्) अपने समान के पुरुषों में भी मैं सबको बांधने हारा केन्द्रवत् होकर रहूँ ।

स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू (सु आसत्) उत्तम स्थिति वाला और (सु ऊषा) प्रभात के समान उत्तम प्रकाशवान्, वा पापों का दण्ड करने वाला है, वह ही (मर्त्येषु) मरणधर्मा मनुष्यों में (अमृतः) नित्य है ।

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥

भा०—(माम्) मुझको (प्राणः मा हासीत्) प्राण त्याग न करे। (अपानः उ) अपान भी (मा अवहाय परा गात्) मुझे छोड़कर परे न जाय ।

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य (मा) मुझे (अह्नः पातु) दिन से रक्षा करे । (अग्निः पृथिव्याः पातु) अग्नि पृथिवी से मेरी रक्षा करे । (वायुः अन्तरिक्षात्) वायु अन्तरिक्ष से आने वाले उपद्रवों से मेरी रक्षा करे । (यमः मनुष्येभ्यः) नियन्ता राजा मेरी मनुष्यों से रक्षा करे । (सरस्वती) ज्ञान और वाणी मुझे (पार्थिवेभ्यः) पृथिवी के स्वामी लोगों से सुरक्षित रखे ।

प्राणापानौ मा मा हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥

भा०—(प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों (मा मा हासिष्टम्) मुझे त्याग न करें । मैं (जने) लोगों के बीच रहता हुआ (मा प्र मेषि) कभी न मरूं ।

स्वस्त्यद्योषसो दोषसश्च सर्व आपः सर्वगणो अशीय ॥ ६ ॥

भा०—हे (आपः) आप्त पुरुषो ! (अद्य स्वस्ति) आज कल्याण हो ।

(उषसः दोषसः च) दिनों और रातों में मैं (सर्वः) सर्वाङ्गपूर्ण होकर और (सर्वगणः) अपने समस्त भृत्य और बन्धुजनों सहित (अशीय) सुख भोग करूं।

शक्करी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

भा०—हे आप्त पुरुषो ! आप लोग (शक्करीः स्थ) शक्ति से सम्पन्न होओ। (पशवः) पशु लोग (मा उप स्थेषुः) मेरे पास आवें। (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (मे) मुझे (प्राणपानौ) प्राण और अपान बल प्रदान करें। (अग्निः मे दक्षं दधातु) अग्नि, जाठर अग्नि मुझे बल प्रदान करे। इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सप्त पर्यायाः द्वादशाधिकशतमवसानर्चः]

(५) दुःस्वप्न और मृत्यु से बचने के उपाय

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुस्वप्ननाशनो ॥ छन्दः—१–६ (प्र०) विराड्गायत्री, (५ प्र० भुरिक्, ६ प्र० स्वराड्) १ प्र०–६ द्वि० प्राजापत्या गायत्री, तृ०, ६ तृ० द्विपदा साम्नी बृहती । दशर्चं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

विद्म ते स्वप्नजनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥१॥ अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥२॥ तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ ३ ॥ अथर्व० ७ । ४६ । २

भा०—हे (स्वप्न) स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्म) हम तेरे उत्पत्ति स्थान को जानते हैं तू (ग्राह्यः) ग्राही, अंगों को शिथिल करने वाली शक्ति का (पुत्रः असि) पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है। तू (यमस्य करणः) यम बांध लेने वाले का करण, साधन है। तू (अन्तकः असि) 'अन्तक' है, सब चेतना वृत्तियों का अन्त करने वाला है। तू (मृत्युः असि) मृत्यु है। हे (स्वप्न) स्वप्न ! (तं त्वा) उस तुझको हम (तथा) उस प्रकार (सं विद्म) भली प्रकार से जानते हैं। (सः नः) वह तू ही हमें (दुःस्वप्न्यात्) (पाहि) दुःखप्रद स्वप्न की अवस्था या मृत्यु से बचा।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।०।०॥४॥ विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोसि० । ० । ०॥ ५ ॥ विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि०।०। ॥६॥ विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि० । ० । ० ॥७॥ विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥८॥ अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥९॥ तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि १०

अथर्व० ६ । ४६ । २ ॥

भा०—हे स्वप्न ! (वि तेद्म जनित्रं) [४-१०] हम तेरी उत्पत्ति का कारण जानते हैं। तू (निर्ऋत्याः पुत्रः असि) 'निर्ऋति', पापप्रवृत्ति का पुत्र है। तू (अभूत्याः पुत्रः असि) 'अभूति', चेतना या ऐश्वर्य की सत्ता के अभाव का पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है। (निर्भूत्याः पुत्रः असि) 'निर्भूति', चेतना की वाह्य सत्ता या अपमान से उत्पन्न होता है। (पराभूत्याः पुत्रः असि) चेतना की सत्ता से दूर की स्थिति या अपमान से उत्पन्न होता है। (देवजामीनां पुत्रः असि) देव = इन्द्रियगत प्राणों के भीतर विद्यमान जामि = दोषों से उत्पन्न होता है। (अन्तकः असि तं त्वा स्वप्न० इत्यादि) पूर्ववत् ऋचा २, ३ के समान।

(६) अन्तिम विजय, शान्ति, शत्रुशमन

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःस्वप्ननाशनम् उषा च ॥ छन्दः—१–४ प्राजापत्यानुष्टुभः साम्नीपंक्तिः, ६ निचृद् आर्ची बृहती, ७ द्विपदा साम्नी बृहती, ८ आसुरी जगती, ९ आसुरी बृहती, १० आर्ची उष्णिक्, ११ त्रिपदा यवमध्या गायत्री वार्च्यनुष्टुप् । एकादशर्चं षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ४७ । १८ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(अद्य) आज (अजैष्म) हमने अपनी दुर्वृत्तियों पर विजय कर लिया है। (अद्य असनाम) आज हमने प्राप्तव्य पदार्थ को भी प्राप्तकर लिया है। (वयम्) हम अब (अनागसः) निष्पाप (अभूम) हो गये हैं।

उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥ २ ॥

ऋ० ८। ४७। १८ ॥ तृ० च० ॥

भा०—हे (उषः) उषाकाल! हम (यस्मात्) जिस (दुःस्वप्न्यात्) दुःस्वप्न, बुरे स्वप्न होने से (अभैष्म) भय करते हैं (तत् अप उच्छतु) वह दूर हो जाय।

द्विषते तत् परा वह शपते तत् परा वह।
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥ ४ ॥

भा०—(द्विषते) जो हमसे द्वेष करे उसके लिये (तत्) उस दुस्वप्न को (परा वह) परे ले जा और (शपते) जो हमें बुरा भला कहे उसके लिये (तत् परावह) उस दुःस्वप्न को ले जा। (यं द्विष्मो०) जिसको हम द्वेष करते हैं, जो हमसे द्वेष करता है उसके लिये इस दुःस्वप्न को प्राप्त कराते हैं।

उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्युषसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥६॥ तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥७॥

भा०—(देवी) प्रकाश वाली (उषा) उषा, (वाचा) वाक् वेदवाणी से (संविदाना) संगत हो और (वाग् देवी) ज्ञान के प्रकाश से युक्त वाणी (उषसा) पापदाहक उषा से (सं विदाना) संग लाभ करती हो। (उषस्पतिः) उषा का पालक सूर्य (वाचः पतिना) वाणी के स्वामी विद्वान् के साथ (संविदानः) संगति लाभ करे और (वाचः पतिः) वाणी का स्वामी विद्वान् (उषः पतिना सं विदानः) उषा के स्वामी सूर्य के साथ संगति लाभ करता हो। अर्थात् उषा के समान वाणी और वाणी के समान उषा है। वाक्पति परमेश्वर के समान सूर्य और सूर्य के समान परमेश्वर प्रकाशस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है। (ते) वे सब (अमुष्मै) शत्रु को कष्ट देने के लिये (अरायान्) धन, ऐश्वर्यों से रहित (दुर्नाम्नः) बुरे नाम वाले (सदान्वाः) सदा कष्टकारी विपत्तियों को (परा वहन्तु) ले जावें।

कुम्भीका दूषीकाः पीयकान् ॥८॥ जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥९॥ अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥१०॥ तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

भा०—वाणी उषा और उनके पालक लोग (कुम्भीकाः) कुम्भीक, घड़े के समान पेट बढ़ा देने वाली जलोदर आदि (दूषीकाः) शरीर में विष का दोष उत्पन्न करने वाली और (पीयकान्) प्राण हिंसा करने वाली व्याधियों और रोगों को और (जाग्रद्-दुष्वप्न्यम्) जागते समय के दुस्वप्न होने और (स्वप्ने दुष्वप्न्यम्) सोते समय में दुस्वप्न होने, और (वरान् अनागमिष्यतः) भविष्यत् में कभी न आने वाले उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् उत्तम ऐश्वर्यों के भविष्यत् में न आने के कष्टों को, (अवित्तेः संकल्पान्) द्रव्य लाभ न होने या दरिद्रता से उठे नाना संकल्प और (अमुच्याः) कभी न छूटने वाले (द्रुहः) परस्पर के कलहों के (पाशान्) पाशों को हे (अग्ने) अग्ने शत्रुभयदायक ! राजन् ! प्रभो ! (देवाः) विद्वान् लोग (तत्) उन सब कष्टदायी बातों को (अमुष्मै) उस शत्रु के पास (परावहन्तु) पहुँचावें । (यथा) जिससे वह शत्रुजन (वध्रिः) निर्वीर्य, वधिया (विथुरः साधुः न) तकलीफ में पड़े भले आदमी के समान (असत्) हो जाय ।

(७) शत्रुदमन

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःस्वप्ननाशनम् , उषा ॥ छन्दः—१ पंक्तिः । २ साम्न्यनुष्टुप् , ३ आसुरी, उष्णिक् , ४ प्राजापत्या गायत्री, ५ आर्च्युष्णिक् , ६, ९, ११ साम्नीबृहत्यः, ७ याजुषी गायत्री, ८ प्राजापत्या बृहती, १० साम्नी गायत्री, १२ भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप् , १३ आसुरी त्रिष्टुप् । त्रयोदशर्चं सप्तमं पर्यायसूक्तम् ॥

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि ।
पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥

भा०—(तेन) मैं उस, नाना शस्त्र से (एनं) उस शत्रु को (विध्यामि) ताड़ना करूं (अभूत्या एनं विध्यामि) ऐश्वर्य के अभाव से उसको पीड़ित करूं, (निर्भूत्या एनं विध्यामि) पराजय और तिरस्कार से उसको पीड़ित करूं, (ग्राह्या एनं विध्यामि) नाना प्रकार की जकड़ से उसको पीड़ित करूं, (तमसा एनं विध्यामि) तमः, अन्धकार और मृत्यु से पीड़ित करूं। अर्थात् शत्रु को शस्त्रास्त्र से पीड़ित करो, ऐश्वर्य उसके पास न जाने दो, उसकी धन सम्पत्ति छीन लो, पराजित और तिरस्कार करो, पकड़ कर कैद कर लो और अन्धेरे से भरे कैदखाने में उसे डाल दो।

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥

भा०—(एनं) इस शत्रु को (देवानाम्) देवों के, अग्नि, सूर्य, वायु आदि दिव्य पदार्थों के या विद्वानों के (घोरैः) अति भयानक (क्रूरैः) क्रूर कष्टदायी (प्रैषैः) अस्त्रों द्वारा (अभिप्रेष्यामि) उखाड़ फेंकूं।

वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥

भा०—(एनं) इस शत्रु को (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः) वैश्वानर नाम का अस्त्र, महान् अग्नि या परमात्मा की दाढ़ों में (अपि दधामि) धर लूं।

एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह दाढ़ (एव अनेव) इस प्रकार से या अन्य प्रकार से भी शत्रु को (अव गरत्) निगल जाय।

यो३ स्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥५॥

भा०—(यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है (तम्) उसका (आत्मा) उसका अपना आत्मा (द्वेष्टु) द्वेष करे और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह भी अपने ही साथ द्वेष करे। शत्रु के राज्य में भेद नीति का प्रयोग करना चाहिये।

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥ ६ ॥

भा०—(द्विषन्तम्) द्वेष करने वाले को (दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात्

निः, निः, निः भजाम) द्यौलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष तीनों लोकों से निकाल बाहर करें।

सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥ इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥

भा०—हे (सुयामन्) उत्तम रीति से नियम व्यवस्था करने हारे राजन् ! हे (चाक्षुष) अपराधियों के अपराधों को भली प्रकार देखने हारे ! (अहम्) मैं आथर्वण पुरोहित, न्यायाधीश, (इदम्) यह इस प्रकार से (आमुष्यायणे) अमुक गोत्र के (अमुष्याः पुत्रे) अमुक स्त्री के पुत्र पर (दुःस्वप्न्यं) दुःखप्रद दण्ड का (मृजे) प्रयोग करता हूँ।

यद्दोअदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥
यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥
यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥

भा०—(यत्) जो (अदः अदः) अमुक अमुक अपराध (अभि-अगच्छन्) मैं इस अपराधी का देखता हूँ। (यत् दोषा यत् पूर्वा रात्रिम्) जो इस रात में और जो गयी पूर्व रात्रि में और (यत् जाग्रत्) जो जागते हुए (यत् सुप्तः) जो सोते हुए (यत् दिवा, यत् नक्तम्) जो दिन को और जो रात्रि को और (यत्) जो (अहः-अहः) प्रतिदिन (अभि गच्छामि) इसका अपराध पाता हूँ (तस्मात्) इस कारण से (एनम्) इस अपराधी को (अव दये) दण्डित करता हूँ।

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

भा०—हे दण्डकर्त्तः ! (तं जहि) उस अपराधी को दण्ड दे। (तेन मन्दस्व) उस अपराधी, दण्डनीय पुरुष से तू क्रीड़ा कर, उसका नाक कान काटकर ढीला कर और (तस्य) अमुक अपराधी पुरुष की (पृष्टीः अपि शृणीहि) पसलियों को भी तोड़ डाल। (सः) वह अमुक अपराधी

(मा जीवीत्) न जीवे और (तं प्राणः जहातु) उस अपराधी को प्राण त्याग दे ।

(८) विजयोत्तर शत्रुदमन

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःस्वप्न नाशनम् ॥ छन्दः—१–२७ (प्र०) एकपदा यजुर्ब्राह्म्यनुष्टुभः १–२७ (द्वि०) निचृद् गायत्र्यः, १ तृ० प्राजापत्या गायत्री, १–२७ (च०) त्रिपदाः प्राजापत्यास्त्रिष्टुभः, २–४, ९, १७, १९, २४ आसुरीजगत्यः, ५, ७, ८, १०, ११, १३, १८ (तृ०) आसुरीत्रिष्टुभः, ६, १२, १४–१६, २०–२३, २७ आसुरीपंक्तयः, २५, २६ (तृ०) आसुरीबृहत्यौ । त्रयस्त्रिंशदृचमष्टमं पर्यायसूक्तम् ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञो॒ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥ तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥ स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥ तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ४ ॥

भा०—(अस्माकं जितम्) हमारा विजय है । (अस्माकम् उद्भिन्नम्) हमारा ही यह फल उत्पन्न हुआ है । (ऋतम् अस्माकम्) यह अन्न और राष्ट्र हमारा है । (तेजः अस्माकम्) यह तेज, क्षात्रबल हमारा है । (ब्रह्म अस्माकम्) यह समस्त वेद और वेद के विद्वान्, ब्राह्मण हमारे हैं । (स्वः अस्माकम्) यह समस्त सुखकारक पदार्थ और आकाश भाग भी हमारा है । (यज्ञः अस्माकम्) यह यज्ञ, परस्पर सत्संग और दान और राष्ट्र आदि के समस्त कार्य हमारे आधीन हैं । (पशवः अस्माकम्) ये समस्त पशु हमारे हैं । (प्रजाः अस्माकम्) ये समस्त प्रजाएं हमारी हैं और (वीराः अस्माकम्) ये सब वीर सैनिक भी हमारे हैं । (तस्मात् अमुम् निर्भजामः) इसलिये उस शत्रु को हम इस राष्ट्र से निकालते हैं । (अमुष्यायणम् अमुष्याः पुत्रम् यः असौ) अमुक वंश के, अमुक स्त्री के

पुत्र और वह जो हमारा शत्रु है उसको हम राष्ट्र से निकालते, बेदखल करते हैं। (सः) वह (ग्राह्याः) अपराधी लोगों को पकड़ लेने वाली शक्ति के (पाशात्) पाश, दण्डधारा से (मा मोचि) न छूटने पावे। (तस्य) उसका (इदं वर्चः) यह बल, (तेजः) वीर्य, (प्राणम् आयुः) प्राण, आयु, सबको (निवेष्टयामि) बांध लेता हूँ, काबू कर लेता हूँ। (इदम्) यह अब मैं (एनम्) उसको (अधराञ्चं पादयामि) नीचे गिराता हूँ।

जितम् ०। ०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि। ० ॥ ५ ॥ जितम् ०। ० सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि। ० ॥६॥ जितम् ०। ०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि। ० ॥ ७ ॥ जितम् ०। ० स परा भूत्याः पाशान्मा मोचि। ०। ॥८॥ जितम् ०।०। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि। ० ॥ जितम् ०। ०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि। ० ॥१०॥ जितम् ०। ०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ०॥११॥ जितम् ०। ०। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि। ० ॥१२॥ जितम् ०। ०। स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि। ० ॥१३॥ जितम् ०। ०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि। ० ॥ १४ ॥ जितम् ।०।०। स आङ्गिरसानां पाशान् मा मोचि। ० ॥ १५ ॥ जितम् ०। ०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि। ० ॥१६॥ जितम् ०। ०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि। ० ॥ १७ ॥ जितम् ०। ०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १८ ॥ जितम्०। ०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि। ० ॥ १९ ॥ जितम् ०। ०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि। ० ॥२०॥ जितम् ०।०। स आर्तवानां पाशान्मा मोचि।०॥२१॥ जितम् ०। ०। स मासानां पाशान्मा मोचि।० ॥२२॥ जितम् ०।०। सोऽर्धमासानां पाशान् मा मोचि।०॥२३॥ जितम् ०।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि। ०॥२४॥ जितम् ०। ०। सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि। ० ॥२५॥ जितम् ०। ०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि। ० ॥ २६ ॥ जितम् ०।०।

स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २७ ॥ जितम् ० । ० स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २८ ॥ जितम् ० । ० । स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि । ० ॥ २९ ॥

भा०—(जितम्० इत्यादि) सर्वत्र पूर्ववत् ! (सः निर्ऋत्याः पाशात्) वह शत्रु निर्ऋति, कठोर दण्ड व्यवस्था के पास से (मा मोचि) न छूट पावे । (सः) वह (अभूत्याः) ऐश्वर्य के अभाव (निर्भूत्याः) सम्पत्ति के छिनने, (पराभूत्याः) ऐश्वर्य के हाथ से निकल जाने या तिरस्कार के (पाशात् मा मोचि) पाश से न छूट जाय ॥ ५–८ ॥ (सः) वह (देव जामीनाम्) देव विद्वानों की सहज शक्तियों, (बृहस्पतेः) बृहस्पति, (प्रजापतेः) प्रजापति, (ऋषीणाम्) ऋषियों, (आर्षेयाणाम्) ऋषि सन्तानों, (अंगिरसाम्) विशेष आंगिरस वेद के विद्वानों और (आंगिरसानां) उनके शिष्यों (अथर्वणाम्) अथर्व वेद के ज्ञाताओं और (आथर्वणानाम्) अथर्वाओं के शिष्यों के (पाशात् मा मोचि) पाश से न छूट पावे ॥९–१७॥ (सः) वह (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों, प्रजापालकों, (वानस्पत्यानाम्) उनके अधीन अन्य शासकों, (ऋतूनां) ऋतुओं, (आर्तवानाम्) ऋतुओं में होने वाले पदार्थों, (मासानाम्) मासों (अर्धमासानां) अर्धमासों, पक्षों (अहोरात्रयोः) दिन और रात्रि के (पाशात् मा मोचि) पाश से न छूट पावे ॥१८–२५॥ (सः) वह (संयतोः अन्होः) गुजरते हुए दो दिनों के, (द्यावापृथिव्योः) द्यौ और पृथिवी के, (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि के, (मित्रावरुणयोः) मित्र और वरुण के और (राज्ञः वरुणस्य) राजा वरुण के (पाशात् मा मोचि) पाश से मुक्त न हो ।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥३०॥ तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥३१॥ स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥३२॥ तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३३ ॥

भा०—(जितम्० इत्यादि) पूर्ववत्। (तस्मादनुम्० इत्यादि) पूर्ववत् (सःमृत्योः) वह मृत्यु के (पड्वीशात्) चरण में पड़ने वाले (पाशात्) पाश से (मा मोचि) छूटने न पावे। (तस्य इदं वर्च० इत्यादि) पूर्ववत् ऋचा ॥ १-४ ॥

(९) ऐश्वर्य प्राप्ति

ऋषिः—यमः ॥ देवता—चत्वारि वै वचनानि। १ प्रजापतिः, २ मन्त्रोक्ता देवता, ३,४ सूर्यः ॥ छन्दः—१ आर्ची अनुष्टुप्, २ आर्च्युष्णिक्, ३ साम्नी पंक्तिः, ४ परोष्णिक्। चतुर्ऋचं नवमं पर्यायसूक्तम् ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥१॥

अथर्व० १०।५।३६ प्र० द्वि० ॥

भा०—(अस्माकम् जितम्) यह जीता हुआ राष्ट्र हमारा है। (अस्माकम् उद्भिन्नम्) यह राष्ट्र की उपज हमारी है। मैं (विश्वाः) समस्त (पृतनाः) सेनाओं और (अरातीः) शत्रु सेनाओं को (अभिअस्थाम्) अपने वश करता हूँ।

तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

भा०—(अग्निः तत् आह) अग्नि इस बात का उपदेश करता है, (सोमः उ तत् आह) सोम भी इसी का उपदेश करता है। (पूषा) पुष्टि-कारक भागधुक् नामक अध्यक्ष (मा) मुझको (सुकृतस्य लोके) सुकृत अर्थात् पुण्य के लोक में (धात्) स्थापित करे।

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥

भा०—हम (स्वः) सुखमय राष्ट्र को (अगन्म) प्राप्त हों (सूर्यस्य ज्योतिषा सम् अगन्म) सूर्य के तेज से युक्त हों, (स्वः अगन्म) हम सुख-मय लोक को प्राप्त करें।

वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

भा०—अति अधिक ऐश्वर्यवान् होने के लिये (यज्ञः वसुमान्) यज्ञ, प्रजापति स्वयं वसु, ऐश्वर्य से युक्त है। उसकी कृपा से मैं स्वयं (वसु) ऐश्वर्य को (वंशिषीय) प्राप्त करूं। मैं (वसुमान् भूयासम्) धनैश्वर्य सम्पन्न होऊं। (मयि) मेरे में हे परमात्मन् ! (वसु धेहि) ऐश्वर्य प्रदान कर।

यह समस्त विजयसूक्त अध्यात्म में अन्तः शत्रुओं के वशीकरण पर भी लगते हैं। समस्त विजय करके हम (स्वः) मोक्ष सुख का लाभ करें। इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र पञ्च पर्यायाः एकसप्ततिरवसानर्चः]

इति षोडशं काण्डं समाप्तम्

षोडशे नव पर्याया अनुवाकद्वयं तथा।
शतं तिस्रोऽवसानर्चो गण्यन्तेऽथर्ववेदिभिः ॥

अथ सप्तदशं काण्डम्

[१] अभ्युदय की प्रार्थना

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आदित्यः ॥ छन्दः—१ जगती, १–८ त्र्यवसाना, २–४ अतिजगत्यः, ६, ७, १९ अत्यष्टयः, ८, ११, १६ अतिधृतयः, ९ पञ्चपदा शक्करी, १०–१३, १६, १८, १९, २४ त्र्यवसानाः, १० अष्टपदा धृतिः, १२ कृतिः, १३ प्रकृतिः, १४, १५ पञ्चपदे शक्कर्यौ, १७ पञ्चपदाविराडतिशक्करी, १८ भुरिग् अष्टिः, २४ विराड् अत्यष्टिः, १–५ षट्पदा ६, ८, ११–१३, १६,१८,१९,२४ सप्तपदा, २० ककुप्, २१ उपरिष्टाद् बृहती, २२ अनुष्टुप्, २३ निचृद् बृहती (२२, २३ याजुष्यौ द्वे द्विपदे) २५, २६ अनुष्टुप्, २७, ३० जगत्यौ, २८, ३० त्रिष्टुभौ। त्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्। ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान्

भूयासम् ॥१॥ विषासहिं० । ० । ० ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥२॥ विषासहिं ० । ० ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥३॥ विषासहिं० । ० । ० ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥ ४ ॥ विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥ ५ ॥

भा०—मैं (वि-सासहिम्) विशेष रूप से शत्रुओं का हनन करने वाले, (सहमानं) दमन करते हुए, (सासहानं) पुनः २ दमन करने हारे, (सहमानं) दमनशील, (सहोजितम्) अपने बल से शत्रु को जय करने वाले, (स्वर्जितम्) सुखमय राष्ट्र का विजय करने वाले, (गोजितम्) गौआदि पशुओं को विजय करने वाले, (सं धनाजितम्) समस्त धन ऐश्वर्य को विजय करने वाले, (ईड्यम्) स्तुति योग्य (इन्द्रं नाम) इन्द्र उस ऐश्वर्यवान्, सबके राजा परमेश्वर का (ह्व) स्मरण करता हूँ और मैं स्वयम् (आयुष्मान्) दीर्घ आयु वाला (भूयासम्) होऊं ॥१॥ (विषासहिम्०) इत्यादि सर्वत्र पूर्ववत् (देवानां प्रियः भूयासम्) देवों, विद्वानों, अधिकारियों का मैं प्रिय होऊं ॥२॥ (प्रजानाम् प्रियः भूयासम्) प्रजाओं का प्रिय होऊं ॥३॥ (पशूनां प्रियः भूयासम्) पशुओं का प्रिय हो जाऊं ॥४॥ (प्रियः समानानां भूयासम्) अपने समान पुरुषों का प्रिय हो जाऊं ॥५॥

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधम् तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ६ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य, सर्वप्रेरक प्राणात्मन् परमेश्वर ! (उत् इहि-उत् इहि) तू उदय हो, उदय हो ! (वर्चसा) अपने तेज से (मा) मेरी तरफ को (उत् इहि) उदय हो, मेरे सामने प्रकट हो । (द्विषत् च) द्वेष

करने हारा (मह्यं) मेरे (रध्यतु) वश हो और (अहम् च) मैं (द्विषते) शत्रु के (मा रधम्) वश न होऊं । हे (विष्णो) विष्णो ! सर्वव्यापक प्रभो ! (तव इत्) तेरे ही (बहुधा वीर्याणि) बहुत प्रकार के वीर्य, बल-साध्य कार्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं । (त्वं) तू (नः) हमें (विश्वरूपैः) समस्त प्रकार के (पशुभिः) पशुओं से (पृणीहि) पूर्ण कर । तू (सुधायाम्) अपनी उत्तम भरण-पोषण करने वाली अमृतरूप शक्ति में और (परमे व्योमन्) परम रक्षाकारी स्थान में (मा धेहि) मुझे स्थापित कर ।

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवे० । ० ॥ ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) हृदयाकाश के परम सूर्य, प्रेरक प्रभो ! (उद् इहि उद् इहि वर्चसा अभि उद् इहि) उदय होवो, उदय होवो, मेरे समक्ष उदय होवो, दर्शन दो । भगवन् ! (यान् च पश्यामि) जिन लोगों को मैं देखूं और (यान् च न) जिनको मैं न भी देखूं (तेषु) उनमें भी आप (मा) मुझको (सुमतिम्) सुमति, शुभ उत्तम बुद्धि और चित्त वाला (कृधि) करो । (तवेद्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्व१न्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र । हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवे०।०।८

भा०—हे सूर्य ! आत्मन् ! हे राजन् ! जैसे (सलिले) सलिल, जल में या गमन करने के मार्ग में (ये) जो (पाशिनः) गति रोकने वाले, पाश हाथ में लिये जाल वाले पुरुष ही वैसे हों जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच में (उपतिष्ठन्ति) आ उपस्थित होते हैं (त्वा) तुझे (मा दभन्) पीड़ित न करें । तू (अशस्तिम्) निन्दा को (हित्वा) त्याग कर (एताम्) उस (दिवम् आरुक्षः) द्यौलोक, मोक्षपद को प्राप्त हो । (सः) वह तू (नः) हमें (मृड) सुखी कर (ते) तेरी (सुमतौ) शुभमति में हम (स्याम) रहें । (तवेद्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

त्वं न॑ इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि॑ पाह्यक्तुभिस्तवे०।०॥९॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) तू (नः) हमें (महते सौभगाय) बड़े सौभाग्य उत्तम ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये अपने (अदब्धेभिः) कभी विनाश न होने वाले (अक्तुभिः) प्रकाशों से (परि पाहि) सब ओर से रक्षा कर। (तव इत्०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं न॑ इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव। आरोहंस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवे ०। ०॥ १० ॥ (१)

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! साक्षात् दृश्यमान आत्मन् ! (त्वं) तू (नः) हमारे लिये (शिवाभिः) कल्याणकारी (ऊतिभिः) रक्षा करने वाली शक्तियों से (शंतमःभव) अति अधिक कल्याणकारी हो। हे आत्मन् ! तू (त्रिदिवं) परम लोक को (आरोहन्) चढ़ता हुआ (दिवः) तेजोमय परमेश्वर की (गृणानः) स्तुति करता हुआ (सोम-पीतये) शान्तिदायक ब्रह्मानन्दरस, मोक्षानन्द का पान करने के लिये और (स्वस्तये) अपने पर कल्याण के लिये (प्रियधामा) समस्त संसार के धारक, परम धाम का प्रिय होकर रह।

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र। त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवे०।०॥११॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! विभूति सम्पन्न आत्मन् ! (त्वम्) तू (विश्वजित् असि) विश्व, समस्त संसार का विजेता है। हे (इन्द्र) इन्द्र ! साक्षात् दृश्यमान ! आत्मन् ! शक्तिमन् ! तू (त्वं सर्ववित्) तू सर्वज्ञ और (पुरुहूतः असि) बहुत ऋषि मुनियों द्वारा स्तुति योग्य है। हे (इन्द्र) इन्द्र ! आत्मन् ! (त्वं) तू (इमं) इस (सुहवं) उत्तम ज्ञान से युक्त (स्तोमम्) स्तुति मन्त्र को (आ ईरयस्व) उच्चारण कर। (सः) वह परम आत्मा (नः) हमें (मृड) सुखी करे। हे परमात्मन् ! (ते सुमतौ स्याम) तेरी शुभ मति में हम रहें। (तव इत्०) इत्यादि पूर्ववत्।

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे ।
अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंछर्म यच्छ
तवे० । ० ॥ १२ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (दिवि) द्यौ लोक प्रकाशमय मोक्षलोक में और (पृथिव्याम्) पृथिवी लोक में (उत) भी तू (अदब्धः असि) अहिंसित, अविनाशी, नित्य अमृत (असि) है, (अन्तरिक्षे) इस अन्तरिक्ष में भी ये जीवगण (ते महिमानम्) तेरे महान् ऐश्वर्य को (न आपुः) प्राप्त नहीं कर सकते । तू (अदब्धेन) अहिंसित, नित्य, अविनाशी (ब्रह्मणा) ब्रह्म और वेदज्ञों के बल से (वावृधानः) बराबर बढ़ता हुआ (सन्) रहकर (दिवि) उस द्यौ लोक, मोक्ष में (नः) हमें (त्वं) तू (शर्म यच्छ) सुख, शरण प्रदान कर । (तव इद्) इत्यादि पूर्ववत् ।

या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने
स्वर्विदि । ययेन्द्र तन्वा३न्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा३
शर्म यच्छ तवे० । ० ॥ १३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (ते) तेरी या जो (तनूः) निर्माणकारिणी, सर्जन शक्ति (अप्सु) जलों में, (या पृथिव्याम्) जो पृथिवी में, (या अग्नौ अन्तः) जो अग्नि के भीतर और हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (या) जो रचना शक्ति (ते) तेरी (स्वर्विदि) स्वः = परम उच्च आकाश तक पहुँचे हुए (पवमाने) आदित्य में है और हे (इन्द्र) परमेश्वर (यया तन्वा) जिस विस्तृत सर्जनकारिणी वायु शक्ति से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (व्यापिथ) व्याप्त करते हो । हे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर ! (तया तन्वा) उस सर्जन शक्ति से (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छ) प्रदान कर । शिव की अष्टमूर्त्ति, गीताप्रोक्त अष्टधा प्रकृति तथा 'पुर्यष्टक' का मूल यही मन्त्र है ।

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवे०।०।१४

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर ! (त्वाम्) तुझको (ब्रह्मणा) ब्रह्म,

वेद से (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए सर्वत्र तेरी महिमा को गाते हुए, (नाधमानाः) प्रार्थना उपासना करते हुए (ऋषयः) ऋषि लोग (सत्रम्) स्वतन्त्र ज्ञान-यज्ञ में (निषेदुः) विराजते हैं। (तव इत् इन्द्र०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवे०।०॥१५॥

भा०—हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (त्वं) तू (तृतं) अति विस्तीर्ण, महान् आकाश में (परि-एषि) व्यापक है। (त्वं) तू (सहस्रधारम्) सहस्र = समस्त संसार को धारण पोषण करनेहारे (विदथम्) ज्ञान से परिपूर्ण (स्वर्विदम्) स्वः परम सुख, मोक्षानन्द के लाभ कराने हारे (उत्सं) उस परम स्रोत को भी (परि एषि) व्यापे हुए है। (तव इत्०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि। त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवे ०।०॥१६॥

भा०—हे परमात्मन् ! (त्वं) तू (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं, उनमें निवास करने वाले लोकों की (रक्षसे) रक्षा करता है और (त्वं) तू (शोचिषा) अपने तेज, दीप्ति से (नभसी) नीचे और ऊपर के दोनों आकाशों के बीच के समस्त लोकों को भी (विभासि) विविध रूपों में प्रकाशित करता है। (त्वम्) तू (इमा) इन (विश्वा भुवना) समस्त उत्पन्न होने वाले लोकों का (अनुतिष्ठसे) अनुष्ठान करता है, बनाता है और उनके समस्त कार्यों का संचालन, सम्पादन करता है। तू ही (विद्वान्) सब कुछ जानता हुआ (ऋतस्य) त्रिकाल, परम सत्य के (पन्थाम्) मार्ग को (अन्वेषि) अनुसरण करता है। (तव इत्०) इत्यादि पूर्ववत्।

पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङशस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्तवे०।०॥१७॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (पञ्चभिः) पांचों से (पराङ्) परे बाहर की ओर (तपसि) तप रहा है और तू (एकया) एक शक्ति से (अर्वाङ्)

उरे की ओर (तपसि) तप करता है । तू (सुदिने) उत्तम दिन = प्रकाशमय अवसर में (अशस्तिम्) निन्दनीय अविद्या को (बाधमानः) बाधता हुआ (एषि) हमें प्राप्त होता है । (तवेद्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ब्रह्म पक्ष में—पांच भूत और एक परम प्रकृति ।

अध्यात्म में—पांच बहिर्मुख प्राण और एक भीतरी चिति शक्ति ।

त्वमिन्द्रस्त्वं म॑हे॒न्द्रस्त्वं ल॒ोकस्त्वं प्र॒जाप॑तिः । तुभ्यं॑ य॒ज्ञो वि ता॑यते॒ तुभ्यं॑ जुह्वति॒ जुह्व॑त॒स्तवे० । ० ॥ १८ ॥

भा०—हे परम आत्मन् ! (त्वम् इन्द्रः) तू 'इन्द्र' है । (त्वं महेन्द्रः) तू 'महेन्द्र' है । (त्वं लोकः) तू 'लोक' = प्रकाशस्वरूप सबका द्रष्टा है । (त्वं प्रजापतिः) तू 'प्रजापति' समस्त प्रजाओं का पालक है । हे परमेश्वर ! (यज्ञः) यज्ञ उपासना और देव पूजा के समस्त कार्य (तुभ्यम्) तेरे लिये (वितायते) विविध प्रकार से रचे जाते हैं । (जुह्वतः) आहुति देने हारे, (तुभ्यम् जुह्वति) तेरे लिये आहुति देते हैं । (तव इत्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

अस॑ति॒ सत् प्रति॑ष्ठितं स॒ति भू॒तं प्रति॑ष्ठितम् । भू॒तं ह॒ भव्य॒ आहि॑तं॒ भव्यं॑ भू॒ते प्रति॑ष्ठितं॒ तवेद् विष्णो बहु॒धा वी॒र्या॑णि । त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः सु॒धायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन् ॥ १९ ॥

भा०—(सत्) सत् रूप से प्रतीत होने वाला यह व्यक्त संसार (असति) 'असत्', अव्यक्त में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है, आश्रित है अथवा (असति) असत् अविद्यमान्, क्षणभंगुर इस प्राकृतिक जगत् में (सत्) निरन्तर एक रस रहने वाला सदा विद्यमान 'सत्' ही (प्रतिष्ठितम्) सबसे प्रतिष्ठित है, वह सर्वोच्च अधिष्ठात् रूप पद पर स्थित है । (सति) 'सत्' सदा विद्यमान, सत्य, अविनाशी परमेश्वर के आधार पर (भूतम् प्रतिष्ठितम्) यह उत्पन्न संसार आश्रित है । (भूतम्) यह उत्पन्न हुआ संसार 'भूत' (भव्ये) आगे होने वाले भविष्य पर (आहितम्) आश्रित है और (भव्यम्) अर्थात् 'भव्य', भविष्यत् जो होगा वह (भूते)

भूत, गुजरे हुए काल पर। (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है। (विष्णो! तव इत् बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक परमात्मन्! तेरे ही बहुत प्रकार के वीर्य सामर्थ्य हैं। (त्वं विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हमें सब प्रकार के पशुओं से पूर्ण कर। (सुधायां परमे व्योमन् मा धेहि) उत्तम रूप से धारण करने योग्य सर्वोत्तम, अमृतस्वरूप, परम रक्षास्थान मोक्ष में मुझे रख। अथवा– असत्, प्रधान, प्रकृति में 'सत्' व्यक्त, महत्तत्व आश्रित है उस 'सत्' में 'भूत', पांचों तत्त्व आश्रित हैं। वह पांचों भूत ही 'भव्य' अर्थात् उत्पन्न होने वाले कार्य जगत् में प्रतिष्ठित हैं और यह सर्व कार्य जगत् 'भूत' अपने कारणभूत सूक्ष्म पञ्च भूतों में आश्रित हैं। वे सब भी परमेश्वर के ही नाना आश्चर्यकारी कार्य हैं।

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥ (२)

भा०—हे परमेश्वर! तू (शुक्रः असि) शुक्र कान्तिमय तेजोमय, एवं सब संसार का लीनरूप है। (भ्राजः असि) हे परमेश्वर तू 'भ्राज' अति देदीप्यमान, सबका परिपालक करने हारा है। (सः त्वं) वह तू (यथा) जिस प्रकार से (भ्राजता) अपने प्रखर प्रताप से या जगत् के समस्त पदार्थों के परिपाक करने के सामर्थ्य से (भ्राजः असि) तू 'भ्राज', सबका परिपाक करने हारा है। (एवं) उसी प्रकार मैं (भ्राजता) प्रखर प्रताप से (भ्राज्यासम्) देदीप्यमान होऊं।

रुचिरसि रोचोऽसि। स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय ॥ २१ ॥

भा०—(रुचिः असि) हे ईश्वर तू रुचि, कान्ति है। तू (रोचः असि) 'रोचस्' है, तू कान्तिमान्, अतिमनोहर है। (स त्वं) वह तू (यथा) जिस प्रकार (रुच्या) अपनी कान्ति से (रोचः असि) 'रोचस्', रुचिकर, मनोहर है (एवा अहम्) उसी प्रकार मैं (पशुभिः च) पशुओं से और (ब्राह्मण-वर्चसेन च) ब्रह्मतेज से (रुचिषीय) चमकूं, कान्तिमान् बनूं।

उ॒द्य॒ते नम॑ उदा॒य॒ते नम॒ उदि॑ताय॒ नमः॑ ।
वि॒रा॒जे॒ नमः॑ स्व॒रा॒जे॒ नमः॑ स॒म्रा॒जे॒ नमः॑ ॥ २२ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (उद्यते नमः) सूर्य के समान हृदय में कोमल प्रकाश से उदित होते हुए तुझे नमस्कार है। (उत् आयते नमः) ऊपर आने वाले तुझे नमस्कार है। (उदिताय नमः) उदित हुए तुझको नमस्कार है। (विराजे नमः) विविध रूप से प्रकाशमान 'विराट्' रूप तुझको नमस्कार है। (स्वराजे नमः) स्वयं प्रकाशमान 'स्वराट्' रूप तुझको नमस्कार है। (सम्राजे नमः) समान भाव से सर्वत्र प्रकाशमान तुझ 'सम्राट्' को नमस्कार है।

अ॒स्तं॒य॒ते नमो॑ऽस्तमेष्य॒ते नमो॑ऽस्तमिताय॒ नमः॑ ।
वि॒रा॒जे॒ नमः॑ स्व॒रा॒जे॒ नमः॑ स॒म्रा॒जे॒ नमः॑ ॥ २३ ॥

भा०—(अस्तं यते नमः) अस्त होते हुए को नमस्कार है, (अस्तम् एष्यते नमः) अस्त हो जाना चाहते को नमस्कार है, (अस्तम् इताय नमः) अस्त हुए को नमस्कार है। (विराजे नमः, स्वराजे नमः, सम्राजे नमः) इति पूर्ववत्। यह प्रलयकालिक परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन है। सूर्य का उदय आदि प्राण के जागने के समान है और अस्त हो जाना आदि शयन के समान है। छान्दोग्य उपनिषद् में देखो 'प्राण सूर्य' का वर्णन।

उद॑गाद॒यमा॑दि॒त्यो विश्वे॑न॒ तप॑सा स॒ह । स॒पत्ना॒न् मह्यं॒ र॒न्धय॒न् मा चा॒हं द्वि॑ष॒ते र॑धं॒ तवेद् विष्णो बहुधा वी॒र्या॑णि । त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः सु॒धाया॑ं मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन् ॥ २४ ॥

भा०—(अयम्) यह साक्षात् (आदित्यः) सूर्य (विश्वेन) समस्त (तपसा सह) तप के साथ (उत् अगात्) उदित होता है। वह (मह्यं) मेरे लिये (सपत्नान्) शत्रुओं को (रन्धयन्) मेरे वश करे और (अयम्) मैं (द्विषते) शत्रु के (मा रधम्) वश न होऊं। (तवेद् विष्णो०) इत्यादि पूर्ववत्।

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय ॥ २५ ॥

भा०—हे (आदित्य) सबको अपने वश कर लेने वाले प्रकाशमान सूर्य ! तू (स्वस्तये) समस्त कल्याण के लिये (शतारित्राम्) सैंकड़ों प्राणियों को त्राण करने में समर्थ, (नावम्) समस्त संसार को प्रेरण और संचालन करने में समर्थ शक्ति को (आ रुक्षः) सर्वत्र व्याप्त अधिष्ठित हो । तू (मा) मुझको (अहः) दिन के समय या सृष्टि काल के (अति अपीपरः) पार पहुँचा और (सत्रा) साथ ही (रात्रिम् अति पारय) रात्रिकाल या प्रलयकाल के भी पार कर ।

सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राऽति पारय ॥ २६ ॥

भा०—हे (सूर्य) सब जगत् के प्रेरक सूर्य परमात्मन् ! (स्वस्तये) कल्याण के लिये, तू (शतारित्राम्) सैंकड़ों कष्टों से त्राण करने वाली (नावम्) जगत् की प्रेरक शक्ति को (आरुक्षः) व्यापता है उस पर अधिष्ठित है। (रात्रिं मा अति अपीपरः) इत्यादि पूर्ववत् ।

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ २७ ॥

भा०—(अहम्) मैं (प्रजापतेः) प्रजापालक परमेश्वर के (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदज्ञानरूप (वर्मणा) कवच से (आवृतः) आवृत, सुरक्षित और (कश्यपस्य) सर्वद्रष्टा, कश्यप, सूर्य के (ज्योतिषा) तेज और (वर्चसा) प्रकाश से युक्त होकर (जरदष्टिः) वृद्धावस्था तक भोक्ता, दीर्घायु, (कृतवीर्यः) वीर्यवान्, (विहायाः) विविध ज्ञान से सम्पन्न (सहस्रायुः) सहस्रों वर्षों का जीवन प्राप्त कर (सुकृतः) पुण्यकर्मा होकर (चरेयम्) विचरूं ।

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥ २८ ॥

भा०—(अहम्) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदज्ञान रूप (वर्मणा) कवच

से (परिवृतः) सुरक्षित और (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च परिवृतः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर के या सूर्य के समान तेज और कान्ति से युक्त होऊं। (याः दैव्या) जो दैवी और (मानुषीः) मनुष्य सम्बन्धी (इषवः) बाण (वधाय) विनाश के लिये (अवसृष्टाः) छोड़े गये हों वे (मा मा प्रापन्) मुझे प्राप्त न हों मुझ तक न पहुँचें।

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः ॥२९॥

भा०—(अहम्) मैं (ऋतेन) सत्यज्ञान, (सर्वैः ऋतुभिः) समस्त ऋतु, सत्यज्ञान धारण करने वाले विद्वानों और (भूतेन) भूत और (भव्येन च) भविष्यत् से (गुप्त) सुरक्षित रहूँ। (पाप्मा मा मा प्रापत्) पाप मुझ तक न पहुँचे। (मृत्युः मा उत) और मृत्यु भी मुझे प्राप्त न हो। (अहम्) मैं (वाचः सलिलेन) वाणी के बल से, जल से भरी खाई से नगर के समान, (अन्तः दधे) अपनी रक्षा करूं।

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्।
व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ३०(३)

भा०—(अग्निः) अग्नि, अग्रणी, या अग्नि के समान प्रकाशक ज्ञानवान् परमेश्वर (मा) मुझे (विश्वतः परि पातु) सब ओर से रक्षा करे और (सूर्यः) सूर्य (उद्यन्) उदित होता हुआ (मृत्युपाशान्) मृत्यु के पाशों को (नुदताम्) परे करे। (व्युच्छन्तीः उषसः) प्रकाशित होती हुई उषाएं और (ध्रुवाः पर्वताः) स्थिर पर्वत और (सहस्रं प्राणाः) अपरिमित प्राण (मयि आयतन्ताम्) मेरे में क्रियाएं, चेष्टाएं उत्पन्न करें। इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम्।

[एकोऽनुवाकः सूक्तञ्च त्रिंशत् सप्तदशे ऋचः]

वाणवस्वङ्कसोमाब्दे श्रावणे प्रथमेऽसिते।
द्वितीयस्यां भृगौ सप्तदशं काण्डं गतं शुभम् ॥